राष्ट्रधर्म पु

ल

185489

विचार नवनीत

प्रो० [illegible] सिंह वर्मा
रणजीतसिंह स्मारक महाविद्यालय
चान्दपुर (बिजनौर)

मा० स० गोलवलकर

विचार नवनीत

(अंग्रेजी पुस्तक 'बञ्च आफ थाट्स' का हिन्दी संस्करण)

Central Library
185489
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

097
185489

प्रकाशक
भानुप्रताप शुक्ल
भारतीय संस्कृति पुनरुत्थान समिति
उत्तर प्रदेश

R.PS
097
ARy-V

(तृतीय संशोधित संस्करण)
मूल्य ७-५० रुपये

प्राप्ति स्थान
राष्ट्रधर्म पुस्तक प्रकाशन
पत्र मंजूषा २०७
डा० रघुवीर नगर
लखनऊ—४

मुद्रक :
स्वदेश प्रेस
डा० रघुवीर नगर
लखनऊ—४

भूमिका

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना १९२५ में विजयादशमी के दिन हुई थी। इसके संस्थापक पूजनीय डा० केशव बलिराम हेडगेवार १९४० में दिवंगत हुए। उसी समय से श्री माधव सदाशिव गोलवलकर, जो 'गुरुजी' के नाम से विख्यात हैं, इस संघटन के प्रमुख हैं। सन् १९६५ तक संघ के ४० वर्ष और श्री गुरुजी द्वारा इस कार्य नेतृत्व के २५ वर्ष पूरे हुए हैं।

उनके विचारों का संग्रह करने का यह प्रयत्न है। महासागर के किनारे कंकड़ बीनने जैसा अनुभव हमें इस प्रयत्न में लग रहा है। पिछले २५ वर्षों में सहस्रों भाषणों, वार्तालापों तथा अनौपचारिक बातचीत में राष्ट्रीय विषयों के सम्पूर्ण क्षेत्र पर उन्होंने विविध विचार व्यक्त किये हैं। उन सब विचारों को एक छोटे ग्रन्थ में समाना कितना असम्भव है, यह बात बहुत स्पष्ट है। यहां पर बहुत से विषयों पर केवल उनका दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का ही प्रयत्न किया गया है। इस उद्देश्य से बिभिन्न शीर्षकों में उनके कुछ विचार पिरो दिये गये हैं। हमारा यह दावा नहीं है कि वे विचार व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किए गये हैं। और इस बात का दावा और भी कम है कि प्रत्येक शीर्षक के अन्तर्गत दिए गए विषयों की पूर्ण और विस्तृत विवेचना हुई है।

फिर, उनके अधिकांश भाषण हिन्दी में हैं। उनका अन्य भाषाओं में, विशेषतया किसी विदेशी भाषा में अनुवाद करने में उनकी शुद्ध हिन्दी के ओज और वाक्य विन्यास को तथा उनके द्वारा निर्मित प्रेरणादायक कल्पनाओं को निश्चित रूप से क्षति पहुंचेगी। स्वाभाविक रीति से, यहां पर समाविष्ट

विचार उनके हैं, पर शब्द हमारे हैं, अतः इन शब्दों और भावाभिव्यक्तियों की कमियों का हमें पूर्ण ज्ञान है ।

ऐसी सब दुश्चिन्ताएं होने पर, जिस कारण हमने इस कार्य को विश्वास के साथ ग्रहण किया, वह यह है कि उनके विचारों का प्रकाश इन सब त्रुटियों के होते हुए भी देदीप्यमान सिद्ध होगा तथा राष्ट्रीय मस्तिष्क को प्रकाशमान कर देगा । परन्तु इस कार्य की सुखद निष्पत्ति में जिस एक कारण ने सबसे अधिक योगदान किया है वह है स्वर्गीय प्रोफेसर एम. ए. वेंकटराव का स्नेहमय और विवेकी मार्गदर्शन । वे एक विख्यात विचारक, लेखक, पत्रकार और वास्तविक रूप में एक दार्शनिक थे । श्री गुरुजी के साथ उनके सम्बन्ध केवल अत्यन्त स्नेह और आदर के ही नहीं थे, परन्तु अपने राष्ट्रीय मामलों के सम्बन्ध में उनमें पूर्ण मतैक्य भी था । प्रोफेसर वेंकटराव ने प्रथम पाण्डुलिपि का जो १९६० में ही तैयार हो गई थी, प्रत्येक पृष्ठ देखा था । उन्होंने उसमें उचित सुधार किये थे तथा अमूल्य सुझाव दिये थे । सबसे अधिक, उन्होंने बहुमूल्य प्रस्तावना लिख कर हमारे प्रयत्नों को शुभाशीष प्रदान किया । यह कहना अनावश्यक है यद्यपि मूल पाण्डुलिपि, श्री गुरुजी के और नये विचारों को जोड़ कर, सम्वर्धित की गयी, फिर भी स्वर्गीय प्रोफेसर ने जो प्रास्तवना लिखी थी वह आज भी उतनी ही उपयुक्त है जितनी पांच वर्ष पूर्व थी । उसमें उन्होंने जो विचार रखे वे राष्ट्र के सनातन जीवन स्रोतों को स्पर्श करने वाले हैं । इन थोड़े से पृष्ठों में ही उनकी गहन दृष्टि, उनकी विद्वत्ता तथा उनके द्वारा विषय के उत्कृष्ट प्रस्तुतीकरण सबका सम्मिश्रण है । लम्बी प्रस्तावना लिखने की उनकी इच्छा थी । इस उद्देश्य से अस्पताल में बीमारी की अवस्था में ही उन्होंने एक बार फिर नयी पाण्डुलिपि को पढ़ना प्रारम्भ किया था । उन्होंने कुछ अध्याय समाप्त भी कर लिये थे । परन्तु अकस्मात् उनकी बीमारी ने गम्भीर रूप धारण कर लिया । दैववशात् इसी समय श्री गुरुजी भी उनकी रुग्ण शैय्या के पास पहुंच गये । दो दिन पश्चात् प्रोफेसर वेंकटराव का देहान्त हो गया । उनका आशीर्वाद तथा उनकी मूल प्रस्तावना ही हमारे पास शेष बची । वह प्रस्तावना अब एक औपचारिक प्रस्तावना मात्र नहीं है । वह उनकी पुण्य वसीयत है और प्रस्तुत प्रकाशन स्वयं उनकी अन्तिम इच्छा की ही पूर्ति है । उनकी दृढ़ तथा प्रबल इच्छा थी, विशेष रूप से उनके अन्तिम दिनों में, कि गुरुजी के शक्तिदायक विचार यथाशीघ्र प्रत्येक मानस में और गृह में प्रविष्ट हों । निश्चय ही यह हमारे प्रति दिवंगत महान् आत्मा द्वारा की गयी राष्ट्रीय कर्तव्य की मांग है ।

हां, हमारा यह तुच्छ प्रयत्न राष्ट्रीय कर्तव्य की मांग की पूर्ति के रूप में है। जैसा कि आगामी पृष्ठ सिद्ध करेंगे, हमारे राष्ट्रीय मानस की आज की भ्रमित अवस्था में श्री गुरुजी के विचार पथप्रदर्शक सिद्ध हो रहे हैं। हमारे देश का वर्तमान संकट प्रमुखतया बौद्धिक और मानसिक है, भौतिक नहीं। जो भी शारीरिक व्याधियां हमारे समाज-शरीर को ध्वंस कर रही हैं, उनके मूल में हृदय और मस्तिष्क की दुर्बलताएं और विकृतियां हैं। ये त्रुटियाँ बहुधा अपने अनर्थपूर्ण परिणामों को छिपाने के लिए उच्च आदर्शों का रूप धारण किए अभिमान के साथ पदक्षेप करती दिखायी देती हैं। श्री गुरुजी के विचारों में ऐसे समस्त अन्धकार को दूर करने की और राष्ट्र के मस्तिष्क को सही दृष्टि देने और उचित कर्तव्य की भावना का निर्देश करने के योग्य संवेदना और प्रकाश की प्रखरता है।

इस स्थान पर गुरुजी के जीवन का एक छोटा सा शब्द चित्र उनके क्रियाशील व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि में उनके विचारों को अधिक अच्छी प्रकार से समझने में हमारे पाठकों को सहायक होगा।

अपने माता-पिता के एकमात्र जीवित प्रिय पुत्र श्री गुरुजी ने बाल्यपन में ही अपनी असामान्य प्रतिभा के चिह्न प्रदर्शित किए। एम० एस-सी० करने के पश्चात् वे कुछ काल तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक रहे। उनके प्रिय विद्यार्थी उन्हें आदरपूर्वक 'गुरुजी' के नाम से पुकारते थे और बाद में भी यह सम्बोधन उनके साथ जुड़ा रहा। परन्तु उनकी वृत्ति नौकरी की सीमाओं में आबद्ध और सीमित रहने की नहीं थी। उन्होंने त्यागपत्र दे दिया और नागपुर लौट गये। उन्होंने एल-एल० बी० की परीक्षा पास की पर वकालत कभी नहीं की। तब तक वे डाक्टर हेडगेवार के आकर्षणपूर्ण सम्पर्क में आ चुके थे। ठीक वैसे ही जैसे नरेन्द्र (बाद में विवेकानन्द) की राम-कृष्ण से भेंट हुई हो। परिणाम उतना ही युग-निर्माणकारी था। गुरुजी ने अपना सर्वस्व डाक्टर हेडगेवार के चरणों में अर्पित करने का निश्चय किया। व्यक्तिगत सुखों और परिवार के प्रति आसक्ति के लिए तो उनके मन में कभी कोई स्थान था ही नहीं। उनके उग्र आदर्शवाद की ज्वाला के समक्ष पार्थिव संसार के प्रलोभनों की छाया विलुप्त हो गयी।

आज तक भी उनका जीवन सभी राजनैतिक और साम्प्रदायिक सीमाओं को पार कर राष्ट्र पुनर्निर्माण के पथ को प्रकाशित करने वाली स्थिर ज्योति के समान प्रज्ज्वलित है। आज ऐसे बहुत कम महापुरुष हैं जिन्होंने सम्पूर्ण भारत का उतनी बार भ्रमण किया है जितना गुरुजी ने। उनका सहस्रों

स्थानों और लाखों संघ के स्वयंसेवकों तथा अन्य लोगों से निरन्तर सम्पर्क रहता है ।

राष्ट्र की नाड़ी को निरन्तर थामे हुये देश के कल्याण की अनवरत चिंता रखे गुरुजी ही राष्ट्र का मार्गदर्शन करने के योग्य सर्वश्रेष्ठ नेता हैं । पद, सत्ता अथवा व्यक्तिगत गौरव के प्रलोभन से ऊपर उठ कर सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रति उनकी ऐकांतिक निष्ठा है । अत: उनकी उक्तियां नग्न सत्य की घोषणा करती हैं । उनके द्वारा राष्ट्र के हित का निर्भयतापूर्वक समर्थन होता है और किसी व्यक्ति अथवा दल को कोई छूट नहीं मिलती ।

अस्तु! अब हम अपने विवेचक पाठकों पर छोड़ते हैं कि वे श्री गुरुजी के इस विचार संकलन में, जिसे हम बिना किसी साजसज्जा अथवा बनाव सुधार के प्रस्तुत कर रहे हैं, राष्ट्रीय जीवनोद्देश्य के पथ पर अग्रसर होने हेतु प्रेरणा उत्साह और अक्षुण्ण आशा की ज्योति किरणों को खोजकर प्राप्त करें ।

यह सुखद संयोग है कि आज माघ कृष्ण एकादशी विश्वावसु सम्वत् तदनुसार १६ फरवरी १९६६ को जबकि यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, श्री गुरुजी अपने ६१ वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं ।

हमारे हार्दिक धन्यवाद उन सबके प्रति हैं जिनके प्रेमपूर्ण सहयोग के द्वारा यह कठिन, यद्यपि सुखकर कार्यसम्भव हुआ है ।

बंगलौर —प्रकाशक

(अंग्रेजी संस्करण)

हिन्दी संस्करण

भूमिका

देश समस्याओं से घिरा है ।
समस्याएँ उलझी हुई हैं ।

निराशा है । साथ ही एक बड़ा वर्ग ऐसा है जो कुछ करना चाहता है किन्तु कार्य-अकार्य की दिशा के प्रति आश्वस्त नहीं है ।

तब आशा का संचार कर कार्य की दिशा का बोध करानेवाला मार्गदर्शक आवश्यक है ।

पूजनीय श्री० गुरुजी के विचारों की ओर आकृष्ट होना, इसीलिए स्वाभाविक एवं कल्याणकर है ।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक होने के बाद गत २७ वर्षों से श्री गुरुजी सतत देशभ्रमण पर हैं । उनके व्यक्तित्व और उनके द्वारा धारित कार्य का श्रेष्ठत्व काल-पटल पर अंकित हो चुका है । सब भाषाएँ, सब पन्थ, नाना दर्शन, विश्वास और धारणाएँ, देश की समस्त विविधताएँ, वेशभूषा, रुचि, प्रवृत्ति, विचार तथा भावनाएँ उनके सान्निध्य में राष्ट्रीय एकता का मंत्र प्राप्त कर चुकी हैं । देश, धर्म, समाज के अनन्य सेवक के नाते राष्ट्रीय पुनरुत्थानकारी समस्त पहलुओं को उनके द्वारा बल मिला है । गत २७ वर्षों में सहस्रावधि बैठकों; वार्तालापों एवं भाषण वक्तव्यों में देश की जनता ने उनके विचार सुने और ग्रहण किये हैं । अत्यन्त स्पष्ट, प्रभावोत्कारी, सुसूत्र, तर्कपूर्ण, सशक्त और सब प्रकार की शंकाओं का निवारण कर राष्ट्र के उत्थान का सफल मार्ग-दर्शन करने की

क्षमता वाले उनके विचारों से आज भारत प्रभावित एवं प्रेरित हुआ है और कल की मानवता चिर-ऋणी रहेगी ।

- अस्तु ! देश के अनेक बन्धुओं की महती आकांक्षा थी कि श्री गुरुजी के चिरन्तन प्रेरणादायी मार्ग-दर्शक विचार पुस्तक रूप में संग्रहीत हों। विक्रम-प्रकाशन, बंगलौर ने गत २५ वर्षों के काल में उनके द्वारा दिये गये भाषणों, वक्तव्यों एवं चर्चाओं की बिखरी हुई प्रकाशित, अप्रकाशित सामग्री को संकलित कर अंग्रेंजी में 'Bunch of Thoughts' के नाम से एक पुस्तक छाप कर इस कार्य को सम्पन्न किया ।
- अनेक बन्धुओं की माँग रही कि इस अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होना चाहिए जिससे भारत की कोटिशः जनता उन विचारों का अध्ययन कर लाभान्वित हो सके ।
- प्रस्तुत पुस्तक 'विचार-नवनीत' अनेक बन्धुओं की उसी आकांक्षा पूर्ति के नाते उपरोक्त अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है ।
- अनुवाद कार्य में मूल विचार, मूलअर्थबोध और भावों को अक्षुण्ण बनाये रखने का भरसक प्रयत्न किया है। भाषा की प्राञ्जलता का भी ध्यान रखने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु फिर भी अनुवाद की अपनी कठिनाइयां और सीमायें रही हैं। इस बात का निर्णय विज्ञ-पाठक ही कर सकेंगे कि कहाँ तक यह कार्य सम्पन्न हो सका है ।
- एक बात और, श्री गुरुजी द्वारा गत २५ वर्षों के कालखण्ड में दिये भाषणों, वक्तव्यों का यह संकलन होने के कारण सन्दर्भ और क्रिया-पद उस काल से सम्बन्धित ही प्रयुक्त हुये हैं। उन्हें बदला नहीं गया है ।
- विचार-नवनीत के प्रकाशन से श्री गुरुजी के विचारों को अपने देश-बंधुओं तक पहुंचाने का राष्ट्रीय कर्त्तव्य हम कर पा रहे हैं, यह एक सन्तोष की बात है ।
- श्री गुरुजी के कार्य व विचारों से देश को एक सुस्पष्ट विचार-दिशा प्राप्त हुई है और उन विचारों के व्यापाक प्रकाश से भारत में युगान्तकारी महाशक्ति का प्रस्फुटन निश्चित है। इसी विश्वास ने हमें इस प्रकाशन के गृहीत कर्त्तव्य-कर्म को पूर्ण करने की शक्ति प्रदान की है ।
- उन सब अनुवादको एवं सहायकों के प्रति जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशित करने में सहयोग दिया है, हम हृदय से आभारी हैं।

रामनवमी
सं० २०२४

— प्रकाशक

सस्ता संस्करण

'विचार-नवनीत' का यह तीसरा संस्करण इतने शीघ्र पाठकों के हाथों में प्रेषित करते हुये हमें अतीव प्रसन्नता हो रही है ।

द्वितीय-संस्करण हाथों-हाथ बिक गया । अनेक स्थानों की मांग हम पूर्ण नहीं कर पाए । पुस्तक के व्यापक स्वागत और अनेक बन्धुओं की मांग ध्यान में रखकर आवश्यक था कि यह तीसरा संस्करण प्रकाशित हो ।

विश्वास है इसका भी वैसा ही स्वागत होगा ।

व्यास पूर्णिमा	**विजयदशमी**
सं० २०२४	**सं० २०२६ वि०**
(द्वितीय संस्करण)	**(तृतीय संस्करण)**

—प्रकाशक

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
की स्मृति में सादर भेंट—
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य

विषयानुक्रम

भूमिका

प्रस्तावना

प्रथम भाग—हमारा लक्ष्य

१ हमारा जागतिक लक्ष्य ३-१२

वर्तमान मानसिक ग्रन्थि—प्रथम विश्व-विचार देने वाले हिन्दू ही—विरोधों का संसार—राष्ट्रीयता के उन्मूलन के लिए उत्पन्न सिद्धान्त, असफलता; उदाहरण—रूस में साम्यवाद—राष्ट्रों के एकीकरण के विविध प्रयोग—दुविधा—हमारा सुझाव: मानव एकता का आन्तरिक बन्धन—जागतिक लक्ष्य के लिए हिन्दू ही सज्जित—प्रथम पग।

२ समय की चुनौती १३-२२

जनतन्त्र का जन्म प्रतिक्रिया के रूप में—पूंजीवाद का अनिष्ट-वाद की प्रतिक्रिया, कम्युनिज्म—इसकी भविष्यवाणी तथा वचन की असत्यता, उदाहरण: रूस—दोनों ही सिद्धान्त मूल आधार से हट रहे—दोनों ही भौतिकवाद के प्रसूत—सिद्धान्त के रूप में असफल—समानता की गलत कल्पना—व्यक्ति और समाज का हमारा दृष्टिकोण—मनुष्य का महत्व, पद्धतियों का नहीं।

३ हमारी राष्ट्रीय आत्मा की पुकार २३–३२

पुनरुज्जीवन, प्रतिक्रिया नही—संस्कृति अनिर्वचनीय फिर भी सर्वसमावेशी—देवतास्वरूप राष्ट्र—सेवा की सही भावना—अधिकार नहीं, कर्तव्य–विविधता में एकता—सामान्य को उन्नत करना—वर्तमान विपर्यास—अमरता की जड़ों का सिंचन।

४ सच्चे राष्ट्रीय वैभव के लिये ३३–४४

वैभव की हमारी अनुपम भावना—चतुर्विध प्राप्ति—व्यक्ति के विकास एवं समाज के संगठन के लिये धर्म—भौतिकवाद का दुःखान्त—वह क्या था जिसने हमें विश्वगुरु बनाया—वैभव के योगक्षेम के लिये संगठित शक्ति—संगठन के लिये योग्य व्यक्ति।

५ भावात्मक सक्रिय हिन्दुत्व का जीवन जियो ४५–५८

अपरिभाष्य 'हिन्दू'—उद्देश्य : ईश्वरानुभूति—विशिष्ट लक्षण—हमारे अनुपम आदर्श—दैनिक जीवन में आदर्शों की अभिव्यक्ति की आवश्यकता—प्रतिक्रियात्मक हिन्दुत्व के परिणाम—दैनिक संस्कारों का महत्व—आधुनिकवाद की झक—सभी क्षेत्रों में हिन्दू आदर्श—राष्ट्र के स्वधर्मानुसार जियो।

६ कार्य और लक्ष्य का स्वरूप ५९–७३

सरल उपाय की झक—राजनीति का प्रलोभन—इतिहास की चेतावनी—हमारे सामर्थ्य का रहस्य राष्ट्रीय कायाकल्प के लिये प्रेरणा—सत्ता भ्रष्ट करती है—सत्ता पर नियन्त्रण—राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति के योग के परिणाम—युरोप से

शिक्षा—संघ द्वारा लोकशक्ति का निर्माण—राष्ट्रीय प्रतिज्ञा का समर्थन।

द्वितीय भाग—राष्ट्र और उसकी समस्यायें

७ **हमारी मातृभूमि** ७७–८६

१ एक महान् कल्पना

हमारी दिव्य मातृभूमि—प्राचीन भावना—उसके उच्छेदन हेतु अंग्रेजों का प्रयत्न—अति पुरातन भारत का वर्णन—हिमालय—पूर्णचित्र—ईश्वर साक्षात्कार के लिए सुचयित देश—देश भक्ति का अध्यात्मीकरण—इसकी जीवन्त परम्परायें।

२ वीरव्रती निष्ठा की आवश्यकता ८७–९४

बुद्धिवाद की सीमायें—मातृत्व की भावना; विकास का चिह्न—भक्ति के दो पहलू—पराक्रमी भक्ति ही महत्वपूर्ण—"घास का तिनका भी नहीं उगता" की मनोवृत्ति के परिणाम—राजनीतिक सीमाओं का निर्धारण राष्ट्रीय इच्छा शक्ति के द्वारा।

८ **मातृभूमि के पुत्र** ९५–११७

हिन्दु नाम क्यों? हमारी सामाजिक विविधता विकास का लक्षण—अनेकों पन्थ परन्तु एक धर्म—इसका दुहरा प्रयोजन—वर्तमान विपर्यास के कारण—वर्ण व्यवस्था; मूलरूप; दासता का कारण नहीं; वर्तमान विपर्यास—हमारी सभी भाषायें राष्ट्रीय—तमिल के पृथकत्व की काल्पनिक कहानी—हिन्दी ही सरकारी भाषा क्यों?—वर्तमान भाषायी अभिनिवेश—आर्य द्रविण विवाद, एक राजनीतिक

खेल—नये-नये झगड़े—अन्तर्निहित एकता की अनुभूति—जन्मतः कर्तव्य ।

९ पौरुष-युक्त राष्ट्र जीवन के हेतु ११९-१३२

राष्ट्र एक भावात्मक कल्पना—आधुनिक विद्वानों के कथन—भारत का पुत्र, हिन्दु, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक सजातीयता—अतः हिन्दु राष्ट्र—अहिन्दु और राष्ट्रीयता का निकष—पोषण नहीं वरन् संस्कृति का महत्व—अहिन्दु को आह्वान—आत्मसात् की भावना का पुनरुज्जीवन—हिन्दुराष्ट्र में अहिन्दु—राष्ट्रीय एकात्मता के लिए आधार ।

१० प्रादेशिक राष्ट्रवाद १३३-१३९

१ उसके मूल

'राष्ट्रीय' शब्द क्यों—इंग्लैण्ड की चाल—अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव—विकृत इतिहास—प्रादेशिक राष्ट्रत्व का जन्म—उसका वेतुकापन ।

२ उसके फल १४१-१५३

दिशाभ्रष्ट क्रान्तिकारी—काँग्रेस प्रतिक्रियावादी हो गई—अहिन्दु जातियों की प्रकृति—मुसलिम तुष्टीकरण—हिन्दुओं को आत्म-विनाश का आह्वान—नेतृत्व, एक शोचनीय अभिशाप—व्याधि यथापूर्व—प्रारम्भिक बड़ी भूल को शुद्ध करो ।

११ दृढ़ धारणा के लिये साहस का आह्वान १५५-१६२

धर्म-निरपेक्षतावादी और हिन्दु राष्ट्रीयता—भीति भावना, हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई का मूल—एक शिक्षाप्रद कथा—हिन्दु राष्ट्रीयता की अन्तर्निहित दृढ़ धारणा—सत्य को भी प्रमाण चाहिए ।

१२ आन्तरिक संकट १६३–१७५

१ मुसलमान

विभाजन के पश्चात् मुसलमान—दुहरी व्यूह रचना : सीधा आक्रमण, संख्या में वृद्धि—हमारे नेताओं की नीति, हिंसा लाभदायक—टाइम-बम—कुछ न भूलना, कुछ न सीखना—लघु पाकिस्तान—राष्ट्रीय मुसलमानों की कलई खुल गई—वास्तविकता का सामना करो।

२ ईसाई १७७–१८४

मानवता के नकाब में—अधार्मिक और राजनीतिक युक्तियाँ—नियोगी कमेटी का अधिनिर्णय—नागालैण्ड, केरल आदि में गतिविधियां—सम्पूर्ण संसार में वही कहानी।

३ कम्युनिस्ट १८५–१९२

कम्युनिज्म किस प्रकार जड़ जमाता है—पश्चिम का गलत दृष्टिकोण—प्रतिक्रियात्मकउपाय : भूदान—समाजवाद का संकट—चीन के पदचिह्नों पर—राष्ट्रीय प्रतिभा पुनरुज्जीवित करो।

तृतीय भाग—वैभव का मार्ग

१३ ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति १९५–२१३

समाज के प्रति हमारा ऋण—सर्वोच्च सेवा—विगत वैभव—शत्रुओं द्वारा विनाश—एक सभय सामर्थ्यसम्पन्न और स्वतन्त्र—जयचन्दों की परम्परा के कारण मुसलमानों तथा अंग्रेजों की सफलता—व्याधि गई नहीं, पाकिस्तान का निर्माण—आन्तरिक विभेद—इतिहास की पुनरावृत्ति; द्रविड़नाड आदि—संघात्मक ढाँचा, एक विषाक्त बीज—मूलभूत उपाय।

१४ शाश्वत अधिष्ठान २१५-२२८

भावात्मक आधार की आवश्यकता—प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण के परिणाम—संघ का उद्देश्य स्थायी संगठित जीवन—अस्थायी आन्दोलनों का भवितव्य; कांग्रेस—प्रवाह-पतित राष्ट्र—उपाय—खतरे का संकेत :

१५ राष्ट्रीय जीवन का अमृत कुंभ २२९-२३६

१ वास्तविकता का संसार

शक्तिमान दुर्बल को खा जाता है—विश्व इतिहास का महान् तथ्य—विश्व का वर्तमान चित्र—घोषणाएँ बदलती हैं, वास्तविकता वही बनी रहती है—परस्पर मित्रता की मृगतृष्णा—शक्तिमान और दुर्बल की मित्रता—शान्ति एवं स्वातंत्र्य के लिये शक्ति ।

२ अन्तिम अनुशास्ति २३७-२५१

ऊँची निःसार सद्उक्तियों के संकट—पंचशील का भवितव्य—अन्ताराष्ट्रीय प्रतिष्ठा की कपोल कल्पना-संसार शक्ति के सामने झुकता है। हमारी विपर्यस्त धारणाएँ—अहिंसा या कापुरुषता ?—हमारे महान् उदाहरण—सही तत्वज्ञान—शक्ति का सच्चा स्रोत ।

१६ विजय के उपासक २५३-२६५

महान् व्यक्तियों को देवत्व प्रदान करना—धर्मशास्त्रों का गलत अर्थ लगाना—मूल में स्वार्थ और विवशता—प्रयत्न ही परमेश्वर है—महान् उदाहरण—विजयशाली की पूजा—बलिदानी, महान् परन्तु आदर्श नहीं—राजपूतों के हौतात्म्य से शिक्षा—कर्म करना, प्रतिक्रिया नहीं—सही कर्म का तत्वज्ञान ।

Central Library
185489
Gurukula Kangri (Deemed University) Haridwar

R.P.S
097
ARY-V

१७ विजय के लिये संघर्ष २६७–२८२

१ समुचित उपाय

भय का स्वरूप और परिणाम—लोगों की इच्छा शक्ति को बनायें—सुदृढ़ राष्ट्रीय नेतृत्व चाहिये—राष्ट्र के मनोधैर्य को बनाये रखो—ध्येयवचन, मितव्ययता !—व्यक्तिपूजा का संकट—कम्युनिस्ट 'विभेद' एक छल—चीन की 'युद्धबन्दी' की चेतावनी—पाकिस्तानी पंचमांगियों से सावधान—पाकिस्तान का तुष्टीकरण आत्मघाती—मित्रों को पहिचानों—विश्वस्त प्रहरी को सुदृढ़ करो।

२ समुचित तत्त्वज्ञान २८३–२९६

वास्तविक विभीषिका—चरित्रहीनता चरम सीमा पर—नैतिकता ऊपर से नीचे की ओर—प्रेरणादायी आदर्श—हिन्दुराष्ट्र का ऐतिहासिक आह्वान—नेताओं का स्वप्न—वास्तविकता की पुकार—'एकपक्षीय सौजन्य' की भवितव्यता—वास्तविक राष्ट्रीय शक्ति—सामर्थ्य से मित्रों की प्राप्ति—एक वरदान, किन्तु कब ?

१८ युद्धरत राष्ट्र २९७–३०९

१ नवीन युग का आह्वान

स्वाभिमान, राष्ट्र का जीवन-प्राण—यंत्र की तुलना में मनुष्य की श्रेष्ठता—कपोल-कल्पना चूर-चूर हो गई—राष्ट्र की पराक्रमी प्रकृति—राष्ट्रीय नीतियों के लिये मार्गदर्शक दिशा—वास्तविक युद्ध-साधनों को नष्ट करना—अखण्ड भारत, एकमात्र समाधान—राष्ट्र संघ अपने वास्तविक रूप में—अन्ताराष्ट्रीय मैत्री का नियम—काश्मीर, एक समाप्त अध्याय—इससे बड़े युद्ध का स्वागत करो।

२ चुनौती का सामना ३११–३२२

स्वावलम्बन, स्वतन्त्रता का मेरुदण्ड; अणु-बम—पेट की चुनौती—रुपये का सम्मोहन भंग करो—विदेशी निर्भरता का मूल्य—इंगलैण्ड का उदाहरण—राष्ट्र के मनोधैर्य का निर्माण—सरकार का उत्तरदायित्व—सन्देहात्मक तत्वों के आत्मसात् का मार्ग—वर्तमान युद्ध एक महान् शोधक—एकता—प्रासंगिक और स्थायी—हिन्दु राष्ट्रीयता, सभी 'वादों' की परिपूर्णता ।

चतुर्थ भाग—व्यक्ति निर्माण

१९ **सफल कार्यपद्धति** ३२५–३३८

१ राष्ट्र के वास्तविक पुनर्गठन के लिये

क्रान्तिकारी और जन आन्दोलन की त्रुटियां—व्यक्ति निर्माण की दैनंदिन कार्यपद्धति—प्रत्यक्ष आचरण का आग्रह—राष्ट्रीय प्रतीक भगवाध्वज, हमारा गुरु—व्यक्ति अथवा ग्रन्थ की नहीं, आदर्श की पूजा—शाखा राष्ट्रीय पुनर्गठन का केन्द्र—राष्ट्रीय उत्सवों की परम्परा—संस्थावाद से भय—युद्धप्रिय वर्गों का प्रभुत्व—एक अहिन्दु धारणा—सम्पूर्ण समाज को संगठित करने के लिए संघ ।

२ यथार्थ दृष्टिकोण ३३९–३५७

राजनीतिक दल एवं राष्ट्रीय दृढ़ीकरण—इंग्लैण्ड और भारत— मूलगत औषधि की आवश्यकता—मानसिक परिवर्तन कैसे किया जाय–क्षणिक आवेगों की लहरें लौट पड़ती हैं—संस्कारों के लिए नियम–छोटी चीजों से बड़ी चीजों तक–अनुशासनहीनता, शक्ति की शत्रु—वास्तविक शत्रु–वर्तमान भ्रान्तियाँ—स्वयंसेवक एक ध्येयसेवी व्यक्ति—स्वावलम्बन, अहं का विलोप—व्यवहार के बाद

उपदेश—अनुशासित एव समर्पित—राष्ट्रीय पुनर्जीवन के लिए बीज केन्द्र ।

३ कार्यप्रणाली की अमोघता ३५९–३६४

सिंहतुल्य साहसी अन्तःकरण वाले लोगों का निर्माण—स्वतःस्फूर्त एकता, संयम और स्वार्थ-त्याग के लिए—उपयुक्त कार्यपद्धति—वयस्कों का दायित्व ।

२० वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय चारित्र्य ३६५--३७६

हमारा सांस्कृतिक वैशिष्ट्य : व्यक्तिगत चारित्र्य—साधनों की शुचिता--व्यक्तिगत प्रमाद, राष्ट्रीय संकट--उदासीन सज्जनता के दुष्परिणाम—राष्ट्रीय चारित्र्य, जीवन-प्राण—इतिहास का निर्णय--भक्ति व्यापार नहीं है--भक्ति का सामर्थ्य--जब चरित्र प्रस्फुटित होता है ।

२१ 'पुरुष' बनें ३७७–३९३

नींव के पत्थर बनें—सेवा का आदर्श—स्वावलम्बन; ज्वलन्त उदाहरण—व्यक्तिगत उन्नतिवाद का अभिशाप—सम्यक आदर्श का वरण—अतिद्वय का त्याग—राष्ट्रसेवा—हीनता के भावों तथा अन्धानुकरण से विमोचन, सस्ते अनुकरण—विश्व में सम्मान प्राप्त करने का रहस्य; हमारे पुरातन आदर्श, सनातन परंपरा—माँ की अभिलाषा ।

२२ ध्येयवादी मनुष्य ३९५–४१०

वास्तविक महानता, साधारण को महान् बनाना—अकृत्रिम तादात्म्य भावना—सौजन्य में विश्वास का प्रतिपादन—साहचर्य का निर्माण—आत्मविश्वासी बनो, गर्व से सावधान—महापुरुषों के

जीवन से शिक्षा—अहंकार का अभाव सफलता है—एक जीवन, एक लक्ष्य—आत्मनिरीक्षण, आत्म-सुधार—आदर्शवाद का आनन्द—कष्ट की महिमा—आगे और अधिक आगे बढ़ना ।

२३ **मूर्तिमान् आदर्श** ४११–४२४

आजीवन आत्माहुति—स्व-परिवर्तन—प्रत्येक के मित्र, शत्रु किसी के नहीं—अप्रतिहत कार्य—अनुपम ऐक्यकारी—आत्म-विलोपित—परार्थ जीवन—अथक उद्योग की अग्नि में—मृत्यु, जिसने लाखों को अनुप्राणित किया—शब्दों में शक्ति कहाँ से उत्पन्न होती है—महानता की सन्तान ।

परिशिष्ट

एकात्मक शासन की अनिवार्यता ४२५–४३२

(श्री मा० स० गोलवलकर द्वारा लिखित लेख ।)

चित्र

श्री मा० स० गोलवलकर सम्मुख (३८)
श्री डा० के० ब० हेडगेवार ,, (४१०)

प्रस्तावना

स्वाधीन भारत बहुअंगी पुनर्जागृति और पुनर्निर्माण के काम में लगा हुआ है। इसका कम अथवा अधिक मात्रा में विचारपूर्ण लक्ष्य है वह जिसे संक्षेप में राष्ट्र-निर्माण (अथवा पुनर्निर्माण) कह सकते हैं—जीवन के एक योग्य तथा प्रेरणादायक रेखाचित्र के अनुसार अपने समाज के भवितव्य का मार्गदर्शन करने वाले शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में इसकी मूर्ति खड़ी करना, जिससे यह राष्ट्र वर्तमान अथवा भावी भारतवर्ष की आवश्यकताओं के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सके।

यह युग पिछली शताब्दी में राजा राममोहन राय के आविर्भाव और कार्यों से लगभग प्रारम्भ हुआ और श्री रामकृष्ण तथा विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, श्री अरविन्द और लोकमान्य तिलक, गांधी और रवीन्द्रनाथ, डा० हेडगेवार और वीर सावरकर जैसे उत्कृष्ट विचारकों के विविध क्षेत्रों में जीवन-कार्यों के माध्यम द्वारा आज तक चला आता है। ये केवल कुछ विशिष्ट नाम हैं परन्तु इनसे राष्ट्रपुरुषों की गौरवपूर्ण मण्डली की सूची समाप्त नहीं हो जाती।

ब्रिटेन, फ्रांस तथा जर्मनी के सहानुभूतिपूर्ण भारत-अध्ययनकर्ता विद्वानों तथा हेवैल और राधाकुमुद मुकर्जी जैसे विदेशी और भारतीय इतिहासकारों (और विशेष रूप से मराठी इतिहासकारों) की कृतियों ने भारतीय इतिहास को एक अधिक आशाप्रद तथा सृजनात्मक भूमिका प्रदान करने में सहायता दी। उन्होंने पुनर्जागरण तथा राष्ट्रीय आत्मा के पुन: स्मरण के क्रमबद्ध रूप से आने वाले उन युगों को दिग्दर्शित किया जब समय की चुनौती का सामना

किया गया था और बार-बार राष्ट्र की प्रमुख विशिष्ट प्रकृति का प्राधान्य पुन: स्थापित किया गया था। प्राचीन काल में बौद्ध, मौर्य, शुंग, गुप्त और हर्ष युगों को तथा अधिक आधुनिक काल में विजयनगर, मराठा तथा सिख युगों को, राष्ट्रीय आत्मस्मरण तथा स्वत्वाग्रह के युगों के रूप में गिना जा सकता है।

ब्रिटिश सत्ता (जिसके द्वारा विदेशी विचारों और आदर्शों के सम्पूर्ण क्षेत्र का प्रतिनिधित्व होता है) के साथ संघर्ष (और विजय) की वर्तमान अवस्था एक ऐसा ही काल है—राष्ट्रीय आत्म-चेतना के पुन: स्वत्वाग्रह का और हमारी संस्कृति की जड़ों के विचारपूर्वक अन्वेषण का जिन पर आधुनिक जीवन को पुन: आरोपित किया जा सके और ओजस्वी विकास और शक्ति की दृष्टि से उसे पोषित किया जा सके।

इस बहुमुखी प्रयत्न में, राष्ट्र-निर्माण के ढाँचे के रूप में, भारतीय संस्कृति का चित्र पश्चिम से आयी हुई भ्रमात्मक धारणाओं और हमारे प्राचीन जीवन के विकृत विचारों से दबा हुआ है।

विचारों, मानसिक आवेगों और कल्पनाओं के इस भँवर में श्री मोहनदास करमचन्द गाँधी ने एक शक्तिशाली व्यापक प्रभाव को समाविष्ट किया जिसमें भारतीय संस्कृति की भावना के अनुरूप बहुत से तत्व थे। उनके उपवास और व्रत, उनके मौन, उनकी प्रार्थना-सभाएँ, उनका सत्याग्रह सबमें प्राचीन-काल की तपस्या के साथ एक सजातीय सारूप्य दिखायी दिया। शिक्षित वर्गों में प्रसुप्त (तथा साधारणतया एंग्लो-इण्डियन कालेजों की अधार्मिक शिक्षा के नीचे दबी हुई) हिन्दू भावना धरातल पर आ गयी और उसने राजनैतिक नेता का, आध्यात्मिक अतीत के सच्चे आध्यात्मिक महात्मा के नाते, जयघोष किया। इस प्रकार मो० क० गाँधी के राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन को, लोगों के अवचेतन मस्तिष्क में निहित सांस्कृतिक परम्परा से शक्ति प्राप्त हुई।

परन्तु क्योंकि दुर्भाग्य से गांधी आन्दोलन का प्रमुख विचार राजनैतिक था अत: उसने जिन सांस्कृतिक तत्वों को आह्वान और प्रवृत्त किया था, उन्हें उनकी वास्तविक शुद्धता और ओज में नहीं ग्रहण किया जा सका और जीवित अतीत के मूल्यों तथा राजनीति, अर्थशास्त्र, समाज-व्यवस्था के विचारों और विविध धर्मों से उन्हें स्वाभाविक और अवयव-अवयवी भाव में समन्वित रीति से सम्बद्ध नहीं किया गया। उन सबका प्रेरणा के अस्पष्ट स्रोतों के रूप में समान शत्रु अर्थात् विदेशी शासकों के विरुद्ध प्रयोग किया गया। लम्बे विदेशी शासन के अधीन प्रस्थापित विभिन्न विषयों की वर्तमान व्यवस्था की स्थानपूर्ति

करने के लिए उन सांस्कृतिक तत्वों ने नये भारतीय समाज और राज्य, अर्थ-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था का कोई भावात्मक ढाँचा प्रस्तुत नहीं किया। वह (गाँधी आंदोलन) प्रमुख रीति से नकारात्मक था, महात्मा जी का अनुसरण करने वाले विविध प्रकार के नेता इन बातों के सम्बन्ध में भावात्मक आधार पर निर्णयात्मक विचार करना उत्तर स्वाधीनताकाल के लिए स्थगित रखना चाहते थे। अतः हम देखते हैं कि महात्मा जी, जवाहरलाल नेहरू जैसे व्यक्ति को जिनके साथ मनुष्य, राष्ट्र और परमात्मा के मूलभूत विचारों के सम्बन्ध में उनका कोई सादृश्य नहीं है, राष्ट्रनेता के नाते अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते हैं। नेहरू मस्तिष्क अधिकांश में विदेश-निर्मित है और अपनी 'भारत की खोज' के बावजूद भारतीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ रूप की भावना श्री नेहरू कभी ग्रहण नहीं कर पाये। इसलिए प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के नेता के रूप में स्वाधीन भारत की रचना करने के लिए नया समाज प्रस्थापित करने की जिस योजना का वह प्रयोग कर रहे हैं, वह योजना है—'समाज का समाजवादी ढाँचा', जो कि अतीत के आधारात्मक विचारों की तुलना में कहीं अधिक अमूर्त और ऊपरी, कहीं अधिक यंत्रवत् तथा वर्गसंघर्ष की बिना सुलझी हुई समस्याओं से भरा हुआ है।

''आजकल हमें सर्वत्र अपने जीवन ढाँचे को अमेरिका, इंग्लैण्ड या रूस की जीवन-पद्धति के अनुसार पुनः ढालने के प्रयत्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं। हम उसे स्वतन्त्रता किस प्रकार कहें जिसमें 'स्व' (राष्ट्रीय वैशिष्ट्य, अस्मिता) का लेश न हो। उसे तो परतंत्रता ही कहना चाहिए। यदि लेनिन को आदर्श मानकर राष्ट्र-रचना की जायगी तो फिर स्वतंत्र कहाँ, वह तो लेनिन-तंत्र होगा। वास्तव में हमारी ऐतिहासिक परम्परा में सदा से स्वतंत्रता का मूल-अभिप्राय माना जाता रहा है—राष्ट्रीय जीवन-मूल्यों का अर्थात् स्वधर्म और स्व-संस्कृति का संरक्षण और संवर्द्धन।''

(अध्याय—२१)

''इस प्रकार हमारा समाज प्रगति की ऊँची बातों के नाम पर लक्ष्यहीन बहता जा रहा है। हम नहीं जानते कि हम कहाँ जा रहे हैं। क्या आज कोई ऐसी चीज है जिसे हम अपने राष्ट्रीय जीवन के स्वत्व के रूप में इंगित कर सकते हैं? जीवन की हमारी पद्धति, शिक्षण की हमारी विधि, व्यवहार की हमारी रीति, वेश-भूषा का हमारा प्रकार, मकान, कस्बे तथा नगर-निर्माण के हमारे ढंग तथा हमारी राष्ट्रीय प्रकृति के ऐसे सभी तत्वों में इतना भयानक परिवर्तन आ गया है कि हम एक क्षण के लिए भी यह सोचने के हेतु नहीं

रुकते कि क्या दूसरों का यह निम्न-स्तर का अनुकरण हमारे राष्ट्र के स्वाभिमान को चोट पहुँचा रहा है जो हमारे राष्ट्रीय अस्मिता के गँवा बैठने तथा बौद्धिक दासता में बँधते चले जाने का सुनिश्चित लक्षण है।''

(अध्याय १४)

शताब्दियों की संस्कृति और सभ्यता ने भारतीय समाज को, उसके सर्वोत्तम स्वरूप में जैसा संघटित और निर्मित किया है (जो हमारे समाज के सभी श्रेणी के लोगों के अवचेतन में तो अभी जाग्रत है) उसकी भावात्मक कल्पना का शासन के और सरकारी तथा अन्य अधिकारी नेताओं के द्वारा संचालित राष्ट्रीय नवनिर्माण के प्रयत्नों में अभाव बहुत ही अधिक निराशाप्रद है। उस गम्भीर न्यूनता का सबसे प्रमुख चिह्न शिक्षा के क्षेत्र की असफलता है। भारतीय शिक्षा-पद्धति में कुछ बहुत महत्वपूर्ण सृजनात्मक विशेषताएँ हैं जो कि उदात्तता निर्माण करने वाली हैं और जिनके द्वारा सभी के चरित्र-निर्माण में समान स्तर की सफलता प्राप्त होने के कारण वह जीवन के अन्तरतम स्रोतों को प्रभावित करती है। परन्तु वर्तमान नेतृत्व इस क्षेत्र में पूर्ण रीति से असफल रहा है और भारतीय शिक्षा-पद्धति के मूलभूत गुणों और उसके स्वरूप के आध्यात्मिक वातावरण को उसके आन्तरिक रूप में ग्रहण करने की शक्ति का पूर्ण अभाव प्रदर्शित करता है।

राजनैतिक आन्दोलन की तात्कालिक आवश्यकताओं को पूरा करने में अतिशय व्यस्तता ही, भारतीय देशभक्ति के भावात्मक रूप की, जिसमें देश की आध्यात्मिक परम्परा के स्रोतों तक पहुँचने की पर्याप्त गहराई हो, गाँधी-आन्दोलन द्वारा उपलब्धि न कर सकने का कारण है।

गाँधी और नेहरू के राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के सम्बन्ध में यह कथन आश्चर्यजनक लग सकता है। परन्तु फिर भी यह सच है।

गाँधी-आन्दोलन के प्रारम्भ से ही, पंजाब में अमृतसर के अत्याचारों के और अली-बन्धुओं के खिलाफत आन्दोलन के पश्चात्, वह असफलता मुसलमानों के साथ के व्यवहार में बहुत अनर्थपूर्ण ढंग से दिखायी दी।

गाँधीवादियों ने यह मान लिया कि अली-बन्धु और उनके इस्लाम के सहधर्मी सचमुच में भारतीय राष्ट्रीयता के अनुगामी हैं और भारत के प्रति उसी प्रकार समर्पित हैं जैसे कि हिन्दू। हाँ, यदि वे चाहते तो अन्यों के साथ समान शर्तों पर राष्ट्रीय संस्था के सदस्य हो सकते थे। परन्तु वास्तविकता यह है कि उनके नेताओं, जैसे अलीगढ़ आन्दोलन के सर सैयद अहमद खाँ आदि, का विकास पृथकतावादी मनोवृत्ति के आधार पर हुआ था।

उन्हें सिखाया गया था पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों की माँग करना, जिसका समय आने पर अन्तिम परिणाम हुआ पाकिस्तान तथा देश का धार्मिक आधार पर विभाजन।

पूर्व के आक्रमणकारियों—शक, सीथियन, हूण आदि—को आत्मसात् करने में हमारा देश सफल हुआ था। परन्तु मुसलमानों को राष्ट्रीय समाज में समाविष्ट करने की भारत की असफलता एक उल्लेखनीय तथ्य है, जिसकी कि राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के नये भारतीय नेताओं ने पूर्ण उपेक्षा की। मुसलमानों को बहुसंख्यकों के मूल्य पर सुविधायें देकर अपना बनाने का प्रयत्न उनकी बड़ी भारी भूल थी। अन्तिम परिणाम द्वारा यही प्रदर्शित हुआ। प्राप्तकर्ता की विचारसरणी में परिवर्तन हुए बिना दी गई सुविधाओं से आवश्यक परिवर्तन होना सम्भव नहीं था।

''इसके लिये एक अत्यन्त युक्तियुक्त और देशभक्तिपूर्ण उपाय था। वह यह था कि उनसे स्पष्ट कह दिया जाता—'दोस्तों, पुरानी मुगल बादशाहत के दिन बीत चुके हैं। अन्त में हम दोनों ही को यहाँ भाई-भाई की भाँति इस राष्ट्र में जीवन के भागीदार के रूप में रहना है। अन्तत: आप भी उसी जाति के हैं, जिसके हम हैं और हमारा अपना रक्त एक ही है, किन्तु मुगल, तुर्क तथा अन्य विदेशी जातियों ने आपको तलवार की नोक से इस्लाम में धर्मान्तरित कर लिया है। अब मन में उन विदेशी आक्रान्ताओं से अपने को सम्बन्धित रखने और उनके चरण-चिह्नों का अनुसरण करने के प्रयत्न का कोई अर्थ नहीं है। इस प्रकार की सभी अलगाव की स्मृतियों को भूल जाओ। इस भूमि के जीवन में अपने को विलीन करो। अब से इस देश के महान् पुत्रों का सम्मान करने और उनके उदाहरणों का अनुसरण करने का प्रयत्न करो जो हमारी मातृभूमि एवं संस्कृति की स्वतन्त्रता और सम्मान के लिए लड़े हैं। —तो कार्य बहुत सरल हो गया होता!''

(अध्याय...१०—(२))

आत्मसात् करना सम्भव भी है और आवश्यक भी, परन्तु उसके लिए सही तत्वज्ञान, सही मनोवृत्ति, सही व्यवहार-नीति और सही युक्तियाँ चाहिए। परन्तु भारतीय नेता इस प्रकार की व्यवहारपद्धति का विकास करने में अयोग्य सिद्ध हुए। वे अपनी प्रचण्ड भूल पर तब तक अचल रहे जब कि परिणामस्वरूप उन्हें मातृभूमि का विभाजन करना पड़ा। उनकी वैसी ही सत्यानाशकारी कार्यशैली आज भी है और इस प्रकार वे "पाकिस्तानी" तत्वों को और भी प्रोत्साहन दे रहे हैं।

एक अन्य दृष्टि से राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के नेताओं का विश्व की ओर देखने का दृष्टिकोण बहुत नकारात्मक और इसलिए असफल और निराशाप्रद सिद्ध हुआ है। इसका सरोकार वर्तमान पश्चिमी सभ्यता के प्रति स्वतंत्र भारत के योग्य सम्बन्ध की जो परिकल्पना होना चाहिए उससे है। यह बहुत बार भुला दिया जाता है कि हिन्दू धर्म केवल एक पन्थ नहीं है जो केवल उपासना की पद्धतियों अथवा उन पद्धतियों की विशिष्ट सामाजिक प्रथाओं से सम्बद्ध हो। इस सन्दर्भ से हिन्दू शब्द का एक राष्ट्रीय स्वरूप है। वह "भारतीय" (इण्डियन) शब्द के समानार्थी है—अर्थात् उन लोगों से संलग्न है जो सिन्धु नदी के समीप रहते थे। यह भारत की भूमि पर प्रागैतिहासिक काल से सहस्राब्दियों में विकसित भारतीय राष्ट्र की सम्पूर्ण संस्कृति और सभ्यता को सूचित करता है।

गाँधी-युग में कुछ नेताओं के विचार में अतीत की जीवित जड़ों से फूटी हुई तथा वर्तमान पश्चिमी मूल्य-समुच्चय में से सर्वोत्कृष्ट को आत्मसात् करने वाली एक विकासशील भारतीय सभ्यता की कल्पना को एक प्रधान स्थान था। गाँधी जी की छोटी-सी पुस्तक "हिन्द स्वराज्य" उनकी इस इच्छा की बोधक है, यद्यपि उनमें जिन विचारों की रूपरेखा है उनके प्रति चारों ओर सहमति नहीं थी।

परन्तु आज हम देखते हैं कि एक विदेशी अनात्मसात्, अपरिष्कृत, वर्गयुद्ध से प्रभावित मार्क्सवाद से सम्बन्धित एकाश्म (Monolithic) सामाजिक ढाँचा अधिकारियों के संरचनात्मक आदर्शों (Structural ideals) तथा वास्तविक नीतियों को प्रभावित कर रहा है। और यह हो रहा है, इतने विशाल और भाग्य निर्णायक कार्य के लिए आवश्यक विचारों का पुनराकलन किये बिना ही।

इस विषय में भी सत्ताधारी नेताओं के मस्तिष्क में भारतीय सांस्कृतिक विचारों की शून्यता उन विचारों और आदर्शों से पूरी की जा रही है जो राष्ट्रीय नवनिर्माण के लिए अनुपयुक्त है। सृजनात्मक सुधार की तुलना में मूर्तिभंजक पद्धतियों को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो रहा है।

दोनों ही क्षेत्रों में अर्थात् अल्पसंख्यकों के राष्ट्र में समाविष्ट करने और पश्चिमी सभ्यता के आत्मसात् करने (उसके राजनैतिक-सामाजिक-दर्शन तथा उसके विज्ञान और प्रौद्योगिकी दोनों विषयों में) के सम्बन्ध में भारत को अधिक भावात्मक और अधिक सृजनात्मक नीति अपनाने की आवश्यकता है। यह नीति भारतीय समाज के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप की उत्तमोत्तम विशेषताओं को

और राष्ट्रीयता तथा पाश्चात्यता के चिरस्थायी तत्वों को सही अनुपात में रखने के सम्बन्ध में स्पष्ट दृष्टि द्वारा तथा उनके मानव-महत्व के सम्बन्ध में असन्दिग्ध अन्तर्दृष्टि के आधार पर निश्चित होनी चाहिये।

यह महत्व की बात है कि इस अधिक यथार्थ दृष्टिकोण को डा० हेडगेवार द्वारा १९२५ में नागपुर में स्थापित संस्था में मूर्तरूप प्राप्त हुआ। उनके राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (जिसका शाब्दिक अंग्रेजी अनुवाद है–National Volunteer Corps) के नाम से ज्ञात आन्दोलन में सन्निहित दर्शन और इतिहास अधिक भावात्मक तथा ठोस प्रेरणा थी, जिसका अधिक प्रमुखता प्राप्त गाँधी-आन्दोलन में अभाव था। यद्यपि तत्कालीन राजनैतिक रुचि और राष्ट्रीय स्वाधीनता की अत्यावश्यकता के कारण उसे शीर्षकों में स्थान प्राप्त हुआ था।

भारतीय संस्कृति के सही दर्शन और इतिहास के अतिरिक्त डा० हेडगेवार ने मानसिक तथा शारीरिक व्यायामों के शिक्षाक्रम द्वारा तरुणों के प्रशिक्षण की एक अनोखी पद्धति ढूँढ़ निकाली। प्रशिक्षण में शरीर और मस्तिष्क के संयोजन की दृष्टि से संघ की शिक्षापद्धति संगीत और व्यायाम (Music and Gymnastic) की प्लेटो की पद्धति के प्रमुख तत्वों का स्मरण करांती है। संगीत से प्लेटो का अर्थ था–कला और विज्ञान का सम्पूर्ण क्षेत्र–इतिहास, दर्शन, विज्ञान तथा ललित कलाएँ। व्यायाम से उसका अर्थ था—स्वस्थ मस्तिष्क का स्वस्थ शरीर में विकास करना, जहाँ संगीतज्ञ के हाथों में बज रही वीणा के समान स्वस्थ शारीरिक अवस्था में आत्मा की श्रेष्ठ उदात्त प्रवृत्तियाँ निनादित हों।

संघ के तरुण स्वयंसेवकों के व्यायाम को देखकर प्रेक्षक को यह अनुभव हो जाता है कि प्लेटो के आदर्श को साकार करने में वे कितने अधिक सफल हुए हैं। प्लेटो ने साहस को एक प्रमुख गुण माना और इसी प्रकार संघ के शिक्षक भी साहस पर तथा अन्याय और आक्रमण का विरोध करने के लिए अन्य आवश्यक गुणों पर बल देते हैं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विरुद्ध यह एक "साम्प्रदायिक संस्था" है और देश के लिए साम्यवाद से भी अधिक खतरनाक है, इस प्रकार के प्रचलित आरोप जो विशेष रूप से काँग्रेस नेताओं और उनके अनुयायियों द्वारा लगाए जाते हैं, सत्य का उपहास मात्र है।

परम पूजनीय गुरुजी 'गोलवलकर' द्वारा पिछले दशक अथवा इससे भी अधिक काल में विभिन्न अवसरों पर देश के भिन्न-भिन्न भागों में संघ के कार्यकर्ताओं और जनता के समक्ष प्रकट किए गए विचारों के इस संग्रह में

A 74279

भारतीय संस्कृति के दर्शन और इतिहास की रूपरेखा तथा डा० हेडगेवार द्वारा निर्दिष्ट संघ की राष्ट्र-निर्माण की पद्धति भी दी हुई है।

आज देश में सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के प्रायः सबसे प्रभावी आन्दोलन के रूप में (जिसका पंजाब से मद्रास तक, देश के प्रायः प्रत्येक भाग में विस्तार हो चुका है) संघ की पूरी भूमिका को समझने के लिए यह आवश्यक है कि अनभिज्ञ और ईर्ष्यालु विरोधियों की ऐसी क्षुद्र आलोचनाओं को कि यह साम्प्रदायिक अथवा हीन अर्थ में केवल "हिन्दू" है, विचार में न लिया जाय।

यह राष्ट्रीय संस्कृति के दर्शन पर आधारित है तथा सम्पूर्ण राष्ट्र की परिकल्पना करता है।

जो दृष्टिकोण यह प्रस्तुत करता है, उसमें सब अल्पसंख्यकों के लिए स्थान है, इस शर्त पर कि वे अपने जीवन में राष्ट्र के सर्वोच्च सत्य के समक्ष पूरे हृदय से आत्मसमर्पण करें। राष्ट्र विश्वव्यापी सत्यों का माध्यम मात्र है, और उनसे अधिक महत्वपूर्ण कोई सत्ता नहीं है। यह उस अतिरेकी राष्ट्रवाद के स्वरूप से भिन्न है, जिसका परिचय पश्चिमी जगत् के हाल के इतिहास में मुसोलिनी और हिटलर के नाम से सम्बन्धित पाया जाता है।

राष्ट्र की जन्मभूमि में माँ की प्रतिमा के रूप में राष्ट्रीय समाज के प्रति निष्ठा और भक्ति की यह शिक्षा देता है। नागरिकों को यह सिखाया जाता है कि उन्हें मातृभूमि की एकता और संघटन के प्रति सर्वोच्च बलिदानी निष्ठा रखनी चाहिए। भूमि तथा समाज की आध्यात्मिक एकता के स्वरूप राष्ट्र के प्रति जिनमें भक्ति की भावना है, वे वास्तविक रूप से भारतीय तथा हिन्दू हैं। मानसिक समर्पण अन्तिम तथा सर्वोच्च होना चाहिए।

यह इस बात के साथ बिलकुल संगत है कि विभिन्न जमात और पन्थ अपनी-अपनी पूजा की पद्धति और सामाजिक प्रथाएँ बनाये रखें यदि उनकी वे बातें सामाजिक संघटन के प्रतिकूल नहीं हैं।

"हमें एक बार पुनः पराक्रमवाद को पुनरुज्जीवित करना चाहिए। इसके लिये हमें यह स्पष्ट करना होगा कि यहाँ निवास करने वाले अहिन्दू का एक राष्ट्रधर्म अर्थात् राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है, एक समाज-धर्म अर्थात् समाज के प्रति कर्तव्यभाव, एक कुलधर्म अर्थात् अपने पूर्वजों के प्रति कर्तव्य भाव है तथा केवल व्यक्तिगत धर्म, व्यक्तिगत निष्ठा का पंथ अपनी आध्यात्मिक प्रेरणा के अनुरूप वह चुनने में स्वतन्त्र है। वह किसी भी पंथ को, जो उसकी आध्यात्मिक भूख को शान्त करे, स्वीकार कर सकता है। सामाजिक जीवन में उन सभी विविध कर्तव्यों का पालन करने के पश्चात् भी यदि कोई कहता है कि उसने

A 74279

कुरान शरीफ या बाइबिल का अध्ययन किया है और पूजा का अमुक प्रकार उसके हृदय को अधिक स्पर्श करता है तथा वह भक्ति के उस मार्ग द्वारा ईश्वर की आराधना अधिक भलीभाँति कर सकता है तो हमें उसमें बिलकुल आपत्ति नहीं होगी। शेष के लिए उसे राष्ट्रीय धारा के साथ एक होकर रहना ही चाहिये। यही वास्तविक एकीकरण है।''

(अध्याय—९)

मुसलमानों, ईसाइयों, यहूदियों आदि को पूर्ण उपासना स्वातंत्र्य है। जब तक कि वे राष्ट्रीय समाज की श्रद्धा और उसके प्रतीकों को विनष्ट करने अथवा उनकी जड़ें काटने का प्रयत्न नहीं करते। उन्हें अपने अन्तिम तथा एकमात्र दैवी ज्ञान के एकान्तिक दावों को राष्ट्रीय समाज की धारणाओं के समक्ष अधीनस्थ कर देना चाहिए। वह जीवन में और सम्भाषण में अपने मत को प्रमाणित मान कर चल सकते हैं परन्तु उन्हें मत-परिवर्तन के अनुचित और अनाध्यात्मिक पद्धतियों का उपयोग नहीं करना चाहिए।

राष्ट्रीय तादात्म्य के लिए यह आवश्यक है कि अल्पसंख्यकों सहित सम्पूर्ण राष्ट्रीय समाज को अतीत के सर्वश्रेष्ठ मूल्यों को अपनाना चाहिए। उन्हें राष्ट्रीय धर्म, सर्वश्रेष्ठ परम्परागत आचार में प्रतिष्ठापित नैतिक सिद्धान्तों और जीवन-पद्धतियों के विधान के प्रति आदरभाव रखना चाहिए। सांस्कृतिक इतिहास में उन्हें पूर्ण रीति से अपने मस्तिष्क और हृदय द्वारा सर्वश्रेष्ठ उदाहरणों का गुण निरूपण करना चाहिए। अहिन्दू राम और कृष्ण को लौकिक उदाहरणों के रूप में महत्व दे सकते हैं जबकि हिन्दू उन्हें आध्यात्मिक आदर्श (अवतार) के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

मुस्लिम काल का राष्ट्रीय इतिहास बिना सँवारे, विशुद्ध सत्य का कथन करते हुए लिखा जाना चाहिए और वास्तविक इतिहास के वीरों द्वारा उदाहृत सर्वश्रेष्ठ मूल्यों को सबको महत्व देना चाहिए।

इस प्रकार इन विचारों द्वारा सर्वश्रेष्ठ भारतीय समाज का तथा जीवन और संस्कृति के सभी क्षेत्रों—दर्शन, कला, सामाजिक व्यवस्था के मूल्यों के ढाँचे का चित्र जो कि संघ राष्ट्रीय मस्तिष्क रूपी आयने के सन्मुख उपस्थित करना चाहता है—शान्तिपूर्ण और धैर्यपूर्वक चित्रित होता जाता है। भूदृश्य असंख्य पेड़ों से भरे होने के कारण सम्पूर्ण वन को दृष्टिगत करने के लिए यह आवश्यक है कि भूदृश्य की सम्पूर्ण रूपरेखा को विहंगम दृष्टि से देखा जाय और फिर उसकी रचना में विवरण की बातों का स्थान स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

इन भाषणों में बार-बार आने वाली विषय-वस्तु है अतीत की सांस्कृतिक परम्परा का अभिमान। अध्याय के बाद अध्याय सामाजिक जीवन में वर्तमान काल में अनुकरण करनें और व्यक्तिगत चरित्र तथा व्यक्तित्व में ग्रहण करने के योग्य प्रेरणाप्रद मूल्यों को व्यक्त करने वाली विशेषताओं के किसी न किसी पहलू की ओर इंगित करते है। परम्परा प्राप्त संस्कृति के श्रेष्ठतम मूल्यों के और आज भी उसकी मार्गदर्शन करने की सामर्थ्य के प्रति श्रद्धा स्थिर करने के लिए इसमें पर्याप्त कहा गया है।

१. दर्शन

भारतवर्ष के विशिष्ट दर्शन के नाते वेदान्त चिरन्तन आनन्द देने वाले परमात्मा द्वारा व्याप्त एक विश्व की परिकल्पना करता है। ऐसी सर्वोच्च विश्वात्मा के स्फुलिंगों के रूप में व्यक्तिगत आत्माओं का दैवी लक्ष्य है—विश्व के साथ एकात्मता प्राप्त करना तथा परमेश्वर तुल्य बनना। इससे यह निश्चित हो जाता है कि सभी आत्माओं के व्यक्तित्वों में समानता है। जनतंत्र का इससे अधिक श्रेष्ठतर और कौन-सा आधार हो सकता है? उदारतापूर्ण व्यवहार और समाज के जीवन में स्वार्थ-त्याग की भावना से भाग लेने के लिये इससे अधिक और कौन सी महानतर स्फूर्ति हो सकती है? परिवार, जाति तथा स्थानीय क्षेत्र के पश्चात् राष्ट्र ही एक ऐसा समुदाय है, जिसकी सेवा के द्वारा हम नैतिक स्तर में ऊंचे उठते हैं।

सभी समूह जो इस कल्पना और अनुशासन के भागी हैं, वे देश के समान नागरिक हैं, पर अन्य कोई नहीं। देशद्रोहियों को जब तक उनकी भावना में ही परिवर्तन नहीं होता, राष्ट्रीय बन्धुत्व की श्रेणी में आत्मसात् नहीं किया जा सकता।

२. सहिष्णुता

प्रज्ञा तथा तादात्म्य की भावना से उत्पन्न होने के कारण ईश्वर का सर्वव्यापकत्व दिग्दर्शित करने वाले इस दर्शन ने सभी दृष्टिकोणों, धार्मिक मतों और जीवन-पद्धतियों के प्रति सहिष्णुता के भारतीय सिद्धान्त को जन्म दिया है। सभी उस विश्वात्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं और इसलिए अपनी गति से, अपने ढंग से तथा अपने प्रतीकों के माध्यम से उसी लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं, यदि उनकी आकांक्षा और प्रयत्न में ईमानदारी हो। उन्नति करते समय भूलों का अपने आप सुधार होता जायेगा।

अधिकारभेद

विभिन्न योग्यताओं के अनुसार अवस्था की भिन्नता वह सूत्र है, जिसके द्वारा लक्ष्य की एकता और मार्गों की भिन्नता में सामञ्जस्य स्थापित होता है।

३. समाज-व्यवस्था

भारत में ऐसे विचारों के द्वारा समाज-व्यवस्था की रूपरेखा निर्मित हुई है जिसके द्वारा इसके सदस्य युगों के अनुभव का उपयोग करते हुए तथा व्यक्तित्व को अधिक उच्च धरातल पर उठाते हुए जीवन के सोपान पर साधारणतया निर्बाध रीति से सीढ़ी-दर-सीढ़ी अग्रसर हो सकते हैं।

व्यक्ति का जीवन ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास में विभाजित है। प्रथम काल में विद्यार्थी सांस्कृतिक परम्परा को ग्रहण करता है तथा सत्य, विज्ञान, दर्शन, विधि (धर्मशास्त्र) तथा कलाओं को आत्मसात् करता है। द्वितीय में, वह समाज के सदस्य तथा अपने परिवार के मुखिया के नाते अपने कर्तव्य पूर्ण करता है। गृहस्थ कर देता है, राज्य की सहायता करता है तथा दान करता है। जीवन का द्वितीयार्ध व्यक्ति को इस बात के लिये तैयार करता है कि वह सांसारिक जीवन के ब्यौरे की बातों में अपने को न फँसाये और, परमात्मा का चिन्तन कर सके। जीवन के मूल्य, जिसमें परिवार के अन्तर्गत तथा उसके बाहर स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध भी सम्मिलित हैं, एक ऐसा ढाँचा प्रस्तुत करते हैं, जिसका विश्वव्यापी महत्व है। उससे जीवन सर्वोत्तम हो जाता है और उसमें उपभोग, प्राप्ति तथा शांति (काम, अर्थ, धर्म) का पूर्ण सन्तुलन रहता है। यही आश्रम धर्म है, जिसके लाभदायक समाज-शास्त्रीय महत्व को पश्चिम ने आज भी ठीक से आत्मसात् नहीं किया है।

समाज-व्यवस्था का एक दूसरा पक्ष है विभिन्न व्यावसायिक समूहों के कर्तव्य और अधिकार अर्थात् स्वधर्म। सत्य, अस्तेय, अहिंसा आदि सार्वभौम मूल्यों के अतिरिक्त भारतीय नीतिशास्त्र विभिन्न व्यवसायों को भी मान्यता प्रदान करता है—विचारक और पुजारी अर्थात् सत्य और परमात्मा अथवा प्रकृति अथवा वास्तविकता के स्वतंत्र उपासक; योद्धा और प्रशासक, कार्य संचालक आदि, व्यापारी और उद्योगपति और परिवाहक, कृषक और पशु-पालक और पशु-संवर्धक आदि। किसी भी प्रगतिशील समाज में सामाजिक कार्य विभेद उत्पन्न होने पर ये वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं। यदि उनके कर्तव्य निर्धारित कर दिये जाते हैं और समाज की उनके प्रति सामाजिक अपेक्षाएँ स्पष्ट हो जाती हैं, जिससे प्रत्येक को यह ज्ञान हो जाये कि उससे क्या आशा

की जाती है—अपने अधिकारों और कर्तव्यों की —तो एक समन्वित सामाजिक व्यवस्था स्वत: ही उत्पन्न हो जायेगी। वर्तमान समाज योग्यता के अनुसार, स्वधर्म के अर्थात् कर्म और गुण, चरित्र और आचार और प्रत्येक के व्यवसाय से उत्पन्न होने वाले कर्तव्यों के आधार पर व्यवसायों को चुनने की सबको छूट देगा।

वर्ग-युद्ध नहीं

समाज के प्रति भारतीय दृष्टिकोण एक और दृष्टि से श्रेष्ठ है कि उसे वर्ग-युद्ध स्वीकार नहीं है। वह मानता है कि सामाजिक सामञ्जस्य सम्भाव्य है; चाहे वह विधियों, प्रथाओं, व्यवहार-नियमों और आदेशात्मक कार्यों की एक पूर्ण रीति से प्रचलित व्यवस्था के रूप में न आ सके।

समूहों और व्यक्तियों के व्यवहार के निरूपक के रूप में धर्म विभिन्न परस्पर विरोधी पक्षों के दावों में सामञ्जस्य स्थापित करता है। इन परस्पर विरोधी पक्षों द्वारा समाज की, की जाने वाली सेवा तथा समाज में किये जाने वाले कार्यों के आधार पर यदि संघर्ष का निष्पक्ष रूप से अध्ययन हो तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्रत्येक समूह के दावों में सत्य और न्याय का कितना अंश है। पंचायत द्वारा अभिव्यक्त हितों और मूल्यों के सामञ्जस्य की अभिव्यक्ति और उसका निश्चित रूप धारण करना धर्म कहा जायेगा। संघर्षों को सुलझाने की पंचायत पद्धति के चिरकालीन भारतीय विश्वास का यही मूल है। यह एक ही साथ जनतांत्रिक, वैज्ञानिक तथा नैतिक भी है।

अत: वर्ग-युद्ध अथवा विभिन्न कार्यों और वर्गों की असमाधेय प्रतिद्वन्द्विता के विनाशकारी विचार से भारतीय योजना सफलतापूर्वक मुक्त रही है।

'धर्म' शब्द के प्रयोग से उसमें विभिन्न सम्प्रदायों तथा धार्मिक संघों के जो एक ही भावों के लिये पृथक् शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं, जैसे मुसलमान, ईसाई—समावेश होने पर कोई निषेध नहीं है। इन विचार, पद्धति और मूल्यों का भाव-तत्व स्पष्ट रूप से असाम्प्रदायिक और मानवीय है।

अत: मनुष्य और प्रकृति के तत्वज्ञान और सामाजिक हित दोनों के ही दृष्टिकोण से, भारतीय योजना एक व्यापक सामाजिक दर्शन प्रस्तुत करने में समर्थ है जो कि वर्तमान जटिल जीवन में सुरक्षा प्रदान करने वाला ढाँचा दे सके। यह एक ऐसा सामाजिक दर्शन है जो कि मार्क्सवाद और फ्रायडवाद के प्रचलित हिंसात्मक तथा पंकिल सिद्धान्तों से श्रेष्ठ है।

राज्य की सार्वजनिक हित के कर्ता के रूप में भूमिका अर्थात् राजधर्म जिसे अब राज्यनीति अथवा राज्यधर्म कहा जा सकता है-के सम्बन्ध में भी भारतीय

विचार की युक्तिसंगत धारणाएँ हैं। राज्य को पाक्षिक हितों से ऊपर रहना चाहिए और सब कार्यों का धर्म के अनुसार नियंत्रण करना चाहिए। राजनीति अथवा समाजशास्त्र के भारतीय शास्त्रों के अनुसार राज्य उच्च वर्ग का वर्ग-प्रतिनिधि नहीं है। न वह शोषण का एक साधन है। वह नैतिकता अर्थात् धर्म का माध्यम है। सामाजिक सत्ता के साथ आर्थिक सत्ता संयुक्त करने के अर्थ में वह समाजवाद का निषेध करता है। राज्य व्यापारी अथवा उत्पादक नहीं है परन्तु उसे सब व्यवसायों को नियंत्रित करने का अधिकार है। इस प्रकार भारतीय विचार वर्तमान संघर्षों और सामाजिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विचार करने में सहायक है और अधिक विस्तृत अनुभव तथा प्रौढ़ चिन्तन पर आधारित होने के कारण अधिक सन्तोषप्रद समाधान खोज निकालते हैं।

निस्सन्देह हम अतीत का अतिक्रमण कर सकते हैं, परन्तु तभी जब उसके माध्यम से विचार कर नये निष्कर्षों की प्राप्ति करें, उसकी उपेक्षा कर और नये सिरे से प्रारम्भ कर नहीं।

और यह पूर्व के प्रयासों का अपव्यय होगा, यदि हम फिर शून्य से विचार प्रारम्भ करें जबकि हमारी इच्छा होते ही हमें महत्वपूर्ण विचार उपलब्ध हो सकते हैं। यह वैसा ही होगा जैसे प्रत्येक वैज्ञानिक सभी पूर्व के अन्वेषणों की उपेक्षा कर, मौलिकता की भ्रमपूर्ण धारणा ले कर, नये सिरे से कार्य प्रारम्भ करे।

वास्तविक और दृढ़ नींव के ऊपर निर्मिति करना उग्र राष्ट्रवाद नहीं, सामान्य बुद्धि है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ केवल विचारों और आदर्शों की शिक्षा देने वाला विद्यालय ही नहीं है। वह चरित्र-निर्माण की व्यावहारिक शिक्षा देने वाला विद्यालय भी है। जैसा बताया जा चुका है—स्वयंसेवकों का कई शिविरों में प्रशिक्षण होता है जिनमें गीत, सामूहिक जीवन, इतिहास तथा राष्ट्रीय आदर्शों और राष्ट्रीय महापुरुषों के विषय में चर्चा, कवायत् और शारीरिक व्यायाम आदि के द्वारा, मातृभूमि की सेवा का लक्ष्य और उसका अभ्यास, चरित्र का एक अंग बन जाता है। उदाहरण प्रस्तुत कर उसके प्रभाव का पूरा लाभ लिया जाता है।

शाखाओं में स्वयंसेवकों के दिन-प्रति-दिन के एकत्रीकरणों, राष्ट्रीय उत्सवों, महापुरुषों की जयन्तियाँ मनाने के समय बड़े सम्मेलनों, भाषणों, प्रदर्शनों तथा अन्य ढंगों के द्वारा साहस, अनुशासन, समाज के प्रति सेवा का भाव तथा गुरुजनों और विद्वानों के प्रति सम्मान का भाव निर्माण किया जाता

है । सुपरिचित आदर्शों और भारतीय संस्कृति की पद्धति के पूर्ण अनुरूप देश में तरुणों के प्रशिक्षण की यह एक अनूठी पद्धति है ।

स्वयंसेवकों के शिविरों में अथवा नित्य कार्यक्रमों में किसी के प्रति घृणा की थोड़ी सी भी ध्वनि नहीं सुनायी देती । स्वयंसेवकों के सम्पूर्ण मस्तिष्क और हृदय में केवल मातृभूमि की भावात्मक मूर्ति प्रस्थापित की जाती है ।

"यह हमारा धर्म है कि हम अपने समाज को, जिसे कि हम अपनी पूज्य माता मानते हैं, शक्तिशाली, महान् तथा सुखी बनावें । अपने समाज के लिए यह सहज प्रेम एवं भक्तिभाव, अपने राष्ट्रीय अस्तित्व मे यह भावात्मक श्रद्धा हमारे सभी कार्यों के लिए निरन्तर प्रेरणा प्रदान करती है । इस प्रकार का वास्तविक प्रेम बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होता । न ही वह उनके कारण उत्पन्न होता है । इसकी जड़ें हमारे हृदय में होती हैं जो हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण में अपने राष्ट्र के प्रति कर्तव्य का स्मरण कराती रहती हैं । यह हमें सचेत करता रहता है कि हम इस महान् एवं पवित्र मातृभूमि से सम्बन्धित हैं, इसकी कृतज्ञता का हमारे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है और हमारी प्रत्येक कृति उसके कार्य के हेतु समर्पित होनी चाहिए ।"

अपने इस वर्तमान नेता के विचारों को इन पृष्ठों में संकलित किया गया है । इन विचारों में हमें आधुनिक भारतीय नेतृत्व के उस विशेष अलग प्रकार के मस्तिष्क की झलक देखने के लिए उपलब्ध है जिसकी उपेक्षा विदेशीयता के रंग में रँगी अधिक प्रसिद्ध गाँधीवादी काँग्रेस के द्वारा होती रही है । यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा कि संघ द्वारा मान्य राष्ट्र-निर्माण के सिद्धान्त और उसकी कार्यपद्धति कितनी पूर्ण, कितनी भावात्मक, कितनी देशभक्तिपूर्ण और साथ ही कितनी आदर्शवादी एवं व्यावहारिक भी है । यह भी दृष्टिगोचर होगा कि सही पद्धति के अनुसार राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के आधारों को प्रस्तुत करने और राष्ट्रीय पुनरुत्थान की प्रेरणा प्रदान करने के अन्य सभी वर्तमान प्रयत्नों का संघ एक अनिवार्य मौलिक संशोधक है । यह साम्प्रदायिक नहीं, राष्ट्रीय है । और इसकी राष्ट्रीयता में उन सब नागरिकों के लिए स्थान है जो कि समाज-सेवा का जीवन व्यतीत करते हुए, जिसका प्रतिरक्षा सबसे कम महत्व-पूर्ण अंग नहीं है, आध्यात्मिक राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना ग्रहण करते हैं । सेवाभाव अथवा त्याग के भी लिए तत्परता इस आन्दोलन का विशेष लक्षण है ।

बंगलौर

एम० ए० वेंकट राव

२८ अप्रेल १९६०

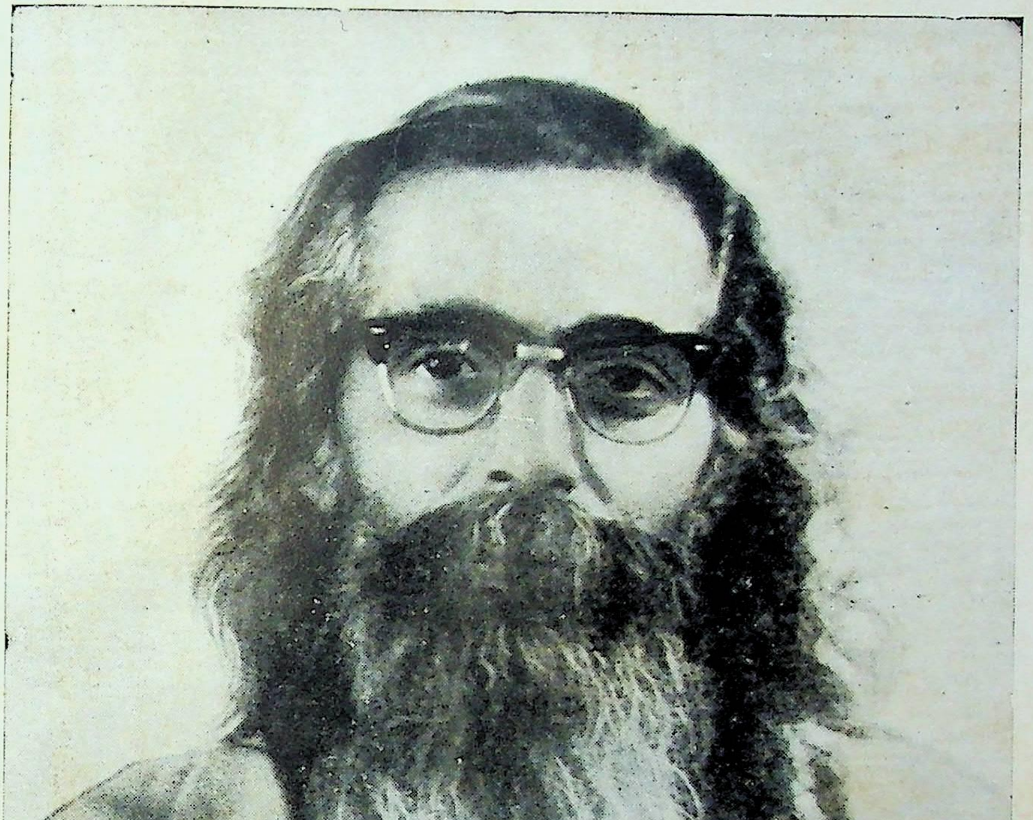

प्रथम भाग

जीवन लक्ष्य

१

हमारा जागतिक लक्ष्य

वर्तमान मानसिक ग्रन्थि

आज हमारे देश के बहुत लोगों का यह विचार है कि कोई भी उपक्रम जिसे हम अंगीकार करें, वह देश, जाति अथवा धर्म की सभी सीमाओं से परे एक महत् जागतिक विचार के व्यापक आधार पर अधिष्ठित तथा सम्पूर्ण मानवता का हित-साधन करने में समर्थ होना चाहिए। इस दृष्टिकोण के समर्थन में कुछ लोग प्रतिपादन करते हैं कि मिसाइल और राकेटों के इस युग में दूरी लुप्त हो चुकी है, देशों की सीमा-रेखाएं अर्थहीन हो चुकी हैं तथा सम्पूर्ण संसार सिकुड़ गया है। उन्हें लगता है कि देश, राष्ट्र आदि की कल्पना ही कालातीत हो गई है और इसलिए केवल विश्व-ऐक्य की भावना ही हमारे समस्त कार्य-कलापों की प्रेरणा होनी चाहिए। उनका निष्कर्ष है कि वे आधुनिक 'वाद' ही, जिन्होंने 'अन्ताराष्ट्रीयतावाद' को अपना दलीय सिद्धान्त स्वीकार कर रखा है, हमें उस इच्छित लक्ष्य तक ले जा सकते हैं।

अब स्वाभाविक ही जो प्रश्न हमारे सामने आता है, वह यह है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा ग्रहण किया हुआ हिन्दुओं के राष्ट्रीय जीवन को पुनः संघटित करने का कार्य संसार के ऐक्य एवं मानव-हित की भावना के साथ कहाँ तक समरूप है?

इस क्षेत्र में प्रथमागत

आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना है कि आधुनिक विचारक संसार के ऐक्य एवं विश्वकल्याण की दृष्टि से चिन्तन के क्षेत्र में प्रथम नहीं हैं। बहुत

काल पूर्व, वास्तव में तथाकथित आधुनिक युग के आगमन के बहुत पहले इस देश के ऋषि-मनीषी इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर गम्भीरता से मनन कर चुके थे। अनन्तकाल से मानव की एकता का आदर्श, संघर्ष एवं सब प्रकार के दैन्य से मुक्त एक विश्व की कल्पना हमारे हृदयों को उद्दीप्त कर चुकी है। युग-युगान्तर से हमारी निरन्तर एक प्रार्थना रही है—

'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वेसन्तु निरामयाः,

(सभी सुखी हों और सबकी सभी अनिष्टों से मुक्ति हो) जबकि वर्तमान काल का पश्चिम 'अधिकतम संख्या का अधिकतम हित' के आदर्श वाक्य से आगे नहीं बढ़ पाया है, हमने प्रत्येक मानव के ही नहीं, प्रत्येक प्राणी तक के दुःखी होने का विचार कभी सहन नहीं किया। 'प्राणिमात्र का पूर्णकल्याण' ही सदैव हमारा उदात्त आदर्श रहा है।

दो पक्ष

किन्तु संसार की आज की परिस्थिति का अवलोकन करने पर मानव समाज को उद्ध्वस्त कर रहे और चारों ओर व्याप्त कलह एवं विध्वंस के कठोर सत्य का सामना हमें करना पड़ता है। आज मानवता, राष्ट्र और राज्य कहलाने वाले कितने ही छोटे-छोटे एकान्तिक गुटों में विभक्त एवं अन्तर्विभक्त है और उनमें प्रत्येक अपने ही संकुचित स्वार्थ में डूबा हुआ है। यह एक साधारण अनुभव की बात है कि जहां केवल निजी स्वार्थों से प्रेरित गुट रहते हैं वहां परस्पर संघर्ष होता ही है। स्पष्ट है कि जब तक इस प्रकार के संघर्ष होते रहेंगे, मानव ऐक्य एवं कल्याण असम्भव है।

कलह एवं युद्धों की वर्तमान दशा ने और परिणामस्वरूप विनाश तथा दैन्य ने अनेक विचारकों को इस निष्कर्ष पर पहुंचाया है कि एकान्तिक स्वार्थ का पोषण करने वाली यह राष्ट्रवाद की भावना ही संसार की एकता और कल्याण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। अतः उन्होंने घोषणा की है कि सम्पूर्ण संसार में मनुष्यों के मस्तिष्क से राष्ट्रवाद का उन्मूलन कर देना चाहिए। कम्युनिस्ट विचारधारा, जो अन्ताराष्ट्रीयतावाद को अपना आधार कहती है, प्रायः इसी ढंग से प्रस्तुत की जाती है।

दूसरी ओर एक और भी विचारप्रणाली है, जो इस बात को स्वीकार करती है कि राष्ट्रवाद की जड़ें इतनी गहरी तथा इतनी प्राचीन हैं कि उन्हें नष्ट करना असम्भव है। अन्ताराष्ट्रीयतावाद को स्वीकार करने के लिए राष्ट्रवाद का परित्याग करने वाला सोवियत रूस अनुभव द्वारा शीघ्र ही समझ गया

कि इस भावना का विनाश, जनता को समर्पण-भाव से प्रयास करने की प्रेरणा से वंचित कर देता है। क्रान्ति के प्रथम संवेग में तो निःसन्देह रूस ने एक सीमा तक भौतिक प्रगति उपलब्ध की थी। उनकी प्रथम कतिपय पंचवर्षीय योजनाएं कुछ परिमाण में सफल रहीं। किन्तु धीरे-धीरे जनता का जोश ठण्डा होने लगा। कार्य के लिए उनकी प्रेरणा भी निर्जीव सी होने लगी। अन्त में बड़े-बड़े कारखानों में श्रमिकों को संगीन की नोंक से काम करने के लिए बाध्य किया जाना आवश्यक हुआ। और फिर द्वितीय विश्वयुद्ध में जिस समय हिटलर के टैंक सतत रूस की भूमि को रौंदते हुए आगे बढ़ रहे थे, अन्ताराष्ट्रीयतावाद और कम्युनिज्म का घोष रूसी जनता में जोश उत्पन्न करने में असफल रहा। इससे रूसी नेताओं की आंखें खुल गयीं। रूसी जनता में प्रसुप्त देशभक्ति की भावना को जगाने के लिए मातृभूमि एवं अपने वीर पूर्वजों के प्रति अति प्राचीन काल की भक्ति के जागरण की नितान्त आवश्यकता उन्हें प्रतीत हुई। अतः यह स्पष्ट है कि मातृभूमि, समाज एवं परम्पराओं के प्रति श्रद्धा ही, जो कि राष्ट्र की कल्पना के अन्तर्गत आती है, व्यक्ति में वास्तविक सेवा और बलिदान की भावना प्रेरित करती है।

विफल प्रयोग

इस प्रकार हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राष्ट्रवाद नष्ट नहीं किया जा सकता और न उसे नष्ट करना ही चाहिए। ऐसी दशा में जो समस्या शेष बचती है, वह है राष्ट्रीय आकांक्षाओं एवं विश्व-हित के समन्वय की। वास्तव में भूतकाल में समय-समय पर विविध प्रकार के समन्वयों पर प्रयास किये जा चुके हैं। कभी-कभी साम्राज्यवाद ने भी इस समन्वय के लिए एक महत्-प्रयास होने का दावा किया था। छोटे-छोटे राष्ट्रों को एक ही साम्राज्य के अंग बनाकर उनके पारस्परिक संघर्षों को मिटाया जा सकता है, ऐसा ही यह विचार था। किन्तु मूलतः स्वयं की स्वार्थपूर्ति ही उसका उद्देश्य होने के कारण परिणामतः साम्राज्यवाद राष्ट्रों के संघर्ष मिटाने में असफल रहा। उनके उत्पीड़न एवं शोषण के विरुद्ध परतंत्र राष्ट्रों द्वारा विद्रोह होने लगे।

'लीग आफ नेशन्स' भी, जिसका निर्माण प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् हुआ था, युद्धों को टालने और विश्व-एकता की उपलब्धि का प्रयोग था। किन्तु अपने जन्म के दो दशाब्दों के भीतर ही वह भी अनियंत्रित राष्ट्रीय आकांक्षाओं तथा परिणामस्वरूप होने वाले संघर्षों की चट्टान से टकरा कर चूर-चूर हो गई। पिछले सभी युद्धों से अधिक भीषण एक युद्ध ने मृत्यु और विनाश के द्वारा

पृथ्वी के मुख को मलिन कर दिया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् निर्मित राष्ट्र-संघ भी कुछ अधिक अच्छी प्रकार से नहीं चल रहा है। कश्मीर के मामले में हमारा अपना ही अनुभव हमें बताता है कि वह न्याय करने, गलती करने वाले सदस्यों की कटु आलोचना करने तथा राष्ट्रों के मध्य एक सम्मानपूर्ण सौहार्द्र स्थापित करने में असमर्थ है। वह तो राष्ट्रीय संघर्षों के अखाड़े में बदल चुका है। शक्तिशाली राष्ट्र अपने विस्तारवादी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उसकी वाद-सभा पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करते रहते हैं। संसार के ऊपर तृतीय विश्वयुद्ध के काले बादल मँडरा रहे हैं, जिसके कारण इस वर्तमान सभ्यता का ही आकस्मिक एवं सम्पूर्ण अन्त हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवता के कल्याण के लिए सौहार्द्र की भावना से राष्ट्र एक साथ आने के लिए उद्यत नहीं हैं। इसके विपरीत राष्ट्रीय भावनाएँ अधिकाधिक एकान्तिक होती जा रही हैं और उनकी आकांक्षाएँ दिन-प्रतिदिन तीव्र हो रही हैं। विश्व-मंच पर नये-नये राष्ट्रों का उदय हो रहा है। सम्पूर्ण विश्व राष्ट्रों के संघर्षों से घिरा हुआ है।

संक्षेप में निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रवाद का विनाश हो नहीं सकता। राष्ट्रों की आकांक्षाओं में मेल बैठाने के अब तक के सभी प्रयत्न बुरी तरह असफल हो गए हैं तथा संसार आणविक महाविध्वंस के तट पर आ खड़ा हुआ है। ऐसी दशा में मानवता के उद्धार का कौन-सा मार्ग शेष रहता है? इस चुनौती का कोई भी उत्तर मिलता प्रतीत नहीं होता। सम्पूर्ण संसार में विचारक एक प्रकार की दुविधा से ग्रस्त हैं।

एकता का आन्तरिक बन्ध

तथापि, इसका हल हम हिन्दुओं के पास है। किन्तु हमारा हल भौतिकवाद पर आधारित नहीं है। अब तक के किए गये सभी प्रयास एवं प्रयोग भौतिकवाद से प्रसूत सिद्धान्तों और वादों पर आधारित थे। और भौतिकवाद के पास इस अत्यन्त प्रमुख तथा मूलभूत प्रश्न के लिए कोई उत्तर नहीं है कि विश्व की एकता एवं मानव-कल्याण की थोड़ी भी आकांक्षा लोगों में क्यों होनी चाहिए? मनुष्य के विरोध में मनुष्य के खड़े होने के दृश्य से उन्हें थोड़ी भी वेदना क्यों होनी चाहिए? हमें एक दूसरे से थोड़ा भी प्यार क्यों करना चाहिए? भौतिक दृष्टिकोण से हम सबकी समान रूप से स्थूल संज्ञा है, जो प्रत्येक अपने में अलग-अलग और एकान्तिक है तथा जिनमें परस्पर लगाव अथवा प्रेम के कोई बन्धन नहीं हो सकते। ऐसे प्राणियों में कोई आन्तरिक संयम भी नहीं हो सकता जो

सम्पूर्ण मानवता के हित में उन्हें अपने उन्मादी स्वार्थ को संयमित करने की प्रेरणा दे सके।

अन्ततः विश्वकल्याण की उपलब्धि के लिए निर्मित कोई व्यवस्था उसी परिमाण में फलप्रद हो सकती है, जिस परिमाण में उससे सम्बन्धित व्यक्ति मानव के सच्चे प्रेम से उत्स्फूर्त होंगे, जो उन्हें मानवता के कल्याण के साथ अपने व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय चारित्र्य के सुर को मिलाने की योग्यता प्रदान करेगी। बिना इस परम श्रेष्ठ प्रेरणा के कोई भी योजना उसका कितना ही उत्तम अभिप्राय क्यों न हो, सत्ता के मद में चूर राष्ट्रों को अपने-अपने स्वार्थ सम्बर्धन के लिए एक और मोहक आवरण ही प्रस्तुत करेगी। वर्तमान समय तक इतिहास का यही सतत निर्णय रहा है।

अतः हमारे प्राचीन हिन्दू दार्शनिकों ने अपनी दृष्टि को भौतिकवाद से उच्चतर तत्व की ओर मोड़ दिया था। उन्होंने भौतिक विज्ञानों की पहुंच के अत्यन्त परे मानवात्मा के रहस्यों की गहराई में उतर कर सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त चरम सत्य का, प्राणिमात्र में वर्तमान एक महान् समान तत्व का, उसे हम आत्मा, ईश्वर, सत्य, वास्तविकता अथवा शून्य कोई भी संज्ञा दे सकते हैं, आविष्कार किया। समय-समय पर इस समान तत्व की होने वाली अनुभूति ही हमें दूसरों के सुख के लिए उद्यम करने की प्रेरणा प्रदान करती है। जो 'अहम्' मुझमें है, वही दूसरे प्राणियों में भी होने के कारण वह मुझसे अपने सहचर जीवित प्राणियों के सुख-दुःख में उसी प्रकार प्रतिक्रिया करवाता है, जिस प्रकार मैं अपने निजी सुख-दुःख में करता हूं। आन्तरिक तत्त्व की सजातीयता से प्रसूत तादात्म्य की यह विशुद्ध अनुभूति ही मानव-एकता एवं भ्रातृत्व के लिए हमारी नैसर्गिक आकांक्षा के पीछे की वास्तविक प्रेरक शक्ति है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्वऐक्य तथा मानव-कल्याण उसी सीमा तक अस्तित्व में लाया जा सकता है जहाँ तक मानव प्राणी इस समान आन्तरिक बन्धन की अनुभूति करता है। एकमात्र उसी अनुभूति में यह शक्ति है जो कि भौतिकवाद से प्रसूत चित्त-क्षोभ और कलह का दमन कर सकती है, मानव-मन के क्षितिज को विस्तृत कर सकती है और मानव-कल्याण के साथ व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय आकांक्षाओं का स्वरैक्य सम्पादित कर सकती है।

सही रास्ता

अब हम दूसरे प्रश्न पर आते हैं। यह समान आधार मानव-समाज की जटिल संघटना में स्वयं को किस प्रकार व्यक्त करेगा ? क्या इसका परिणाम

राष्ट्रों के सभी विशिष्ट लक्षणों का उच्छेद होने में और उन सबके एक ही सांचे में ढाले जाने में होगा अथवा यह लोगों के विभिन्न समुदायों को उनकी अपनी विशेष राष्ट्रीयता की रक्षा करते हुए मानव मात्र की एकता की अनुभूति के आधार पर सहचारित्व की भावना से एक साथ लायेगा ?

इस विषय में भी हमारे दार्शनिकों ने निर्भ्रान्त रूप से मानव के वास्तविक आनन्द का मार्ग-निर्देश किया है। व्यक्ति के समान ही राष्ट्र (व्यक्तियों का सामूहिक योग) का भी अपना एक पृथक् व्यक्तित्व होता है। भूमण्डल के सभी भागों में व्यक्तियों एवं राष्ट्रों के अलग-अलग विशिष्ट लक्षण तथा स्वरूप हुआ करते हैं, जिनका प्रत्येक का विश्व की योजना में अपना स्थान होता है। विभिन्न मानव सम्प्रदाय, प्रत्येक अपने-अपने मार्ग से अपनी प्रकृति के अनुसार एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। अतः चाहे वह व्यक्ति हो अथवा समुदाय, उसकी अपनी विशिष्टताओं का विनाश उसके सामंजस्य के नैसर्गिक सौन्दर्य को ही नष्ट नहीं करेगा वरन् उसके आत्माभिव्यक्ति के आनन्द को भी नष्ट कर देगा। मानव-जीवन का विकास भी, जो कि बहुमुखी होता है, इससे रुद्ध हो जायगा।

यह एक सामान्य अनुभव का विषय है कि अपनी विशिष्टताओं के विकास द्वारा ही कोई भी व्यक्ति अपनी पूर्ण क्षमता तक विकास कर आनन्द एवं सुख का अनुभव कर सकता है। इसलिए विविध विशिष्टताओं के बीच सामंजस्य की खोज संसार के चिन्तन में हमारी विशिष्ट देन है। हमारी जातीय प्रतिभा का जो लक्षण अर्थात् 'विविधता के बीच एकता की पहिचान', प्रायः उद्धृत किया जाता है, वह मानव की एकता, उसके आनन्द एवं विकास की जड़ों को सिंचित करने वाले सिद्धान्तों के गम्भीर एवं यथोचित मूल्यांकन से उत्पन्न होता है। इस प्रकार संक्षेप में हम राष्ट्रों के मध्य सामंजस्यपूर्ण संयोग चाहते हैं, उनका विलोप नहीं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भौतिक अस्तित्व के किसी विशिष्ट स्तर पर समस्त मानव प्राणियों को लाकर उनके व्यक्तिगत तथा सामुदायिक वैशिष्ट्यों को मिटाते हुए एक राज्य-विहीन अवस्था के निर्माण का विचार हमारे लिए परकीय है। अतः वह विश्वराज्य जिसकी हम कल्पना करते हैं, उन सभी स्वायत्त एवं आत्मनिर्भर राष्ट्रों के संघ द्वारा विकसित होगा, जो उनके सम्बन्ध सूत्रों को बनाये रखने वाले एक केन्द्र के आधीन रहेंगे।

एक पवित्र न्यास

यह स्पष्ट है कि हिन्दू समाज की अप्रतिम राष्ट्रीय प्रतिभा के अनुरूप उसे पुनः संगठित करने का पवित्र कर्तव्य जिसे संघ ने ग्रहण किया है, केवल भारत

के ही सच्चे राष्ट्रीय पुनरुत्थान का एक कार्यक्रम मात्र नहीं है अपितु संसार की एकता एवं मानव-कल्याण के स्वप्न को चरितार्थ करने की अनिवार्य पूर्वभूमिका भी है। जैसा कि हम देख चुके हैं, संसार की एकता को सम्पादन करने वाला यह केवल हिन्दुओं का ही महान् विचार है जो मानव भ्रातृत्व के लिए स्थायी आधार प्रदान कर सकता है। अन्तरात्मा का यह ज्ञान मनुष्य मात्र के सुख के लिए परिश्रम करने की दिव्य प्रेरणा से मानव-मस्तिष्क को प्रेरित करते हुए भूतल की प्रत्येक छोटी से छोटी जीवन विशिष्टता को अपनी पूर्ण क्षमता पर्यन्त विकास के लिए पूर्ण एवं स्वतंत्र अवसर प्रदान करेगा।

यह ज्ञान केवल हिन्दुओं के ही पास सुरक्षित है। हम कह सकते हैं कि यह एक पवित्र न्यास (Trust) है, जिसका भार नियति ने हिन्दू को सौंप रखा है। जब किसी व्यक्ति के पास कोई अमूल्य निधि होती है तो उसकी रक्षा कर दूसरों के कल्याण के लिए उसे उपलब्ध बनाए रखना उसका कर्तव्य माना जाता है। यदि वह अपने इस परम कर्तव्य के पालन में असफल होता है तो वह अपना ही विनाश नहीं करता वरन् दूसरों का भी करता है। अतएव हिन्दू समाज को स्वस्थ दशा में सुरक्षित रखने के पवित्र कर्तव्य का दायित्व हम पर है।

हम यह कैसे कह सकते हैं कि जागतिक महान् लक्ष्य केवल हिन्दू ही पूर्ण कर सकता है, अन्य कोई नहीं? प्रथम दृष्टि में इस प्रकार का दावा करना शायद अत्यधिक गर्वोक्ति प्रतीत हो। तथापि यह सीधा वस्तुस्थिति का निरूपण है, जिसका वास्तविक मूल्यांकन अपने देश तथा अन्यान्य देशों की ऐतिहासिक प्रक्रिया का सम्यक् निरीक्षण कर हम कर सकते हैं। इतिहास का यह कथन है कि केवल इसी देश में अति प्राचीन काल से विचारकों और दार्शनिकों, ऋषियों और मनीषियों की पीढ़ी के पश्चात् पीढ़ी मानव प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए उठती रही, जिन्होंने आत्मजगत में गहराई तक गोता लगाया तथा उस महान् एकरूपता के सिद्धान्त की अनुभूति के शास्त्र को आविष्कृत किया एवं परिपूर्ण बनाया। एक सम्पूर्ण राष्ट्र की तपस्या और त्याग तथा सैकड़ों शताब्दियों का अनुभव संसार की आध्यात्मिक तृषा को शान्त करने के लिए इस ज्ञान के अक्षय स्रोत के रूप में यहां वर्तमान है।

दूसरी ओर भारत के बाहर के संसार ने आत्मा के इस शास्त्र का अध्ययन नहीं किया। आज तक अपनी इन्द्रियों से बाह्य संसार के ही अध्ययन के अभ्यस्त हो वे बहिर्मुख ही बने हुए हैं। इन्द्रियां भी बहिर्मुखी होने के कारण आन्तरिक प्रकृति के दृश्य की ओर ले जाने में असमर्थ हैं। इसीलिए पाश्चात्य लोग आत्म-जगत के ज्ञान एवं अनुभव से शून्य बने रहे, चाहे स्थूल जगत के रहस्यों

का कितना ही उद्घाटन उन्होंने क्यों न कर लिया हो। दूसरी ओर हमारे पूर्वज, जिन्होंने इन्द्रियों से परे विश्व में प्रवेश किया, अन्दर देख सके और उस भासमान आन्तरिक सत्य की झाँकी प्राप्त कर सके।

व्यावहारिक सफलता

यह केवल शुष्क ज्ञानमात्र नहीं था जो अपने वन्य आश्रमों में बैठकर थोड़े से विचारकों के बौद्धिक अनुमानों तक ही सीमित रहा हो। यह था एक सजीव विचार जो हमारे पूर्वजों को जिनमें विचारक, प्रशासक, व्यापारी, वैज्ञानिक, कलाकार और दार्शनिक भी थे, विश्व भ्रातृत्व का संदेश पहुंचाने के लिए दूर देशों तक ले गया। जहाँ भी उन्होंने कदम रखा, वहाँ के लोगों को उन्होंने जीवन के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों की तथा भौतिक उन्नति के शास्त्रों की भी शिक्षा दी और अपनी कल्याणकर छाया में राष्ट्रों के सजातीय भ्रातृत्व का निर्माण किया। सशक्त आत्मविश्वासपूर्ण एवं आत्मतेज से उद्भासित हमारे हिंदू समाज ने दूर-दूर तक फैले उस आध्यात्मिक साम्राज्य को एकरूपता की धुरी प्रदान की।

कोलम्बस के अमेरिका का पता लगाने के बहुत पहले हमारा विस्तार एक ओर तो अमेरिका तक फैल चुका था और दूसरी ओर चीन, जापान, कम्बोज, मलय, श्याम, हिंदेशिया तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के सभी देशों तथा उत्तर में साइबेरिया और मंगोलिया तक फैला था। हमारा सशक्त राजनीतिक साम्राज्य भी इन दक्षिण-पूर्वी सभी क्षेत्रों में १४०० वर्षों तक फैला रहा। एक शैलेन्द्र साम्राज्य ही ७०० वर्षों से अधिक काल तक चीनी विस्तार के विरुद्ध एक शक्तिशाली ढाल के रूप में अत्यन्त उत्कर्ष की अवस्था में रहा है।

उन सभी शताब्दियों में वहाँ के स्थानीय लोगों के द्वारा न तो कभी कोई जन-विप्लव ही हुआ और न उनका उन्मूलन ही। यदि विदेशी लोगों और विदेशी संस्कृति के द्वारा आधिपत्य अथवा शोषण के कुछ भी लक्षण होते तो उसका उपर्युक्त परिणाम अनिवार्य रूप से हुआ होता। इसके विपरीत वे लोग हमारे प्रति कृतज्ञ थे। वे हमारे राष्ट्र के प्रति श्रद्धा रखते थे और अपने इस नश्वर शरीर को गंगा जी के किनारे छोड़ने की कामना करते थे। यह बात इतिहास के उन रक्तांकित पन्नों के स्पष्टत: कितने विपरीत है जिनमें इस्लाम, ईसाइयत और अब कम्युनिज्म तथा दूसरे देश में उत्पन्न अन्यान्य 'विश्वविजेताओं' के विस्तार वर्णित हैं। आज के दिन भी उनमें से बहुतों की आधारभूत जीवन-रचना (प्रतिमान) हिन्दू ही हैं। वे हिन्दू नाम धारण करते हैं। हम

वहां चारों ओर हिन्दू चेहरे देखते हैं, जिनमें से अनेक सम्प्रदाय के रूप में मुसलमान होते हुए भी अपने हिन्दू उत्तराधिकार पर गर्व करते हैं। फिलिपाइन्स में न्यायालय के विशाल कक्ष में मनु की एक स्फटिक की प्रतिमा स्थापित है जिस पर अंकित है—"मानव जाति का प्रथम, महान् एवं श्रेष्ठ प्रज्ञासम्पन्न विधि-निर्माता।"

शताब्दियों से हमारे समाज में ऐसी-ऐसी महान् आत्माओं का उदय हुआ है जिनमें की प्रत्येक आत्मा, संसार के विचाराकाश का कान्तिमान नक्षत्र है और अब भी वह समाज वर्तमान काल तक श्री रामकृष्ण परमहंस के समान ज्योतिर्मान अनेक आत्माओं को जन्म दे रहा है, जिन्होंने केवल मानव जाति के सुख-दुःख से ही अपना तादात्म्य अनुभव नहीं किया वरन् चेतन एवं अचेतन सभी वस्तुओं से अद्वैत रखा। जब उन्होंने एक बार एक गाय को हण्टर से पिटते देखा तो वह पीड़ा से चीत्कार कर उठे थे और उनकी पीठ पर चौड़ी लाल धारियाँ देखी गई थीं। एक अन्य अवसर पर चरागाह में चरते हुए एक बैल के घायल खुर का चिह्न उनकी छाती पर बन गया था। इस सीमा तक आत्मज्ञान के हमारे महान् शिक्षकों ने तादात्म्य प्राप्त कर लिया और उसका उपदेश दिया।

प्रथम पग

फिर भी आज इस प्रकार का महान् पैतृक दाय उसकी अपनी ही संतति के द्वारा तिरस्कृत हो रहा है और मिटाया जा रहा है। अपने प्राचीन आदर्शों एवं परम्पराओं का तो उपहास करना तथा अन्य आधुनिक 'वादों' के साँचे में अपने समाज को ढालने की बात करना इन दिनों का फैशन हो गया है। किन्तु अपनी जीवन-रचनाओं (प्रतिमानों) के स्थान पर दूसरों की जीवन-रचना अधिष्ठित करने के प्रयत्न करना तथा अपने स्वाभाविक प्रकृति के नैसर्गिक विकास की दिशा में ध्यान न देना केवल अधोगति का परिणाम ही दे सकेगा। हम अपने समाज पर इसके भयंकर परिणाम के चिह्न भी देख रहे हैं। अपना असंगठित एवं आत्मविश्वासहीन समाज विविध वादों और पन्थों के परिधान में घूमती हुई हिंस्र शक्तियों का सरल शिकार हो गया है। आत्म-भर्त्सना का अभ्यस्त सर्वतोन्मुखी विघटन एवं छिन्नविच्छिन्नता से दुर्बल, दुनिया में प्रत्येक दुष्ट के द्वारा बात-बात में ठुकराया हुआ और अपमानित समाज संसार को कैसे शिक्षा दे सकता है? वह व्यक्ति किस प्रकार दूसरों को महानता का मार्ग दिखा सकता है जिसमें अपने निज के जीवन को उन्नत बनाने की लगन अथवा योग्यता का अभाव है?

अतएव यह अनिवार्य है कि मानव जाति को अपना अद्वितीय ज्ञान प्रदान करने की योग्यता-सम्पादन के लिए तथा संसार की एकता और कल्याण के हेतु जीवित रहने एवं उद्योग करने के लिए हमें संसार के समक्ष आत्मविश्वासी पुनरुत्थानशील और सामर्थ्यशाली राष्ट्र के रूप में खड़ा होना पड़ेगा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने उस युग-युगान्तर से चले आये राष्ट्रीय लक्ष्य को पूर्ण करने का संकल्प किया है, जिसके प्रथम पग के रूप में इस समय हिन्दू समाज के बिखरे हुए तत्वों को संगठित करके आध्यात्मिक एवं भौतिक जीवन के दोनों ही क्षेत्रों में वह एक संगठित और अजेय शक्ति निर्माण करेगा। निश्चय ही, यह है एकमात्र वास्तविक रूप से व्यावहारिक जागतिक लक्ष्य यदि ऐसा लक्ष्य कभी संसार में रहा हो।

* *

२

समय की चुनौती

दो प्रतिमान

भारत से अंग्रेजों के चले जाने के बाद हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित हो गया है कि हम अपने भावी राष्ट्र-पुनर्रचना के लिए कौन सा सही प्रतिमान (pattern) चुनें ? आज के संसार में समाज-व्यवस्था के दो बड़े प्रतिमान प्रचलित हैं।

प्रथम प्रतिक्रिया की गति

इन दोनों में जो प्राचीनतर है, जनतन्त्र कहा जाता है। योरोप के देशों में निरंकुश राजसत्ता की प्रतिक्रियास्वरूप इसका उद्भव हुआ। उस समय वहां व्यक्ति दास मात्र था, स्वप्रेरणा और स्वतंत्रता से विहीन तथा ईश्वर के समान समझे जाने वाले बादशाहों के हाथों में केवल एक खिलौना मात्र। जनता ने विद्रोह कर 'नृपत्व के दैवी अधिकार' उलट दिये तथा सदा के लिए राजसत्ता की शक्ति को चूर कर दिया। उस समय प्रत्येक की जिह्वा पर था एक प्रेरणादायी घोष—"स्वतंत्रता, समानता और बन्धुता।" यह उच्च स्वर से उद्घोषित हुआ कि अन्त में दासता एवं अत्याचारों की एक अंधेरी रात का अवसान होकर अब 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य', 'व्यक्ति के अधिकारों का पावित्र्य' तथा 'सभी के लिए समान अवसरों' के युग का उदय हो चुका है।

उसी समय के आस-पास यन्त्र-युग का भी आरम्भ हो गया था। उद्योगों का पनपना आरम्भ हो गया। विज्ञान एवं तकनीकी विज्ञान ने उद्योगपतियों को अधिकाधिक बड़े यन्त्र लगाने में सहायता करना आरम्भ कर दिया। बड़े

परिमाण में उत्पादन करने वाली उन मशीनों पर लाखों मजदूर नियुक्त हो गए। 'समान अवसर' के घोष के आधार पर अधिक बुद्धि और धन से सम्पन्न व्यक्तियों ने सम्पत्ति के उत्पादन के उन सभी नवीन साधनों पर एकाधिकार कर लिया और वही एकमात्र आर्थिक सर्वाधिपति बन गए। अपने प्रचुर धन की शक्ति से उन्होंने राजनीतिक यन्त्र को भी अपने अधिकार में कर लिया। सामान्य व्यक्ति केवल वोट देने के राजनीतिक अधिकार को प्राप्त कर सूखा का सूखा ही बना रहा। असह्य आर्थिक परिस्थितियों में पिसता हुआ वह वोट के अपने अधिकार को भी उपयोग में लाने के लिए स्वाधीन नहीं था।

इस प्रकार 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' की ऊंची लगने वाली कल्पना का केवल अर्थ रह गया—कुछ धीमानों की स्वतंत्रता, जिससे कि वे शेष सामान्य जनता का उपयोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए करें और उसे दीन-हीन तथा दास बनाये रखें। उन कारखानों में मजदूरी करने वाले स्त्री, पुरुष और बालकों की भयंकर दशा का वर्णन नहीं किया जा सकता। वे अब पुरानों के स्थान पर नये अत्याचारियों के पैरों के नीचे दबे हुए कराह रहे थे।

दूसरी प्रतिक्रिया की दुर्गति

इस अवस्था में पूंजीवाद की नवीन क्रूरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में कम्युनिज्म आया। कम्युनिज्म यह मानकर चला कि औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप भयंकर आर्थिक असमानता का निर्माण होना अवश्यंभावी है जिससे दो वर्गों का निर्माण होगा—'पूंजीपति और अकिंचन मजदूर ('सर्वहारा')।' कम्युनिज्म में आगे की कल्पना यह की गई कि इन दोनों ही श्रेणियों में वर्ग-संघर्ष आरम्भ होगा तथा अन्त में श्रमिक वर्ग विजयी होगा। इसके पश्चात् जनता के दैन्य का अवसान हो जायगा क्योंकि श्रमिक वर्ग द्वारा संचालित शासन सम्पत्ति के उत्पादन तथा वितरण के सभी साधनों का नियमन करता हुआ जनता की भौतिक आवश्यकताओं की देख-रेख का सम्पूर्ण भार वहन कर लेगा। इस प्रकार यह भविष्यवाणी की गई कि देश का जितना ही अधिक औद्योगीकरण होगा, उतनी ही आर्थिक असमानता में वृद्धि होगी और इसलिए तीव्रतर वर्गसंघर्ष तथा परिणामस्वरूप शीघ्रतर श्रमिकशासन का उदय होगा।

किन्तु भविष्यवाणी को—जो उनके इतिहास के भौतिकवादी भाष्य की पराकाष्ठा थी—इतिहास के भावी क्रम ने पूर्णरूपेण असत्य कर दिया। सब देशों में औद्योगिक दृष्टि से सर्वाधिक पिछड़ा हुआ देश रूस ही था, जहां कम्युनिस्ट क्रान्ति की सफलता सबसे पहले लिखी गई। आज तक अमेरिका, इंग्लैण्ड

तथा जर्मनी ने जो कि औद्योगिक विकास में अग्रणी थे, और वास्तव में जहां सबसे पहले औद्योगिक क्रान्ति की रूपरेखा बनी थी—कम्युनिज्म की ओर बढ़ने के कोई लक्षण प्रकट नहीं किए हैं। इसके विपरीत, जहाँ वह पुनः प्रकट हुई वह औद्योगिक रूप से एक अन्य पिछड़ा हुआ देश चीन था, जो अभी ही कुछ वर्षों से कम्युनिस्ट हो गया है। इस प्रकार मानव-इतिहास के भौतिकवादी भाष्य के आधार पर कम्युनिज्म की ऐतिहासिक अनिवार्यता का दावा वास्तविकताओं की कठोर चट्टान पर चूर-चूर हो गया है।

प्रश्न है कि स्वाधीनता, शान्ति एवं सम्पन्नता के उस आश्वस्त देश में सामान्य जन की दशा क्या है? इन देशों में श्रमिक के अधिकार शासन में एकाधिकार रखने वाले दल अर्थात् कम्युनिस्ट दल के एकाधिपति के हाथों में पहुंच गये हैं। सामूहिक हत्या, दास-शिविर, कम्यून, बलात् श्रम, मस्तिष्कमार्जन तथा एकाधिपत्य के सभी अमानवीय यन्त्रों ने व्यक्ति को दैन्य एवं दास्य की इतनी निम्न अवस्था तक पहुंचा दिया है, जितना कि अनियन्त्रित राजसत्ता अथवा पूंजीवाद के निकृष्टतम समय में भी नहीं सुना गया था। इस प्रकार जनसाधारण के लिए उनके उस आह्वान का कि "मजदूरो तुम्हें बंधन छोड़कर अन्य कुछ नहीं गँवाना" वास्तविक व्यवहार में यह परिणाम निकला।

प्रतिज्ञा और कृति

क्या वे जनता से की गई अपनी प्रथम प्रतिज्ञा के अनुसार अपने समाज की प्रारम्भिक भौतिक आवश्यकताएँ पूरी करने के अपने लक्ष्य में सफल हुए हैं? रूस का उदाहरण लीजिए; जो पूर्ण रीति से इस सिद्धान्त पर प्रयोग करने वाला प्रथम महान् देश है। उन्होंने सभी व्यक्तिगत सम्पत्ति और सभी उद्योगपतियों को समाप्त कर दिया तथा सभी उद्योगों को अपने अधिकार में ले लिया। कृषि के मोर्चे पर भी उन्होंने सभी जमींदारों और किसानों को मिटा दिया और उनकी कृषि का कम्यून तथा सामूहिक फार्मों में एकीकरण कर दिया। यह एक पूर्ण प्रयोग था। स्वाभाविकतः गत पचास वर्षों में रूस की समृद्धि में महती उन्नति की आशा करना उचित ही था किन्तु क्या वह पूर्ण हुई?

कुछ लोगों कथन है कि "देखो, उनमें चन्द्रमा पर राकेट भेजने का सामर्थ्य आ गया है।" किन्तु जहाँ तक सामान्य जन का सम्बन्ध है, जिसके नाम पर वे बड़ी-बड़ी भविष्यवाणियाँ करते हैं, चन्द्रमा पर जाना उनकी मुख्य समस्या नहीं है। पेट उनकी सबसे बड़ी समस्या है। वास्तव में, कम्युनिस्ट क्रान्ति की मुख्य धुरी यही थी। प्रथम प्रश्न यह है कि क्या रूसी प्रशासन अपने देशवासियों

को दोनों समय भरपेट भोजन देने में समर्थ हो गया है ? वास्तव में किसी भी प्रशासन अथवा किसी प्रशासनिक सिद्धान्त की सफलता को इन्हीं मूल्यों पर नापा जाना चाहिए कि उनमें अपने प्रत्येक नागरिक को दोनों समय भर पेट भोजन, आश्रय के लिए स्थान, पर्याप्त वस्त्र, रुग्णावस्था के समय चिकित्सा तथा शिक्षा देने की कितनी क्षमता है ! इसी से उसकी अग्नि परीक्षा होती है। क्या रूस ने इस परीक्षा का उत्तर दिया है ?

रूस के पास एक विस्तृत देश है। एक समय वह संसार में सर्वाधिक गेहूं उत्पन्न करने वाला देश था। इस सबके अनुपात में वहाँ की जनसंख्या न्यून होने से उसके पास भोजन करने वाले मुख भी कम ही हैं। उनके पास कृषि के सभी आधुनिक उपकरण हैं। इस सबके साथ उनकी प्रत्येक योजना के पीछे शक्ति-सम्पन्न राज्य के विशाल साधन हैं। यह सब होते हुए भी रूसी सरकार को गेहूं तथा अन्य खाद्यों का प्रत्यक्ष आयात कनाडा, अमेरिका तथा अन्य देशों से करना पड़ा। कम्युनिज्म की परिपूर्ण पराजय का इससे अधिक प्रमाण क्या हो सकता है ?

दोनों का अपक्रमण

इस प्रकार के दुष्परिणाम देखकर कम्युनिस्ट देश भी अपनी पूर्ण सरकारीकरण की पद्धति के विषय में फिर से विचार करने लगे हैं। उन्हें यह अनुभव होने लगा है कि व्यक्तिगत स्वाधीनता का विनाश व्यक्ति की क्रियात्मक शक्ति एवं कार्य के लिए उत्साह का हनन कर देता है। अतः वे व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की दिशा में शनैः-शनै बढ़ रहे हैं। कुछ पूर्वी योरोप के कम्युनिस्ट देशों और रूस में भी उन्हें विवश होकर व्यक्ति को उसकी कुछ वस्तुओं पर स्वामित्व रखने और अपनी सम्पत्ति के उपभोग की आंशिक स्वतन्त्रता की अनुमति देनी पड़ी है।

अमेरिका के चेस्टर बॉल्स का कथन है—"रूस में जिन्हें 'किन्निनफार्म' (बाड़ो अथवा रसोईघर से लगा जमीन का टुकड़ा) कहा जाता है, उन्हें व्यक्तिगत रूप से जोतने की अनुमति अब वहां के कृषकों को दी जा रही है। यह कृषिक्षेत्र उनकी कुल जोत का ३४ प्रतिशत के लगभग होता है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस ३४ प्रतिशत व्यक्तिगत जोत द्वारा किया गया उत्पादन कुल उत्पादन का ६० प्रतिशत हुआ है जबकि ६६ प्रतिशत भूमि के सरकारी कृषिक्षेत्र से केवल ४० प्रतिशत ही पैदावार हुई है।" स्मरणीय यह है कि इस व्यक्तिगत जोत को उन बड़े-बड़े यन्त्रों का लाभ भी नहीं मिल सका जिन पर राज्य का एकाधिकार है। इससे यह बात एक बार पुनः सिद्ध हो गई कि पूर्ण सरकारीकरण अथवा

सम्पूर्ण समूहवाद की भूमिका जिससे उन्होंने आरम्भ किया था, अपने जन्मस्थान में शीघ्रता से पीछे लौट रही है।

दूसरी ओर वे देश भी जहां पूर्ण व्यक्तिवाद की भूमिका के साथ जनतन्त्र पैदा हुआ था, अपनी मूल धारणा से पीछे हट गए हैं। जब उन्होंने असंयमित 'समान अवसर' और 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' के दुष्परिणामों को देखा तो समाज के समान हित में वे उन सैद्धान्तिक कल्पनाओं को प्रत्यक्ष व्यवहार में सीमित करने के लिए कठोर साधन अपनाने को बाध्य हो गये। वास्तव में इसी प्रकार वे क्रान्तियों से अपने को बचा पाये और अपने जनतान्त्रिक ढांचे को बनाये रखने में समर्थ हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऊपर के दोनों ही सिद्धान्तों, जनतन्त्र और कम्युनिज्म, में दो चीजें समान हैं। दोनों ही पूर्व व्यवस्था की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुए और दोनों ही को अपने-अपने मूल आधार से पूर्व स्थिति की ओर लौटना पड़ा एवं एक दूसरे की ओर चलने के लिए बाध्य होना पड़ा, जनतन्त्र को अपने व्यक्तिवाद से समूहवाद की ओर तथा कम्युनिज्म को अपने समूहवाद से व्यक्तिवाद की ओर। जन्म और विकास की दृष्टि से दोनों ही में एक महत्वपूर्ण समानता है यद्यपि ऐतिहासिक कारणों से उनके प्रारम्भ-बिन्दु परस्पर विरोधी थे।

एक ही मूल से उत्पन्न

इसमें हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि और भी गहराई में जाने से हम पाते हैं कि दोनों ही की उत्पत्ति मानव-जीवन के लक्ष्य की एक ही कल्पना में से हुई है। पाश्चात्य विचार के अनुसार जिससे कि जनतन्त्र और कम्युनिज्म दोनों ही कल्पनाओं ने जन्म लिया है—मानव का जीवन व्यावहारिक विचार से भौतिक स्तर तक ही सीमित है और मानव-प्राणी भौतिक तृष्णाओं का एक गंट्ठर मात्र है। तदनुसार, मनुष्य की भौतिक तृष्णा का समाधान करने वाले पदार्थों का उत्पादन और वितरण ही उनके सभी सिद्धान्तों का एक सर्वोपरि प्रेरक आवेग हो गया। मानव के साम्य का प्रतिपादन भी भौतिक आधार पर ही किया गया, क्योंकि प्राथमिक भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की आवश्यकता सदैव सभी मनुष्यों को समान भाव से अनुभव होती रही है।

व्यक्ति एक भौतिक सत्ता मात्र होने के कारण तथा उन्हीं भौतिक आकांक्षाओं से प्रेरित होने के फलस्वरूप कोई कारण नहीं था कि वह समाज को उन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के अतिरिक्त कुछ और माने। किंतु ऐसे

व्यक्तियों से बने समाज से जिसमें व्यक्ति सम्पूर्णरूप से अपने ही स्वार्थ-साधन में जुटा हो, एक दिन भी टिकने की आशा नहीं की जा सकती। समाज अपने पोषण के लिए अपने घटकों से बलिदान की भावना की अपेक्षा करता है और बिना समाज के व्यक्ति भी अपने भौतिक अस्तित्व को नहीं टिका सकता। अतः व्यक्ति और समाज के टकराते हुए हितों के बीच एक प्रकार का समझौता, एक प्रसम्विदा कर लेना आवश्यक था।

यह समझौता किंवा 'प्रसम्विदा-सिद्धान्त' (Contract Theory) व्यक्ति और समाज के बीच अन्तर्निहित सहज संघर्ष की धारणा का परिणाम है। इसी मूलभूत संघर्ष ने अपने को एक ओर तो पूंजीवाद के स्वरूप में और दूसरी ओर कम्युनिज्म के स्वरूप में व्यक्त किया है। अर्थात् एक में व्यक्ति समाज का शत्रु हो रहा है तो दूसरे में समाज व्यक्ति का। और जैसा कि हम देख चुके हैं अब दोनों ही पद्धतियाँ उन बुराइयों को कम करने का प्रयास कर रही हैं जो उनकी मानव-लक्ष्य की समान भौतिक कल्पना से निकली हैं।

भौतिकवाद असफल

किन्तु केवल भौतिक तृष्णाओं के गट्ठर के रूप में मनुष्य का निरूपण करना उसे पशु की समानता देना है। यदि मनुष्य एक पशु ही है तो वह स्नेहशील एवं व्यवस्थित जीवन क्यों व्यतीत करे? इस सम्बन्ध में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि पशुओं के समान मनुष्य एक दूसरे का शिकार केवल इसी कारण नहीं करता कि यदि 'क', 'ख' को खा जाना चाहता है तो कोई 'घ', 'क' को खा डालने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार आपस में एक दूसरे के द्वारा विनष्ट होने से अपने को बचाने के लिए किसी प्रकार की व्यवस्था या समझौता होना आवश्यक हो जाता है। किन्तु इससे इस बात का स्पष्टीकरण नहीं होता कि मनुष्य के मन में दूसरों के लिए त्याग करने की, बलिदान हो जाने की इच्छा तथा किसी दैन्य में सहभागी होने की भावना क्यों उठनी चाहिए? अवश्य ही मानव-प्राणी के सम्पूर्ण इतिहास में हमें ऐसे व्यक्ति मिलते हैं, जिन्होंने दूसरों के लिए अपने जीवन का स्वेच्छा से, प्रेम से और मुस्कराते हुए बलिदान कर दिया। हमारे प्राचीन साहित्य में दधीचि की कथा है जिन्होंने वृत्रासुर के विनाश हेतु अस्त्र बनाने के लिए स्वेच्छापूर्वक अपनी अस्थियों का दान किया था। वह एक वनवासी ऋषि थे। व्यक्ति के रूप में उनकी कोई आकांक्षायें नहीं थीं। फिर किस चीज ने उनसे यह बलिदान कराया।

हम इस बीसवीं शती का ही एक उदाहरण लें। एक बार कलकत्ता में दो

छोटे बच्चे सड़क के किनारे खेलते हुए एक खुली हुई भूमिगत नाली के मुँह (मेनहोल) में गिर गए। एक सज्जन ने जो अपने कार्यालय जा रहे थे, उन बच्चों को अचानक 'मेनहोल' में गायब होते देख लिया। कोट भी उतारने का विलम्ब न करते हुए वह 'मेनहोल' में कूद पड़े, धारा में बहे जाते हुए उन बच्चों को पकड़ लिया और उन्हें बाहर की ओर धक्का दे दिया। किन्तु वह स्वयं कीचड़ में फंस गए और मर गए। वे क्यों मरे ? वह क्या था जिसने उनसे कहा 'कि जाओ तुम्हारा वह कार्य है।' भौतिकवाद इसको समझ नहीं सकता।

सच्चा आधार

केवल एक ही स्पष्टीकरण है कि हम सब में एक ही समान सजीव सत्य वर्तमान है जो एक आन्तरिक और समान बन्ध प्रस्तुत करता है। हमारा दर्शन उसे आत्मा कहता है। हम एक दूसरे का प्यार और सेवा बाह्य सम्बन्धों के कारण नहीं करते वरन् आत्मा की सजातीयता के कारण करते हैं। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं—

न वा अरे मैत्रेयि पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।

(ओ मैत्रैयि ! पत्नी पुरुष को इसलिए नहीं प्यार करती कि वह उसका पति है वरन् इसलिए करती है कि उसमें आत्मा है) इस अर्थ में कि एक ही आत्मा सबमें अन्तस्थ होने के कारण सभी मनुष्य समान हैं, परम आत्मा के इस स्तर पर एकता संगत होती है। किन्तु भौतिक स्तर पर वही आत्मा अपने को भाँति-भाँति की आश्चर्यकारक विविधताओं एवं असमानताओं में व्यक्त करती है।

हमारे दर्शन के अनुसार विश्व का यह द्वैतस्वरूप, यह अस्तित्व अपने सत्, रज और तम इन तीनों गुणों के सन्तुलन में संक्षोभ होने के कारण है और यदि गुणसाम्य, तीनों गुणों का पूर्ण सन्तुलन, हो जाय तो यह विश्व अपनी अव्यक्त अवस्था में विलीन हो जायगा। इस प्रकार असमानता प्रकृति का एक अविभक्त अंग है और हमें उसके साथ रहना पड़ेगा। उसे केवल सीमाओं में बनाये रखने तथा असमानता से उत्पन्न कटुता को निकाल देने के लिये हमारे प्रयास होने चाहिये।

झूठे भविष्यवक्ता

इसलिये कोई भी व्यवस्था जो स्वाभाविक असमानता को ऊपरी समानता

के आधार पर पूर्णरूपेण दूर करने का प्रयत्न करती है, निश्चय ही असफल होगी। पाश्चात्य देशों में इतनी प्रगति की अवस्था होते हुए भी जनतन्त्र अन्त में कुछ ऐसे ही लोगों का शासन है जो राजनीति की कला के पूर्ण ज्ञाता तथा सामान्यजन को अपने पक्ष में लाने का सामर्थ्य रखते हैं। जनतन्त्र की वह कल्पना कि राज्य 'जनता द्वारा', और 'जनता का है' जिसका अर्थ होता है कि राजनीतिक प्रबन्ध में सभी समान भागी हैं, व्यवहार में बहुत बड़ी सीमा तक, एक कल्पित कथा मात्र है।

कम्युनिज्म भी एकता की अपनी घोषित कल्पनाओं में से किसी एक को भी साकार करने में पूर्ण असफल हो चुका है। उसने कल्पना की थी कि श्रमिक का एकाधिपतित्व स्थापित हो जाने पर सब लोगों के भोजन तथा जीवन की अन्य आवश्यकताएँ पूरी हो जायेंगी। उस स्थिति में परस्पर संघर्षों के लिए कोई स्थान न रहेगा और इसलिये केन्द्रीय प्रभुत्व की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। इस प्रकार राज्य लुप्त हो जायगा और एक शासनरहित समाज का उदय होगा। कम्युनिज्म के अनुसार यही वह एकता की उच्चतम अवस्था है, जिसकी कि मनुष्य कल्पना कर सकता है।

किन्तु कम्युनिज्म, जैसा कि यह भौतिकवाद पर आधारित है, स्पष्ट नहीं कह सकता कि वह आदर्श अवस्था कैसे अस्तित्व में आ सकती है? यदि मनुष्य केवल एक पशु है अर्थात् एक भौतिक जीव मात्र, तो वह एक दूसरे का भक्षण केवल इसीलिए नहीं करता कि उसे जो कोई भी अधीष्ठित सत्ता है उसका भय है। किन्तु जब वह शक्ति अथवा प्रभुत्व नहीं रहेगा तो बिना कलह के वे क्यों रहेंगे? पशु के रूप में मनुष्य मनोवेगों का शिकार है, और मनोवेगों को जब तुष्ट किया जाता है तो वे और भी अधिक तीव्र हो जाते हैं। इस प्रकार का असन्तुष्ट मनुष्य दूसरों के साथ प्रेम एवं शान्तिपूर्वक कैसे रहेगा? और इस बात का भी क्या भरोसा है कि अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर भी मनुष्य, जो कि पशुओं की अपेक्षा अधिक चतुर है, 'न खाओ न खाने दो' की नीति (Dog in the manger Policy) का अनुसरण नहीं करेगा? इसलिये यदि हम यह मान भी लें कि समानता स्थापित हो गई तब भी वह पुनः असमानता की ओर ही ले जायगी। इस प्रकार एक अन्य खूनी क्रान्ति आवश्यक हो जायगी। इसका अर्थ है कि हिंसात्मक विप्लव तथा कलह कम्युनिज्म के सिद्धान्त की कोण-शिलाएँ हैं। सदैव क्रान्ति के नारे लगाते रहना, सशस्त्र संघर्ष, अराजकता और शान्ति की हत्या को प्रोत्साहन एवं आमन्त्रण है।

इस प्रकार जो चित्र दृष्टिगोचर हुआ उसमें न तो केन्द्रीय सत्ता के लुप्त हो जाने के ही लक्षण हैं और न केवल संयोगवश प्रभुत्व का लोप हो जाने की दशा में, शान्ति के उदय की कोई सम्भावना ही है। रूस में कम्युनिस्ट राज्य ने गत पचास वर्षों में भी अपने लुप्त होने के कोई चिह्न प्रकट नहीं किए वरन् वह और भी अधिक शक्तिशाली हो गया है, यहाँ उसके सैद्धान्तिक आधार की पूर्ण असत्यता का जीवन्त प्रमाण है।

समानता नहीं वरन् सामंजस्य

दूसरी ओर हमारे दर्शन ने समाज की उच्चतम अवस्था का चित्रण किया है और उसका अकाट्य स्पष्टीकरण भी किया है। उसका वर्णन इस प्रकार है—

न राज्यं न च राजाऽऽसीत् न दण्ड्यो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजास्सर्वाः रक्षन्तिस्म परस्परम्॥

(न तो राज्य था न राजा न दण्डनीय अपराधी और न दण्ड। धर्म के द्वारा ही सम्पूर्ण प्रजा एक दूसरे की रक्षा करती थी।) सदाचरण की संहिता है धर्म, जो समान आन्तरिक बन्धों को जागृत करता है, स्वार्थपरता को संयमित करता है तथा बिना किसी बाह्य प्रभुत्व के जनता को सामंजस्य की स्थिति में एक साथ बनाए रखता है। न तो स्वार्थपरता होगी, न अपसंचय तथा सभी मनुष्य सम्पूर्ण समाज के लिए जियेंगे और कार्य करेंगे।

यह धर्म ही मानव जीवन का विशिष्ट लक्षण है।

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

(आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन पशु और मनुष्यों में समान है। मनुष्यों में धर्म ही विशेष होता है, अतः धर्महीन मनुष्य पशु के समान होता है) मानव-जीवन में धर्म के पूर्ण उदय से ही स्वाभाविक असमानताओं के रहते हुए भी, मानव प्राणी उच्चतम सामंजस्य की अवस्था में रहने की योग्यता प्राप्त करेगा। यह एक अंधे और एक लंगड़े के सहयोग के समान है। लंगड़े आदमी को टांग मिल जाती है। और अंधे को आँख। सहयोग की भावना असमानता की कटुता दूर कर देती है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का हमारा दृष्टिकोण सदैव ही संघर्ष का न होकर सभी व्यक्तियों में उस एक सत्य के विराजमान होने के बोध से उत्पन्न सामंजस्य और सहयोग का रहा है। व्यक्ति संघटित सामाजिक व्यक्तित्व का एक सजीव अंग होता है। व्यक्ति एवं समाज दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। परिणामतः दोनों ही एक दूसरे से शक्ति प्राप्त करते हुए लाभान्वित होते हैं।

साधनों को साध्य मानने की भूल

अतः अनिवार्य विषय है स्वाभाविक एकता एवं सामंजस्य अर्थात् धर्म के उदात्त सिद्धान्तों से अनुप्राणित मनुष्य की वास्तविक प्रतिमा के अनुसार व्यक्ति का निर्माण। यह सत्य है कि काम करने वाले बुरे अथवा भले मनुष्यों के अनुसार ही कोई पद्धति बुरे प्रकार से अथवा भले प्रकार से कार्य करती है। इसीलिए सही भावना से स्फूर्त मनुष्यों के अभाव में जनतन्त्र का ह्रास हो जाता है तथा वह एक साधारण वस्तु (mediocracy) बन जाता है और प्रायः उत्तेजना प्रवण भीड़ (mobocracy) मात्र बनकर रह जाता है। पश्चिम द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं वादों के दुःखान्त होने का यह कारण है कि मनुष्य की योग्यता के निर्माण की पूर्ण उपेक्षा करते हुए वे (वाद) स्वयं ही साध्य के रूप में मान लिए गए। उन्होंने इस सरल फिर भी मूलभूत सत्य की उपेक्षा की कि पद्धति एवं वाद मनुष्य के जीवन की पूर्णता के लिए अधिक से अधिक केवल साधन ही होते हैं। साधनों को साध्य मान लेने की भूल से इन प्रयत्नों का परिणाम उनकी भविष्यवाणी अथवा आशा से नितान्त विपरीत हुआ।

आज तक भी जनतान्त्रिक देश उन गंभीर सामाजिक समस्याओं से पीड़ित हैं, जो मनुष्य से ऊपर पद्धति को स्थान देने की इस मूल भ्रान्ति से उत्पन्न हुई हैं। जनतन्त्र की पद्धति, जिसका उन्होंने विकास किया है, दो बुराइयों को जन्म देती है—आत्मप्रशंसा तथा दूसरों की निन्दा। ये दोनों मनुष्य के मस्तिष्क की शान्ति एवं निराकुलता को विषाक्त कर देते हैं और समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक सामंजस्य को नष्ट करते हैं। वर्तमान व्यवस्था में इन दोनों ही का चुनाव-काल में खुल कर प्रयोग होता है।

यही कारण है कि हम अपनी राष्ट्र की परम्पराओं में शासन के बाह्य स्वरूप के विषय में अधिक चिन्ता नहीं करते थे वरन् सभी पद्धतियों के मुख्य संचालन तत्व के रूप में मनुष्य के निर्माण पर ही बल दिया करते थे। यहाँ गणतन्त्र से लेकर एकस्वामिक राजतन्त्र तक अनेक पद्धतियों का परीक्षण हुआ है। और हम यह देखते हैं कि वही एकतंत्री राजतन्त्र जिसने पश्चिम में ऐसे प्रजापीड़न को जन्म दिया कि अनेक खूनी क्रान्तियाँ उठ खड़ी हुईं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सजीव स्वातंत्र्य की भावना के साथ सहस्रों वर्षों तक हमारे सम्पूर्ण समाज पर शान्ति एवं सम्पन्नता की वर्षा करता हुआ एक अत्यन्त लाभदायक संस्था सिद्ध हुआ है।

**

३ हमारी राष्ट्रीय आत्मा की पुकार

संस्कृति का नवतारुण्य

हिन्दुराष्ट्र की हमारी कल्पना राजनीतिक एवं आर्थिक अधिकारों के एक गट्ठर मात्र की नहीं है। वह तत्वतः सांस्कृतिक है। हमारे प्राचीन एवं उदात्त सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों से उसके प्राणों की रचना हुई है और हमारी संस्कृति की भावना का उत्कट नवतारुण्य (Rejuvenation) ही हमारे राष्ट्रीय जीवन की सही दृष्टि हमें प्रदान कर सकता है तथा आज हमारे राष्ट्र के सम्मुख खड़ी हुई अगणित समस्याओं के समाधान में हमारे सभी प्रयत्नों को सफल दिशा-निर्देश भी कर सकता है।

किन्तु इन दिनों संस्कृति के नवतारुण्य को प्रायः 'पुनरुज्जीवनवाद' और 'प्रतिक्रियात्मक' होने की उपाधि दी जाती है। प्राचीन पूर्वाग्रहों, मूढ़ विश्वासों अथवा समाज विरोधी रीतियों का पुनरुज्जीवन प्रतिक्रियात्मक कहा जा सकता है, कारण यह कि इसका परिणाम समाज का पाषाणीकरण (Fossilisation) हो सकता है। किन्तु शाश्वत एवं उत्कर्षकारी जीवन-मूल्यों का नवतारुण्य कभी प्रतिक्रियात्मक नहीं हो सकता। इसे केवल प्राचीन होने के कारण ही प्रतिक्रियात्मक नाम दे देना बौद्धिक दिवालियापन प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अपनी संस्कृति के नवतारुण्य से हमारा आशय उन शाश्वत जीवनादर्शों को पुनः जीवन में उतारने से है, जिन्होंने इन सहस्रों वर्षों तक हमारे राष्ट्रजीवन को पोषित किया और अमरता प्रदान की।

परिभाषा के लिये अति सूक्ष्म

लोग कभी-कभी पूछते हैं—"आप हिन्दू-संस्कृति की कैसी परिभाषा करते

हैं ?" हाँ, हम उसे अनुभव करते हैं, यद्यपि उसकी परिभाषा नहीं कर सकते। कुछ लोग केवल इसीलिए इसे पूर्णरूप से अस्वीकार कर देते हैं कि वे इसकी परिभाषा नहीं कर सकते। वे कहते हैं—"ऐसी वस्तु से क्या लाभ जिसकी हम परिभाषा ही नहीं कर सकते।" किन्तु क्या यह तर्क युक्तिसंगत है ? उदाहरण के लिए चिकित्साशास्त्र का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम जीवन की रक्षा के हेतु ही विकसित हुआ है। किन्तु आधुनिकतम वैज्ञानिक भी यह बताने में असमर्थ हैं कि 'जीवन' क्या है ? परन्तु इसके कारण चिकित्साशास्त्र की उपयोगिता में कोई बाधा उत्पन्न नहीं हुई। 'जीवन' का बाह्य प्रकटीकरण एवं मानव पर उसका संघात हमें उसकी सत्यता में विश्वास कराने के लिए पर्याप्त है।

इसी प्रकार हमारी भावनाएँ, आदर्श एवं आकांक्षाएँ भी अपनी निजी सत्यता रखती हैं तथा हमारे जीवन में उनका अति महत्वपूर्ण कार्य है यद्यपि परिभाषा और गणित के नियम सूत्रों द्वारा वे व्यक्त नहीं की जा सकतीं। वास्तव में ऐसी स्थूल वस्तुओं की अपेक्षा जो नापी जा सके और जिनकी परिभाषा की जा सके ऐसे सूक्ष्म तत्व ही सच्चे मानव व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं।

अस्वीकृतियों के बीच सत्य का प्रगटीकरण

हमारी संस्कृति ने भी, यद्यपि वह परिभाषा के क्षेत्र में नहीं आती, हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों पर अपनी अमिट छाप लगा दी है। हम इस प्रकार की सभी अभिव्यक्तियों में संस्कृति के तत्व को पहचान सकते हैं। पं० जवाहर लाल नेहरू के जीवन का एक उदाहरण है। वे जीवन के प्रश्नों को मुख्य रूप से भौतिक आधार पर ही देखा करते थे। ईश्वर, धर्म, आत्मा, पुनर्जन्म आदि का उनके लिए कोई अर्थ नहीं था। दुर्भाग्य से उनकी पत्नी का जो चिकित्सा के लिए विदेश ले जाई गई थीं, देहान्त हो गया। अपनी ही रीति के अनुसार उनके शरीर का अग्नि संस्कार किया गया, उसे गाड़ा नहीं बल्कि जलाया गया। वह मुट्ठी भर राख में परिणत हो गया। अब उसका क्या करना चाहिए यह प्रश्न था ? एक अज्ञेयवादी (Agnostic) शायद कहेगा—'यह राख मात्र है, इसका लाभदायक उपयोग केवल इतना ही है कि खाद के समान खेत में डाल दिया जाय।" भौतिकवाद के अनुसार उस राख मात्र के लिए कोई भी आदर भाव प्रकट करने का कुछ अर्थ नहीं। इससे अधिक वह और कुछ नहीं कह सकता, "तू मिट्टी है और मिट्टी में लौट गया।"

पंडित नेहरू के मस्तिष्क में एक संघर्ष उत्पन्न हो गया। उनके भीतर का अज्ञेयवादी उनसे कहता था फेंक दो इस राख को इस विदेशी भूमि में और

लौट चलो तथा उनके पुरातन हिन्दू रक्त की पुकार थी कि अपनी प्यारी पत्नी के अवशेषों को ले चलो और गंगा माता की गोद में उन्हें समर्पित करो। अन्त में पुरातन संस्कारों की विजय हुई। राख अपने देश में लाई गई और प्रयाग में पवित्र गंगा, यमुना तथा अदृश्य सरस्वती के संगम में सिराई गई। बाद में पण्डित नेहरू ने स्वयं कहा था कि उनकी आधुनिक शिक्षा तथा प्रशिक्षण सभी विद्रोह कर रहे थे किन्तु उनके भीतर की किसी चीज ने, किसी ऐसी चीज ने जिसका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता, उन्हें राख को त्रिवेणी संगम में सिराने के लिए बाध्य कर दिया।

तब इस संस्कृति की अभिव्यक्ति हमारे राष्ट्रीय जीवन में किस प्रकार से हुई ?

प्राणधारी ईश्वर

प्रथम एवं सर्वाधिक मूलभूत पहलू है उस परम सत्य की अनुभूति की आकांक्षा जो सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है चाहे उसे कुछ भी नाम दिया गया हो। अथवा सरल शब्दों में कहा जाय तो "ईश्वर का साक्षात्कार करना।" किंतु ईश्वर है कहाँ ? हम उसे कैसे जान सकते हैं ? उसका स्वरूप कैसा है; उसके रूप, गुण क्या हैं ? जिससे कि हम उसका ध्यान कर सकें और उसको पावें। उसका यह वर्णन कि वह निराकार और निर्गुण है इत्यादि हमारी समस्याओं को नहीं सुलझाता। पूजा के विविध पन्थ भी विकसित हुए हैं। लोग मंदिरों में जाते हैं और सर्वशक्तिमान का प्रतीक मानकर मूर्तियों पर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयत्न करते हैं। किंतु हमें, जो कि कार्यशक्ति से पूर्ण हैं, यह सब संतुष्ट नहीं करता। हम एक प्राणधारी ईश्वर चाहते हैं। ऐसे ईश्वर से क्या लाभ जो सुनता है किंतु उत्तर नहीं देता। जब तक असामान्य उच्च योग्यता सम्पन्न भक्त न हों, ये चिह्न न तो रोते हैं, न हँसते हैं और न उनमें कोई प्रतिक्रिया ही दृष्टिगोचर होती है। सर्वसाधारण के लिये तो वे परमात्मा के अनुभूतिरहित प्रतीक हैं। अतएव हमें एक प्राणधारी ईश्वर चाहिये जो हमें कर्म में व्यस्त रखकर हमारे अन्दर निवास करने वाली सभी शक्तियों का आह्वान करे।

अतएव हमारे पूर्वजों ने कहा है "हमारा समाज ही हमारा ईश्वर है"—'जनता जनार्दन'। मानव जाति के एक महानतम शिक्षक श्री रामकृष्ण परमहंस ने कहा है—"मनुष्य की सेवा करो"। उनके महान् शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने भी यही बात अत्यन्त बल देकर कही है। किंतु संपूर्ण मानवता

के भाव में 'मनुष्य' अत्यन्त व्यापक कल्पना है और ऐसा होने से हमारे देखने और अनुभव करने के लिये वह एक ठोस सत्ता के रूप में सरलता से ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसीलिये यह देखा जाता है कि जिन्होंने मानवता की सेवा को ग्रहण किया उनमें से अनेकों के जीवन की परिणति जड़ता एवं निष्क्रियता में हुई। इसलिये मानव-मन एवं मेधा की सीमाओं को समझते हुये हमारे पूर्वजों ने कहा कि मानवता इत्यादि की बातें ठीक हैं किंतु उस स्तर तक पहुँच पाने के पूर्व उस सर्वशक्तिमान की कल्पना कुछ सीमाओं के साथ ग्रहण करनी चाहिए जिसको कि समझा और अनुभव किया जा सके और जिसकी सेवा की जा सके। उन्होंने कहा कि हिंदू समाज ही वह विराट् पुरुष है, सर्वशक्तिमान की स्वयं की अभिव्यक्ति! यद्यपि वे हिंदू शब्द का प्रयोग नहीं करते किंतु 'पुरुष सूक्त' में सर्वशक्तिमान के निम्नांकित वर्णन से यही स्पष्ट है। उसमें कहा गया है, कि सूर्य, चन्द्रमा उसकी आँखें हैं। नक्षत्र और आकाश उसकी नाभि से बने हैं। तथा—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यांशूद्रो अजायत ॥

(ब्राह्मण उसका मुख, क्षत्रिय भुजाएं, वैश्य उसकी जंघायें तथा शूद्र पैर हैं।)

इसका अर्थ है कि समाज जिसमें यह चतुर्विध व्यवस्था है अर्थात् हिंदू-समाज हमारा ईश्वर है।

सेवा की सही भावना

जनता में जनार्दन देखने की यह अति श्रेष्ठ दृष्टि ही हमारी राष्ट्र-कल्पना का हृदय है, इसने हमारे चिंतन को परिव्याप्त कर लिया है तथा हमारे सांस्कृतिक दाय की विविध अनुपम कल्पनाओं को जन्म दिया है।

यह दृष्टि हमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उस दिव्य पूर्ण के एक अंश के रूप में देखने की प्रेरणा देती है। अतः सभी व्यक्ति समान भाव से पवित्र एवं हमारी सेवा के योग्य हैं। अतएव उनके बीच भेद-भाव का कोई भी विचार निन्दनीय है। इस प्रकार समाज-सेवा की भावना को हमारी संस्कृति में ईश्वर की पूजा का पवित्र रूप दे दिया गया है।

हमारे चारों ओर सहस्रों मानव प्राणी हैं जो भूखे एवं निराश्रित हैं, जो जीवन की निम्नतम आवश्यकताओं से भी वंचित हैं और जिनकी कष्ट कथाएँ पाषाण के समान कठोर हृदयों को भी पिघला देंगी। निश्चय ही वह ईश्वर है, जिसने गरीब, निराश्रित एवं पीड़ित का रूप धारण किया है। उसने

यह रूप क्यों धारण किया है ? क्या वह कुछ चाहता है ? वह तो सम्पूर्ण शक्तियों का, संपूर्ण ज्ञान का स्वरूप ही है तथा सबका स्वामी है। फिर वह कौन सी वस्तु है जिसे वह चाहता है ? वह हमें अपनी सेवा के लिए अवसर प्रदान करने उन स्वरूपों में आता है। श्री रामकृष्ण परमहंस ने उन्हें दरिद्र-नारायण कहा है।

यदि एक बार यह सच्ची सेवा-भावना हमारे जीवन में प्रवेश कर जाती है तब हम यह अनुभव करने लग जाते हैं कि हमारी व्यक्तिगत और पारिवारिक सम्पत्ति, वह कितनी ही अधिक क्यों न हो, वास्तव में हमारी नहीं है। ये सब तो समाज-देवता की पूजा के लिये उपकरण मात्र हैं। तब हमारा सम्पूर्ण जीवन समाज की सेवा के लिये एक उपहार हो जायगा। उपनिषद् कहते हैं—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचत् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

(यह संपूर्ण सृष्टि ईश्वर से व्याप्त है, उसे समर्पण करने के पश्चात् जो शेष बचे उसी का भोग करो। दूसरे के धन के लिए लालच मत करो।)

अतएव हम अधिक से अधिक भौतिक संपत्ति का अर्जन करें जिससे कि समाज के रूप में जो ईश्वर है उसकी सेवा यथासंभव श्रेष्ठ रीति से कर सकें। और उस सम्पूर्ण सम्पत्ति में से हमें केवल उतना ही अपने लिये उपभोग में लाना चाहिये जितने के बिना हमारी सेवा की क्षमता में रुकावट आती हो। इससे अधिक पर अधिकार जताना या अपने उपयोग में लाना निश्चय ही समाज की चोरी का कार्य है। मनु ने घोषित किया है—

यावत् भ्रियेत् जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत् स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(शरीर की स्थिति के लिए जितना अत्यन्त आवश्यक है उतने ही पर मनुष्य का अधिकार है। जो अधिक ग्रहण करता है वह चोर है अतएव दण्डनीय है।)

इस प्रकार हम समाज की सम्पत्ति के संरक्षक (Trustee) मात्र हैं। उत्तम रीति से हम समाज-सेवा तभी कर सकते हैं जब सच्चे रूप में हम उसकी धरोहर के संरक्षक हो जाते हैं। सेवा का यह शुद्ध भाव उदय हो जाने पर अहं अथवा आत्मप्रशंसा के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता।

अधिकार नहीं कर्त्तव्य

आज हम सभी जगह अधिकारों के लिए मचा हुआ कोलाहल सुनते हैं।

हमारे सभी राजनीतिक दल भी समान अधिकारों की बात बोलते हुए हमारे लोगों में अहंभाव जागृत कर रहे हैं। कहीं भी कर्तव्य और निःस्वार्थ भाव की सेवा पर कोई बल नहीं दिया जाता। स्वकेन्द्रित अधिकार-ज्ञान के वायुमण्डल में सहयोग की भावना, जो समाज की आत्मा होती है, जीवित नहीं रह सकती। इसी कारण आज हम अपने राष्ट्र-जीवन में विविध घटकों के बीच संघर्ष देख रहे हैं, चाहे वे अध्यापक और छात्र हों या श्रमिक और उद्योगपति। केवल हमारी सांस्कृतिक दृष्टि के आत्मसात् करने से ही हमारे राष्ट्र-जीवन में सहयोग की सच्ची भावना एवं कर्त्तव्य की चेतना पुनरुज्जीवित हो सकती है।

हमारा सांस्कृतिक इन्द्रधनुष

हमारी संस्कृति की हिमालय के समान उन्नत दृष्टि का एक और शिखर है, जिस पर पहुँचने की महत्वाकांक्षा अभी तक संसार में अन्य किसी ने नहीं की है, तथा जिस भाव की अभिव्यक्ति—

"एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति"

वाक्य द्वारा की गई है (**अर्थात् सत्य एक है, ऋषि उसे विविध प्रकार से बखानते हैं**)। इस सुन्दर भाव को व्यक्त करने के लिए इसके समान अंग्रेजी में कोई शब्द-रचना नहीं। 'सहिष्णुता' शब्द जो इस भाव को व्यक्त करने के लिए प्रायः प्रयोग में आता है, बहुत नीचा है, यह तो सहन करने मात्र का भाव व्यक्त करने के लिए एक अन्य शब्द है। इसमें एक अहं का भाव है जो केवल दूसरों के दृष्टिकोण को सहन मात्र करता है किन्तु उनके लिए कोई प्रेम अथवा सम्मान नहीं रखता। परन्तु हमारी शिक्षा अन्य विश्वासों एवं दृष्टिकोणों को इस रूप में सम्मान करने तथा स्वीकार करने की भी रही है कि वे सब एक ही सत्य तक पहुँचने के लिए अनेक मार्ग हैं।

यह एक पहाड़ी के उन विविध वर्णनों के समान है, जो भिन्न-भिन्न मार्गों से उसकी चोटी पर पहुँचने वाले व्यक्तियों ने किये हैं। एक मनुष्य कहता है कि वह एक भीषण चट्टान के समान है, दूसरा कहता है कि यह चट्टान नहीं बिल्कुल जंगल है, तीसरा कहता है कि यह तो झाड़ियों से भरी हुई है, आदि-आदि। इनमें का प्रत्येक सही होते हुए भी अपूर्ण है। इस प्रकार के कुल अपूर्ण वर्णनों से हमें उस पहाड़ी का निःशेष एवं निर्दोष निरूपण प्राप्त होता है। एक बटे दो या एक बटे तीन अपूर्णाङ्क हैं। किन्तु इस प्रकार के अपूर्णाङ्कों को जोड़ देने से पूर्णांक प्राप्त करना सम्भव हो सकता है।

ठीक इसी प्रकार, व्यक्ति जो यद्यपि अपूर्ण है, परस्पर समष्टिगत रूप में

उपस्थित होकर एक सर्वाङ्गपूर्ण समाज का निर्माण कर सकते हैं। अतएव व्यक्ति की अपूर्णताओं से उत्पन्न ऊपरी विषमताएँ केवल उस एक महान् एवं निर्दोष तथा शक्तिमान सत्य अर्थात् समाज की नानाविध अभिव्यक्तियाँ ही हैं। सत्य के इस अन्तर्निहित स्फुलिंग का, याने प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान दिव्यता का यह बोध हमारे राष्ट्रीय जीवन के विविध घटक अंशों तथा क्षेत्रों यथा धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक में प्रविष्ट हो चुका है, तथा उन्हें ऐसे अविरोधी प्रतिमान के रूप में घटित कर दिया है, जिससे एक दूसरे के प्रति सद्भाव एवं सम्मान बना रहे। आत्मा की यह सार्वलौकिकता विश्व के चिंतन-क्षेत्र में हमारी संस्कृति की एक नितान्त अनोखी देन है।

सामान्य का स्तर उन्नत करना

अपनी संस्कृति के इन उदात्त वैशिष्ट्यों के पुनरुज्जीवन से ही हमारे समाज का सर्वसाधारण व्यक्ति अपने राष्ट्र-जीवन की दृष्टि से स्फूर्त होगा तथा आज के वैयक्तिक, पारिवारिक एवं अन्य संकीर्ण विचारों के आवेष्टन से बाहर आकर चारित्र्य, सेवा एवं बलिदान की भावना में उन्नत होगा। ऐसा कोई भी राष्ट्र उन्नत नहीं हो सकता जिसका औसत व्यक्ति बौना हो और जिनके बीच कुछ ही विशालकाय असामान्य व्यक्तित्व खड़े हों। असामान्य गुणों से सम्पन्न होना बहुत थोड़े लोगों का सौभाग्य होता है। हम इस प्रकार की आत्माओं के प्रति नमन करते हैं, तथा उनको नमन कर चुकने पर भी हम सामान्य जन अपने से प्रश्न करते हैं कि "हमारे बारे में क्या ?" इस प्रकार के अपवादस्वरूप जीवन हमें साहस दे सकते हैं किन्तु कभी-कभी वे हमें इस विचार से खिन्न कर देते हैं कि हम सब जिस भूमि पर हैं उससे इतनी भव्य ऊँचाई तक उठने मे हम असमर्थ हैं। इससे बाहर निकलने का क्या मार्ग है ?

विदेशी इतिहासकार तथा उस समय के यात्रियों के भी तुलनात्मक अध्ययन हमें बताते हैं कि इस देश का जनसाधारण अन्य देशों के सामान्यजन से, एक समय में, अतुल्य श्रेष्ठ था। इसका स्पष्ट कारण था कि हमारे समाज के नेताओं ने समाज के प्रत्येक स्तर में हमारे सांस्कृतिक संस्कारों को निविष्ट करने के लिए लगातार अथक प्रयत्न किये थे। इसीलिए हमारे समाज के प्रत्येक वर्ग में से, विद्वान् और ज्ञानियों से लेकर कृषक, कोरी, मोची, डोम तथा इसी प्रकार के अन्य लोगों तक से, हमें सन्त-महात्मा तथा शूरवीर मिलते हैं, जिनके विचारों एवं कृतियों, गीतों एवं कथनों ने सम्पूर्ण ऊपरी व्यवधानों को पार करते हुए हमारे लोगों को प्रेरणा दी है।

वर्तमान 'जागृति'

आज इस सही सांस्कृतिक दृष्टिकोण के पूर्ण अभाव के कारण हमारे लोग अनन्त समस्याओं की आपदा में आ फँस गये हैं और वे सभी समस्याएँ जनसाधारण का स्तर निम्न होने के कारण ही उत्पन्न हुई हैं। हम प्रायः सुनते हैं कि एक बहुत बड़ी जागृति हुई है और हमारे लोगों में राजनीतिक चेतना बढ़ रही है। जागृति ज्ञान है तथा ज्ञान वह योग्यता है जिससे विविधता में एकता की अनुभूति होती है, कलह के स्थान पर सामञ्जस्य की प्राप्ति होती है और स्वार्थ के स्थान पर समाज की आराधना होती है। अतः एकता के लिए प्रेरणा उत्पन्न करते हुए विघटन की प्रवृत्तियों का लोप हो जाना चाहिए। इसके विपरीत यदि हम अपने लोगों की एकता के लिए कार्य नहीं करते किन्तु विविध समस्याओं को अधिकाधिक पक्षोपपक्ष उत्पन्न करने के लिए उपयोग में लाते हैं तो हम अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रगति नहीं करते वरन् केवल अज्ञान की गहराई में और भी गहरे डूब रहे हैं।

किन्तु फिर भी इतनी अधिक क्रियाशीलता का अर्थ क्या है, हमारे चारों ओर इतने अधिक आन्दोलन और संक्षोभ क्यों हो रहे हैं? हाँ, जीवित प्राणी संज्ञाशून्य होने पर भी क्रियाशीलता प्रदर्शित करता है। उदाहरण के लिए हम सूक्ष्मदर्शक यन्त्रों द्वारा देख सकते हैं कि मेंढक की सूक्ष्मतम शिराओं में, उसके बाह्य चेतना से शून्य हो जाने पर भी रक्तसंचार होता रहता है। क्या वह प्रगति कर रहा है? नहीं, इसके विपरीत, वह मृत्यु की ओर जा रहा है। इसी प्रकार अज्ञान जब चारों ओर छाया रहता है तब भी क्रियाएँ होती रहती हैं। हमारी वर्तमान काल की अधिकतर क्रियाओं के प्रेरक उद्देश्यों पर आकस्मिक दृष्टिपात भी हमें विश्वास दिला देगा कि वे सच्ची जागृति अर्थात् ज्ञान से उत्पन्न नहीं हुई हैं वरन उनकी उत्पत्ति अन्धकार एवं अज्ञान से है।

वर्तमान विपर्यासों को दूर करो

जब हम अपने उदात्त सांस्कृतिक मूल्यों की बात करते हैं तो आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता में पगे हुए लोग सोचते हैं कि यह कोई रहस्यात्मक चीज है, कुछ पारलौकिक वस्तु है। किन्तु यह केवल हमारे मानसिक दास्य की वर्तमान गहराई को ही प्रकट करता है जिसने हमें उन सिद्धान्तों को समझने के सामर्थ्य से भी वंचित कर दिया है जो कभी हमारे राष्ट्रजीवन का गौरव थे। एक बार मेरे एक मित्र ने मुझसे एक किताब ली। जिस दिन वह मुझे लौटाने को था, पुस्तक बन्दर ले गया। वह एक वृक्ष की चोटी पर बैठ गया और उसे उलट-

पलट कर देखने लगा। सम्भवतः वह मेरे मित्र को ऐसा करते देख चुका था। कई बार उसे खोला और बन्द किया, अन्त में वापस आया और मेरे मित्र को चकित करते हुए मेज पर रखकर चला गया। सम्भव है उसने यह सोचा हो कि मानव प्राणी की क्रियाएँ सभी रहस्यमय और गुप्त हैं। हमारी संस्कृति के उपदेशों के सम्बन्ध में भी आज कुछ इसी प्रकार की दशा है।

आज हम एक दूसरी पराकाष्ठा देखते हैं कि नाच, गान, चलचित्र तथा नाटकों को ही हम संस्कृति मानने लगे हैं। हम इस प्रकार के 'सांस्कृतिक कार्यक्रम' अपने देश में सभी जगह चलते हुए देखते हैं। निःसंशयरूपेण हल्के मनोरंजन का एक दूसरा नाम संस्कृति हो गया है। यह इतनी हास्यास्पद एवं अपमानकारक सीमा तक पहुँच गया है कि नैतिक दुश्चरित्रता के कीचड़ में फँसे हुए चलचित्र के कुख्यात नट-नटी हमारे सांस्कृतिक प्रतिनिधिमण्डलों में सम्मिलित किये जाते हैं। जिस देश में राम और सीता जैसे आदर्श चरित्र हुए, जिसने भूतकाल में श्रेष्ठतम दार्शनिक एवं ऋषियों को और वर्तमान काल में विश्व में सहज सम्मान तथा प्रेमादर प्राप्त करने वाले विवेकानन्द और राम-कृष्ण जैसे व्यक्तियों को अपने सांस्कृतिक प्रतिनिधि के नाते भेजा है वहाँ से ऐसे व्यक्तियों का हमारे देश के सांस्कृतिक प्रतिनिधि के नाते जाना हमारे पतन का एक भयावह दृश्य उपस्थित करता है।

हम यह भी देखते हैं कि हमारे प्रमुख 'सांस्कृतिक पुरुष' 'मिसइण्डिया' की सौन्दर्य प्रतियोगिता में निर्णायकों के रूप में भाग लेते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी संस्कृति के सम्बन्ध में उनकी जो कल्पना है, उसमें हमारे नारीत्व के आदर्श सीता, सावित्री, पद्मिनी अथवा निवेदिता का कोई स्थान नहीं है।

शान्त अथवा गुप्त

वर्तमान काल के इन विपर्यासों से हमें अपने को दूर रखना होगा और अपनी संस्कृति के शाश्वत एवं जीवनदायी तत्व को आत्मसात् करना होगा। स्पष्टतया यह सांस्कृतिक संस्कार देने का कार्य है जिसे बिना किसी डिमडिम एवं प्रचार के वातावरण में शान्ति से दृढ़तापूर्वक नित्यप्रति वर्षानुवर्ष चलना चाहिए। किन्तु आज अपनी संस्कृति के सही दृष्टिकोण के अभाव में इस शान्ति को भ्रमवश गुप्तता मान लिया जाता है। हमारी संस्कृति प्रदर्शन का समर्थन नहीं करती।

उदाहरणार्थ हिन्दू पति-पत्नी अपने प्रेम का प्रदर्शन सबके सामने नहीं

करते। हिन्दू पत्नी आँसू, आलिंगन अथवा चीत्कार से अपने प्रेम को व्यक्त नहीं करती। इसके विपरीत पाश्चात्य लोग अपने प्रेम को नाटकीय आलिंगनों और चुम्बनों से प्रकट करते हैं। यह नितान्त बाह्य प्रदर्शन है क्योंकि दूसरे ही दिन उनके सम्बन्ध-विच्छेद की सम्भावना है। हमारे यहाँ के लोग प्रदर्शन नहीं करेंगे वरन् उनके मुखमण्डल पर प्रेम की एक आभा प्रकट हो जायगी। और वह प्रेम खंडित होने के भय से रहित सदा बना रहता है। हमारी संस्कृति ने हमें सदैव यह शिक्षा दी है कि असंयत प्रदर्शनों की अपेक्षा संवेगों का संयमन अधिक शक्तिशाली और मोहक होता है। यदि प्रेम को व्यक्त करने का हमारा ढंग श्रेष्ठ माना जाता है तो कार्य का शान्त ढंग भी उतना ही श्रेष्ठ है।

शाश्वत मूलों का सिंचन

हमारी संस्कृति के इन प्राचीन एवं जीवनदायी लक्षणों को पुनः तारुण्य प्रदान करने के कार्य की अविलम्ब आवश्यकता और सर्वोपरि महत्ता हमारे राष्ट्र के वर्तमान सन्दर्भ में ही नहीं है वरन् अन्ताराष्ट्रीय सन्दर्भ में भी है। हमारी सांस्कृतिक दृष्टि को ही, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम एवं सामञ्जस्य के लिए सच्चा आधार प्रदान करती है और जीवन के सम्पूर्ण दर्शन को मूर्त करती है, आज के इस युद्ध से ध्वस्त हुए विश्व के सामने प्रभावी ढंग से रखने की आवश्यकता है। यदि महान् जागतिक लक्ष्य में हम सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें प्रथम अपना उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। हमें विदेशी वादों की मानसिक शृंखलाओं और आधुनिक जीवन के विदेशी व्यवहारों तथा अस्थिर 'फैशनों' से अपनी मुक्ति कर लेनी होगी। परानुकरण से बढ़कर राष्ट्र की अन्य कोई अवमानना नहीं हो सकती। हम स्मरण रखें कि अन्धानुकरण माने प्रगति नहीं। वह आत्मिक पराधीनता की ओर ले जाता है।

फिर भी हमें विश्वास है कि वर्तमान विपर्यास एवं मिथ्या कल्पनाएँ केवल क्षणिक दृश्य हैं। हमारी संस्कृति की जड़ें अमरता के स्रोतों में अत्यन्त दृढ़ता से एवं गहराई तक जमी हुई हैं जो सरलता से सूख नहीं सकतीं। वे अपने युगों प्राचीन ओज एवं जीवन-शक्ति को निश्चय के साथ प्रकट करेंगी ही और विगत कुछ शताब्दियों में वृद्धिगत परोपजीवी वृत्ति का परित्याग करते हुए अपनी सम्पूर्ण पुरातन शुद्धता एवं भव्यता के साथ एक बार पुनः अंकुरित होंगी।

**

४ सच्चे राष्ट्रीय वैभव के लिए

पुनरुज्जीवन

अपने हिन्दू राष्ट्र का पूर्ण वैभव एवं इसकी महानता का पुनरुज्जीवन हमारा एक मात्र परम लक्ष्य है। अपने इस लक्ष्य का आकलन करने के लिए आवश्यक है कि 'अपने राष्ट्र के उस परम वैभवम्' के अर्थ को जिसे हम प्रार्थना में उच्चारित करते हैं, भली-भाँति समझें। इसके पश्चात् हमें यह भी समझना होगा कि अपने राष्ट्र की वह वैभवशाली अवस्था कैसे प्राप्त की जाय और किस भाँति उसे स्थिर रखा जाय।

सामान्य रूप से किसी राष्ट्र का वैभव उसकी भौतिक सम्पन्नता के आधार पर नापा जाता है। निस्संदेह गौरवशाली राष्ट्र को सब भाँति सम्पन्न होना आवश्यक है। राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति की जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति पूर्णरूप से होनी चाहिए। किन्तु क्या राष्ट्रीय वैभव का वह पूर्ण चित्र यही है, जिसकी कल्पना हम अपने राष्ट्र के लिए करते हैं। यही है एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न जिस पर हमें गम्भीरता से विचार करना है।

वैभव की हमारी कल्पना

प्रत्येक राष्ट्र का अपना विशिष्ट जीवन-संगीत रहता है और उसी की लय-तरंग में राष्ट्र प्रगतिपथ पर अग्रसर होता है। अपने हिन्दू-राष्ट्र ने भी अनादि काल से एक अनुपम विशिष्टता को सुरक्षित रखा है। हमारे लिए भौतिक सुख के स्वरूप अर्थात् अर्थ (सम्पत्ति का संचय) और 'काम' (भौतिक तृष्णाओं का समाधान) मनुष्य जीवन के एक अंश मात्र हैं। हमारे महान् पूर्वजों

ने घोषणा की है कि मानव पुरुषार्थ के दो और भी पहलू हैं और वे हैं 'धर्म' एवं 'मोक्ष' हमारे समाज की रचना इस चतुर्विध प्राप्ति के आधार पर की गई है। यह चतुर्विध पुरुषार्थ हैं : अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। अति प्राचीन काल से हमारा समाज केवल सम्पत्ति एवं वैभव के लिए ही प्रसिद्ध नहीं रहा है वरन् इससे भी अधिक जीवन के उन अन्य दो पहलुओं के लिए रहा है। इसीलिए हम एक उच्च नैतिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक लोग कहे जाते हैं, जिन्होंने अपना अन्तिम लक्ष्य अपने ईश्वर से सीधा सम्पर्क करने अर्थात् मोक्ष से कम नहीं रखा। यदि मानव-सत्ता का यह अन्तिम उद्देश्य छोड़ दिया जाय तो मनुष्य में जो पशु है उसकी इच्छाओं की पूर्ति के अतिरिक्त और क्या बचता है? यदि यह सत्य है कि मनुष्य और पशु में अन्तर होता है तो उन दोनों की सम्पन्नता एवं सुख की कल्पना में भी अन्तर होना ही चाहिए। यदि खाना, पीना और खूब आनन्द भोग ही दोनों की कसौटी है तो मनुष्य की समता भी पशु के ही साथ करनी होगी। इसीलिए हम कहते हैं कि हमें मनुष्य की आत्मा को भी खाद्य देना है। जब हम यह कार्य करते हैं तभी अपने राष्ट्रीय अस्तित्व को वास्तव में महान् एवं वैभवसम्पन्न मान सकते हैं। इसलिये जब हम अपने राष्ट्र की महानता और वैभव का विचार करते हैं तो हम उसकी सम्पत्ति और उसकी समृद्धि तथा शरीर की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के सब साधनों का ही विचार नहीं करते वरन् हम व्यक्ति के मन के विषय में भी विचार करते हैं, जिसे शनैः-शनैः इन सभी वस्तुओं के ऊपर उठाने का प्रयत्न होना चाहिए और व्यक्ति को उस स्थिति में पहुँचाना चाहिए, जिसका उसे मानव प्राणी के रूप में अधिकार प्राप्त हुआ है, अर्थात् ईश्वरत्व के साथ सीधा सम्बन्ध। यह कहा है कि 'धर्मादर्थश्च कामश्च' अर्थात् प्रथम धर्म का आचरण करो, धर्म तुम्हें अर्थ और काम की भी प्राप्ति करा देगा।

धर्म का स्थान

जब हम कहते हैं कि हम धर्म की रक्षा एवं उसका कायाकल्प कराना चाहते हैं तो क्या हमारा आशय उसके कर्मकाण्ड के बाह्य स्वरूप एवं औपचारिकताओं से है? हमारे देश में कुछ लोग पवित्र सूत्र यज्ञोपवीत धारण करते हैं, जब कि कुछ लोग धारण नहीं करते। कुछ चोटी रखते हैं, कुछ नहीं। कुछ मूर्ति-पूजा करते हैं, कुछ नहीं। ये वस्तुएं उनके लिए अर्थ रखती हैं जो उन्हें मानते हैं और वे हमारे सर्वव्यापी धर्म के छोटे-छोटे बाह्य लक्षण मात्र हैं। उन्हीं को धर्म समझ लेने का भ्रम नहीं होना चाहिए।

हमारी धर्म की परिभाषा दुहरी है। प्रथम तो मनुष्य के मस्तिष्क का उचित पुनर्वासन तथा द्वितीय है सामंजस्यपूर्ण सांधिक अस्तित्व के लिए विविध प्रकार के व्यक्तियों का परस्पर अनुकूल बनना अर्थात् समाज धारणा के लिए एक उत्तम समाज-व्यवस्था।

हम प्रथम पहलू को लें। मस्तिष्क के पुनर्वासन का क्या अर्थ है ? हम जानते हैं कि मनुष्य का व्यक्तित्व उसके मन का प्रक्षेपण मात्र होता है। किन्तु मन एक ऐसे पशु के समान है जो कितनी ही वस्तुओं के पीछे भागता है तथा उसकी रचना कुछ इस प्रकार की है कि सभी वस्तुओं के साथ वह एक हो जाता है। साधारणतः मनुष्य का मन यह विचार करने के लिए नहीं रुकता कि क्या ठीक है और क्या गलत। वह अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए किसी भी स्तर तक नीचे झुक सकता है। इस प्रकार के मन के साथ मनुष्य की साधारण पशु के स्तर से उच्च उठने की सम्भावना नहीं होती। अतएव मन को आत्मसंयम एवं कुछ अन्य महान् गुणों से संस्कारित करना है। अच्छे आचरण के वे लक्षण भगवद्गीता एवं हमारे अन्य पवित्र ग्रन्थों में विविध सन्दर्भों में उल्लिखित हैं। उन्होंने शरीर के लिए पाँच 'यमों' और मन के लिए पाँच नियमों का वर्णन किया है।

दूसरा है सामाजिक पहलू। मनुष्य के जीवन का सम्पूर्ण समाज के व्यापक हितों के साथ तालमेल बैठना चाहिए। ये दोनों ही स्वरूप एक दूसरे के पूरक होते हैं। प्रथम पहलू की परिभाषा इस प्रकार की है—

> यतोभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः

जिसका यह अर्थ है कि धर्म एक प्रकार की व्यवस्था है जो मनुष्य को अपनी इच्छाओं पर संयम रखने को प्रोत्साहित करती है और सम्पन्न भौतिक जीवन का उपभोग करते हुए भी दैवी तत्व अथवा शाश्वत सत्य की अनुभूति के लिए क्षमता का निर्माण करती है। द्वितीय स्वरूप है—

> धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः

जिसका अर्थ है वह शक्ति जो व्यक्तियों को एकत्रित लाती है और उन्हें समाज के रूप में धारण करती है, धर्म है। इन दो परिभाषाओं का मेल प्रकट करता है कि धर्म की स्थापना का अर्थ एक ऐसे सुसंगठित समाज का निर्माण है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ अपने एकत्व का अनुभव करता है तथा दूसरों के भौतिक जीवन को अधिक सम्पन्न, अधिक सुखमय बनाने के लिए त्याग की भावना से अनुप्राणित होता है एवं उस आध्यात्मिक जीवन का विकास करता है जो उसे चरम सत्य की अनुभूति की दिशा में ले जाता है।

समाज की सुस्थिति एवं कल्याण के साथ व्यक्ति विकास का मेल देखने की एक और भी दृष्टि है। हमारे महान् विचारदाताओं ने हमसे नित्य और अनित्य का भेद जान लेने को कहा है। शंकराचार्य ने इसे 'नित्यानित्य वस्तु विवेक' कहा है। थोड़ी देर के लिए हम इसके उच्च दार्शनिक अर्थ को एक ओर रख दें और इसे अपने राष्ट्रीय जीवन पर लागू करें। व्यक्ति आते हैं और चले जाते हैं। अगणित पीढ़ियों का आना और जाना हो चुका है; किन्तु राष्ट्र बना हुआ है। जल के बिन्दु आते हैं, कुछ देर के लिए रुकते हैं और भाप बनकर उड़ जाते हैं। किन्तु गंगा का प्रवाह अनवरत चलता जाता है। इसी प्रकार हमारे राष्ट्र जीवन का प्रवाह शाश्वत है। हम व्यक्ति सतह पर एक बुलबुले अथवा बूंद के समान प्रकट होते हैं और लुप्त हो जाते हैं। इसलिए राष्ट्र-जीवन ही 'नित्य' है। व्यक्ति 'अनित्य' है। अतः आदर्श व्यवस्था होगी 'अनित्य' व्यक्ति को 'नित्य' की प्राप्ति के साधनों में—सामाजिक हित के रूप में—बदल दिया जाय, जो साथ ही साथ व्यक्ति को अपनी अन्तर्निहित दिव्यता की वृद्धि एवं विकास के लिए सामर्थ्य प्रदान करेगा। यही है धर्म अपने दुहरे स्वरूप में जो मनुष्य को उसके अन्तिम लक्ष्य ईश्वरत्व—मोक्ष प्राप्ति के अन्तिम लक्ष्य की ओर ले जाता है।

वर्तमान चेतावनी

दुर्भाग्य से आज हमारे देश के कर्णधार इस राष्ट्रीय दृष्टि से विहीन हैं और ऐसे विदेशी वादों से विमोहित हो गये हैं जो उन्नति एवं वैभव के भौतिक दृष्टिकोण के ऊपर नहीं उठ पाये हैं। उन्होंने जीवनस्तर को उन्नत करने का घोष प्रचलित किया है। जिसका अर्थ है केवल मनुष्य की इच्छाओं को बढ़ाना और शारीरिक सुख-सुविधाओं को बढ़ाते हुए उनकी पूर्ति का प्रयत्न करना। आज का विलास-बाहुल्य कल की आवश्यकताएँ हो जाता है और इस प्रकार मनुष्य की भौतिक आकांक्षाओं की अधिकाधिक अतितृप्ति के लिए अन्तहीन संघर्ष चलता रहता है।

यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि भौतिक कामनाओं की शान्ति कभी नहीं हो सकती। जितना अधिक कोई उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयास करता है वे उतनी ही अधिक तीव्र होती जाती हैं, जिस प्रकार आग में तेल उड़ेलने से वह बुझने के स्थान पर और भी प्रज्ज्वलित होती है। टालस्टाय ने एक अत्यन्त शिक्षाप्रद कहानी लिखी है, जिसका नाम है—'मनुष्य को कितनी भूमि की आवश्यकता होती है।' एक किसान से वादा किया गया कि सूर्योदय से सूर्यास्त

पर्यन्त वह जितनी भूमि की परिक्रमा कर लेगा, उतनी भूमि उसे दे दी जायेगी। अधिक से अधिक भूमि प्राप्त करने के लोभ मात्र के कारण वह इतनी दूर तक दौड़ा कि सूर्यास्त के पूर्व वह अपने प्रारम्भ स्थान पर नहीं लौट सका और केवल श्रम से क्षीणता के ही कारण मर गया। उसे गाड़ने के लिए केवल सात फीट लम्बी और ढाई फीट चौड़ी जमीन की पट्टी की आवश्यकता पड़ी।

यह बात भी भली प्रकार जानी हुई है कि जिस व्यक्ति के पास गट्ठर भर अपूर्ण कामनाएँ हैं, उन्हें सन्तुष्ट करने के लिये कितने ही अधिक साधनों के प्राप्त होने पर भी, वह कभी सुखी नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए अमेरिका में असीम सम्पत्ति एवं सम्पन्नता के होते हुए भी विविध प्रकार के भीषण अपराधों की घटनाएँ तथा समाज के प्रत्येक वर्ग में मानस रोगों की वृद्धि भयावह गति से हो रही है। सहस्रों अमेरिकावासी नित्य रात्रि में शैया पर जाने से पूर्व निद्रा की गोलियों का सेवन करते हैं। यह उनके जीवन-दर्शन के एक गम्भीर छिद्र का ही सूचक है। राजनीतिक तथा आर्थिक तत्वों का ही जीवन में पूर्ण एवं सर्वाधिक विचार रखते हुए उन्होंने आध्यात्मिकता की जड़ों की उपेक्षा की है। यह आध्यात्मिकता ही वह वस्तु है जो मानव मस्तिष्क को संयमित और उदात्त बनाती है तथा शान्ति एवं सुख में विकसित और स्फुटित होने के लिए मानवात्मा का परिपोषण करती है।

व्यवहार में

अतएव हमें यह नहीं भूलना चाहिए, यह चतुर्विध पुरुषार्थ की पूर्ण जीवन-कल्पना ही थी, जिसने हमारे सामाजिक स्वरूप को विशिष्टता प्रदान की और विश्व के क्षितिज पर हमारे नाम को प्रकाशित किया। हमारे राष्ट्रीय अतीत के यथेष्ट साक्ष्य इस तथ्य को प्रकट करने वाले हैं कि यह जीवन कल्पना कोरी काल्पनिक जगत् की बात नहीं थी वरन् हमारे राष्ट्र जीवन में सहस्रों वर्ष तक एक सजीव सत्य रही थी। हमारे देश में आने वाले सभी विदेशी यात्रियों ने यहाँ के मनुष्यों के अति श्रेष्ठ स्तर और असीम सम्पत्ति एवं वैभव को अपने प्रशंसात्मक कथनों द्वारा प्रमाणित किया है। हमारे लोगों का श्रेष्ठ चारित्र्यगठन जीवन की उस पूर्ण कल्पना का परिणाम था, जिसके अन्तर्गत अर्थ और काम का समन्वय धर्म और मोक्ष के उच्चतर मूल्यों के साथ किया गया और जिसे हमने व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर क्रियान्वित किया। इतिहास में इस बात के असंख्य उदाहरण मिलते हैं कि दूसरे देशों ने हमारे राष्ट्र के समक्ष अतीव श्रद्धापूर्वक नमन किया, जिसका कारण हमारे आध्यात्मिक महत् पुरुषों

का विशुद्ध चारित्र्य ही रहा है, जिन्होंने सम्पूर्ण संसार में फैलकर मनुष्य के अन्दर दिव्यता का संदेश दिया। बाद में भी, प्रारम्भिक अवस्था में हमारे बौद्ध संन्यासी एवं धर्म-प्रचारक भी अपने देश की सीमाओं को पार कर दूर-दूर के देशों में गये। उन सभी देशों में उनकी पूजा हुई तथा उनके द्वारा प्रस्तुत किए गये उदाहरण एवं उपदेशों को आदर्श के रूप में माना गया। बुद्ध का एक शिष्य तिब्बत, चीन और जापान गया था। इन सभी देशों में उसकी मूर्ति की पूजा देवता के समान होती थी। यह चमत्कार कैसे हुआ? यह थी स्वार्थ-त्याग एवं सेवा की तीव्र भावना, सभी को हृदय से लगा लेने वाला प्रेम, और इस प्रकार के धर्म-प्रचारकों के उदात्त चरित्र की विशुद्ध श्रेष्ठता, जिसने उन्हें उन लोगों का सांस्कृतिक गुरु बना दिया तथा हमारे भारत के लिए विश्वगुरु का नाम अर्जित किया।

आज हम अपने देश के लोगों को जब अन्य देशों में राजदूत अथवा आचार्य, विद्यार्थी या व्यापारी अथवा यों ही आनन्द के लिए यात्रा करने वालों के रूप में जाते देखते हैं और पाते हैं कि ये वहाँ जाकर शारीरिक भोगों के पंक में धँस जाते तथा वहाँ के लोगों की अपेक्षा श्रेष्ठतर व्यवहार न कर अनेक बार अपने आपको एक तुच्छ व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं, उस समय हमें राष्ट्रीय जीवन के इस स्वरूप पर बल देने की अतीव आवश्यकता और भी स्पष्ट हो जाती है।

हमारे राष्ट्र का सच्चा पुनरुद्धार मनुष्य निर्माण से होना चाहिए, उसमें शक्ति का ऐसा संचार होना चाहिए जिससे कि वह मानवीय दुर्बलताओं को पराभूत करने में और प्रेम, आत्मसंयम, त्याग, सेवा एवं चारित्र्य के हमारे परम्परागत सद्‌गुणों की मूर्ति बनकर हिन्दू पुरुषार्थ के भासमान प्रतीक के रूप में खड़ा होने में समर्थ हो सके। हमें अपने वैभवशाली राष्ट्रत्व का यह महत्वपूर्ण और वास्तविक सार तत्व अपनी दृष्टि के समक्ष सदैव रखना होगा जिससे कि हम अपने विश्वगुरु के पूर्वार्जित मूल पद पर पुनः आरूढ़ हो सकें।

अनुशास्ति

अब हम इस प्रश्न के दूसरे पक्ष पर आते हैं। आज के संसार में जीवन की अपनी चतुर्विध पूर्ति के साथ राष्ट्रीय वैभव के उच्चतम शिखर पर पहुंचने तथा उनको बनाये रखने के लिए हमें क्या करना चाहिए? हमें ज्ञात है कि ऐसी वैभवशाली अवस्था को विनाश का भय आन्तरिक अव्यवस्था अथवा बाहर से होने वाले आक्रमणों से उत्पन्न होता है। हमारा अपना ही इतिहास बताता है

कि इन्हीं दोनों कारणों ने हमें उस वैभव की स्थिति से जो किसी समय संसार के लिए ईर्ष्या का विषय थी, इस वर्तमान हेय दशा में लाकर खड़ा कर दिया है। अतएव आज हमें अपने राष्ट्रीय जीवन का पुनर्निर्माण करना है जिससे हम इन दोनों ही प्रकार के संकटों का निराकरण कर सकें।

यह भी भली प्रकार से ज्ञात है कि विशेषतया इस युग में बाह्य आक्रमण, आन्तरिक विक्षोभ एवं अस्तव्यस्तता से अपने को सुरक्षित रखने की शक्ति समाज के संगठित जीवन में ही है—'संघे शक्तिः कलौ युगे'। अतः जब हम यह कहते हैं कि अपने राष्ट्र को वैभव के शिखर पर ले जाना है तो उसका यह भी अर्थ होता है कि समाज जागरूक, संगठित एवं सामर्थ्यशाली बनाना चाहिए। आखिर यह एक सत्य है कि राष्ट्र अपनी संगठित शक्ति के ठोस आधार पर ही खड़े हो सकते हैं। जीवन के अन्य विषय जैसे भोजन, वस्त्र, घर, औषधि तथा अन्य भौतिक प्रयोजन, कितने ही आवश्यक क्यों न हों, गौण हैं। प्रथम एवं सबसे महत्वपूर्ण पूर्वापेक्षा है—अजेय संगठित समाज-जीवन की, जिसके अभाव में उच्चतम राष्ट्रीय सम्पन्नता अत्यल्प काल में धूल में मिल जायगी।

दुर्बल कड़ियों से सबल शृंखला नहीं बनती

अब हम इस प्रकार की शक्ति के उद्गम की ओर दृष्टिपात करें। कहाँ और कैसे वह शक्तिस्रोत प्राप्त होगा ? हम कहते हैं कि वह लोगों के संगठित जीवन में निवास करता है। किन्तु किस प्रकार के लोगों में ! वे इस प्रकार होना चाहिए कि जिनके मन एवं विचार ऐक्य से रंजित हों, जिनकी नैतिकता के समान नियम हों, एक दूसरे के प्रति प्रामाणिक हों तथा राष्ट्र के प्रति एकान्तिक रूप से निष्ठावान् हों। जब तक वे इस प्रकार के नहीं होते केवल संगठन शक्ति राष्ट्र-रक्षा का कार्य नहीं कर सकती। इसके विपरीत वह तो राष्ट्र-जीवन के लिए विभीषिका का स्रोत सिद्ध होगी। उदाहरण के लिए क्या हम स्वार्थी और समाज-विरोधी तत्व तथा चोर-डाकू तक को संगठित होते नहीं देखते।

हम यह भी देखते हैं कि स्वार्थी और चरित्रहीन लोगों को सामाजिक हित के लिए घातक उद्देश्यों पर एकत्रित कर लेना सरलतर है। आज इस प्रकार के गुट, जिनके अपने साम्प्रदायिक अथवा कुछ ऐसे ही संकुचित हित हैं, सम्पूर्ण देश में उठ रहे हैं। वे अपने स्वार्थी हितों की पूर्ति के लिए देश की पवित्रता एवं अपने राष्ट्रजीवन की एकता का विनाश करने के लिए भी उद्यत हैं। ऐसे लोग बहुत सरलता से एकत्रित आ जाते हैं। यह संगठित जीवन का निम्नतम स्तर है। निम्न स्तर के जीवन में संगठन बहुत ही सादा और सरल होता है।

मांस का एक टुकड़ा फेंकने पर कौओं का पूरा झुण्ड एकत्रित हो जाता है। यह झुण्ड की सहज प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति उस समय सक्रिय हो जाती है, जब राष्ट्र-जीवन की विशाल कल्पना की पकड़ मन से हटकर मत, पन्थ, जाति अथवा इसी प्रकार की अन्य संकुचित कल्पनाएँ मन पर सर्वोपरि अधिकार कर लेती हैं। किन्तु चूंकि यह सरल है, केवल इसींलिए यह मार्ग हमें ग्रहण नहीं करना चाहिए।

अतएव हमारा यह निष्कर्ष है कि योग्य व्यक्तियों के एकत्रीकरण से संगठित शक्ति का निर्माण करना होगा। इसीलिए सोचना होगा कि उन व्यक्तियों के लिए कौन से गुणों की अपेक्षा है जो इस प्रकार की संगठित शक्ति के सजीव अंग बनेंगे।

शक्ति ही जीवन है, दुर्बलता मृत्यु

प्रथम वस्तु है अजेय शारीरिक शक्ति। हमें इतना शक्तिशाली होना है कि सम्पूर्ण संसार में हमें कोई भी न तो विजित कर सके और न अभिभूत कर सके। इसके लिए हमें सशक्त एवं स्वस्थ शरीर चाहिए। हमारे सभी अवतार, जिन्होंने मानव-शरीर धारण किया, इसी प्रकार के थे। हमारे शास्त्रों का सार यही रहा है कि 'शक्ति ही जीवन है, दुर्बलता मृत्यु है।' स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे—"मैं लोहे की मांसपेशियाँ एवं फौलाद की नसों वाले मनुष्य चाहता हूँ।" वह स्वयं भी ऐसे ही थे। अपने कुछ साथी शिष्यों को बैठे हुए और आँसू बहाते हुए देखकर वह गरज कर कहते थे—"यह भक्ति नहीं है। यह तो नाड़ी संस्थान की दुर्बलता है। छोटी लड़कियों के समान बैठकर मत रोओ।"

आज जब हम किसी दर्पण के सामने खड़े होकर अपनी ओर देखते हैं तो क्या पाते हैं? क्या हमें पौरुष एवं शक्ति का कोई लक्षण दिखाई देता है। यह मत कहो—"आखिर शरीर में रखा क्या है।" हमारे शास्त्र कहते हैं—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

(जीवन में हमारे कर्तव्यों को पूर्ण करने के लिए शरीर प्रथम साधन है।)

एक सक्षम शरीर के बिना हम कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं कर सकते। ईश्वर के साक्षात्कार के लिए भी स्वस्थ एवं सशक्त शरीर की आवश्यकता है। ईश्वर दुर्बलों के लिए नहीं है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः

जब हम ईश्वर का ध्यान करने बैठते हैं, उस समय यदि हमारे सिर में

चक्कर आने लगता है, हमारी रीढ़ दुखने लगती है और हम अपने आसन पर काँपने लगते हैं तथा हृदय धड़कने लगता है तो उसका परिणाम ईश्वर नहीं वरन् ज्वर होता है। हमारे वर्तमान काल के युवकों में त्वचा के प्रसाधनों की और स्नायुओं की उपेक्षा की जो वृत्ति उत्पन्न हो गई है, उसे अवश्य त्यागना चाहिए तथा उन्हें योग्य व्यायामों एवं स्वस्थ अभ्यासों के द्वारा ऐसे सशक्त शरीरों का विकास करना चाहिए जो ताप एवं शीत, भूख और श्रम तथा जीवन की सभी कठोरताओं में से प्रसन्न चित्त होकर निकल जाने में सक्षम हों।

चरित्र सर्वस्व है

शारीरिक शक्ति आवश्यक है। किन्तु चरित्र उससे भी अधिक महत्व का है। बिना चरित्र के केवल शक्ति मनुष्य को पशु बना देगी। वैयक्तिक उसी प्रकार राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी चरित्र की शुद्धता राष्ट्र के वैभव एवं महानता की जीवन प्राण होती है।

प्रह्लाद की एक कथा है जो चरित्र की महत्ता को चित्रित करती है। पुण्य कर्मों के फलस्वरूप उसने इन्द्र को निकाल दिया और स्वयं देवताओं का राजा बन गया। इन्द्र देवताओं के गुरु बृहस्पति के पास गये और कहा—"श्रीमान् आप मेरी दयनीय दशा से अवगत हैं, मुझे अपने सिंहासन को पुनः प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए, बताइये।" बृहस्पति ने कहा—"एक साधारण याचक के समान रूप धारण करो और प्रह्लाद के दरबार में 'इच्छा-दान' के समय जाओ, अर्थात् जिस समय वह भिक्षुओं को जो कुछ वे माँगते हैं देता है, और उसका शील (चरित्र) माँग लो।" इन्द्र ने वैसा ही किया। वह प्रह्लाद के पास भिक्षुक के रूप में गया और उसने उसका शील माँगा।

प्रह्लाद ने कहा—"तुम केवल मेरे शील से ही क्यों सन्तुष्ट हो ?" उस याचक ने उत्तर दिया कि "मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है।" 'तुमको यह दिया' प्रह्लाद के इतना कहते ही एक तेजस् आकृति उसके शरीर से बाहर आई और याचक के शरीर में प्रवेश कर गई। प्रह्लाद ने पूछा—'तुम कौन हो? तुम मेरे शरीर को छोड़कर याचक के शरीर में क्यों प्रवेश कर रहे हो ?' तेजस् अशरीरी ने उत्तर दिया—"मैं तुम्हारा शील हूँ। चूँकि तुमने मुझे उसको दे दिया है। अतः अब मुझे उसके शरीर में प्रवेश करना है।" पल भर में ही एक अन्य देदीप्यमान आकार बाहर आया। पुनः प्रह्लाद ने पूछा—"तुम कौन हो, मेरे शरीर को क्यों छोड़ रहे हो ?" 'मैं तुम्हारा शौर्य हूँ। मैं शील का सेवक मात्र हूँ। जब तक तुम्हारे पास शील था, मैंने तुम्हारी सेवा की। अब

शील चला गया है, मैं भी उसका अनुसरण कर रहा हूँ।' ऐसा कहते हुए वह भी उस याचक के शरीर में प्रवेश कर गया। इसी प्रकार कुछ और भी तेजस आकारों ने प्रह्लाद के शरीर को छोड़ दिया। अन्त में एक देदीप्यमान आभा से युक्त स्त्री आकार उसके शरीर से निकला। उसने कहा—"अच्छा, मैं आपकी राज्यश्री हूँ। मैं भी शील की सेविका हूँ, और इसलिये उसी के पास मैं जा रही हूँ।" परिणामतः प्रह्लाद की सम्पूर्ण सत्ता एवं वैभव समाप्त हो गया और इन्द्र ने अपना सिंहासन पुनः प्राप्त किया।

संक्षेप में इस कहानी का उपदेश यह है कि चरित्रवान् होने से हमें सब कुछ उपलब्ध हो सकता है तथा बिना चरित्र के हम प्रत्येक वस्तु खो देते हैं। यह वात व्यक्तियों के लिए भी उतनी ही सत्य है, जितनी राष्ट्रों के लिए। अतएव वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय चरित्र के ये दोनों ही पक्ष राष्ट्रीय वैभव के दो फेफड़ों के समान हैं।

सफलता के लिए सुदृढ़ सामान्य बुद्धि

अब मान लीजिए कि हमारे पास सशक्त शरीर एवं शुद्ध और निष्ठावान् हृदय है। किन्तु उस शरीर और मन का उपयोग कैसे किया जाय। इसके लिए हमें एक ऐसी मेधासम्पन्न निपुणता की आवश्यकता होती है जो परिस्थिति की वास्तविकताओं एवं जटिलताओं को ग्रहण करने और ठीक-ठीक आचरण का निर्णय करने में समर्थ हो। अतएव हमें एकाग्रता की शक्ति का विकास करना चाहिए, अपनी मेधा-शक्ति को तीव्र करना चाहिए और ठीक क्षण पर ठीक कार्य में जुटते आना चाहिए तथा निर्णयों को कार्यान्वित करने में हमें आशुकारी एवं क्रियाशील होना चाहिए।

इस प्रकार की व्यावहारिक बुद्धि के बिना हमारी सभी अच्छाई और शक्ति बेकार होगी। हमारे अतीत इतिहास में विनाश के अनेक पृष्ठ इसी कारण जुड़े कि हममें इस सुदृढ़ सामान्य बुद्धि का अभाव हो गया था। हम यह न भूलें कि राष्ट्र के पुनः संगठन का मार्ग पुष्प शैया नहीं है और जब धूर्तों तथा कुटिलों से पाला पड़ता है, तब बिना चातुर्य के केवल शुद्ध हृदयता काम नहीं देगी। व्यवहार जगत् में निपुणता और चातुर्य प्राप्त करने के लिए मेधावी होना ही आवश्यक नहीं। समाज के सामान्य स्तर के व्यक्ति भी इस प्रकार के चातुर्य को अभ्यास द्वारा विकसित कर सकते हैं। हमारे एक कार्यकर्ता, गांव के एक साधारण निरक्षर कृषक, का उदाहरण है जो संकटापन्न परिस्थितियों में भी आस-पास के दस-पन्द्रह ग्रामों का नियंत्रण एवं मार्गदर्शन कर लिया

करता था। वह जीवन के सभी क्षेत्रों में गांव के वयोवृद्ध लोगों को भी उचित मार्गदर्शन दे पाता था। हममें से प्रत्येक को अपने आप में यह दृढ़ विश्वास जागृत करना होगा कि "जन्मत: ज्ञान के सजीव बीज मुझे प्राप्त हैं और यदि उनका उचित रीति से पोषण किया जाय तो मुझे अवश्य सफलता मिलेगी।" तथा तदनुरूप जीवन यापन का प्रयास करना चाहिए।

निर्भीकता और श्रद्धा

मान लीजिए हमारा शरीर सशक्त है, चरित्र उज्ज्वल एवं मेधाशक्ति तीव्र है, किन्तु विपत्ति में धैर्य-भाव का अभाव है, तो क्या लाभ? परिस्थितियाँ सदैव हमारे पक्ष में ही रहने वाली नहीं हैं। हमें बाधाओं और प्रतिकूलता का सामना करना पड़ेगा। वीर के लिए प्रथम गुण है निर्भीकता, यह सभी गुणों का आरम्भ पद है। गीता में भी विविध दैवी गुणों की गणना 'अभयम्' से ही आरम्भ होती है। हमारे संघ-संस्थापक डा० हेडगेवार कहा करते थे कि राष्ट्र के दृढ़ीकरण का कार्य इस प्रकार से आरम्भ होना चाहिए कि न तो हम किसी को भयभीत करें और न किसी से भयभीत हों—

'ना भय देत काहू को ना भय जानत आप।'

हमारे सभी आदर्शवीर निर्भीकता एवं धैर्य के मूर्तिमान स्वरूप हुए हैं। खर और दूषण के साथ एक बड़ी सेना राम पर आक्रमण करने आई। आकाश में धूलि के बादल दिखाई दिए। शत्रु को आते देख राम ने लक्ष्मण से कहा—"सीता इन सब चीजों से अभ्यस्त नहीं है। तुम उसकी रक्षा के लिए यहीं रहो, मैं इन्हें समाप्त करके लौटूंगा।" इस प्रकार कहकर अपने हाथ में धनुष लेकर वह अकेले ही चले गये। सीता उन्हें अकेले जाते देख भय से कम्पित होने लगी तो लक्ष्मण ने कहा—"इन चौदह हजार की तो क्या गणना है वह तो रावण की सम्पूर्ण सेना को अकेले ही संहार करने में समर्थ हैं, कोई चिन्ता की बात नहीं है।" राक्षसों का नाश करके राम सदा की भाँति संक्षोभरहित, अत्यन्त शान्तभाव से लौट आए मानो कुछ हुआ ही न हो।

ईश्वर की पूजा के लिए भी वीरता का भाव आवश्यक होता है। कायर यह नहीं कर सकता। ज्ञानेश्वरी में लिखा है कि जब कोई ईश्वर का ध्यान करने बैठता है तो पहले वह भीषण आकृतियाँ देखेगा और यदि वह दुर्बल हृदय है तो उसका प्रयास निष्फल हो जायगा। कायर को न तो इस लोक में कुछ प्राप्त होता है और न परलोक में। यदि हम सही मार्ग पर हैं तो किसी भी वस्तु से भयभीत होने का कोई कारण नहीं।

कुछ वर्षों पूर्व अपने एक कार्यकर्ता का शरीरान्त हो गया। उसकी मृत्यु के एक सप्ताह पूर्व मैं उससे मिला था। उसने मुझसे कहा, "कोई चिकित्सा मेरे ऊपर परिणाम करती प्रतीत नहीं होती। मुझे बचने की कोई आशा नहीं है। मुझे लगता है कि मैं मरने वाला हूँ।" मैंने उससे कहा—"तुमने एक महान् आदर्श की निःस्वार्थ भाव से अथक सेवा की है। तुमने कभी किसी का अनिष्ट नहीं किया है, सदैव सभी की भलाई करते रहे हो। अतः तुम्हें मृत्यु का भय क्यों होना चाहिए? आनन्द से शान्तिपूर्वक मृत्यु से मिलो" और उसने शान्त एवं निराकुल भाव से मृत्यु का सामना किया। हम एक अच्छा कार्य कर रहे हैं, हम एक सही मार्ग पर हैं, इस निष्ठा से प्रसूत निर्भीकता की भावना हमारे आदर्श की प्राप्ति में हमें बहुत सहायक होगी।

इतना ही पर्याप्त नहीं है। हमें अपने में इन सब गुणों को विकसित करने की एक लगन की आवश्यकता है। जिस आदर्श को हमने अपने सामने रखा है उसके प्रति उत्कट भक्ति का भाव हमें वह आवश्यक लगन प्रदान करेगा जिससे हम अपने को उन सभी गुणों से युक्त कर पायेंगे, जिनकी आवश्यकता हामारे राष्ट्र के वैभव की उपलब्धि के लिए है।

जब हम अपनी समस्त शक्तियों को इस मूलभूत प्रक्रिया—मनुष्य-निर्माण की महान् प्रक्रिया—की ओर मोड़ देंगे, तभी हमारा प्राचीन एवं पवित्र राष्ट्र महानता और वैभव का अपना पूर्व पद पुनः प्राप्त कर सकेगा तथा चारों ओर शान्ति, सम्पन्नता, संस्कृति एवं चारित्र्य का वर्षाव कर सकेगा।

**

५

भावात्मक सक्रिय हिन्दुत्व जीवन की आवश्यकता

हिन्दू की परिभाषा

जब हम कहते हैं कि हिन्दू जीवन-पद्धति के नवोन्मेषी तारुण्य स्वरूप को पुनः प्राप्त करने के अनुपम कार्य के लिए संघ ने अपनी समस्त शक्तियाँ समर्पित की हैं तो ऐसे बहुत लोग हैं जो यह प्रश्न करने लगते हैं कि पहले यह तो बताओ कि तुम 'हिन्दू' की क्या परिभाषा करते हो। हाँ, यह वास्तव में बड़ा कठिन कार्य है। एक बार एक सज्जन बोले—"मैं मुसलमान अथवा ईसाई की तो परिभाषा कर सकता हूँ किन्तु हिन्दू की परिभाषा नहीं कर सकता।" उनका ऐसा कहना ठीक ही था। हम सूर्य और चन्द्रमा की परिभाषा कर सकते हैं, किन्तु उस 'चरम सत्य' की परिभाषा नहीं कर सकते जिससे इन सभी वस्तुओं का उद्‌गम हुआ है। तो क्या इसका यह अर्थ होता है कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। केवल इसलिये कि वह प्रतीकों के स्वरूप में प्रकट हो नहीं पाता और परिभाषा के परे है, क्या उसकी अस्तित्व-हीनता सिद्ध हो जाती है? और श्री रामकृष्ण ने कहा है कि केवल ईश्वर ही 'अनुच्छिष्ट', शुद्ध एवं अकलुष है, क्योंकि उसका ही कभी वर्णन नहीं हो पाया है, वह कभी जिह्वा द्वारा अपवित्र नहीं किया गया। हम अन्य सब वस्तुओं की परिभाषा कर सकते हैं किन्तु वह जो सर्वव्यापक है, जो 'सत्य' कहा जाता है, उसकी परिभाषा नहीं कर सकते।

अपरिभाष्य हिन्दू

हम हिन्दुओं ने परमात्मा को अपने सम्पूर्ण अस्तित्व का आधार माना और इसलिए यह सम्भव है कि हिन्दू समाज का विकास एक सर्वसमावेशक ढंग

से हुआ है, जिसमें अवस्थाओं एवं आकारों की आश्चर्यजनक विविधता है, किन्तु विपुल भावव्यंजनाओं एवं अभिव्यक्तियों में एक अन्तर्जात एकता का सूत्र बना रहता है। हिन्दुओं के अन्तर्गत सभी मतों और विविध जातियों की परिभाषा हो सकती है किन्तु 'हिन्दू' पद की परिभाषा नहीं हो सकती क्योंकि उसमें उन सभी का समावेश है। यह सत्य है कि समय-समय पर इसकी परिभाषा के अनेक प्रयास किये गये किन्तु ऐसी सब परिभाषायें अपूर्ण ही सिद्ध हुईं। वे 'हिन्दू' सम्बन्धी पूर्णसत्य को प्रकट न कर सकीं, और ऐसा होना एक ऐसे समाज के लिये जो शताब्दियों से विकसित तथा वृद्धिगत होता आ रहा हो स्वाभाविक ही है।

हमारे समाज का मूल तथा कब से हम यहाँ सुसभ्य जीवन व्यतीत करते आ रहे हैं उसकी तिथि से इतिहास के विद्वान् अनभिज्ञ हैं। एक प्रकार से हम 'अनादि' हैं। ऐसे समाज की व्याख्या करना ठीक उसी प्रकार असम्भव है, जैसे उस परमसत्य की परिभाषा क्योंकि शब्दों का उद्भव तो उसके पश्चात् ही हुआ है। यही बात हिन्दू समाज के लिए है। हमारा अस्तित्व उस काल से है जबकि किसी भी नाम की आवश्यकता ही नहीं थी। हम आर्य प्रबुद्ध लोग थे। हम लोग प्रकृति एवं आत्मा के नियमों के ज्ञाता थे। हमने एक महान् सभ्यता, महान् संस्कृति तथा एक अनुपम समाज-व्यवस्था का निर्माण किया था। हम ऐसी सभी वस्तुओं का जीवन में समावेश कर चुके थे जो मानव के लिए हितकर थीं। उस समय शेष मानवता द्विपाद पशु मात्र थी और इसीलिए हमें कोई विशिष्ट नाम नहीं दिया गया था। कभी-कभी दूसरे लोगों से अपने को अलग करके पहचानने के प्रयास में हमें प्रबुद्ध 'आर्य' तथा शेष को 'म्लेच्छ' कह दिया जाता था। जब कुछ समय बीतने पर विदेशों में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का उदय हुआ और वे विरोधी सम्प्रदाय हमारे सम्पर्क में आए तब नामकरण की आवश्यकता का अनुभव हुआ। भिन्न-भिन्न कालों में अलग-अलग नाम रखे गये। यह ठीक ऐसे ही है, जैसे विभिन्न स्थानों पर गंगा को 'गंगोत्री', 'भागीरथी', 'जाह्नवी' तथा 'हुगली' नामों से पुकारा जाता है। और यह हिन्दू नाम जो सिन्धु नदी से लिया गया है, हमारे इतिहास एवं परम्पराओं में हमसे इतने काल से सम्बन्धित है कि अब वह हमारे लिये सम्पूर्ण विश्व के द्वारा स्वीकृत एवं आदर का नाम बन गया है।

उद्देश्यपूर्ण जीवन

इस प्रकार इस जगत् में हम हिन्दू यद्यपि परिभाषा से परे हैं फिर भी

वास्तविक सत्य के रूप में विद्यमान हैं। हिन्दू समाज एक जीवन्त सत्य है, जिसे हम सब अपने रक्त के बूंद-बूंद में अनुभव करते हैं। यद्यपि हम उसकी परिभाषा नहीं कर सकते, फिर भी हमें उसके उन विशिष्ट लक्षणों को समझना चाहिये और अवश्य समझने का प्रयत्न करना चाहिये जो हिन्दुओं को एक विशिष्ट समाज के रूप में व्यक्त करते हैं। हम ऐसा नहीं कह सकते कि कोई विशिष्ट व्यक्ति मुसलमान और ईसाई न होने के कारण ही हिन्दू है। हमारे देश में राजनैतिक नेता हिन्दू को प्रायः गैरमुस्लिम कहा करते हैं। हमारी वास्तविक प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह कोई स्वस्थ भावात्मक तरीका नहीं है। हिन्दू कोई नकारात्मक प्राणी नहीं है। तब इस शब्द का भावात्मक तथ्य क्या है?

हिन्दू के लिए जीवन लक्ष्यहीन नहीं है। उसका लक्ष्य किसी प्रकार की ऐसी महानता नहीं है जो सत्ता, पद, नाम अथवा ख्याति से नापी जाये। उसके सामने तो एक ही लक्ष्य है अर्थात् अपनी वास्तविक प्रकृति—अन्तर्जात देवत्व का स्फुल्लिग, उसमें निवास करने वाला परम सत्य—की अनुभूति, जो मनुष्य को स्थायी परम आनन्द की अवस्था तक ले जाती है। किन्तु मनुष्य का जीवनकाल बहुत छोटा है। इतने अल्पकाल में वह इस सर्वश्रेष्ठ अवस्था तक कैसे पहुँच सकेगा? वह तो इस शरीर के विषय में भी पूर्णतया नहीं जानता यद्यपि वह अपने जीवन-पर्यन्त इसका उपयोग करता है। ऐसी दशा में वह सर्वव्यापक अविनाशी को कैसे जान सकता है जो शरीर में अन्तर्भूत है। कार्य, कारण का नियम बताता है कि हमारी प्रत्येक क्रिया—अर्थात् 'कारण'—का विशेष परिणाम होता है। यह कार्यकारण का चक्र वृद्धिगत होना, विकसित होना और परा अवस्था को प्राप्त होना है। इसलिये मनुष्य की यह वर्तमान सत्ता उसके वास्तविक अस्तित्व की पूरी कहानी नहीं है। मनुष्य में विशिष्ट एवं सहज प्रेरणा इस बात की रहती है कि वह विस्तार करे और अपनी दिव्य प्रकृति को व्यक्त करे। वह तब तक बार-बार जन्म लेता रहेगा जब तक उसमें अपनी सच्ची दिव्य आत्मा के विषय में अज्ञान का लेश भी रहेगा तथा यदि वह प्रामाणिकता से प्रयत्न करता रहेगा तो प्रत्येक जन्म में अधिकाधिक प्रगति करता जायगा।

उस परम सत्य के साथ अपनी एकता की अनुभूति के लिए यह पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानव आत्मा के लिए एक बहुत बड़ी आशा है। यह तो हिन्दुत्व का ही दीपस्तम्भ है जो इस अमर आशा के प्रकाश को विकीर्ण करता है कि इस वर्तमान जीवन के साथ ही सब कुछ समाप्त नहीं हो जाता अपितु हमारे

सामने एक जीवन के पश्चात् दूसरा जीवन अर्थात् अनन्त समय पड़ा हुआ है, कार्य में जुटने के लिए और अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए। इस विशाल मानव-समाज में यह हिन्दू ही है जो आशा एवं विश्वास की दीपिका को ऊँचा उठाए हुए है। हमारे सभी पवित्र ग्रन्थों तथा प्राचीन अथवा अर्वाचीन सभी सम्प्रदायों में यही मूलभूत तत्व अन्तर्निहित हैं।

मानव की सेवा करो

इसके साथ अब हम आगे बढ़ते हैं। हम इस संसार में रह रहे हैं। हम अगणित सांसारिक सम्मोहनों एवं ध्यान हटाने वाली बातों से घिरे हुए हैं। सम्भवत: हम एक बार जीवन के वास्तविक लक्ष्य पर विचार नहीं करते। ऐसी दशा में हमारा व्यवहार कैसा हो जिससे कि अपने जीवन में हम अपनी वास्तविक प्रकृति को उत्तरोत्तर अधिक अनुभव करने में समर्थ हो सकें तथा विकासक्रम में निम्न स्तर में अपने को घसीटते हुए उत्तरोत्तर अधिक अज्ञान से पतित न हों। कानून भी इस बात को मान्यता देता है कि यदि कोई व्यक्ति बिना किसी बुरे हेतु के घातक कार्य कर बैठता है तो उसका अपराध कम होता है। कभी-कभी तो वह अपने सम्पूर्ण पाप से मुक्त मान लिया जाता है। अत: यदि हम स्वार्थरहित भाव से केवल कर्त्तव्य के नाते कार्य करते हैं अर्थात् यदि हम अपने कार्यों में अपनी आसक्ति नहीं रखते, उनमें से अपने आनन्दोपभोग का प्रयोजन अलग कर देते हैं तो हमारे विविध कर्म एवं उनके फल हम पर प्रभाव नहीं डालते। तब हम बाह्य संसार के धक्कों और प्रभावों से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं और अपने सच्चे स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित करने की योग्यता प्राप्त करते हैं। इसलिए हमारा दर्शन कहता है कि अपना कर्म, अपना कर्तव्य निष्काम भाव से करो।

अब, जो कार्य हमें करना है, उसका क्या स्वरूप है? हमारे कर्तव्यों का क्या स्वरूप है? उस चरम शक्ति की प्राप्ति के लिए हम जीवन कहाँ से प्रारम्भ करें और जीवन किस प्रकार चलायें? क्या इतना घोषित कर देने मात्र से ही कि सत्य नाम की कोई वस्तु है जो समय आने पर स्वत: अपने आपको व्यक्त करेगी, हमारे लिए उस चरम सत्य की उपलब्धि सम्भव है? नहीं, हमें इस वास्तविक संसार में उसकी बाह्य अभिव्यक्ति देख सकना चाहिए, कोई ऐसी ठोस और सजीव वस्तु जिसे इन्द्रियगोचर करके हम अनुभव कर सकें और जिसके माध्यम से अनुभूति के क्रम को पूर्ण कर सकें। हमारे दार्शनिकों ने उस सत्य के बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में 'मनुष्य' को रखा है और

उसे पूजा तथा सेवा की वस्तु माना है। उन्होंने घोषणा की है—"हमारे समान ही प्रत्येक मनुष्य उस सत्य की एक स्फुल्लिंग है। हम अपने सुख-दुःखों को अधिकाधिक मनुष्यों के सुख-दुःखों के साथ समरस करने का प्रयत्न करें, इस प्रकार अपने व्यक्तित्व का विस्तार करते हुए अन्त में उस महान् सत्य का साक्षात् करें जो सम्पूर्ण विश्व में परिव्याप्त है।"

अतः वह कौन सी व्यवस्था है जो अपने-अपने विकास के स्तर के अनुरूप 'मनुष्य' की सेवा हमारे सबके लिए सम्भव बना देती है ?

मनुष्य एकाकी नहीं रहता, वह अकेलेपन से बचना चाहता है। वह प्रकृति से संघचारी है। इसलिए मानव प्राणी एकत्रित आते हैं और सामाजिक प्राणी की भाँति समाज के स्वरूप में रहते हैं। इस प्रकार वह भलीभाँति जीवन-यापन कर सकता है, विकास कर सकता है और उसमें जो कुछ सर्वोत्तम है, उसकी अभिव्यक्ति कर सकता है। इस प्रकार वह सामाजिक घेरे में उन्नति करता हुआ जीवन के लक्ष्य की पूर्णता की दिशा में बढ़ सकता है। इसका अर्थ होता है एक ऐसी समाज-व्यवस्था का निर्माण एवं उसको सुचारु रूप से बनाए रखना जो प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का पूर्ण अवसर प्रदान कर सके कि वह व्यापकतर सामाजिक समुदायों के साथ तादात्म्य का अनुभव करे तथा अपने पास जो कुछ है, उस सबके द्वारा समाज की सेवा करे। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उस चरम सत्य की अनुभूति की दिशा में मार्ग को प्रकाशित करने के लिए यही एक उपाय है। इसीलिए हमने कहा है कि बिना किसी स्वार्थी आकांक्षा अथवा स्वार्थपूर्ण आसक्ति के हम समाज की सेवा करें। मानवता की सेवा निश्चय ही ईश्वर-सेवा है। यह हमारे जीवन-दर्शन का विशिष्ट लक्षण रहा है।

हमारे आदर्श

यह अन्तिम लक्ष्य सदैव हमने अपनी दृष्टि के सामने रखा जिसके कारण यह स्वाभाविक ही है कि हमारे सम्पूर्ण इतिहास में अन्य लोगों के समान हमने भौतिक सम्पत्ति को महत्व प्रदान न कर मानवता के कल्याण के लिए मस्तिष्क एवं हृदय के गुणों को अत्यधिक महत्व दिया है। हृदय की विशालता, मन की शुद्धता एवं चरित्र की उदात्तता सदैव हमारे जीवन-मूल्यों की कसौटी रहे हैं। हमारी महानता का माप सदा ही अपनी आन्तरिक सम्पदा रहा है, बाह्य नहीं। बाह्य वस्तुएँ आती-जाती रहती हैं। उन अशाश्वत वस्तुओं के पीछे हम क्यों दौड़ें ? हमने उस सम्पत्ति का वरण किया है जो मानव जीवन की

अनुपम निधि है, जिसे हम अपने में विकसित कर सकते हैं–श्रेष्ठ सद्गुणों, पूर्ण ज्ञान तथा आत्मा के उदात्त भाव की सम्पत्ति। वही सत्य है तथा वही शाश्वत है। इसीलिए जहाँ अन्य देशों के सामान्य जनसमुदाय ने किसी महान् सेनानायक अथवा किसी पराक्रमी राजा की पूजा की है, वहाँ हमारे देश में बड़े-बड़े शूरवीर अथवा सम्राट् ने भी ऐसे अर्द्धनग्न संन्यासियों की चरण-धूलि की पूजा की है जो वनों में निवास करते हैं और जिनके पास अपना कहने के लिए वस्त्र का एक टुकड़ा भी नहीं होता। ऐसा क्यों? क्योंकि यही है जीवन को देखने का हमारा ढंग, क्योंकि हमारा यह अनुभव है कि अन्तरात्मा का गुण ही स्थायी होता है जो जन्म-जन्मान्तरपर्यन्त अर्थात् तब तक चलता है जब तक वह पूर्णत्व को नहीं प्राप्त कर लेता।

सजीव चलते-फिरते प्रतीक बनो

यह कुछ थोड़े से ऐसे आधारभूत तत्व हैं जो हमें वास्तविक एवं असंदिग्ध रूप से हिन्दू बनाते हैं। जब हम उन पर विशेष ध्यान देते हैं, मनसा उन्हें ग्रहण करते हैं, अपने जीवन में उनको प्रगट करते हैं तथा उन उज्ज्वल कल्पनाओं के सजीव चलते-फिरते वास्तविक प्रतीक के रूप में खड़े हो जाते हैं, तभी उन दिव्य हिन्दू परम्पराओं में हमारा जन्म निरर्थक नहीं होगा।

तो क्या हम विश्वासपूर्वक यह कह सकते हैं कि हम सच्चे और भावात्मक रूप से हिन्दू हैं? हम अपने से प्रश्न करें। हम कैसे रहते हैं? हमारे सामने कौन से आदर्श हैं? हमारी भावनाएँ क्या हैं? क्या हम केवल परिस्थितियों-वश अथवा हिन्दू परिवार में "संयोगवश जन्म" हो जाने से ही हिन्दू हैं? क्या हम इसलिए हिन्दू हैं कि इस्लाम तथा ईसाई धर्म के धर्म-परिवर्तन के प्रयत्न हमें स्पर्श नहीं कर पाये क्योंकि उन धर्म-परिवर्तनकारियों की संख्या हमारी अपेक्षा अति अल्प है? क्या हमारे हिन्दू होने का इतना ही अर्थ है? केवल यह कहने मात्र से कोई लाभ नहीं कि "ओह, हमारी एक महान् संस्कृति है।" हम उसके विषय में कितना जानते हैं? हम उसके अनुरूप कितना व्यवहार करते हैं? क्या हम अपने वैयक्तिक जीवन को समाज के लिए समर्पित मानते हैं? क्या हम यह अनुभव करते हैं कि हमें केवल सम्पत्ति एवं सत्ता के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए वरन् जीवन में सद्गुणों को उच्च स्थान देना चाहिए? क्या हमें ऐसा लगता है कि हम सच में ऐसे मनुष्य बनें कि जो कोई हमें देखे, वही कहने लगे कि "यह है मनुष्य, जो उन सभी बातों में पूर्णत्व प्राप्त करने के प्रयत्न में है, जिनसे सच्चा मनुष्य बनता है।" इस दृष्टि

से हम आत्मनिरीक्षण करें और धीरे-धीरे उन सभी विशिष्ट हिन्दू लक्षणों को आत्मसात् करें जिससे कि संसार के समक्ष एक भावात्मक क्रियाशील हिन्दू के रूप में हम खड़े हो सकें। अपने दर्शन, अपने धर्म तथा अपने उन महान् गुणों के अनुरूप हम जीवनयापन करें, जिन्होंने अगणित पीढ़ियों में हमारे जीवन को आकार देने का कार्य किया है।

इसलिये यद्यपि हिन्दू समाज को संघटित करने का विचार साधारण ही क्यों न प्रतीत होता हो, इसका वास्तव में अर्थ यह है कि हमें अपने दैनंदिन जीवन में इस बात का विचार बना रहना चाहिए कि हम हिन्दू हैं और हम अपने जीवन का प्रत्येक छोटे से छोटा पहलू उन्हीं महान् परम्परागत जीवन-मूल्यों के अनुसार ढालेंगे। हम जो कुछ भी करें, हमारा परिधान, हमारा व्यवहार तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में हमारी भावात्मक निष्ठा की छाप स्पष्ट-रूप से व्यक्त होनी चाहिए। यही है हमारे ऊपर सबसे बड़ा उत्तरदायित्व।

प्रतिक्रियात्मक हिन्दुत्व

किन्तु दुर्भाग्यवश आज हम अपने चारों ओर क्या देखते हैं। कुछ ऐसे हिन्दू हैं कि जो निष्ठा के कारण नहीं वरन् प्रतिक्रिया के कारण स्वयं को हिन्दू कहते हैं। उदाहरण के लिए एक बार हमारे कार्यकर्ता गोवध पर प्रतिबन्ध की माँग के लिए चलाये गये हस्ताक्षर संग्रह अभियान में एक अतिप्रमुख हिन्दू नेता के पास गये। किन्तु उन्हें ऐसा कहते हुए सुनकर बड़ा धक्का लगा कि "व्यर्थ के पशुओं का वध रोकने से क्या लाभ है, उन्हें मरने दो। इससे क्या बिगड़ता है! आखिर को पशु तो सब समान ही हैं। पर, क्योंकि मुसलमान गोवध की जिद पकड़े हैं इसलिए हमें इस प्रश्न को उठाना चाहिये और इसीलिए हम अपने हस्ताक्षर तुम्हें देंगे।" इससे क्या प्रकट होता है? यही कि हम गाय की रक्षा इसलिए नहीं चाहते कि वह युगों से हिन्दू श्रद्धा की प्रतीक रही है वरन् इसलिए चाहते हैं कि मुसलमान उसका वध करते हैं। यह वह हिन्दुत्व है, जिसका जन्म प्रतिक्रिया से हुआ है—"नकारात्मक हिन्दुत्व।"

कुछ ऐसे भी हैं जिनके लिए हिन्दू शब्द केवल उनके राजनीतिक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए है। चूँकि कांग्रेसी अथवा समाजवादी अथवा कोई 'क' 'मिली-जुली संस्कृति' की बात सोचता है इसलिये वे खड़े हो जाते हैं और कहते हैं कि वे विशुद्ध हिन्दू संस्कृति चाहते हैं। और इससे भी विचित्र है 'हिन्दू-कम्युनिज्म' का घोष। कोई व्यक्ति या तो हिन्दू ही हो सकता है या कम्युनिस्ट। वह दोनों नहीं हो सकता। सच तो यह है कि जो हिन्दू-कम्युनिज्म के लिए

चिल्लाते हैं वे न तो कम्युनिज्म को समझते हैं और न हिन्दुत्व को। यह सब प्रतिक्रिया के कारण है। एक बार एक सज्जन ने मुझसे पूछा कि क्या मुसलमानों के विविध कार्यकलापों को विफल करने के लिए हम लोग हिन्दुओं का संगठन कर रहे हैं ? मैंने उनसे यही कहा कि यदि पैगम्बर मुहम्मद का जन्म भी न हुआ होता और इस्लाम का भी अस्तित्व न होता तो भी यदि वर्तमान काल जैसी हिन्दुओं की दशा असंगठित और आत्मविस्मृत होती तो हम यह कार्य उसी प्रकार करते जैसे कि आज कर रहे हैं। यह भावात्मक दृढ़ विश्वास कि यह मेरा हिन्दू राष्ट्र है, यह मेरा धर्म है, यह मेरा दर्शन है, जिसके अनुरूप मुझे जीना है और जिसका मुझे अन्य राष्ट्रों के अनुसरण के लिए एक प्रतिमान स्थापित करना है—हाँ, हिन्दुओं के पुनर्संगठन के लिए यही ठोस आधार होना चाहिए।

ऐसी दशा में यदि हमें केवल राजनीतिक कारणों अथवा प्रतिक्रिया द्वारा बना हुआ हिन्दू नहीं होना है तो हमें निष्ठावान् हिन्दू के रूप में जीवन यापन करना चाहिए जो दैनंदिन जीवन के सभी पहलुओं में उस निष्ठा को व्यक्त करने में सक्षम है। साहित्य तथा वृत्त पत्रों में हिन्दू विचारों के प्रचार मात्र से हमें कोई लाभ नहीं होना है। उदाहरणार्थ वीर सावरकर जी ने 'हिन्दुत्व' नाम की एक सुन्दर पुस्तक लिखी है तथा हिन्दू-महासभा ने हिन्दू राष्ट्रीयता के उस शुद्ध तत्वज्ञान को ही अपना आधार बनाया है। किन्तु हिन्दू महासभा ने अपने नासिक के अधिवेशन में एक इस आशय का प्रस्ताव पारित किया कि कांग्रेस को मुसलिम लीग से वार्ता करके अपना 'राष्ट्रीय' आधार नहीं त्यागना चाहिए अपितु यह कार्य करने के लिए हिन्दू महासभा से कहना चाहिए। इसका क्या अर्थ होता है ? इसका यही अर्थ है कि कांग्रेस की संकरज, मिलीजुली, राष्ट्रीयता शुद्ध प्रकार की थी, जबकि हिन्दू महासभा साम्प्रदायिकता के पागलपन से युक्त राष्ट्रविरोधी मुसलिम लीग की हिन्दू प्रतिमूर्ति प्रस्तुत करती थी। यह विचित्र वैपरीत्य कैसे उत्पन्न हो गया ? इसका कारण यह है कि मन में पैठा हुआ वह गहरा निश्चय विद्यमान नहीं था, जिसके आधार पर स्वप्न में अथवा किन्हीं भी परिस्थितियों में एक ही उत्तर निकल पड़े कि, "हाँ ! यह हिन्दू राष्ट्र है।"

वे चीजें जिनका महत्व है

इसलिये हम कहते हैं कि हमें अपने राष्ट्रत्व के गहरे एवं भावात्मक

संस्कारों को मन से ग्रहण करना होगा, जिससे कि राजनीतिक अथवा किन्हीं अन्य विचारों के प्रवाह में हमारे पैर न उखड़ जावें। हमारे व्यावहारिक दैनंदिन आचरण में तदनुरूप जीवन प्रतिमान के बिना हिन्दू राष्ट्रत्व तथा हिन्दू-जीवन-रचना की महत्ता की बात करना व्यर्थ है।

हमारे प्राचीन आचारों में प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व उठ जाना भी एक आचार है। एक बार एक साधु ने अपनी बाल्यावस्था का वर्णन मुझसे किया। उसने बताया कि किस प्रकार उसकी माता बहुत सवेरे उठा करती थी और गृहस्थी के साधारण कार्य करते हुए अपने मधुर स्वर में दैवी जगन्माता की महानता का वर्णन करने वाले विविध पदों का पाठ किया करती थी तथा किस प्रकार उस जगत जननी के पवित्र आशीर्वचनों का आवाहन करने वाले शब्दों से उसे जगाती थी। साधु ने बताया कि "उन्हीं पवित्र शब्दों ने जिन्हें मैं निद्रा का त्याग करते हुए प्रातःकाल सुना करता था, मुझमें बहुत गहराई में प्रविष्ट होकर मुझे शुद्ध किया, सभी सांसारिक प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करने की श्रद्धा एवं शक्ति दी तथा अपने को उस माता की सेवा में समर्पित करने की प्रेरणा प्रदान की।" यही होते हैं हिन्दू-संस्कार। हम अपने जीवन को दिन भर प्रातः से रात्रि तक अनुशासन के भाव से एक आकार प्रदान करें। अनुशासन एवं आत्मसंयम के सम्पूर्ण जीवन-क्रम में प्रशिक्षित होने के लिए हिन्दू का जन्म हुआ है, जो उसे जीवन में श्रेष्ठतम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए शुद्ध करता है और शक्ति प्रदान करता है।

हमें यह नहीं कहना चाहिए कि यह तो छोटी बातें हैं, इनके लिए हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यही छोटी-छोटी चीजें हमारे जीवन को अनुशासित करती हैं और हमारे चरित्र को आकार एवं शक्ति प्रदान करती हैं।

किन्तु दुर्भाग्य से आजकल हम क्या देखते हैं ? इस प्रकार के सभी हितकारी आचार तथा व्यवहार के नियमों का मूढ़ विश्वास कहकर उपहास किया जाता है। अभी हाल में इसे व्यक्त करने वाली एक घटना घटित हुई है। हमारे देश से एक विद्यार्थी अध्ययन के लिए अमेरिका गया। वहाँ एक साधारण परिवार में वह पेइंग-गेस्ट के रूप में ठहर गया। प्रथम दिन उसने सभी परिवार के सदस्यों के साथ भोजन के लिए बैठते ही अपने लिए परसना प्रारम्भ कर दिया। तब उस घर की स्वामिनी ने कहा कि कुछ क्षण के लिए ठहर जाइए और बताया कि उनके यहाँ की यह रीति है कि भोजन के पूर्व ईश्वर की प्रार्थना करते हैं। ध्यान दीजिये कि वह युवक ऐसे देश से गया था जो आध्यात्मिकता का, ईश्वरभक्ति का देश माना जाता है और गया था ऐसे देश

में जो लक्ष्मी का पुजारी और अत्यन्त भौतिकवादी माना जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत बड़ी सीमा तक इसी ईश्वर-विश्वास एवं इसी धर्म-विश्वास ने पश्चिम को वह शक्ति दी है, जिससे कि वह इस संसार में सफल हुआ है।

आधुनिकतावाद

हम अपनी आध्यात्मिक परम्पराओं पर गर्व करते हैं। किन्तु वास्तव में हम किस प्रकार रहते हैं! हमारे दैनिक संस्कार क्या हैं? क्या हमारे नित्य के सब क्रियाकलापों में ईश्वर के लिये कोई स्थान है? क्या हमारे घरों में कम से कम एक स्थान ऐसा है, जहाँ बैठकर हम उसका ध्यान कर सकें? एक बार मेरे एक परिचित ने अपने नये बने हुए मकान को देखने के लिए मुझे बुलाया। वह भली प्रकार सुसज्जित तथा प्रत्येक अर्थ में एक आधुनिक गृह था। जब उसने मकान की विशेषतायें बतानी समाप्त कीं तो मैंने पूछ दिया कि देवगृह कहाँ बना है? क्या तुम्हारे कोई कुल-देवता नहीं हैं, जिसकी पूजा तुम्हारे पूर्वज करते रहे हों और तुम्हें सौंप गये हों? मेरे प्रश्न ने उसे चकित कर दिया और उसने क्षमा सी माँगते हुए कहा—"हाँ-हाँ, किन्तु मैं उस विषय में बिल्कुल भूल गया था।" कुछ महीने पश्चात् जब मैं पुनः उस स्थान पर गया तो उन्होंने विशेष रूप से यह कह कर मुझे अपने घर पर आमंत्रित किया कि मेरे कथनानुसार काम कर लिया गया है। मैं वहाँ उसे देखने गया। जीने के नीचे एक टेढ़े-मेढ़े स्थान में बनी हुई छोटी-सी आलमारी उन्होंने मुझे दिखाई। परिवार के सदस्यों के सभी चप्पल, जूते उस अलमारी के ऊपर बड़ी सफाई से सजे हुए थे और वे पर्याप्त संख्या में थे, कारण कि उनके जीवन का स्तर काफी ऊँचा था। उन्होंने बड़े संतोष के भाव से कहा—"मैंने इसे नया बनवाया है और अपने कुलदेवता को यहाँ रखा है।" मैं तो उसे देखकर संत्रस्त हो गया। मैंने कहा—"देवता को दूषित करने के स्थान पर इन चप्पलों को ही अन्दर रखकर क्यों नहीं पूजते।" ऐसा है, 'आधुनिक प्रगतिशील' हिन्दू-जीवन।

हमें यह विस्मरण नहीं होना चाहिये कि श्रीराम, शिवाजी अथवा विवेकानन्द इस प्रकार के 'आधुनिकतावाद' की उत्पत्ति नहीं थे। शिवाजी उन आदर्शों से स्फूर्त थे, जिनकी प्रतिष्ठा रामायण और महाभारत में हुई है। वह हिन्दू-जीवन के प्रति उनकी महान् श्रद्धा ही थी, जिसने उनके संगठन-चातुर्य के साथ मिलकर उन्हें एक ऐसी शक्ति बना दिया जिसने इतिहास की सम्पूर्ण गति को ही बदल दिया। वैदिक काल के सन्तों से लेकर रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ तथा इसी प्रकार के अन्य आधुनिक युग के महान् आत्माओं तक सभी

ने अपने युगों पुरातन आदर्शों के प्रति भावात्मक प्रेम तथा उनकी अनुभूति से युक्त अपने जीवन द्वारा हमारे समाज पर अपने प्रेरणादायी व्यक्तित्व की छाप छोड़ी है। चुनौती देती हुई विरोधी शक्तियों के सामने वे तन कर खड़े रह सके और चुनौती भरे स्वर में विश्व से बात कर सके। हम उन्हीं की सन्तान किस दयनीय दशा को प्राप्त हो गए हैं ! हम उन आदर्शों का क, ख, ग, भी नहीं जानते जिन्होंने उन पराक्रमी आत्माओं को प्रेरित किया और ढाला था।

मैं एक युवक को जानता हूँ जो सरकारी छात्रवृत्ति पर विदेश गया था। वहाँ उसे मित्रों तथा अपरिचितों के 'आत्मा', 'प्राणायाम', 'गीता' तथा अन्य बहुत से हिन्दू विचारों एवं जीवनपद्धतियों के सम्बन्ध के अनेक प्रश्नों का सामना करना पड़ा। यह युवक इन सब बातों से बिलकुल अनभिज्ञ था। उसने मुझे अपनी कठिनाई लिखी। किन्तु मैं क्या कर सकता था ? क्या मैं उसे योगाभ्यास में, समाधि में, प्राणायाम में तथा ऐसी सभी चीजों में पत्रों द्वारा शिक्षा दे सकता था ! यह कितना अपमानजनक है कि इस देश के हमारे तथाकथित शिक्षित युवक को अपने ही दर्शन की मूलभूत बातों का स्वल्प ज्ञान भी नहीं है, उनकी पूर्ण अनुभूति की तो बात ही छोड़िये।

आदर्श के विविध पहलू

अथच, दूसरे पहलू पर भी हम दृष्टिपात करें जैसे समाज के साथ सम्पर्क के विविध क्षेत्रों से हमारे सम्बन्ध का पहलू, उदाहरणार्थ हमारा पड़ोसी, हमारे शिक्षा केन्द्र, हमारे व्यवसायों का क्षेत्र आदि। क्या जीवन के इन सभी क्षेत्रों में हिन्दू का स्पष्ट योगदान नहीं हुआ है ? इसके विपरीत यह हिन्दू तत्वज्ञान ही है जो मानव क्रियाकलापों के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े क्षेत्रों को प्रभावित करता है। हमारे लिए परिवार आत्मविस्तार का प्रथम पग है। फिर परिवार के सदस्यों के नाते हमें विविध कर्तव्यों का भार वहन करना पड़ता है, जिससे कि परिवार के सदस्यों के बीच मधुर प्रेम एवं ऐक्य के कोमल बन्ध बने रहें। पुत्र के रूप में, भाई के रूप में, पति के रूप में अथवा किसी भी सम्बन्ध में गृहस्थ का उदात्त हिन्दू आदर्श ग्रहण करें। हमारे लिए यह कहना कोई अच्छी बात नहीं है कि "ओह, मैं तो समाज-कार्य कर रहा हूँ, पारिवारिक बन्धों की मैं क्यों पर्वा करूँ ?" पुनः हमारे देश के महान् आदर्श चरित्र की ओर दृष्टिपात करो। श्रीराम, यद्यपि किशोरावस्था ही में थे, पिता की आज्ञा से राक्षसों का बध करने के लिए विश्वामित्र के साथ वन को चले गए। पश्चात् उन्होंने अपने पिता की प्रतिज्ञा के पावित्र्य की रक्षा के

लिए चौदह वर्ष का वनवास प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। भाई के रूप में लक्ष्मण आदि पर उनका कितना गम्भीर प्रेम था। वह थे एक आदर्श पुत्र, एक आदर्श भ्राता, एक आदर्श पति, एक आदर्श मित्र, एक आदर्श शिष्य तथा बैरियों के लिए एक आदर्श शत्रु भी थे। उन एक में आदर्श हिन्दू पुरुषत्व का सब कुछ समाहित था। ऐसे ही श्रीकृष्ण भी थे। यशोदा और नन्द के लिए वह कैसे आनन्द और सान्त्वना के स्रोत थे! किस प्रकार उन्होंने अपने मधुर व्यवहार से सभी पड़ोसियों को मोहित कर लिया था!

तत्पश्चात् विद्यार्थी जीवन में ज्ञान एवं चरित्र का अर्जन ही हमारी सतत प्रेरणा रही है, भिन्न-भिन्न जानकारियों के द्वारा मस्तिष्कों को भर देना मात्र नहीं। हमें किताबी कीड़े ही नहीं बनना है। सम्पूर्ण ज्ञान के लिए एक कुंजी है और वह है मन की एकाग्रता। यदि हम शरीर और मन के लिए नियमित स्वस्थ आदतें ग्रहण कर लें तो हमारे लिए मन की एकाग्रता विकसित करना कठिन नहीं होना चाहिए। और फिर जिन विविध शिक्षण संस्थाओं में हम अध्ययन करते हैं, वहाँ हम अपने आचार्यों एवं सहपाठी विद्यार्थियों के सम्पर्क में आते हैं। हिन्दू परम्परा में शिक्षक तथा शिक्षार्थी के सम्बन्ध कोई सम्विदा के समान नहीं होते। यह एक उदात्त वस्तु है—शिष्य गुरु को ज्ञान एवं दिव्यता की साक्षात् मूर्ति ही मानता है और उसके प्रति नम्रता एवं भक्ति की भावना से व्यवहार करता है।

यह कहते ही आज कुछ लोग पूछते हैं कि क्या आज का शिक्षक ऐसी भक्ति के योग्य है? किन्तु विद्यार्थियों को इस प्रकार के विकृत दृष्टिकोण का शिकार नहीं बनना चाहिए। हम वैसा ही व्यवहार करें जैसा कि हमें करना ही चाहिए। यह हमारे ही हित में, हमारे ही परिष्कार के लिए है। हम मन्दिर में हनुमान जी की मूर्ति का पूजन करते हैं। कुछ समय पश्चात् लगातार सिन्दूर लगते रहने से वह मूर्ति सिन्दूर के मोटे पर्त से ढक जाती है और उसका रूप इतना बदल जाता है कि किसी भी प्रकार पहिचाना नहीं जा सकता। किन्तु फिर भी उसी भक्ति भाव से उसका पूजन हनुमान के रूप में होता रहता है। ज्ञान के देवता विनायक हैं जिनका बड़ा पेट और हाथी का सिर है। किन्तु इस कारण उनके प्रति किसी की भक्ति पर प्रभाव नहीं पड़ता। जन्मजात विश्वगुरु श्रीकृष्ण को सन्दीपन ऋषि के आश्रम में एक साधारण शिष्य का सा व्यवहार करते हुए देखकर तुम एक आदर्श हिन्दू विद्यार्थी का सही चित्र पा सकते हो। उन्होंने अन्य शिष्यों के समान ही अपने गुरु की सेवा पूर्ण श्रद्धा एवं प्रेम से की थी। वह वर्षा और तूफान में गुरु के लिए यज्ञ की

सूखी समिधाएँ लेने वन में गये। श्रीकृष्ण तो स्वयं ज्ञानस्वरूप थे, उन्हें वहाँ पढ़ने के लिए क्या था?

और फिर उन्हें अपने साथियों एवं सहपाठियों के बीच घूमते-फिरते देखो। कितना गहरा एवं शुद्ध प्रेम था उनमें उन सबके लिए। सुदामा नाम का एक गरीब ब्राह्मण का लड़का सन्दीपन आश्रम में उनका सहपाठी था। जीवन में, बाद में जब श्रीकृष्ण की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी, फटे वस्त्रों में मुट्ठी भर चावल की किनकी लिए हुए उनका सहपाठी सुदामा उनके यहाँ पहुँचता है। जैसे ही श्रीकृष्ण की दृष्टि अपने पुराने मित्र पर पड़ती है, वह झपट कर उसे सीने से लगा लेते हैं। वह मित्र की लाई हुई उस मूल्यवान् भेंट को छीन लेते हैं और बड़े स्वाद से खाते हैं। अन्त में वे सुदामा को अतुल सम्पत्ति भी प्रदान करते हैं।

यदि संयोगवश अपने बड़ों से विचारधारा का कुछ संघर्ष भी उत्पन्न हो जाय फिर भी हमें उनके प्रति सम्मान का व्यवहार बदलने का कारण नहीं है। महाभारत के युद्ध में जब भीष्म और अर्जुन एक दूसरे के सामने आये, अर्जुन ने प्रथम पाँच बाण उनके पैरों की ओर चलाये। भीष्म के सारथी को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि अर्जुन के अमोघ बाण भीष्म की छाती में न लगकर पैरों की ओर आये। भीष्म ने कहा—"मेरा प्यारा अर्जुन मेरा आशीर्वचन प्राप्त करने के लिए पंच बाणों से मुझे प्रणाम कर रहा है।"

स्वधर्मे निधनं श्रेयः

हमें ये उदाहरण प्राचीन पौराणिक आख्यायिकाएँ कहकर नहीं त्यागना चाहिए। इनमें हमारी संस्कृति के वे अमूल्य रत्न जड़े हुए हैं, जिन्होंने एक समय में हिन्दू जीवन को संसार की ईर्ष्या की वस्तु बना दिया था। यह कहकर भी उन्हें छोड़ना ठीक नहीं कि वे इस समय के लिए अव्यावहारिक हैं। इस बीसवीं शताब्दी में भी हमें इस प्रकार के प्रेरणादायी उदाहरण देखने को मिलते हैं। अपने संघ के संस्थापक डाक्टर हेडगेवार का ही एक उदाहरण है। जब एक बार वह संगठन के कार्य से पूना गये थे तो प्रौढ़ लोगों की बैठक में वहाँ के एक सज्जन जो डाक्टर जी के शिक्षक भी रह चुके थे, आमंत्रित थे। डाक्टर जी को वहाँ भाषण देना था। नगर के अनेक गण्यमान लोग उस सभा में एकत्रित हुए थे। वह वृद्ध अध्यापक कुछ देर से आये। किन्तु जैसे ही डाक्टर जी ने उन्हें देखा वे उठ खड़े हुए और उनके चरण छू कर उन्हें अपने आसन पर बैठाया।

अपने स्थायी जीवन मूल्यों की पृष्ठभूमि पर ये हैं हमारे वर्तमान जीवन के कुछ वैशिष्ट्य। एक व्यक्ति के ही समान जब तक कोई राष्ट्र अपने स्वधर्म

के मूलाधारों पर जमा रहता है तब तक वह चतुर्दिक वृद्धि करता एवं पूर्ति की उपलब्धि में बढ़ता और फलता-फूलता है। किसी के स्वधर्म की जड़ों को उखाड़ लेना और उनके स्थान पर कुछ और ही आरोपित करने का परिणाम पूर्ण अस्तव्यस्तता एवं पतन ही होगा। भगवद्गीता में कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः

(अर्थात् अपने धर्म का पालन करते हुए मृत्यु भी श्रेयस्कर है। दूसरे का धर्म ग्रहण करने के परिणाम भयावह होते हैं।)

अतएव, हमारे लिए राष्ट्र के स्वधर्म का यह आह्वान है कि हिन्दू जीवन-पद्धति को पुनरुद्दीप्त करके आत्मविस्मृति एवं अनुकरण की उस राख को झाड़ दें, जो हिन्दू हृदयों में युगों प्राचीन संस्कारों के अमर अंगारों को ढँके हुए है, जिससे कि इस पवित्र देश की राष्ट्रीय आत्मा की ज्वाला अपने सम्पूर्ण तेज के साथ पुनः प्रज्ज्वलित हो उठे।

* *

६ कार्य और लक्ष्य का स्वरूप

समर्पित जीवन चाहिये

हमारे कार्य के लक्ष्य का अन्तिम स्वरूप हमारे समाज की पूर्ण संगठित अवस्था है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति आदर्श हिन्दू मनुष्यत्व की मूर्ति बनकर समाज के संगठित व्यक्तित्व का सजीव अंग होगा। और यही हमारे सभी संगठन-प्रयासों के लिये जीवन्त प्रेरणा रही है।

स्पष्ट है कि यह कल्पना ऐसी नहीं है जो कुछ दिनों अथवा कुछ वर्षों में भी साकार की जा सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सैकड़ों और हज़ारों समर्पित जीवन चाहिये जो शान्ति के साथ अथक प्रयास करते रहें। इसके लिये ऐसे सबल एवं धैर्यवान हृदयों की आवश्यकता है जो विपरीत परिस्थितियों तथा प्रलोभनों के बीच अडिग बने रहें। इस प्रकार के स्फूर्त जीवन निर्माण करने के लिये ही संघ प्रतिदिन के संस्कारों पर अत्यधिक बल देता है तथा व्यक्ति के मन पर मस्तिष्क एवं हृदय के उन सभी गुणों का महत्व प्रतिदिन अंकित करता है जो उसे सम्पूर्ण जीवन के समर्पण के मार्ग पर अग्रसर होने की शक्ति और योग्यता प्रदान करते हैं।

सरल उपाय की झक

कार्य के लिये इस प्रकार की स्थिर, शान्त एवं आजीवन श्रद्धा आजकल की दुनिया में बड़ी विचित्र और असाधारण प्रतीत हो सकती है। इसमें इसकी अपनी स्वयं की एक मौलिकता और नवीनता है। इसीलिये हमारे इस दृष्टिकोण को समझने और आत्मसात् करने में सामान्य जन को कुछ समय लगना

स्वाभाविक ही है। उदाहरणार्थ ऐसे अनेक लोग हैं जो हमारी कार्य-पद्धति में यह बात देखकर भय और विस्मय से अभिभूत हो जाते हैं कि इसमें जीवन भर वर्षानुवर्ष एक निश्चित समय एवं स्थान पर प्रतिदिन उपस्थित होना आवश्यक रहता है। एक बार एक युवक ने मुझसे प्रार्थना की कि कोई ऐसा उपाय बताइये जिससे कि वह अपने मन को एकाग्र करने की शक्ति का विकास कर सके। उसके अध्यवसाय की परीक्षा के लिये मैंने उसको नियमित रूप से करने के लिये कुछ विशेष अभ्यास बताये। उसने तुरन्त प्रश्न किया, "यह कब तक करना होगा?" मैंने कहा, "इसे जीवन भर चालू रखिये।" वह साश्चर्य कह उठा, "जीवन भर! यह कैसे सम्भव है?" मैंने उससे पूछा, "क्या तुम्हारे लिये कम से कम जीवन भर जिन्दा रहना सम्भव है?"

यह है आज की मनोवृत्ति। लोग शीघ्र फल एवं सफलता का आसान उपाय चाहते हैं। अल्पतम उद्योग एवं अधिकतम लाभ चाहने के इस मानव दौर्बल्य ने हमारे राष्ट्र-जीवन के सभी क्षेत्रों को ग्रसित कर रखा है। हार्दिक एवं कठोर परिश्रम वाले ईमानदारी के रास्ते का स्थान ऐसे उपायों ने ले लिया है, जिनमें बुरे-भले का कोई विचार नहीं होता और जिनसे फल शीघ्र मिलता है। धन अर्जन करने वाला मनुष्य धनी बनने के लिये इसी प्रकार के आसान उपायों को सोचता रहता है। और यदि वह एक रात में ही धनवान हो सके तो इसके लिये कितना ही नीच कर्म करने को उद्यत हो जाता है। वह काला बाजार करता है, सट्टेबाजी करता है और जुआ खेलता है। वह बड़ी उत्सुकता से यह जानने के लिये ज्योतिषियों को भी जा पकड़ता है कि क्या कोई ग्रह-नक्षत्र उसके लिये कुछ कर सकता है! चोरी और डकैती तो आसान उपायों के लिये राज मार्ग ही है!

लोगों ने तो ईश्वरानुभूति के लिये भी आसान मार्ग खोजना आरम्भ कर दिया है। ईश्वर-प्राप्ति के लिये एकाग्र निष्ठा से सम्पूर्ण जीवन तपस्या का कष्ट कौन उठाये? वे किसी सन्त अथवा संन्यासी को बीच का दलाल बनाने का प्रयत्न करते हैं, जिसके विषय में उनका यह विश्वास होता है कि वह उनके सब पापों को लेकर अपने पुण्य उन्हें दे देगा तथा उन्हें ईश्वर के समक्ष शुद्ध और पवित्र कर उपस्थित कर देगा। हमारे सामाजिक जीवन का कोई भी पहलू ऐसा नहीं है जो इस क्षुद्र एवं हीनता के कलंक से बचा हो।

आत्मघाती प्रलोभन

चारों ओर के इसी वातावरण के कारण लोग संघ के कार्य में भी छोटा एवं सरल मार्ग कौन-सा है, इसका विचार करने लगते हैं। वे पूछते हैं, "कितने

समय तक इस प्रकार तुम इसे चलाते रहोगे ? तुम अपनी कल्पना के अनुसार समाज का पूर्ण रूपान्तर करने योग्य कब होगे ?तुम और कितने वर्षों तक इसी मार्ग पर घिसटते रहोगे ?" तब, वे चारों ओर दृष्टि घुमाते हैं और देखते हैं कि शक्तिशाली शासन सत्ता ऐसी बड़ी शक्तियों को धारण किये हुए है कि राष्ट्र-जीवन का समूचा प्रसार उससे परिवेष्टित है। वे कल्पना करने लगते हैं कि यदि उन्हें प्रशासनिक अधिकारीगण, राजस्व एवं अधिकार के इस प्रकार के साधन उपलब्ध हो जायें तो अति अल्प काल में ही वे देश का स्वरूप बदल सकते हैं और शिक्षा आदि के द्वारा आने वाली पीढ़ी को अपने इच्छित प्रतिमान में ढाल सकते हैं। वे उस सरल छोटे मार्ग पर आसक्त हो जाते हैं जिसमें कष्ट और त्याग कम तथा फल प्राप्ति शीघ्र होती है। सतही तौर से सोचने पर यह तर्क निःसंन्देह बहुत ही आकर्षक प्रतीत होता है। हमारी वर्तमान सरकार द्वारा हमारे जीवन के राजनीतिक तथा आर्थिक पक्षों पर ही जो पूरा-पूरा बल दिया जाता है, वैसे ही पंचवर्षीय योजनाओं के लिए सतत प्रचार तथा देश के युवकों को आकृष्ट करने के लिये नये-नये सरकारी नियंत्रण के क्षेत्र खोले जा रहे हैं, इन सबने भी हमारे लोगों की ऐसी वर्तमान मनोदशा बनाने में अपना योगदान किया है, जिसके प्रभाव से लोग राज्यसत्ता को ही सब रोगों की एक औषधि मानने लगे हैं।

किन्तु हमें ऐसे ऊपरी विचार से ही प्रभावित होकर नहीं बह जाना चाहिये। यद्यपि आजकल किसी भी विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की प्रथा नहीं है, फिर भी हमें लोगों को इस प्रकार शिक्षित करना चाहिये कि वे विषयों को अधिक गहराई में जाकर समझने की योग्यता प्राप्त करें। एक बार नागपुर में अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन हुआ। उसमें भाग लेने के लिये आने वाले कुछ प्रमुख लब्धप्रतिष्ठ पुरुष मेरे भी परिचित थे। उन्होंने अपने द्वारा निर्णीत कार्यवाहियों, नियमों तथा पाठ्यक्रम आदि के विषय में विस्तार से मुझे बताया। अन्त में मैंने उनसे एक साधारण-सा प्रश्न किया, "क्या आप उस जन की वास्तविक प्रकृति एवं वास्तविक आवश्यकतायें बता सकते हैं, जिन्हें शिक्षित करने की योजना आप बना रहे हैं ?" तब उनमें से एक ने मेरे समक्ष सीधे शब्दों में यह स्वीकार कर लिया कि यह प्रश्न तो उनके सामने कभी उपस्थित ही नहीं हुआ। किसी अन्धे द्वारा अन्य अन्ध व्यक्तियों का मार्गदर्शन करने की जैसी कहानी है, वैसे ही हमारे देश में सब कार्य चला करते हैं। समस्या की मूल तक पहुँचने का न तो कोई प्रयास ही करता है और न वैसी इच्छा ही है।

हम जरा विश्व-इतिहास के पृष्ठ पलटें। हम देखने का प्रयत्न करें कि किसी

भी देश के अजर-अमर राष्ट्र-जीवन निर्माण करने में क्या राज्य सत्ता के प्रयोग का थोथा विचार और तत्क्षण फलेच्छा ने सचमुच सहायता की है ? भूतकाल में ऐसे अनेक साम्राज्य रहे जो पूर्णरूपेण राज्यसत्ता पर निर्भर थे । उदाहरण के लिये फारस अपनी सभी प्रकार की सुरक्षा एवं प्रगति के लिये पूर्णतया सम्राट् पर ही निर्भर था। सम्राट् की सत्ता सर्वोच्च थी, वह जनजीवन के सभी पहलुओं का नियमन करता था । धर्म का निर्णायक भी वही था। कुछ समय के लिये वहाँ के लोग निश्चित और सुखी थे । किन्तु उनका सम्पूर्ण राष्ट्र-जीवन का प्रासाद अरब आक्रमण के एक ही धक्के में धराशायी हो गया। रोम और यूनान की भी यही गति हुई । यह इस कारण नहीं हुआ कि इन साम्राज्यों के पास सम्पत्ति अथवा उत्तम प्रबन्ध या सेना का अभाव था, वरन् वे सभी चीजें सम्राट् की राजनीतिक सत्ता की बालू की नींव पर खड़ी थीं । और जैसे ही अल्प काल के लिये भी उस राजसत्ता का ध्वंस हुआ उनकी सम्पूर्ण सभ्यता, उनका पंथ और उनकी राष्ट्रीयता भी धमाके के साथ ऐसे धराशायी हो गये कि विश्व-मंच पर पुनः कभी उसका प्रगट होना भी असम्भव हो गया । एक के बाद दूसरे कई देशों का आत्मपतन हुआ, वे सब इस्लाम के सामने झुक गये और इस प्रकार सदैव के लिए मुस्लिम-राष्ट्र बन गए ।

हमारे अमरत्व का रहस्य

किन्तु हमारे देश की कहानी एक नितान्त भिन्न प्रकार का ही चित्र प्रस्तुत करती है । हमारे समाज को भी अत्यन्त बर्बर जातियों के इस इस प्रकार के अगणित आक्रमणों का सामना करना पड़ा था । हमारे समाज पर इन शत्रु-शक्तियों का कुछ काल के लिये राजनीतिक आधिपत्य भी बना रहा । कभी-कभी तो यह आधिपत्य कतिपय शताब्दियों तक चला । रावण के काल से लेकर अब तक कई बार अधर्म ने अपनी सम्पूर्ण विनाशकारी नग्न शक्तियों से यहाँ शासन किया है । उस अंधकारपूर्ण समय में जब औरंगजेब शासन करता था, समर्थ रामदास के जैसे महान् वीर संत तक के सकरुण उद्गार थे कि हिन्दू समाज को पूर्ण विनाश से बचाने का सामर्थ्य केवल परमात्मा के अवतार में ही है । तत्पश्चात् धूर्त अंग्रेज ने भी हमारे राष्ट्र-जीवन को उच्छिन्न करने के भरपूर प्रयास किये । आज भी अधार्मिक तत्वों का ही उत्कर्ष है । किन्तु इन भयंकर संकट वेलाओं का सामना कर हमारा समाज आज भी जीवित है । बारम्बार वह अपनी भस्म में से उठ खड़ा हुआ तथा दुष्ट शक्तियों के फाँसी के फंदे को नष्ट कर इसने धर्म-राज्य की स्थापना की । वही गौरवशाली परम्परा आज

भी सदैव की नाईं आदर्शवाद और राष्ट्रीय नव-यौवन के सामर्थ्य से युक्त अखंड, अजस्र गति से चली आ रही है। यह चमत्कार कैसे घटित हुआ ? इस अमरता का गूढ़ रहस्य किस बात में है ? भीषण से भीषण विषप्रहार के बाद भी मृत्यु को चुनौती देने की समाज की चिर-जीवन क्षमता का रहस्य क्या है ?

यह बात अति स्पष्ट है कि हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व का आधार राजकीय सत्ता कभी नहीं रहा। अन्यथा हमारा भी भाग्य उन राष्ट्रों से अच्छा नहीं होता जो आज केवल अजायबघर की दर्शनीय वस्तु मात्र रह गये हैं। राजकीय सत्ताधारी हमारे समाज के आदर्श कभी नहीं थे। वे हमारे राष्ट्र-जीवन के आधार के रूप में कभी स्वीकृत नहीं हुये। सम्पत्ति एवं सत्ता के ऐहिक प्रलोभनों से ऊपर उठे हुये और समग्र भावेन सुखी, श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न एवं एकात्मता से युक्त समाज की स्थापना के लिये स्वयं को समर्पित करने वाले सन्त-महात्मा ही इसके पथ-प्रदर्शक रहे हैं। वे धर्मसत्ता का प्रतिनिधित्व करते थे। उस उच्चतर नैतिक सत्ता का राजा तो एक उत्कृष्ट अनुगामी मात्र था। अनेक बार विपरीत परिस्थितियों में एवं आक्रामक शक्तियों के कारण अनेक राज्य सत्ताओं ने धूल चाटी। किन्तु धर्मसत्ता समाज को छिन्न-विच्छिन्न होने से सदैव बचाती रही।

रावण एक धूर्त आक्रान्ता था। वह हमारी सामाजिक एकता के इस रहस्य को जानता था। उसे पता था कि हमारे समाज के जीवन-केन्द्र का स्पन्दन ऋषि-मुनियों के वन्य आश्रमों में है। अतएव उसने उन्हीं वन्य कुटियों तथा वहाँ होने वाले यज्ञों को ही अपने आक्रमणों का लक्ष्य बनाया था। किन्तु उन आध्यात्मिक शूरों ने उन आघातों का साहस के साथ सामना किया और जनता को जगाने तथा उसमें एकात्मता स्थापित करने के अपने पवित्र लक्ष्य में संलग्न रहे। यह कहा गया है कि सम्पूर्ण समाज, यहाँ तक कि देवता भी रावण के पैरों के नीचे कराह रहे थे। ऐसे समय में राष्ट्र ने अपने को राम के व्यक्तित्व में उठाया। उस महान् परित्राता को विश्वामित्र, वशिष्ठ तथा अगस्त्य ने ढाला था और उन्होंने उसका मार्गदर्शन किया था। इन ऋषियों ने केवल राम को ही खड़ा नहीं किया अपितु नियमित प्रवचनों, वार्तालापों एवं विविध धार्मिक विधियों के द्वारा सम्पूर्ण समाज की उत्कट राष्ट्रीय चेतना को भी उद्दीप्त रखा। समाज-हित की अपनी साधना में वे 'अधनंगे फकीर' कितने जागरूक एवं उद्यमी थे ! अन्त में, राम को वह भीषण शक्ति भी महर्षि अगस्त्य से ही प्राप्त हुई थी, जिससे उन्होंने रावण का बध किया था। यह उनकी प्रेरणा एवं

अथक प्रयत्नों का ही परिणाम था कि वे अधर्म की आक्रामक लहरें जो तीनों लोकों को डुबा चुकी थीं, अन्त में पीछे हटीं। उन अधार्मिक शक्तियों के दुर्ग लंका की राख में से समाज और भी अधिक तेजस्वी होकर एक बार पुनः उठ खड़ा हुआ।

परम्परा चलती रही

बौद्ध युग का भी हमारे लिए वही सन्देश है। बुद्ध के पश्चात् यहाँ उनके अनुयायी पतित हो गये। उन्होंने इस देश की युगों प्राचीन परम्पराओं का उन्मूलन आरम्भ कर दिया। हमारे समाज में पोषित महान् सांस्कृतिक सद्गुणों का विनाश किया जाने लगा। अतीत के साथ के सम्बन्ध-सूत्रों को भंग कर दिया गया। धर्म की दुर्गति हो गई। सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था छिन्न-विच्छिन्न की जाने लगी। राष्ट्र एवं उसकी दाय के प्रति श्रद्धा इतने निम्न तल तक पहुँच गई कि मतान्ध बौद्धों ने बुद्ध धर्म का चेहरा लगाये हुए विदेशी आक्रान्ताओं को आमन्त्रित किया तथा उनकी सहायता की। बौद्ध पन्थ अपने मातृ समाज तथा मातृ धर्म के प्रति द्रोही बन गया। इस प्रकार के भीषण क्षणों में वह कौन था जो हमारे धर्म एवं समाज के पुनरुद्धारक के रूप में आया?

यह थी, वही ऋषि-मुनीषियों की परम्परा जिसने अपने सामर्थ्य एवं ओज को शंकराचार्य के रूप में प्रकट किया। वह थे एक संन्यासी, एक अद्वितीय दार्शनिक एवं अनुपमेय संगठनकर्ता। उनकी महत्ता किसी भौतिक सम्पति अथवा शक्ति के कारण नहीं थी। अर्धनग्न, वे देश के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक विचरण करते रहे। अगणित संकटों का उन्हें सामना करना पड़ा, जिनमें उन्हें विष देने का प्रयत्न भी सम्मिलित है। किन्तु वह निर्भीक एवं विजयिष्णु बने एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण ही करते रहे। उन्होंने विश्राम और सुख तो जाना ही नहीं तथा हमारी प्राचीन संस्कृति की क्षीण होती हुई लौ को उन्होंने एक बार पुनः उद्दीप्त कर दिया। उनके निष्ठाशील संन्यासी अनुयायियों ने अपने रक्त एवं स्वेद से वैभवशाली भविष्य के निर्माण के लिये अतीत को वर्तमान के साथ अति दृढ़ता से जोड़ दिया। उनके द्वारा जगाई गई राष्ट्रीय चेतना तथा निःस्वार्थ सेवा-भावना ने एक बार पुनः समाज को पैर जमाने में तथा राष्ट्रद्रोही तत्वों के उच्छेद में सहायता की। एक अलग पन्थ के रूप में कार्यशील ऐसे बौद्ध धर्म को मातृभूमि से मिटा दिया गया, यद्यपि बुद्ध निःसंशय रूप से अवतार बने रहे। निःसंदेह, हम भगवान् शिव की पूजा करते हैं किन्तु इस कारण उनके चारों ओर एकत्रित रहने वाले दानवों का स्वागत नहीं करते।

मुसलमानों की राजसत्ता के काल में भी महान् सन्त और संन्यासी उत्पन्न हुए जिन्होंने उस परम्परा को चालू रखा। चैतन्य, तुलसीदास, सूरदास, ज्ञानेश्वर, रामानन्द, तुकाराम, रामानुज, मध्व, नानक तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक श्रेष्ठ महात्मा हुये, जिन्होंने देश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक धार्मिक श्रद्धा से आपूर्ण कर दिया। समर्थ रामदास ने उस धार्मिक उत्साह को राष्ट्र-शक्ति के 'डाइनेमो' का रूप दे दिया। उन्होंने राम और कृष्ण की कथाओं का बारम्बार बखान किया। उनके पराक्रम के दिव्य गीत गाये। लोगों में अपने देवी, देवताओं के प्रति श्रद्धा को जागृत किया तथा सब प्रकार के राजकीय दमन के होते हुए भी उनके नैतिक बल को अक्षुण्ण बनाये रखा। छत्रपति शिवा जी के नेतृत्व में सम्पन्न महान् राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन का कार्य उन वर्षों में हुए तीव्र आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक जागरण का ही सीधा परिणाम था। इससे भी पूर्व स्वामी विद्यारण्य द्वारा प्रारम्भ किये गये आध्यात्मिक तथा राष्ट्रीय जागरण के द्वारा विजयनगर की वैभवशालिनी हिन्दू शक्ति का उदय हुआ था। महान् धार्मिक शिक्षक गुरु नानक तथा उनके उत्तराधिकारियों ने हिन्दू विप्लव की नींव रखी, जिसका प्रकटीकरण गुरु गोविन्द सिंह और बंदा वैरागी के नेतृत्व में योद्धा सिक्खों के रूप में हुआ। इस प्रकार एक बार पुनः धर्म को केन्द्र मानकर राष्ट्रीय एकीकरण का महान् कार्य हुआ तथा दुष्ट राष्ट्र-विरोधी शक्तियों का विनाश होकर राष्ट्र का विजयध्वज अटक से कटक तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक विजय गर्व के साथ फहराया।

विदेशी अंग्रेजों की दासता के विरुद्ध भी हमें राष्ट्रीय पुनरुत्थान का वही आध्यात्मिक आधार दिखाई दिया। और फिर सम्पूर्ण प्रतिभा के साथ आध्यात्मिक सूर्य प्रकट हुआ–बंगाल में रामकृष्ण-विवेकानन्द, पंजाब में स्वामी दयानन्द और रामतीर्थ, दक्षिण में महर्षि रमण और योगी अरविन्द के रूप में—जिसने जनता के मस्तिष्क में राष्ट्रीयता की आध्यात्मिक भूमिका को स्थापित किया।

हमारे समक्ष यही इतिहास की निर्भ्रान्त साक्षी है। हमें इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और अपने समाज का संगठित जीवन निर्माण करने का निर्णय कर लेना चाहिये, जिसमें शुद्ध चारित्र्य एवं सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के लिये ऐसी अडिग श्रद्धा हो जो सहस्रों वर्षों तक अटल खड़ी रहे। हमारी प्राचीन परम्पराओं की आध्यात्मिक प्रेरणा से अनुप्राणित समाज के संगठित जीवन की शक्ति युग-युगान्तर से हमारे अमरत्व का रहस्य रही है। निःसंशय रूप से हमारा राष्ट्र-धर्म यही है और इसकी सम्पूर्ण शक्ति को जागृत कर इसे नव-तारुण्य प्राप्त करा देने के लिए हम प्रतिज्ञाबद्ध हैं।

यहाँ हम एक भ्रान्त धारणा को स्पष्ट कर देना चाहते हैं, जिसने आज हमारे विचारों को आच्छादित कर रखा है। जब धर्म तथा आध्यात्मिकता जैसे शब्दों का उच्चारण किया जाता है तो तुरन्त कहा जाता है कि धर्म को राजनीति में क्यों लाते हैं? धर्म सम्बन्धी हमारी गलत धारणा और पाश्चात्य लोगों की 'रिलीजन' की कल्पना के साथ उसे एकरूप करने की भूल में से इस प्रश्न का उदय हुआ है। धर्म (Religion) की मतान्ध कल्पना तथा राज्य-सत्ता पादरियों के हाथ में होने के कारण पाश्चात्य देशों ने बहुत सदियों तक कष्ट भोगे हैं। उक्त कल्पना से धर्म की हमारी कल्पना प्रकाश और अन्धकार के समान भिन्न है। धर्म अथवा आध्यात्मिकता कोई अन्धमत नहीं है अपितु सम्पूर्ण जीवन का एक दृष्टिकोण है। राजनीतिक अथवा आर्थिक क्षेत्रों के समान धर्म राष्ट्र-जीवन का कोई अलग क्षेत्र नहीं है। आध्यात्मिकता, हमारी दृष्टि में जीवन की एक व्यापक दृष्टि है, जिसे सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों को अनुप्राणित और उन्नत कर उनके बीच समन्वय की स्थापना करना चाहिये, जिससे कि मानव जीवन अपने सभी पहलुओं में पूर्णत्व को प्राप्त करे। यह हमारे राष्ट्र तरु का जीवन-रस है, हमारी राष्ट्रीय सत्ता का प्राण है।

सत्ता भ्रष्ट करती है

इस सबको समझते हुए भी कुछ ऐसे लोग हैं जो हमारे धार्मिक विचार-प्रणाली के प्रसार के लिये भी राजनीतिक सत्ता को अत्यावश्यक मानते हैं। वे कहते हैं कि भूतकाल में ईसाई धर्म तथा इस्लाम का प्रसार उनकी राजकीय सत्ता के कारण ही हुआ। किन्तु उनके गम्भीर अध्ययन से हमें ज्ञात हो जायगा कि अन्त में राजकीय सत्ता समस्या का समाधान कभी नहीं करेगी। उदाहरण के लिये सम्पूर्ण राजसत्ता तथा अधिकतर लोग एकाकी व्यक्ति ईसा मसीह के विरुद्ध खड़े हो गये थे। जब उसे सूली पर चढ़ा दिया गया तो उसके शिष्यों के मार्गदर्शन के लिये कोई नहीं बचा था; किन्तु उनके हृदय आदर्शवाद से प्रेरित थे। ईसा की भावना से उद्दीप्त, अपनी नवीन अनुभूति के विश्वास और उत्साह को लेकर वे संसार में दूर-दूर तक फैल गये तथा विश्व उनके चरणों पर विनत हुआ। उस समय उनके पास राजकीय सत्ता नहीं थी। किन्तु जब कालान्तर में उनके उत्तराधिकारी राजकीय सत्ता के प्रलोभन के शिकार हो गये तो उनके अनुयायियों में भ्रष्टता एवं अवनति का प्रवेश हो गया। ईसाई धर्म की वर्तमान दुर्दशा यह है कि अपने ही ईसाई देशों के जीवन को भी ढालने की शक्ति उसमें नहीं रही है, यहाँ तक कि वह आज साम्राज्यवादी राजनीतिक शक्तियों के हाथ

का एक साधन मात्र रह गया है। राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं से उसके अनुयायियों के कलुषित होने का यह सीधा परिणाम है। सत्ता के मद से मतवाले अनुयायियों के हाथों इस्लाम का विपर्यास—जिसे भूल से आज इस्लाम का प्रसार कहा जाता है—सर्वविदित है। जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों के जागरण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था।

अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं। एक समय में कांग्रेस के आज के नेता बड़े ही त्यागी एवं देशभक्त थे। उनके ज्वलन्त उदाहरणों से जनता भी सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्राप्त करती थी, किन्तु आज उनकी दशा क्या है ? उनके वर्ग में भ्रष्टाचार, भाई-भतीजेवाद तथा सत्तालोलुपता अनियन्त्रित रूप से बढ़ रही है। इसीलिये स्वराज्य के आगमन पर गांधी जी ने कांग्रेस को सलाह दी थी कि या तो कांग्रेस अपने को समाप्त करे या राजसत्ता से बिलकुल बहुत दूर रखे। किन्तु उनके उन अनुयायियों के लिए, जो सत्ता की लूट का स्वाद ले चुके थे, यह हितावह शिक्षा बहुत कड़ुवा घूंट थी। और आज हम इसके भयंकर परिणाम देखते हैं। उन परिणामों की भयंकरता केवल कांग्रेस तक ही सीमित नहीं अपितु सम्पूर्ण देश के भुगतने के लिए है।

केवल राजसत्ता के माध्यम से समाजहित की उपलब्धि का सबसे नवीनतम प्रयोग हम रूस में देखते हैं। उसने भी यही निर्णय दिया है। यह वचन कि "सत्ता भ्रष्ट करती है तथा सम्पूर्ण सत्ता सम्पूर्णरूपेण भ्रष्ट करती है" वहाँ अक्षरशः सत्य सिद्ध हो चुका है। एक बार सत्ता मिलने पर उसे किसी भी मूल्य पर बनाये रखने की आकांक्षा सत्ताधारियों में उत्पन्न हो जाती है। ऐसी दशा में जनता के प्रति देखने का यह भाव हो ही जायगा कि "मैं स्वामी हूँ, और तुम मेरे दास हो।" संस्कृत का एक वचन है :—

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्।

(यौवन, धनसम्पत्ति, सत्ता और अविवेक—इनमें से एक भी अनर्थ करने के लिये पर्याप्त है फिर जहाँ चारों हों वहाँ के लिये क्या कहा जाय !)

रूस में उसके क्रान्तिकारी उत्साह, सम्पत्ति तथा सत्ता और उसके परिणामस्वरूप मद के कारण यही घटित हुआ, सब एक साथ होने से निर्दय एकाधिपत्य शासन बना, जिसने सम्पूर्ण राष्ट्र को मनुष्यत्व से पतित किया एवं दास बना डाला।

इस द्वितीय पक्ष से विचार करने पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजकीय सत्ता के प्रलोभन एवं पाशों से अपने को विलग रखते हुए किन्तु

साथ ही साथ अपकार करने वाली शक्तियों को रोकने के लिये पर्याप्त सामर्थ्य से युक्त और जागरूक ऐसे संगठन का निर्माण जो हम कर रहे हैं, वही समाज को ऐसी स्वस्थ और स्थायी व्यवस्था दे सकेगा, जिसमें हमारा समाज समृद्धि का जीवन यापन कर सकेगा। आखिर राजकीय सत्ता तो एक बाह्य उपकरण मात्र है जो स्वत: मनुष्य के अन्तरंग को किसी आदर्श के अनुसार नहीं ढाल सकता। केवल प्रशासकीय विधि-विधान मानव-मन को सद्‌गुणों की ओर नहीं ढाल सकते। उदाहरण के लिये यदि कोई अधिकार प्राप्त व्यक्ति मद्यपान के विरुद्ध कानून बनाता है और उसे स्वयं को पीने की लत है तो वह उसी कानून की प्रवंचना करने में और भी अधिक चातुर्य का उपयोग करेगा।

जहाँ तक सांस्कृतिक मूल्यों एवं सामाजिक सुदृढ़ता को पुनरुज्जीवित करने की भूमिका का निर्वाह करने का प्रश्न है, यह अत्यन्त स्पष्ट है कि राजकीय सत्ता अपने आप में पंगु सिद्ध होती है और यदि उसे अनियन्त्रित छोड़ दिया जाता है तो वह अत्यन्त निकृष्ट रूप लेकर उन उच्च आदर्शों को भ्रष्ट कर देती है। इसलिए किसी राष्ट्र की अमरता का रहस्य, जिसमें उसके समस्त, उदात्ततम परम्परागत गुणों की सुरक्षा हो, राजकीय सत्ता से अन्यत्र कहीं खोजना होगा।

सत्ता पर अंकुश

सामाजिक जीवन के विविध तत्त्वों का इस प्रकार गम्भीर विचार कर हमारे प्राचीन विधि-निर्माताओं ने राज्य सत्ता के कार्यों को इतना सीमित कर दिया था कि वह केवल बाहरी आक्रमणों से तथा ईर्ष्या, घृणा और उन्नति की प्रतिद्वन्द्विता आदि के कारण उत्पन्न आन्तरिक कलह से जनता की रक्षा करे। उन्होंने कहा, जो राज्य इन सीमाओं को लाँघता है, वह लोगों का मित्र नहीं हो सकता।

सच तो यह है कि इस स्थिति में राज्य लोगों का शत्रु बन जाता है। क्योंकि तब वह लोगों की चिरन्तन नैसर्गिक क्षमताओं के स्वतन्त्र विकास में बाधक बनेगा। साथ ही राज्यकर्ताओं की जी-हुजूरी करने की स्थिति में लोगों को खींचकर श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों से हटाते हुए लोगों को वह पतित कर देगा।

आज हमारी सरकार स्वयं को 'कल्याणकारी राज्य' घोषित करती हुई सम्पूर्ण शक्ति एवं अधिकार को केन्द्रित करने का प्रयत्न कर रही है तथा शिक्षा, चिकित्सा सम्बन्धी सहायता, सामाजिक सुधार, उत्पादन, वितरण और जीवन के अनेक अन्य क्षेत्रों पर एकछत्र अधिकार प्राप्त करना चाहती है। यदि राज्य इस प्रकार से मानव की सम्पूर्ण क्रियाकलापों पर आधिपत्य कर लेगा तो मनुष्य कर्म

करने की स्वप्रेरणा से रहित होकर एक दास मात्र रह जायगा। यह भलीभाँति जाना हुआ है कि सत्ता राज्यकर्त्ता को पीड़क और अत्याचारी बना देती है। अतः अधिकारप्राप्त मनुष्य अपने सम्भाव्य विरोधियों का हिंसा द्वारा दमन करना चाहते हैं, और इस प्रकार वे अपने को समाज की शान्तिपूर्ण उन्नति तथा कल्याण के लिये अयोग्य बना लेते हैं। इसलिये हमारे विधि-निर्माताओं ने यह आवश्यक समझा कि सत्ताधारियों पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये जायें। उन्होंने आदेश दिया कि प्रशासनिक शक्ति को जो कि केवल साधन है, साध्य नहीं बन जाना चाहिये। राज्य तभी तक समाज की भलाई कर सकता है, जब तक वह धर्म का—उत्तम जीवन के उच्चतर नियमों का—प्रतिष्ठापक रहता है, और स्वयं साध्य का रूप नहीं लेता। इसलिए उन्होंने वनवासी, आश्रमों में रहने वाले, त्यागी, विरागी, ऋषियों और तत्वदर्शियों के रूप में प्रगट हुई धार्मिक सत्ता के मार्गदर्शन एवं नियन्त्रण के अधीन अपने इन राज्यकर्त्ताओं को रखा।

हमारी प्राचीन राष्ट्र-व्यवस्था का एक अन्य अनोखा पक्ष यह था कि उसमें सम्पत्ति के उत्पादन को राजनीतिक सत्ता से अलग रखने की सावधानी बरती गई थी। धन शक्ति का एक रूप है। इतनी कल्पना कर सकने के लिये अधिक बुद्धिमत्ता की आवश्यकता नहीं है कि राज्यसत्ता यदि राजनीतिक और आर्थिक दोनों शक्तियों के योग से मदमत्त हो जाती है तो कितना बड़ा विध्वंस कर सकती है। इन दो शक्तियों का एक ही व्यक्ति अथवा एक ही वर्ग के हाथों में केन्द्रित हो जाना या तो समाज का निश्चित पतन करके उसे दास बनाता है अथवा कष्टों के असह्य हो जाने पर लोगों को विद्रोह करने के लिये उद्दीप्त करता है। कुछ भी हो, ऐसी दशा में सामाजिक स्थिरता, प्रगति एवं सम्पन्नता का अभाव हो जाना अपरिहार्य होता है।

यूरोप से शिक्षा

यूरोप के देशों का उदाहरण अत्यन्त बोधप्रद है। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के पूर्व उन देशों में राजनीतिक और आर्थिक शक्तियाँ राजा में समाहित हुआ करती थीं। अनियन्त्रित शासन के अन्तर्गत जनता कराहती रहती थी, उसकी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता, कार्य करने की स्वप्रेरणा तथा आनन्द निचोड़ लिया गया था। उस जुल्म के विरुद्ध हिंसात्मक विद्रोह के रूप में 'स्वाधीनता, समानता एवं बन्धुता' का नारा लगाते हुए फ्रांस की राज-क्रान्ति का विस्फोट हुआ। उसी समय के लगभग औद्योगिक क्रान्ति का भी सूत्रपात हुआ। 'अवसर की समानता' का घोष करते हुए बुद्धि, योग्यता और धन में बढ़े-चढ़े लोगों ने

उद्योगों पर एकाधिपत्य कर लिया; अपरिमित सम्पत्ति को एकत्रित किया तथा उसकी शक्ति से राजकीय सत्ता के भी नियंत्रक बन गये। वे पुरानों के स्थान पर नवीन अत्याचारी हुये। राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों के योग से एक बार पुनः अनियन्त्रित शासन उत्पन्न हो गया और सामान्य जन एक अनिर्वचनीय दैन्य एवं दास्य की दशा तक पहुँच गया। यद्यपि उस नयी व्यवस्था को जनतन्त्र का नया और मोहक नामाभिधान प्राप्त था। जैसा कि बर्नार्ड शा ने कहा है, 'उदारवृत्ति-सम्पन्न सम्राट् के अभाव के परिणामस्वरूप ही जनतन्त्र का जन्म हुआ था।'

इस असन्तुलित सामाजिक व्यवस्था तथा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न जन-अशान्ति से कम्युनिस्ट क्रान्ति के रूप में एक दूसरा विस्फोट हुआ। रूस और चीन में जो खूनी क्रान्तियाँ हुईं, तथा वहाँ जिस भयंकर परिमाण में संहार, शोधन, निर्वासन, दास शिविर एवं इसी प्रकार के अन्य अमानवीय कृत्य हुए, वे शायद संसार के इतिहास में बेजोड़ हैं। पुनः कम्युनिस्ट देश भी राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों के संयोग के इसी दुःखद प्रसंग से आक्रान्त हो गये, जिससे सामान्य जन-समुदाय अमानवीय दासता भोग रहा है। वे देश भी, जिन्होंने कम्युनिस्ट क्रान्ति के परिणामों का पूर्व आकलन कर लिया था और जनतान्त्रिक बने रहे थे, चाहे एक सीमा तक ही क्यों न हो, राजनीतिक शक्ति को आर्थिक शक्ति के पंजों से दूर रखकर ही ऐसा कर सके थे। इतने पर भी इन जनतांत्रिक देशों में इन दोनों के मध्य अब तक लाभकारी संतुलन उपलब्ध नहीं हुआ है।

इसीलिये, दास्य और खूनी क्रान्ति से बचाने के लिये तथा समाज की स्थायी शान्ति एवं स्वतन्त्रता के लिये हमारे प्राचीन हिन्दू विचार, व्यवहार ने आर्थिक शक्ति को राज्य की अधीनता से दूर रखा था। इसने सम्पत्ति के उत्पादन करने वाले लोगों को सभी राजकीय सत्ता से वंचित रखा। इस प्रकार दोनों ही शक्तियाँ एक दूसरे पर निर्भर तथा एक दूसरे की शोधक के रूप में रखी गयी थीं। और सबसे महत्व की बात यह थी कि इन दोनों शक्तियों की देख-रेख इस प्रकार के निःस्वार्थ मनुष्य करते थे, जिनका कोई निजी स्वार्थ नहीं होता था। ऐसे लोगों की एक सतत परम्परा जो सत्ता एवं धन के सभी प्रलोभनों से ऊपर रहकर आध्यात्मिक अधिकारों का राजदण्ड लिये हुये सदैव सतर्क रहते थे और इन दोनों शक्तियों में से किसी के भी द्वारा किये गये अन्याय को निरस्त कर देते थे, हमारे प्राचीन राष्ट्र के वैभव और अमरता का वास्तविक प्राण रही है।

सामाजिक सर्वशक्तिमत्ता का निर्माण

अपने राष्ट्रजीवन की परम्परा के इस मुख्य आधार को भलीभाँति समझकर ही हमने व्यक्ति निर्माण के इस कार्य को जो सरल नहीं है, अपने कंधों पर उठा लिया है, जहाँ ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना है जो राष्ट्र के प्रति तथा उसके आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति अविचल निष्ठा से ओतप्रोत हों और जो अपने अतिशुद्ध चारित्र्य तथा सबके प्रति समान प्रेम की भावना की शक्ति के आधार पर समाज की संगठित शक्ति का संचालन इस तेजस्वी कोटि तक करें कि राज्यसत्ता जो भी हो वह अपनी मर्यादाओं को न लाँघ सके और समाजहित के अतिरिक्त अन्य किसी भी बात के लिए सत्ता का लाभ-प्रयोग न कर सके।

इस प्रकार के व्यक्तियों का संगठन ही समाज की शाश्वत शक्ति का आधार बन सकता है। वह ऐसा संगठन होगा, जो परिस्थितियों के प्रवाह के ऊपर उठ सके, जो क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति की भावना से अथवा राजनीतिक सत्ता को अधिकृत कर लेने की लालसा से स्फूर्त न हो, जिसका सम्पूर्ण समाज के साथ तादात्म्य हो तथा जो अपने अस्तित्व मात्र से सम्पूर्ण समाज के प्रासाद को सुस्थिति में बनाये रखकर उसके पूर्ण स्वविकास के लिये स्वयंस्फूर्त आवेग एवं शक्ति प्रदान करे।

इस उदात्त दृष्टि को अपने हृदयों में सहेजे हुये हम राजनीतिक सत्ता की मृग-मरीचिका के पीछे क्यों दौड़ें ? एक बार दक्षिणेश्वर मन्दिर में चोरी हो गई। राधाकान्त की मूर्ति के कुछ आभूषण चोरी चले गये। किसी ने कहा, यह देवता भी क्या है जो अपने आभूषणों की भी रक्षा नहीं कर पाता। श्री रामकृष्ण ने उसे डाँटकर कहा कि इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण विचार रखना लज्जास्पद है। लक्ष्मी जिसकी दासी हो वह भला इस प्रकार के व्यर्थ पत्थर और धातु के टुकड़ों को क्या महत्व देगा ? इसी प्रकार हमें भी, जिनके सामने सम्पूर्ण राष्ट्र-जीवन की एकात्मदृष्टि है, राजनीतिक सत्ता के जैसी अस्थिर वस्तुओं के पीछे क्यों दौड़ना चाहिये ?

राजनीतिक सत्ता उस संगठित समाज की जिसका हम निर्माण करना चाहते हैं, संस्कृति, एकात्मता और सामर्थ्य की आभा को केवल परावर्तित करेगी, ठीक जैसे चन्द्रमा सूर्य की आभा को परावर्तित करता है। हम अपने समाज के चिरकालीन लालित समस्त आदर्शों के उसी प्रकार विकीर्ण केन्द्र बनने के अभिलाषी हैं जैसे कि वह अनिर्वचनीय शक्ति सूर्य से विकीर्ण होती है। तब, राजकीय सत्ता के लिये जो अपने जीवन को समाज के उस उद्गम से ग्रहण करती है, उसी आभा को परावर्तित करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न होगा

उपनिषदों में एक कथा है जो इस विचार को सुन्दरता से व्यक्त करती है। एक बार दैत्यों के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने से देवताओं को अहंकार हो गया। उस सर्वशक्तिमान ने सोचा कि उनका यह बढ़ा हुआ अहंकार दूर करना चाहिये। उसने एक वृहद् रूप धारण किया और देवताओं के सम्मुख अचानक प्रकट हो गया। उस विचित्र अलौकिक आकृति को देखकर देवता चकित रह गये। वायु देवता को उस आकृति का परिचय प्राप्त करने के लिये भेजा गया। उस आकृति ने स्वयं को यक्ष बताया और वायु के सामने एक घास का तिनका रखकर उसे हटाने की चुनौती दी। संसार को हिला देने वाली अपनी शक्ति रखने वाला वायु उसे एक बाल बराबर भी नहीं खिसका सका। वह क्षुब्ध होकर वापस आया। तब अग्नि देवता को भेजा गया। वह भी उस छोटे से घास के तिनके को भस्म न कर सकने के कारण अपमानित होकर लौट आया। अन्त में देवताओं के राजा इन्द्र स्वयं उसे देखने गये, किन्तु वह विचित्र आकृति अचानक लुप्त हो गई। उस रहस्य को न सुलझा सकने के कारण इन्द्र भी लज्जा का अनुभव करता हुआ लौट आया। तब उसके मस्तिष्क में यह विचार आया कि यक्ष के रूप में वह साक्षात् सर्वशक्तिमान ही था जिसकी दया से उनमें से प्रत्येक को उसकी शक्ति की एक-एक चिनगारी प्राप्त हुई है।

राष्ट्रीय प्रतिभा से संलग्न रहो

समाज की उस सर्वशक्तिमान सत्ता का निर्माण करना जो बाह्य कारणों से उत्पन्न संकटों से सदा-सर्वदा के लिये समाज को सुरक्षित रखे और राष्ट्रीय जीवन के समस्त क्षेत्रों को अनुप्राणित एवं उद्भासित करे, हमारी कल्पना का यही महान् लक्ष्य हमारे सामने है।

याद रखो कि प्राचीन भावना मरी नहीं है। वह जातीय भावना जो शताब्दियों तक होने वाले आक्रमणों के धक्कों में जीवित रही और समय-समय पर जिसने आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय वीरों को बार-बार उत्पन्न किया, निश्चय ही पुनः सक्रिय होगी। उन्हीं प्राचीन आदर्श पुरुषों के, उन्हीं सांस्कृतिक दिव्यात्माओं के अनुरूप हम अपने जीवन का निर्माण करें। हम उसी गौरवशालिनी परम्परा को पुनरुज्जीवित करें जिसने वशिष्ठ, विश्वामित्र, चाणक्य, विद्यारण्य और समर्थ को उत्पन्न किया और जो श्रीराम, चन्द्रगुप्त, कृष्णदेव राय तथा शिवाजी के रूप में प्रस्फुटित हुई।

सरल एवं लघु मार्ग तथा राजनीतिक प्रलोभनों के सम्मोहनों के बाह्य प्रचार के सम्पूर्ण प्रवेग में हम इसी दृढ़ विश्वास पर अडिग चट्टान के समान खड़े रहें।

अपने समाज को एक बार पुनः उसकी राष्ट्रीय प्रतिभा के पथ पर ले जाकर भारत माता को विश्व की सांस्कृतिक पथप्रदर्शिका के रूप में पुनः प्रतिष्ठित करने के अपने स्वप्न के प्रति हम सच्चे बने रहें। जब हम इस दृढ़ विश्वास पर हिमालय के समान अविचल भाव से खड़े होंगे तभी हम में से गंगा और यमुना के समान राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन एवं सांस्कृतिक मूल्यों की पावन धारायें प्रवाहित होंगी। वह उदात्त कल्पना हमारे हृदयों को सदैव प्रेरित करती रहे तथा हम अपने को उस ऐतिहासिक जीवन लक्ष्य के लिये तैयार करें, फिर चाहे कितना ही समय और शक्ति उसके लिये क्यों न समर्पित करनी पड़े।

* *

द्वितीय भाग

राष्ट्र और उसकी समस्याएँ

७

हमारी मातृ-भूमि

१. एक महान् कल्पना

साक्षात् माँ

यह है हमारी पवित्र भूमि भारत, जिसकी महत्ता के गीत देवताओं ने गाये हैं—

गायन्ति देवा: किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूय: पुरुषा सुरत्वात्॥

(देवगण इस प्रकार गीत गाते हैं कि हम देवताओं से भी वे लोग धन्य हैं जो स्वर्ग और अपवर्ग के लिए साधनभूत भारतभूमि में उत्पन्न हुए हैं।)

—यह भूमि जिसे महायोगी अरविन्द ने विश्व की दिव्य जननी के जीवन्त आविष्कीकरण के रूप में साक्षात्कार किया—जगन्माता! आदिशक्ति! महामाया! महादुर्गा! जो मूर्तरूप साकार होकर हमें दर्शन-पूजन वन्दन का अवसर प्रदान कर रही है।

—यह भूमि, जिसकी स्तुति हमारे दार्शनिक कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने "देवि भुवन मनमोहिनी"………"नीलसिन्धु जल धौत चरण तल" कह कर की है।

—यह भूमि, जिसका वन्दन स्वतन्त्रता के उद्घोषक कवि बंकिमचन्द्र ने अपने अमर गीत 'वन्देमातरम्' में किया है, जिसने सहस्रों युवा हृदयों को स्फूर्त कर स्वतन्त्रता के हेतु आनन्दपूर्वक फाँसी के तख्ते पर चढ़ने की प्रेरणा दी—

त्वं हि दुर्गा दशप्रहरणधारिणी

—यह भूमि जिसकी पूजा हमारे सभी सन्त-महात्माओं ने मातृभूमि, धर्मभूमि, कर्मभूमि एवं पुण्यभूमि के रूप में की है, और यही वास्तव में देव-भूमि और मोक्षभूमि है।

—यह भूमि जो अनन्त काल से हमारी प्यारी पावन भारत माता है, जिसका नाम मात्र हमारे हृदयों को शुद्ध, सात्विक भक्ति की लहरों से आपूर्ण कर देता है।

अहो, यही तो हमारी सबकी माँ है—हमारी तेजस्विनी मातृभूमि।

मातृभूमि—पुरातन भावना

वास्तव में 'भारत' नाम ही निर्देश करता है कि यह हमारी माँ है। हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार किसी महिला को पुकारने की सम्मानपूर्ण रीति यह है कि उसे उसके पुत्र के नाम से पुकारा जाय। किसी महिला को अमुक की पत्नी अथवा अमुक की 'मिसेज' कहकर पुकारना पाश्चात्य रीति है। हम कहा करते हैं "वह रामू की माँ है।" यही बात हमारी मातृ-भूमि भारत के नाम के विषय में भी लागू होती है। भरत हमारे ज्येष्ठ भ्राता हैं—जिनका जन्म बहुत काल पूर्व हुआ था। वह उदार, श्रेष्ठगुण-सम्पन्न और विजयिष्णु राजा थे एवं हिन्दू पुरुषार्थ के भासमान आदर्श थे। जब किसी स्त्री के एक से अधिक पुत्र होते हैं तब हम उसे उसकी ज्येष्ठ संतान के नाम से अथवा सबसे अधिक ख्यातिप्राप्त संतान के नाम से पुकारते हैं। भरत ख्यातिप्राप्त थे और यह भूमि उनकी माता कही गई, भारत, अर्थात् सभी हिन्दुओं की माता।

किन्तु कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दुओं को मातृभूमि की कल्पना का ज्ञान नहीं था। वे परस्पर युद्ध-रत विभिन्न कुलों में विभाजित थे। देशप्रेम से जो कि एक मातृ-भू के लिए भक्ति की भावना होती है, वे अपरिचित थे। उनमें कुछ सीमा तक यह भावना थी भी तो एक विशिष्ट भू-खंड मात्र के लिये ही, वह हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक, सम्पूर्ण देश के लिये जैसा कि वह आज हमें प्राप्त है, नहीं थी। आज के प्रमुख व्यक्ति भी समय-समय पर घोषणा करते रहे हैं कि यह हमारा एक महाद्वीप अथवा उपमहाद्वीप है, जिसमें विभिन्न प्रकार की जलवायु और विभिन्न प्रकार की भूमि है। यह राष्ट्रों का झुण्ड है और एक देश कहलाने योग्य नहीं है। ये विचित्र विश्वास हमारे राष्ट्र के मस्तिष्क में किस प्रकार फैल गये ?

कुटिल, विदेशी अंग्रेज ने अपने अन्तरस्थ साम्राज्यवादी प्रयोजनों की सिद्धि के लिये हमारी जनता में इस प्रकार के सभी दुष्ट विश्वास प्रचारित किये, जिससे कि देशभक्ति की भावना एवं अपनी मातृ-भू के समग्र व्यक्तित्व के प्रति कर्तव्य की भावना का ह्रास हुआ। उसने यह प्रच्छन्न रूप से कुटिलता-पूर्वक प्रचार किया कि हम कभी एक राष्ट्र नहीं थे। हम कभी इस भूमि की सन्तान नहीं थे। अपितु हम हैं नवोदित मात्र, जिनका इस देश पर आक्रान्ताओं के झुण्डों में आने वाले मुसलमान और अंग्रेजों से अधिक अधिकार नहीं है। दुर्भाग्य यह है कि इस देश का तथाकथित शिक्षित जन इस चाल में फँस गया।

किन्तु वास्तविकता तो यह है कि जब पश्चिम ने कच्चे मांस के स्थान पर भुना मांस खाना सीखा था उससे बहुत पूर्व हम एक राष्ट्र थे और थी हमारी एक मातृ-भूमि तथा समुद्रपर्यन्त भूमि में परिव्याप्त था एक राष्ट्र।

पृथिव्या समुद्रपर्यंताया एकराट्

यह हमारे वेदों का एक प्रिय उद्घोष है। युगों से हमारे सामने एक स्पष्ट स्वरूप रहा है "आसेतु हिमालय"। हमारे पूर्वजों ने बहुत काल पूर्व कहा है :—

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥

(पृथ्वी का वह भू-भाग जो समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में स्थित है, भारतवर्ष कहलाता है तथा उसकी संतानों को भारतीय कहते हैं।)

महान् हिमालय

सम्पूर्ण हिमालय, अपनी उत्तर, दक्षिण, पूर्व तथा पश्चिम में फैली हुई शाखा-प्रशाखाओं के साथ तथा इन महती शाखाओं के अन्तर्गत प्रदेशों के साथ हमारा रहा है, उसका केवल दक्षिण अंचल ही नहीं। धार्मिक एवं अन्य भावुकताओं को छोड़कर यह तो एक शुद्ध, व्यावहारिक सामान्य बुद्धि की बात है कि कोई भी शक्तिशाली और बुद्धिमान राष्ट्र पर्वतों की चोटियों को अपनी सीमा नहीं बनायेगा। यह तो उसके लिये आत्मघाती होगा। हमारे पूर्वजों ने हिमालय के उत्तरांचल में हमारी तीर्थयात्राओं के लिये अनेक स्थानों की स्थापना कर उन भू-भागों को जागृत सीमा का स्वरूप प्रदान किया था। तिब्बत या त्रिविष्टप, जिसे आज हमारे नेता चीन का तिब्बतीय प्रदेश कहते हैं, देवताओं का स्थान था और कैलास पर तो परमेश्वर का निवास है। मानसरोवर तीर्थयात्रा के लिये एक अन्य पवित्र स्थान था जो हमारी गंगा, सिन्धु और ब्रह्मपुत्र जैसी पवित्र नदियों का उद्गम माना जाता है।

हमारे महान् राष्ट्रकवि कालिदास ने निम्न प्रकार से हिमालय का वर्णन किया है—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ।।

(उत्तर दिशा में देवतात्मा हिमालय नाम का पर्वतराज है, जिसकी भुजाएं पूर्व और पश्चिम में समुद्रपर्यन्त फैली हुई हैं और जो पृथ्वी के मानदण्ड की तरह स्थित है ।) हमारे राजनीति शास्त्र में जिनका वचन आप्त प्रमाण हैं, उस चाणक्य का वक्तव्य है :—

हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणम्

(उत्तर में समुद्र से हिमालय पर्यन्त इस देश की लम्बाई एक सहस्रयोजन है।)

इसका यही अर्थ हुआ कि कवि कालिदास का वर्णन राजनीति-विशारद चाणक्य के वक्तव्य के अनुरूप है और हमारे लिए हमारी मातृभूमि की विशालता का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करता है ।

महान् चित्र

हमारे महाकाव्य तथा पुराण भी हमारी मातृ-भू की वैसी ही विशाल मूर्ति उपस्थित करते हैं । अफगानिस्तान हमारा प्राचीन उप-गण स्थान था । महाभारत का शल्य वहीं का था । वर्तमान काबुल और कन्दहार, गान्धार थे, तथा कौरवों की माता गान्धारी वहीं की थी । ईरान तक मूलतः आर्यभूमि ही है । इसका अन्तिम राजा रजा शाह पहलवी इस्लाम से अधिक आर्य सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाला था । पारसियों का पवित्र ग्रन्थ 'जेन्दा वेस्ता' बहुत कुछ ऋग्वेद है । पूर्व दिशा में ब्रह्मा हमारा ब्रह्म देश है । महाभारत में इरावत का उल्लेख आया है, वर्तमान इरावती घाटी का उस महायुद्ध से सम्बन्ध था महाभारत में आसाम का उल्लेख प्राग्ज्योतिष के नाम से हुआ है, कारण कि सूर्य का प्रथमोदय वहीं होता है । दक्षिण में लंका भी निकटतम सूत्र में आबद्ध है और उसे कभी भी मुख्य भूमि से भिन्न नहीं माना गया ।

यह था चित्र हमारी मातृभूमि का, जिसमें पश्चिम में आर्यान (ईरान) तथा पूर्व में शृंगपुर (सिंगापुर) के दो समुद्रों में अपनी दोनों भुजाओं को हिमालय अवगाहित कर रहा है और साथ ही दक्षिण महासागर द्वारा जिसके पवित्र चरणों पर चढ़ाई गई कमल की पखुड़ी के समान विद्यमान है लंका (सीलोन) । मातृभूमि का यह चित्र सहस्रों वर्ष से सतत हमारे जनमानस में देदीप्यमान है । आज भी हिन्दू प्रतिदिन स्नान करते हुए गंगा, यमुना से

लेकर गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा और सिन्धु से कावेरी तक पवित्र नदियों का आह्वान करता है—

गंगे च यमुने चैव, गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

(हे गंगा-यमुना, गोदावरी, सरस्वती-नर्मदा-सिन्धु तथा कावेरी ! तुम्हारा जल हमारे इस स्नान के जल में सम्मिलित हो।)

यह भी भक्ति का एक पाठ है, क्योंकि इसके द्वारा हमें यह अनुभूति कराई जाती है कि इन पवित्र नदियों के एक बूंद जल में भी हमारे समस्त पापों को धो डालने की शक्ति है।

हमारे जातीय जीवन के एक महानतम व्यक्ति रामचन्द्र जी थे, जिन्होंने इस जाति के चरित्र एवं संस्कृति पर एक अमिट छाप छोड़ी है। उनके महान् गुण यथा—निराकुलता, उदारचित्तता, ज्ञान गाम्भीर्य एवं अनुभूतियों की तुलना, समुद्र की अप्रमेय गहराई तथा शान्तता से की गई है और उनकी अदम्य शक्ति एवं धैर्य की तुलना महान् और अजेय हिमालय से की गई है—

समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवान् इव

—(वे श्रीराम समुद्र की तरह गंभीर हैं और हिमालय की तरह धैर्यवान हैं।)

क्या हमें ज्ञात नहीं कि हमारी मातृभूमि एक ओर हिमालय से और शेष तीन ओर समुद्र से परिवेष्टित है ? इस प्रकार राम के आदर्श व्यक्तित्व में हमारी मातृभूमि को उसकी सम्पूर्णता में दृष्टिगत कराया गया है। अनेक प्रकार से हमारी इस समग्र अखण्ड मातृभूमि को पूजनीय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके खण्डित होने का कोई भी विचार हमारे लिए असह्य है।

इष्ट भूमि

हमारे लिए यह सम्पूर्ण भूमि तपोभूमि है। प्राचीन साहित्य में एक उद्‌बोधक प्रसंग आया है। एक बार एक प्रश्न किया गया कि योग्य फल की प्राप्ति के हेतु तप और यज्ञ करने के लिए कौन-सा देश शुद्ध एवं पवित्र है और चरम सत्य की अनुभूति के लिए आदर्श स्थान कौन-सा है ? उत्तर दिया गया कि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये वही स्थान उपयुक्त है, जहाँ कृष्णसार हिरण मिलते हैं। पशु-विज्ञान का कोई भी विद्यार्थी आपको बता सकता है कि इस विशिष्ट प्रकार का हिरण केवल हमारे ही देश में मिलता है संसार में और कहीं भी नहीं। इससे क्या प्रकट होता है ? हमारे पूर्वजों का विश्वास था कि सम्पूर्ण संसार में यही एक ऐसा पवित्रतम देश है, जहाँ छोटा-सा

सत्कर्म भी सैकड़ों, हजारों गुना अधिक फलदायी होता है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि 'यदि पृथ्वी पर कोई ऐसी भूमि है, जिसे मंगलदायिनी पुण्यभूमि कहा जा सकता है, जहाँ ईश्वर की ओर अग्रसर होने वाली प्रत्येक आत्मा को अपना अन्तिम आश्रयस्थल प्राप्त करने के लिये जाना ही पड़ता है, तो वह भारत है।'

निःसंशय रूप से ईश्वरानुभूति के हेतु निर्धारित यही देश है। यह भावनाओं का उद्रेक मात्र नहीं, वरन् हमारा अटल विश्वास है। कुछ बर्षों पूर्व हमारे वृत्त-पत्रों ने एक जर्मन की गाथा प्रकाशित की थी जो आध्यात्मिक अभिलाषी के रूप में हमारे देश में आया था। उसने संन्यास ग्रहण किया और एक परिव्राजक की भाँति उग्र तपस्या की। किन्तु बहुत काल की तपस्या के पश्चात् भी वह ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सका। आत्मनिरीक्षण के द्वारा उसे विश्वास हुआ कि उसका शरीर जो पश्चिम की तमोगुणी जलबायु में उत्पन्न और पोषित हुआ है, ईश्वरानुभूति के लिए अनुपयुक्त है। अतः वह हरिद्वार गया और अपना शरीर पवित्र गंगा को अर्पण कर दिया। वह एक छोटा-सा पत्र छोड़ गया—"मैं स्वयं अपने शरीर को त्याग रहा हूँ, उस मंगलमय की कृपा से गंगा के पावन जल में अपने शरीर को अर्पित करने से मुझे भारत में पुनर्जन्म का सौभाग्य प्राप्त हो और उस नवीन निर्मल शरीर से मैं ईश्वर का साक्षात् करने योग्य हो जाऊँ"।

यदि हम संसार के अन्य विविध पन्थों और सम्प्रदायों के संस्थापकों के जीवन-चरित्रों का अध्ययन करते हैं तो भी हम अपनी मातृभूमि के इस विशिष्ट स्वरूप के विषय में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। महान् सन्त ईसा के सम्बन्ध में भी ऐसा कहीं कोई उल्लेख नहीं है कि उन्होंने वास्तविक रूप से ईश्वर के दर्शन किये। उन्हें केवल देवदूत ही मिले, तथा एक बार शैतान। जब उन्हें क्रास पर टाँगा गया तब तो उन्हें कुछ काल के लिये ईश्वर की दया के सम्बन्ध में भी सन्देह उत्पन्न हो गया, जिसके कारण उन्हें अतीव वेदना हुई। उनके यह उद्‌गार निकल पड़े 'हे मेरे ईश्वर, तूने मुझे क्यों छोड़ दिया ?'

इस्लाम का संस्थापक भी महान् और शक्तिसम्पन्न व्यक्ति था। वह उन असभ्य लोगों को प्रेरणा दे सका जो भेद, विरोध एवं पक्ष-प्रतिपक्ष की कलह के कारण छिन्न-विच्छिन्न थे। उसने मानव-मूल्यों के बोध के साथ उनमें प्रगति की आकांक्षा को जागरित किया तथा साम्राज्य निर्माण करने की शक्ति का उनमें संघटन किया। किन्तु वह भी केवल जेब्राइल से मिला और कुछ दिव्य ध्वनियों को श्रवण किया, बस। उन्होंने ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किये।

यह वरदान तो केवल इसी भूमि के पुत्रों के लिए है कि वे ईश्वर को उसकी सम्पूर्ण आभा के साथ साक्षात् करें तथा अनुभव करें। एक समय था जब कि अन्य जातियाँ पर्वत, कन्दराओं और वनों के बाहर नहीं निकल पाई थीं तब वैदिक ऋषियों ने मानव को अमृत-पुत्र के नाम से सम्बोधित किया था—

श्रृण्वंतु विश्वे अमृतस्य पुत्राः आइ दिव्या धामनि तत्स्थु।

और धीर-गम्भीर वाणी से उद्घोष किया था—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

(मैं उस महिमावान पुरुष को जानता हूँ जो सूर्य के वर्ण का है और अंधकार से परे है। उसको जानने के बाद जन्म-मृत्यु का बन्धन नहीं रह जाता। मोक्ष की प्राप्ति का अन्य रास्ता नहीं है।)

कितना स्पष्ट और संशय से रहित भाव है इन शब्दों में।

परम आत्म-विश्वास एवं आत्मानुभूति की उपर्युक्त अभिव्यक्तियों के समकक्ष विश्व-वाङ्मय में अन्य कोई अभिव्यक्ति ऐसी नहीं है। फिर आपको उस श्रीकृष्ण के समकक्ष दूसरा विश्व में कहाँ मिलेगा जो मानवता के लिए आत्म-जागरण के अमर संदेश—श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं को उत्तम-पुरुष 'मैं' में ही परमेश्वर घोषित करते हैं।

अविच्छिन्न परम्परा

हमारे देश का यह अनोखा स्वरूप प्राचीन परम्परा तक ही सीमित नहीं है। अधुनातन काल में भी नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) का श्रीरामकृष्ण से ऐतिहासिक मिलन का उदाहरण है। उन्होंने युवावस्था में ही, जब वह कालेज के विद्यार्थी थे, पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दर्शनों में अवगाहन किया था किन्तु उनकी जिज्ञासु आत्मा सन्तुष्ट नहीं हुई। वे अपने समय के अनेकों विद्वानों और पुण्य पुरुषों से मिले। वे भी उनकी आत्मा की पिपासा को शान्त नहीं कर सके। उन्हें ज्ञात हुआ कि दक्षिणेश्वर मन्दिर में एक परमहंस रहते हैं। वे उनके पास गये और जो प्रश्न वर्षों से उनके मस्तिष्क में मंडरा रहा था उसे सीधे शब्दों में उनके समक्ष रख दिया :—

—"महाशय, आपने ईश्वर को देखा है?" एक क्षण के भी संकोच के बिना श्री रामकृष्ण परमहंस ने उत्तर दिया "हाँ, मैं उसे ऐसे ही देखता हूँ जैसे यहाँ तुम्हें देख रहा हूँ, और मैं उसे तुम्हें भी दिखा सकता हूँ।" साथ ही श्री रामकृष्ण ने नरेन्द्र के प्रति अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण भी की।

जैसा कि हमें ज्ञात है, नरेन्द्र एक अति उच्च मेधा एवं प्रचण्ड इच्छाशक्ति सम्पन्न युवक थे। वे इस प्रकार के नहीं थे जिन्हें सम्मोहन द्वारा किन्हीं बातों पर अन्धविश्वास करा लिया जाय। किन्तु उन्हें जब साक्षात् परमात्मा के सम्मुख खड़ा कर दिया गया तो ईश्वर की सत्यता में विश्वास किये बिना वह नहीं रह सके। इस प्रकार की है ईश्वर-भक्तों की हमारी जीवन्त परम्परा, जिसने हमारे देश का नाम ईश्वरानुभूति की भूमि, धर्म-भूमि एवं मोक्ष-भूमि के रूप में सतत उन्नत रखा है।

कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसा देश, जिसकी धूलि का एक-एक कण दिव्यता से ओतप्रोत है, हमारे लिए पावनतम है, हमारी पूर्ण श्रद्धा का केन्द्र है। और यह श्रद्धा की अनुभूति सम्पूर्ण देश के लिये है, उसके किसी एक भाग मात्र के लिये नहीं। शिव का भक्त काशी से रामेश्वरम् जाता है, और विष्णु के विभिन्न आकारों एवं अवतारों का भक्त इस सम्पूर्ण देश की चतुर्दिक यात्रा करता है। यदि वह अद्वैतवादी है तो जगद्गुरु शंकराचार्य के चारों आश्रम, जो प्रहरी के समान देश की चारों सीमाओं पर खड़े हैं, उसे चारों दिशाओं में ले जाते हैं। यदि वह शाक्त है—उस शक्ति का पुजारी जो विश्व की दिव्य माँ है—तो उसकी तीर्थयात्रा के लिये बावन स्थान हैं, जो बलूचिस्तान में हिंगुलाज से आसाम में कामाक्षी पर्यन्त और काश्मीर में ज्वालामुखी से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैले हुये हैं। इसका यही अर्थ है कि यह देश विश्व की जननी का दिव्य एवं व्यक्त स्वरूप है।

दिव्य माता

हमारे लिये इस भूमि से पवित्रतर और कुछ नहीं हो सकता। इस भूमि की धूलि का एक-एक कण, जड़ और चेतन प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक काष्ठ और प्रस्तर, प्रत्येक वृक्ष एवं नदी हमारे लिये पवित्र है। इस भूमि के बच्चे के हृदय में यह प्रगाढ़ भक्ति सदैव जीवित रखने के हेतु ही पूर्व काल में यहाँ इतने विधि-विधानों एवं लोकाचारों की स्थापना हुई थी। नित्य होने वाली विविध धार्मिक क्रियाओं में विशिष्ट स्थान के उल्लेख के साथ भारतवर्ष की समग्र विशालता का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है :

जम्बू द्वीपे भरतवर्षे भरत खण्डे…

हमारे सभी महत्व के धार्मिक संस्कार भूमि-पूजन से आरम्भ होते हैं। यह एक प्रथा है कि प्रातःकाल में जैसे ही हिन्दू निद्रा को त्यागता है, सर्वप्रथम वह पृथ्वी माता से इस बात के लिये क्षमा याचना करता है कि दिन भर वह उसे अपने पैरों से स्पर्श करने के लिये विवश है।

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ।।

(देवि ! समुद्र तुम्हारा परिधान है । पर्वत स्तन मण्डल हैं, जिनका वात्सल्य रस नदियों में प्रवाहित हो रहा है । हे विष्णु पत्नी ! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूं । मेरे पैरों के स्पर्श होने की धृष्टता क्षमा करना ।)

यह एक साधारण कार्य है किन्तु इसके द्वारा प्रत्येक प्रातःकाल हमारे मस्तिष्क में इस माता की भक्ति का विचार आता है, जो दिव्य माँ आदिशक्ति की अति उदात्त भक्ति का ही भाव है। यह प्रशिक्षण इतनी गहराई तक पहुंच गया है कि सामान्य दैनिक कार्यों में भी हमें इस अनुभूति की झलक मिल जाती है। जब कोई बच्चा खेल-खेल में भूमि को रौंदता है तो माता कहती है 'पुत्र, धरती माता को ठोकर मत मारो।' अथवा यदि स्वभावानुसार वह पृथ्वी को नाखून से कुरेदता है तो वह कहती है :—'प्यारे बच्चे, यह मत करो। पृथ्वी माँ को कष्ट होगा।' एक साधारण किसान भी जब खेत में हल जोतता है तो पहले क्षमा याचना कर लेता है। ऐसी है हमारी जीवन्त-परम्परा।

हमारा देश हमारे लिए कभी निर्जीव अचेतन पदार्थ नहीं रहा, वरन् सदैव समान भाव से अपने बच्चों के लिये सजीव दिव्य माँ के रूप में रहा है, चाहे वे बच्चे निम्नतम वर्ग के हों अथवा उच्चतम वर्ग के।

स्वामी विवेकानन्द जी जब इँगलैण्ड से भारत के लिये चलने लगे तो उनसे पूछा गया कि इँगलैण्ड और अमेरिका के समान समृद्ध देशों की यात्रा करने के पश्चात् अब अपनी मातृभूमि के सम्बन्ध में उनके क्या विचार हैं! उन्होंने कहा "भारत से मैं पहले प्यार करता था, किन्तु अब तो उसकी धूलि का एक एक कण मेरे लिये अत्यन्त पवित्र है, मेरे लिये वह तीर्थस्थान हो गया है।"

और उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस ने तो एक व्यक्ति की भर्त्सना एक बार इसलिये कठोरतापूर्वक की थी कि वह शौच के पश्चात् प्रक्षालनार्थ गंगा जी में जा रहा था। उन्होंने कहा था—'दिव्य जल को अपने मल से अपवित्र करना तुम्हारे लिये कितना अनुचित है। गंगा वारि ब्रह्म वारि है।'

इस प्रकार की रही है हमारी भूमि के दिव्य मातृत्व की सजीव अनुभूति, जो उसके महान् पुत्रों के स्वभाव का एक अंग बन गई है, और हमारे समाज के प्रत्येक वर्ग में परिव्याप्त है।

वास्तव में वह सदैव हमारे राष्ट्र-जीवन की मध्यवर्ती कल्पना रही है। उसने अपनी मिट्टी, हवा, जल तथा अन्यान्य विविध पदार्थों से, जो सुख और पोषण के लिये है, माँ जैसा हमारा पोषण किया है। उत्तर में अलंघ्य हिमालय

के रूप में उसने पिता के समान हमें संरक्षित किया है। और, देश के विभिन्न हिस्सों में फैली अरावली, विन्ध्य, सह्याद्रि आदि गिरिशृंखलाओं ने भूतकाल में स्वतन्त्रता के शूर-सेनानियों को रहने के लिए जगह और बचने के लिए व्यवस्था दी है। तथा धर्म-भूमि एवं मोक्ष-भूमि के रूप में उसने हमारे आध्यात्मिक गुरु का स्थान लिया है।

अस्तु, हमारी मातृ-भूमि ने, एक ही रूप में माता, पिता एवं गुरु तीनों का कर्तव्य हमारे प्रति पूर्ण किया है।

* *

७ हमारी मातृ-भूमि

२. वीर-व्रती निष्ठा की आवश्यकता

केवल बुद्धि अपर्याप्त

हमारे देश में कुछ अति श्रेष्ठ ख्यातिप्राप्त महानुभाव हैं जो बनावटी सर्वज्ञता के साथ कहा करते हैं कि यह तथाकथित मातृभूमि पत्थर और मिट्टी के अतिरिक्त और है ही क्या ? ऐसे व्यक्ति अनुभव करते हैं कि बुद्धि ही सब कुछ है। उनके बौद्धिक तर्क के अनुसार अन्ततः यह देश एक अचेतन, फैला हुआ जड़ भूखण्ड मात्र है। किन्तु बौद्धिक तर्क की भी अपनी सीमायें होती हैं। उदाहरण के लिये मनुष्य-शरीर भी भौतिक ही तो है। अपनी माता का शरीर भी उतना ही भौतिक है, जितना अन्य किसी स्त्री का। तब किसी व्यक्ति को क्यों अपनी माँ को अन्य स्त्रियों से भिन्न समझना चाहिये ? उसके लिये भक्ति क्यों होना चाहिए ? बुद्धिवादी के पास इसका कोई उत्तर नहीं।

एक अन्य उदाहरण लीजिये। मनुष्य शरीर को अपने पोषण के लिये माड़ (स्टार्च), प्रत्थामिन (प्रोटीन), चिकनाई और जल की आवश्यकता होती है और यह खाद्य तत्व मनुष्य के मांस में आवश्यक मात्रा में प्राप्त होते हैं। अन्ततः जीवशास्त्र के अनुसार मनुष्य भी मांस, रक्त और अस्थियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः अपने पड़ोसी को क्यों न खाया जाय ? यदि कोई व्यक्ति यह कहता है तो उसको कोई तर्क-शास्त्री भले कह ले परन्तु उसे सभ्य तो निश्चय ही नहीं कहा जायेगा, चाहे वह कितना ही विद्वान् हो। इस प्रकार की बुद्धिमत्ता नर-मांस भक्षण की ओर ही ले जायेगी। रावण एक विद्वान् था, किन्तु था तो बर्बर ही। अतः केवल बुद्धि ही पर्याप्त नहीं होती। मनुष्य में

यह भी योग्यता होनी चाहिये कि वह हृदय की उदात्ततर भावनाओं की भी अनुभूति कर सके।

मातृ-भावना का विकास

पत्थर और मिट्टी में मातृ-भावना का विकास किस प्रकार हुआ ? हम जानते हैं कि विभिन्न प्रकार की सजीव सृष्टि में जैसे-जैसे विकास और उन्नतावस्था आती जाती है, वैसे-वैसे उन वस्तुओं में जो उनका पोषण करती हैं वे मातृत्व की भावना का आह्वान करना आरम्भ कर देते हैं, चाहे वे वस्तुयें चेतन हों अथवा जड़। उदाहरण के लिये मेंढक या सर्प को ले लीजिये, उन्हें माँ का कोई विचार नहीं होता। वे यह भी नहीं जानते कि उनकी संतति के साथ क्या घटित होता है। उनमें संतान और माता एक दूसरे को इस सम्बन्ध के आधार पर नहीं देखते। क्रमानुसार ज्यों-ज्यों जीवन विकसित होता है, हम स्तनपायी प्राणियों तक आते हैं, जहाँ माता अपने बच्चों को बचपन में दूध पिलाकर पालती है। चिड़िया अपने अण्डों को सेती है तथा जब तक उनके बच्चे उड़ने नहीं लगते, उनकी देख-रेख करती है। जब माँ की उपयोगिता का अधिक अनुभव नहीं होता तब वे बच्चे अपनी माँ को भूल जाते हैं और एक दूसरे से नितान्त अनजाने से हो जाते हैं। ऐसा समझा जाता है कि इस विकासक्रम में मनुष्य चरम अवस्था पर है। यदि वह सुसंस्कृत है तो माता के प्रति उसका प्रेम एवं सम्मान सतत बना रहता है, चाहे वह उसके लिये अनुपयोगी ही क्यों न हो जाये। वास्तव में तो उसके अति वृद्ध, अन्धी तथा शारीरिक दृष्टि से नितान्त अनुपयोगी हो जाने पर वह उसकी और अधिक सेवा-सम्मान करेगा।

ज्यों-ज्यों मनुष्य-जीवन विकसित होता जाता है, यह मातृ-भावना भी अधिकाधिक व्यापक एवं उदात्त स्वरूप धारण करती जाती है। जब मनुष्य विवेचक बुद्धि से अपने चारों ओर देखता है तो उसे कितनी ही अन्य चीजें दिखाई देती हैं, जिनका ऋण उस पर है। वह उन्हें भी माँ के रूप में देखना आरम्भ कर देता है। वह नदियों को देखता है जो उसे जल तथा भोजन देती हैं। वह उन्हें माँ कहकर पुकारने लगता है। जब वह अपनी माता के दुग्ध पर निर्भरता की अवस्था से बाहर हो जाता है तब गौ की ओर देखता है जो जीवन भर अपने दूध से उसका पोषण करती है। वह उसे गौ-माता कहने लगता है। और तब वह ज्ञान की उस अवस्था तक पहुँच जाता है, जब वह देखता है कि यह पृथ्वी माता है जो उसका पोषण और संरक्षण करती है और अन्त समय भी मृत्यु के पश्चात् उसे अपने हृदय में स्थान देती है। उसे यह ज्ञान हो

जाता है कि यह उसकी सबसे श्रेष्ठ माता है। इस प्रकार अपनी जन्मभूमि को माता के रूप में देखना विकास की एक अति उच्च अवस्था का लक्षण है। वेदों ने घोषणा की है :—

> माता भूमिः पुत्रोऽहम पृथिव्याः।

सक्रिय भक्ति चाहिये

अतएव यह हमारा कर्तव्य हो जाता है कि अपने देश के प्रति अति उच्च विकसित दिव्य मातृभावना को जागृत बनाये रखें। अब हम विचार करें कि हमें उसके प्रति अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति किस प्रकार करनी है? इसके दो मार्ग हैं। एक तो औपचारिक है, जिसमें पुष्प, आरती एवं स्तुति प्रार्थना आदि से पूजन होता है। लोग धार्मिक भक्तिभावना से ऐसा आज भी करते हैं। वे सम्पूर्ण देश में तीर्थयात्रा करने जाते हैं, धार्मिक विधि-विधानों का अनुसरण करते हैं, स्तुति, अर्चना करते हैं, फूल चढ़ाते हैं तथा विभिन्न पवित्र नदियों में स्नान करते हैं। किन्तु वे यह सब कुछ व्यक्तिगत धार्मिक पुण्य प्राप्त करने के उद्देश्य से ही करते हैं। यह एक प्रकार से भक्ति का निष्क्रिय स्वरूप है।

भक्ति का सक्रिय स्वरूप है व्यावहारिक राष्ट्रजीवन में इस मातृभूमि के प्रत्येक कण के स्वातन्त्र्य और सम्मान की रक्षा के लिये अपना सर्वस्व अर्पण करने की भावना की अभिव्यक्ति। इस ठोस वास्तविक संसार में इस सक्रिय अभिव्यक्ति का महत्व है। इस प्रकार की भक्ति से देदीप्यमान हृदय अपने भक्तिभाजन मातृदेश के प्रति छोटी से छोटी अवज्ञा भी सहन नहीं कर सकता। वह भीम रूप धारण करता है और तब तक चैन नहीं लेता जब तक उस अपमान के लिये उत्तरदायी आक्रामक तत्त्वों का ऐसा उच्छेद नहीं कर देता कि वे पुनः दूसरी बार इस प्रकार का पाप न कर सकें। भूतकाल में किये हुये सभी अपमानों एवं अवमाननाओं को मिटाने के लिये एक दैवी असन्तोष की अग्नि उसके हृदय में सतत जलती रहती है।

इस सक्रिय विजयिष्णु भावना के अभाव में किसी श्रेष्ठ कार्य के लिये किया जाने वाला समर्पण भी कोई विशेष उपयोग का नहीं होगा। इस कठोर समरांगण में जहाँ नित्यप्रति दुष्ट शक्तियों से सामना होता रहता है, भोली सज्जनता और निरीह सच्चरित्रता को जिसे सत्वभाव का निष्क्रिय रूप कहना चाहिए, एक क्षण भी संघर्ष में टिक पाना कठिन है। इसलिये हम देखते हैं कि सम्पूर्ण धार्मिक निष्ठा, भलाई और ईश्वर-भक्ति होते हये भी पिछले सहस्र

वर्षों से हम उन विदेशी आक्रान्ताओं के पैरों तले कुचले जा रहे हैं जो भलाई तथा उत्तम गुणों से नितान्त अपरिचित हैं; परन्तु जिनमें पराक्रमी कार्यों के लिये जोश तथा संगठित प्रयत्न हैं अर्थात् जो रजोगुण से पूर्ण हैं। हमारा इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जब भी हमारे समाज में विजयिष्णु भावना का समावेश हुआ और वह सतोगुण के सक्रिय स्वरूप से निविष्ट हुआ तो राक्षसी शत्रुओं के सभी साम्राज्य चकनाचूर होते दिखाई दिये।

हमारे पुराणों की भी यही शिक्षा है, जिनमें देव और असुरों के युद्धों की कहानियाँ वर्णित हैं। वहाँ प्रायः देखने के लिये मिलता है कि देवता अपनी दैवी शक्तियों के होते हुए भी संगठित तथा आक्रामक राक्षसों द्वारा परास्त होते हैं। और वे तभी राक्षसों पर विजय प्राप्त कर पाते हैं जब वे वीरतापूर्ण सक्रियता से अपने जीवन को परिपूर्ण बनाते हैं। निश्चय ही, स्फूर्ति, क्रियाशीलता एवं पराक्रम ही संसार पर शासन करता है। "वीर भोग्या वसुन्धरा"—इस कथन में संसार के सफल जीवन का सम्पूर्ण तत्वज्ञान निहित है।

क्या हम जीवित हैं ?

क्या आज हमारे हृदयों में अपनी मातृ-भूमि की भक्ति का यह पराक्रमी एवं ओजस्वी भाव जीवित है ? यदि यह भाव हमारे नेताओं और सामान्य जनता में होता तो क्या देश का विभाजन घटित हो सकता था ? क्या वे अंग्रेज तथा मुसलमानों के सभी षड्यन्त्रों के विरोध में पराक्रम के साथ सभी समझौतों को ठुकराते हुये एक पुरुष के समान न खड़े हो जाते ? और क्या अपनी मातृभूमि की पवित्र अखंडता की सुरक्षा हेतु अपने रक्त का एक-एक बूँद देने के लिये उद्यत न हो जाते ? खेद है कि यह घटित नहीं हुआ। उलटे नेताओं की प्रेरणा से जनता तथाकथित स्वतन्त्रता के आगमन पर उत्सव मनाने में व्यस्त हो गई।

कुछ ऐसे भी महानुभाव हैं जो कहते हैं कि "बीती ताहि बिसारि दे। अब पुराने निर्जीव विवादास्पद प्रश्नों को उठाने से क्या लाभ ? अन्ततोगत्वा विभाजन तो अब एक निर्णीत सत्य है ही।" किन्तु यह कैसे सम्भव हो सकता है ? क्या कोई पुत्र, जब उसकी विकलांगी माता उसकी ओर प्रति दिन दैन्य पूर्ण दृष्टि से ताक रही हो, इसे भूलकर शान्त होकर बैठ सकता है ? भूल सकता है ? भला भूलना कैसे सम्भव है ? सच्चा पुत्र तो कभी भी नहीं भूल सकता और तब तक शान्त भी नहीं बैठ सकता जब तक उसकी माँ की अखण्ड प्रतिमा पुनः स्थापित न हो जाये। यदि विभाजन निर्णीत सत्य है, तो हम उसे अनिर्णीत करने के लिये उपस्थित हैं। इस संसार में, वास्तव में, कोई भी वस्तु निर्णीत सत्य नहीं होती।

वस्तुयें मनुष्य की इच्छानुसार निर्णीत या अनिर्णीत हुआ करती हैं। और मनुष्य की इच्छा अपने उस कार्य के प्रति समर्पण के साथ, जिसे उसने पवित्र और श्रेष्ठ माना है, फौलाद जैसी दृढ़ बन जाती है।

कुछ अन्य लोग भी हैं जो विभाजन को यह कहकर न्याय्य सिद्ध करते हैं कि आखिर हिन्दू और मुसलमान 'भाई' ही तो हैं। विभाजन उनकी सम्पत्ति का आपसी बँटवारा मात्र है। किन्तु क्या हमने ऐसे बच्चे कहीं सुने हैं, जिन्होंने अपनी माता को संयुक्त सम्पत्ति कहकर काट डाला हो? यह कितना घोर पतन है कि मातृभूमि एक सौदे की वस्तु मात्र बन गई है, आनन्द-भोग के लिये एक स्थल मात्र किंवा केवल एक होटल के समान भोग-भूमि। उसमें धर्म-भूमि, कर्मभूमि और पुण्यभूमि का कोई भाव नहीं रहा है। इस जघन्य वृत्ति के कारण ही हमने माता के अंग काटकर फेंक दिये और अपने लाखों भाइयो के रक्तप्रवाह के रूप में उसका मूल्य चुकाया। आज भी विभाजन की दुखद बात का अंत नहीं हो रहा है। काश्मीर का विभाजन हो गया और अब यह प्रतीत होता है कि नागालैण्ड भी उसी रास्ते पर है।

'घास का तिनका नहीं उगता'–भाव के परिणाम

हमारे देश में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो मातृभूमि पर आक्रमण होने या आक्रमण का संकट उपस्थित होने मात्र पर उपेक्षापूर्वक कह देते हैं कि—"अच्छा, इसे दे डालो।" यदि चीनी लद्दाख के कुछ भाग पर अधिकार कर लेते हैं तो वे कहते हैं—"इसे जाने दो, वहाँ तो घास का तिनका भी नहीं उगता।" कुछ दिनों पूर्व नेफा के सम्बन्ध में एक सूक्ष्म स्वरूप का प्रचार हुआ था, जिसमें यह ध्वनित किया गया था कि वह तो एक परित्यक्त स्थान है जो मनुष्य के निवास के अयोग्य है तथा जिसमें विषधर सर्प तथा जोंकें भरी हुई हैं जो हमारी सेना के अधिकारियों के कण्ठ में घुसकर उनका रक्त चूस लेंगी। हमारे वृत्तपत्रों ने भी, जिनका यह उत्तरदायित्व होता है कि समाज को शिक्षित कर प्रखर देशभक्ति की भावना लोगों के मस्तिष्क में जागृत करें, इस असत्य का प्रचार किया। जिसका परिणाम जनता के मस्तिष्क में अपने ही एक भूभाग के लिये घृणा उत्पन्न करने में ही हो सकता है। वही कहानी कच्छ के रन के विषय में भी दुहराई गई। उस क्षेत्र के महत्वपूर्ण स्थानों पर पाकिस्तान के आक्रमण एवं अधिकार के क्षुब्ध करने वाले वृत्त के साथ ही हमारे पत्रों में उस क्षेत्र के तुच्छता-सूचक वर्णन प्रकाशित होना आरम्भ हो गये। केन्द्रीय सरकार की ओर से भी कुछ

छोटी-छोटी पुस्तिकायें प्रकाशित हुई, जिनमें इसे मरुस्थल लिखा गया और कहा गया कि वहाँ घास का तिनका भी नहीं उगता, वर्ष में अधिक समय यह समुद्र से डूबा रहता है तथा मक्खियों से इतना अधिक आक्रांत है कि एक प्याला जल भी बिना मक्खी को निगले कोई पी नहीं सकता।

शत्रुओं के आक्रमण के समय नेफा तथा कच्छ के रन के इन वर्णनों में निकट साम्य किसी के भी मन में संदेह निर्माण कर सकता है कि यह सम्भवतः इस प्रकार का वातावरण निर्माण करने का प्रयास है, जिससे कि जनता में रोष पैदा न होते हुए शत्रु को इन स्थानों को हजम करने दिया जा सके। यह भी सम्भव है कि जनता में इस प्रकार के समाचारों का प्रसार अदूरदृष्टि के कारण हो गया हो, यह तो उससे भी बुरा है। क्योंकि जब कोई व्यक्ति विचारपूर्वक ऐसा करता है तो हम इतना ही कह सकते हैं कि वह सही नहीं है; किन्तु यदि कोई स्वभावतः ऐसा करता है तो उसका अर्थ यही है कि उसके हृदय में मातृभूमि के प्रति स्नेह का सर्वथा अभाव है। यह अवस्था बहुत संकटापन्न होती है।

हमारे अपने नेता चीन के खुले आक्रमण और उसके द्वारा हमारी हजारों वर्गमील भूमि पर अनधिकार कब्जा कर लेने के कृत्य को मात्र सीमा-विवाद या सीमा-संघर्ष के नाम से पुकारना पसंद करते हैं। हमारे नेताओं का कहना है कि इन हिमाच्छादित भू-प्रदेशों में सीमा-रेखा का कुछ मील अपनी ओर अथवा कुछ मील उनकी ओर खिच जाना कोई चिन्ता की बात नहीं है। उनके ऐसे कथन का सदैव ही अर्थ निकला है—हजारों मील हमारी ओर किन्तु एक मील भी उनकी ओर नहीं। हमने प्रायः उन्हें यह कहते हुए सुना है कि वे सीमाएँ अनिश्चित और विवादास्पद हैं। एक समय जब कि चीन द्वारा अधिकृत भू-भाग का उल्लेख पण्डित नेहरू कर रहे थे, उन्होंने इसे "हमारी मानी जाने वाली भूमि" तक कहा था।

दृष्टिकोण ज्वलन्त बनाये रखो

खेद का विषय है, कि हमें अपनी मातृभूमि की ओर देखने का वह चैतन्यमय और परिपूर्ण दृष्टिकोण कहीं नहीं मिलता, जो हमारे समाज के अध्यवसाय के लिये प्रेरक बनकर उसकी अखंडता की रक्षा हेतु बलिदान की प्रेरणा दे सके। हमारे समाज पर आज समझौते की भावना ने अधिकार कर रखा है। जो भी हमारी मातृभूमि पर कुठाराघात करे उसे कुछ भू-खण्ड देकर शान्ति मोल ले ली जावे, ऐसी वृत्ति बन गई है। हमारे जो भू-भाग शत्रु के अधिकार में हैं,

उनकी स्मृति भी समाप्त होती जा रही है। हम में से कितने लोग इस बात से स्वयं को एवं देश को अपमानित अनुभव करते हैं कि हमारे लिये पवित्र कैलास और मानसरोवर पर्यन्त प्रवेश वर्जित है, हमें उस पवित्र सिन्धु में स्नान का कोई अवसर नहीं जिसने हमें हिन्दू और हमारे देश को हिन्दुस्थान नाम दिया है। हिन्दू विचारधारा को विकीर्ण करने वाला विश्वकेन्द्र, तक्षशिला अब हमारा नहीं है। मूल स्थान (मुल्तान) जिसने दैत्य हिरण्यकशिपु से प्रह्लाद की रक्षा करने वाले भीषण नरसिंह अवतार के दर्शन किये थे, पुन: एक बार दानवी प्रभाव से कुचला जा रहा है। क्या ये सब स्मृतियाँ हमारी धमनियों में ज्वाला बनकर धधक रही हैं ?

इस सम्बन्ध में विशेष रूप से हमें स्वयं को तथा आने वाली पीढ़ियों को बचाना है अन्यथा बाह्य परिस्थितियों का भारी दबाव हमारी कल्पना को मलिन कर देगा और हमारी आत्मा को कुचल देगा। बार-बार यह कहकर कि हमारी वर्तमान राजनैतिक सीमाएँ हमारी मातृभूमि का पूर्ण स्वरूप उपस्थित करती हैं, हम अपनी अन्तरात्मा को जड़ बना लेंगे। यह स्थिति हमारे पौरुष और बुद्धि के लिये कितनी अपमानास्पद है। कभी-कभी राजनीतिक समाघातों एवं युद्ध की दैवाधीन विचित्र गति से राजनीतिक सीमाओं में परिवर्तन हो जाते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जो खण्ड राजनीतिक दृष्टि से हमने खो दिए हैं वे हमारी मातृभूमि के भाग ही नहीं हैं।

अभी हाल ही तक क्या हमारा सम्पूर्ण देश अँगरेजों के विदेशी शासन में नहीं था ? और उसके पूर्व क्या अपने देश का एक भाग मुसलमानों के अधिकार में नहीं था ? तब क्या हमें यह कहना चाहिए कि उन कालखण्डों में यह सम्पूर्ण देश हमारा नहीं था ? इसके विपरीत क्या हमने अपनी मातृभूमि के उन भागों को विदेशियों से मुक्त कराने के लिए संघर्ष और बलिदान नहीं किये ? और क्या हमारी भूमि का प्रत्येक कण हमारे अगणित वीरों एवं हुतात्माओं के पवित्र रक्त से सुरक्षित और पावन नहीं है ? यदि हम आज कहते हैं कि चीनी और मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा जो भू-भाग ले लिया गया है वह हमारा नहीं और उसके अधिकृत स्वामी वही हैं, तो इसके यही अर्थ हैं कि हमारे नेताओं में संघर्ष की इच्छा समाप्त हो गई है और हमने अपने पौरुष को इस सीमा तक तिलांजलि दे दी है कि अपनी पराजयों एवं अवमाननाओं में भी हम गौरव का अनुभव करने लगे हैं।

हमें अन्य सब बातों से अधिक अपनी इस राष्ट्रीय आकांक्षा के मृतप्राय होने से सावधान रहना है। यदि हममें अपने देश की स्वतन्त्रता एवं अखंडता

के हेतु युद्ध करने, कष्ट सहने तथा बलिदान करने की इच्छा शून्य हो गई तो वह हमारे राष्ट्र की स्वतन्त्रता तथा सम्मान के लिए मृत्यु का कारण बनेगी।

संसार में स्वतन्त्र, सम्पन्न एवं गौरवशाली राष्ट्र की सत्ता का जीवनप्राण तो मातृभूमि की ऐसी भक्ति है जो तीव्र, क्रियाशील, दृढ़निष्ठ तथा ज्वलन्त हो। हम हिन्दुओं को तो मातृभूमि की अति दिव्य भक्ति उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है। भक्ति के वे अंगारे जो प्रत्येक हिन्दू के हृदय में सुप्त पड़े हुए हैं, उन्हें प्रज्ज्वलित करो ताकि वे मिलकर और पवित्र ज्वालाओं में परिणत होकर हमारी मातृभूमि पर भूतकाल में हुए समस्त अतिक्रमणों को भस्म करें एवं भारत माता के अतीत की अखण्डित प्रतिमा की पुनः स्थापना का स्वप्न साकार करें।

* *

८ मातृ-भूमि के पुत्र

हिन्दू क्यों ?

अनादि काल से, एक महान् एवं सुसंस्कृत समाज, जिसे हिन्दू कहते हैं, यहाँ इस भूमि के पुत्र के रूप में निवास कर रहा है। किन्तु कुछ लोग हैं जो हिन्दू नाम पर आपत्ति करते हैं और कहते हैं कि तुलनात्मक दृष्टि से इसका मूल तो साम्प्रतिक है तथा यह नाम हमें विदेशियों द्वारा दिया गया है। वे हिन्दू के स्थान पर 'आर्य' अथवा 'भारतीय' नाम का सुझाव देते हैं।

निःसन्देह आर्य एक स्वाभिमानपूर्ण प्राचीन नाम है। किन्तु इसका प्रयोग विशेषतया गत सहस्र वर्षों से अप्रचलित हो गया है। गत शताब्दी में ऐतिहासिक शोध के नाम पर अंग्रेजों द्वारा किये हुये अप-प्रचार ने हमारे मस्तिष्क में धूर्ततापूर्वक बनाये गये आर्य-द्रविड़ विवाद की विषैली जड़ें गहराई तक पैठा दी हैं। अतः आर्य नाम का प्रयोग हमारे उद्देश्य की सिद्धि में स्वतः निष्फलता का कारण बनेगा। क्योंकि हमारा उद्देश्य तो अपने उस सम्पूर्ण समाज का साक्षात् करना है, जो अतीत और वर्तमान की समस्त संज्ञाओं से निरपेक्ष हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला हुआ है।

'भारतीय' भी प्राचीन नाम है, जो अति प्राचीनकाल से हमसे सम्बन्धित है। भारत नाम वेदों तक में मिलता है। हमारे पुराणों ने भी हमारी मातृभूमि को 'भारत' कहा है और यहाँ के निवासियों को 'भारती'। वास्तव में 'भारती' सम्बोधन हिन्दू का पर्यायवाची है, किन्तु आज भारतीय शब्द के सम्बन्ध में भी भ्रान्त धारणा उत्पन्न हो गई है। सामान्यतया यह 'इंडियन'

शब्द के अनुवाद के रूप में प्रयुक्त होने लगा है, जिसमें इस देश में रहने वाल मुसलमान, ईसाई तथा पारसी आदि सभी जातियों का समावेश होता है। इस प्रकार भारतीय शब्द भी जब हम उसका प्रयोग एक विशिष्ट समाज को लक्ष्य कर करना चाहते हैं तो हमें भ्रमित कर सकता है। केवल हिन्दू शब्द ही उस भाव को पूर्ण एवं शुद्ध रीति से व्यक्त करता है, जिसे हम व्यक्त करना चाहते हैं।

यह कहना भी ऐतिहासिक दृष्टि से शुद्ध नहीं है कि 'हिन्दू' नाम नूतन है अथवा विदेशियों द्वारा हमें दिया गया है। विश्व के प्राचीनतम अभिलेख 'ऋग्वेद' में हमें 'सप्त सिन्धु' नाम मिलता है जो हमारे देश एवं हमारे जन के लिये उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है। और यह भी भली प्रकार से ज्ञात है कि संस्कृत का 'स' वर्ण कभी-कभी हमारी कुछ प्राकृत भाषाओं में तथा कुछ योरोपीय भाषाओं में भी 'ह' में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार प्रथम 'हप्त हिन्दु' तत्पश्चात् 'हिन्दू' नाम प्रचलित हो गया। इसलिये 'हिन्दू' हमारा अपना और गौरवशाली नाम है, जिसके द्वारा बाद में अन्य लोग भी हमें पुकारने लगे।

हमारे इतिहास के विगत सहस्र वर्षों के महत्वपूर्ण काल में 'हिन्दू' शब्द हमसे विशेष रूप से सम्बद्ध हो गया है। पृथ्वीराज के समय से लेकर हमारे सभी महान् राष्ट्र-निर्माता, राजनीति के पण्डित, कवि तथा इतिहासकार हमारे जन एवं धर्म को व्यक्त करने के लिये 'हिन्दू' नाम का ही प्रयोग करते रहे हैं। गुरु गोविन्दसिंह, विद्यारण्य तथा शिवाजी के समान हमारे पराक्रमी स्वातन्त्र्य सेनानियों का यही स्वप्न रहा है कि 'हिन्दू स्वराज्य' की स्थापना करें। हिन्दू शब्द उन महान् आत्माओं की अभिनव स्मृतियों, उनके कार्यों एवं उनकी महत्वाकांक्षाओं को व्यक्त करता है और इस प्रकार वह एक ऐसा शब्द बन जाता है जो तुरन्त ही हमारे समाज की एकता, उदात्तता एवं विशिष्टता को प्रगट करता है।

विकास के लक्षण

अब हम अपने हिन्दू-जीवन पर एक दृष्टिपात करें। जब लोग, विशेष रूप से बाहरी लोग, हमारे विश्वासों, सम्प्रदायों, जातियों, भाषाओं, रीति-रिवाजों एवं स्वभावगत विविधताओं के बाहुल्य को देखते हैं तो वे भ्रम में पड़ जाते हैं और कह उठते हैं कि "इन सब भाँति-भाँति के तत्वों तथा असंगत स्वरों से युक्त समूह को एक समाज किस प्रकार कहा जा सकता है ? कहाँ है एक जीवन-पद्धति जिसे तुम 'हिन्दू' कहते हो ?"

यह प्रश्न हिन्दू-जीवन के बाह्य दृश्य स्वरूप से उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ एक वृक्ष को लीजिये, जिसमें शाखायें, पत्तियाँ, फूल और फल के समान भिन्न-भिन्न प्रकार के उसके कई भाग होते हैं। तने में शाखाओं से अन्तर होता है और शाखाओं में पत्तियों से—सभी कुछ एक दूसरे से नितान्त विभिन्न। किन्तु हम जानते हैं कि ये सब दिखनेवाली विविधतायें केवल मात्र उस वृक्ष की भाँति-भाँति की अभिव्यक्तियाँ हैं, जब कि उसके सभी अंगों को पोषित करता हुआ उसमें एक ही रस प्रवाहित हो रहा है। यही बात हमारे सामाजिक जीवन की विविधताओं के सम्बन्ध में भी है जो इन सहस्रों वर्षों में विकसित हुई हैं। जिस प्रकार वृक्ष में फूल और पत्तियों का विकसन उसका विभेद नहीं, उसी प्रकार हिन्दू समाज की विविधताएँ भी आपसी विघटन नहीं हैं। इस प्रकार का नैसर्गिक विकास हमारे समाज-जीवन का अद्वितीय स्वरूप है।

वास्तव में, प्रकृति की योजना में, जीवन के विकास के इसी प्रतिमान का अनुसरण किया गया है। प्राणी अपनी आदिम अवस्था में आकारहीन दशा में रहता है, जिसे 'अमीबा' कहा जाता है। यह एक 'सेल' का एक कोशीय सावयव शरीर होता है, जो अपने में पूर्ण होता है। यह दो समान रूपों में विभक्त किया जा सकता है। जीव पदार्थ की यह प्राथमिक अवस्था होती है जो विकास के निम्नतम सोपान पर स्थित होती है। जैसे-जैसे विकास में प्रगति होती है, भाँति-भाँति के जीवों की जातियाँ बनने लगती हैं, बढ़ती हुई क्रियाओं को पूर्ण करने के लिये, उनके विविध अंग होते हैं। अन्त में मनुष्य शरीर बनता है, जो अनेक अंगों से संघटित एक अत्यन्त संश्लिष्ट यन्त्र है। जिसका प्रत्येक अंग अपनी विशिष्ट क्रिया से युक्त है, किन्तु फिर भी वे सभी एक सामान्य जीवनधारा के द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। पृथ्वी पर जीव का उच्चतम विकसित आकार यही है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विभिन्न अंग अथवा विविधतायें अपरिपक्वता अथवा विभेद के लक्षण नहीं हैं वरन् अति विकसित अवस्था के कारण हैं। सभी अंग, यद्यपि प्रत्यक्षरूपेण विविध आकारों के होते हैं, किन्तु सभी शरीर के कल्याण के हेतु कार्य करते हैं और इस प्रकार उसकी वृद्धि तथा शक्ति में योगदान करते हैं।

अनुपम चित्र

समाज के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की बात होती है। एक विकसित समाज, विविध कर्तव्यों के समुचित व्यापार के लिये, अनेक विभिन्न कार्यकारी वर्गों में बँट जाता है। हमारी प्राचीन समाज-व्यवस्था ने प्रत्येक वर्ग के लिये

विशिष्ट कर्तव्य निर्दिष्ट किया तथा प्रत्येक व्यक्ति एवं वर्ग का उसकी नैसर्गिक विकास की दिशा में उसी प्रकार मार्गदर्शन किया जैसे बुद्धि शरीर के प्रत्येक अंग की क्रियाओं का निर्देश करती है। समष्टि अर्थात् विराट् पुरुष के प्रति श्रेष्ठतम सेवा अर्पण करने की पद्धति में व्यक्ति के विकास के लिये पूर्ण अवसर सुरक्षित था। इस प्रकार की यह अत्यन्त संश्लिष्ट एवं संघटित समाज-रचना है, जिसे हमने व्यावहारिक आदर्श के रूप में अपने समक्ष रखा था और जीवन में ही उसे उपलब्ध करने का उद्योग किया था। दूर से देखने पर यह अवस्था सम्भ्रमकारी असाम्य की अवस्था प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में यह है समाज की अत्युच्च विकसित अवस्था जिसका अस्तित्व सम्पूर्ण संसार में शायद ही अन्यत्र कहीं रहा हो।

किन्तु आज का मस्तिष्क विदेशी वादों और उनकी समानता की बड़ी-बड़ी घोषणाओं के आडम्बर के माध्यम से ही देखने का आदी बनकर, इस अनुपम तथ्य को पहिचानने में असमर्थ-सा हो चुका है और इसीलिए चिल्लाहट मची है कि हमारे जीवन की विविधताएँ ही हमारे फूट के कारण हैं, इन्हें नष्ट करना चाहिए और एक वर्गहीन समाज की रचना करना चाहिए। किन्तु क्या शरीर के अंग असमान दिखते हैं और अपना अलग-अलग विशिष्ट कार्य करते हैं, इसी कारण हम उन्हें अलग वर्ग के नाम से पुकारें तथा उन्हें दूर कर शरीर को वर्गविहीन वस्तु बना डालें? और यदि यह किया जाये तो इसे विकास कहेंगे अथवा हत्या?

"अनेकता में एकता" का हमारा वैशिष्ट्य हमारे सामाजिक जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में व्यक्त हुआ है। यह उस एक दिव्य दीपक के समान है जो चारों ओर विविध रंगों के शीशों से ढका हुआ हो। उसके भीतर का प्रकाश, दर्शक के दृष्टिकोण के अनुसार भाँति-भाँति के वर्णों एवं छायाओं में प्रकट होता है। यही उस अभिव्यक्ति की विचित्र विविधता है, जिससे कुछ लोग कहते हैं कि हमारा एक समाज नहीं है, एक राष्ट्र नहीं है वरन् यह बहुराष्ट्रीय देश है।

यदि हम अपने समाज-जीवन के इस सही मूल्यांकन को ग्रहण करें तो उसकी वर्तमान व्याधियों का भी विश्लेषण कर सकेंगे तथा उनके उपचार के लिये उपायों की भी योजना करने में समर्थ होंगे।

एकम् सत् विप्रः बहुधावदन्ति

हमारे लचीले धर्म के स्वरूप की जो प्रथम नैसर्गिक विशेषता बाहरी व्यक्ति की दृष्टि में आती है, वह है पन्थ एवं उपपन्थों की आश्चर्यजनक

विविधता—शैव, वैष्णव, शाक्त, वैदिक, बौद्ध, जैन, सिख, लिंगायत, आर्य-समाज आदि । इन सभी उपासनाओं के महान् आचार्यों एवं प्रवर्तकों ने इन पूजा के विविध रूपों की स्थापना हमारे लोक-मस्तिष्क की विविध योग्यताओं की अनुकूलता का ध्यान रखकर ही की है । किन्तु अन्तिम निष्कर्ष के रूप में सभी ने उस एक चरम सत्य को लक्ष्य के रूप में प्राप्त करने के लिए कहा है, जिसे ब्रह्म, आत्मा, शिव, विष्णु, ईश्वर अथवा शून्य या महाशून्य तक के विविध नामों से पुकारा जाता है ।

देखिये यह निम्नांकित श्लोक किस सुन्दरता से हिन्दू-दर्शन के विविध पन्थों में स्वरैक्य एवं एकत्व का समावेश करता है—

> यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
> बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैय्यायिकाः ।
> अर्हन्नित्युत जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
> सोऽयं वो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ।

(वह, जिसकी उपासना शैव शिव मानकर करते हैं, वेदान्ती जिसे ब्रह्म मानकर उपासते हैं, बौद्ध जिसे बुद्ध और तर्क-पटु नैयायिक कर्ता मानकर आराधना करते हैं, एवं जैन लोग जिसे अर्हत् मानकर तथा मीमांसक जिसे कर्म बताकर उपासना करते हैं—वही त्रिलोकीनाथ हरि हमारी इच्छाओं को पूरा करे ।)

व्यक्ति को उपासना स्वातन्त्र्य का यह अधिकार इसलिए प्राप्त था कि प्रत्येक के लिए अपनी विशिष्ट आध्यात्मिक प्रकृति के अनुकूल आध्यात्मिक भोजन चुनने का स्वातंत्र्य हो ।

किन्तु उपासना-मार्ग की विविधताओं का अर्थ समाज का विभाजन नहीं था । एक ही धर्म के ये सभी अविभाज्य अंग समाज की धारणा करते थे । हमारे समाज के इन सभी अंगों में, वही जीवन-दर्शन,वही लक्ष्य, वही बाह्य स्थूल पर आन्तरिक आत्मा का प्रभुत्व, वही पुनर्जन्म में विश्वास, वही ब्रह्मचर्य, सत्य आदि कतिपय गुणों की पूजा, वही पवित्र संस्कार, संक्षेप में वही जीवन-रक्त हमारे समाज के इन अंगों में प्रवाहित होता रहा । वे शुद्ध अद्वैत के संस्थापक श्री शंकराचार्य ही थे, जिन्होंने पंचायतन पूजा का निर्देश किया—जिसमें शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य एवं गणपति की पूजा का विधान सामान्य लोगों के लिये है । ईश्वर के साक्षात्कार हेतु विभिन्न पन्थों के स्वरैक्य का यहाँ कितना भव्य उदाहरण है । पन्थ-विभेद के कारण हमारे देश में भूतकाल में कभी रक्तपात अथवा अपवित्र प्रतिस्पर्धा नहीं हुई । यहाँ तक कि जब किसी ने अपने मत का मण्डन अथवा दूसरों के मतों के खण्डन का प्रयास किया तब

भी सिर फुटव्वल नहीं हुई। इस आन्तरिक एकत्व की गम्भीर धारा का शिव महिम्न स्तोत्र में अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है—

त्रयी साख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परिमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

(जिस प्रकार सभी जलों का गंतव्य समुद्र ही होता है, वैसे ही हे ब्रह्म सभी मनुष्यों के तुम एक मात्र लक्ष्य हो। मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार तुम्हारी पूजा के लिए भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं। चाहे वह रास्ता सीधा हो या टेढ़ा। यह विचार करते हुए कि विभिन्न मार्गों--जैसे वेद सांख्य, योग शैव और वैष्णव के विश्वासों—में वही मार्ग श्रेष्ठ या पूर्ण है।)

प्राचीन वैदिक काल से लेकर आज तक हमारी यही परम्परा रही है। हमारे सभी आध्यात्मिक आचार्यों ने धर्म के इसी सर्वव्यापी अद्वितीय स्वरूप को ग्रहण किया है। रामकृष्ण परमहंस ने कहा है—"जितने दृष्टिकोण, उतने मार्ग"—व्यक्तियों की विविध वृत्तियों एवं रुचि के अनुसार अनेक पंथ और मत हो सकते हैं।

इनमें से अनेक पन्थों एवं दर्शनों के निर्माण से एक अन्य अत्यन्त लाभदायक उद्देश्य की भी सिद्धि हुई है। वे हमारे समाज की अखण्डता को बनाये रखने के लिये तथा उसकी रक्षा के लिये भी सहायक सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के लिये सिख पन्थ का उदय पंजाब में इस्लाम के प्रसार को रोकने के लिये हुआ। आगे चलकर समय की आवश्यकता को समझते हुये दशम गुरु गोविन्द सिंह ने अपने शिष्यों को सशस्त्र किया तथा उन्हें राष्ट्रीय योद्धाओं के एक सैन्यदल में परिवर्तित कर दिया। जब ईसाई धर्म-प्रचारक हमारे पश्चिमी समुद्र तट पर लोगों को अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित करने के लिये अपने निज के दयामय ईश्वर के नाम पर लोगों की अनुनय कर रहे थे, उस समय इस विदेशी विष को विफल करने के लिये हमारे धर्म के भक्ति के एक स्वरूप को लेकर श्री मध्वाचार्य का उदय हुआ। रामानुजाचार्य एवं बसवेश्वर के प्रयत्न भी समाज में प्रवेश कर रहे ऊँच-नीच के भेद को मिटाकर ईश्वर-भक्ति के सामान्य बन्ध में सभी लोगों को बाँधने के लक्ष्य से प्रेरित थे।

सेमेटिक (सामी) जातियों के प्रभाव

यह हमारा दुर्भाग्य है कि अपने धर्म का यह सर्वव्यापी स्वरूप हमारी

दृष्टि से ओझल हो गया है। इस दुःखपूर्ण अवस्था के कई कारण हैं। प्रतीत होता है कि पश्चिम द्वारा व्यवहार में लाये जाने वाले धर्म के संकुचित दृष्टिकोण ने हमारे ऊपर अपना प्रभाव दिखाया है। उन सभी सेमेटिक—यहूदी, मुसलमान और ईसाई—धर्मों में पूजा की एक ही पद्धति सभी के लिये निर्दिष्ट है। उन पन्थों में एक पैगम्बर, एक धर्म-पुस्तक तथा एक ईश्वर होता है। उनकी दृष्टि में मनुष्यात्मा के मोक्ष के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं होता। इस प्रकार की मान्यता कितनी मूर्खतापूर्ण है—यह जानने के लिये कोई बहुत बुद्धि की आवश्यकता नहीं है। स्वाभाविक रूप से धर्म के इस सेमेटिक रूप ने असहिष्णुता को जन्म दिया तथा धर्म के नाम पर लोगों को विभक्त किया। अतएव कुछ पाश्चात्य देशों ने, जिन्हें इस प्रकार की धार्मिक कट्टरता से उत्पन्न हुये विद्वेष से घृणा हो गई थी, धर्म को ही निकाल बाहर करने का अन्तिम कदम उठाया। रूस के द्वारा ग्रहण किये गये साम्यवादी और समाजवादी दर्शन इसी विद्रोह के चरम उदाहरण हैं।

इसका प्रभाव हमारे देश पर भी हुआ। लोग भूल गये कि पन्थगत विरोध की संकुचित भावनायें यहाँ कभी नहीं रहीं। सभी पाश्चात्य विकास की उपलब्धियों का अन्धानुकरण करते हुए वे भी धर्म का उपहास करने लगे और ऐसा मानने लगे कि अपने जीवन में उसका कोई स्थान नहीं है। इसका यह परिणाम हुआ कि ऐसे श्रेष्ठ एवं कल्याणकर बन्ध भंग होने लगे जो लोगों को एक सूत्र में बाँधे रहते थे तथा उन्हें उच्चतर जीवन के लिये प्रेरणा देते थे।

वर्तमान विपर्यय

उसके विनाशकारी परिणाम आज हमारे सामने हैं, पारस्परिक उपहास की कहानियाँ सम्पूर्ण देश में चारों ओर यहाँ तक प्रचलित हो गई हैं कि उन्होंने घरेलू विनोद का रूप धारण कर लिया है। एक सम्प्रदाय द्वारा दूसरे सम्प्रदाय पर प्रभुत्व और साम्राज्यवाद लादने की चर्चा होती है। यदि हम प्रभुत्व की भाषा में बोलें तो हमें कहना चाहिये कि दक्षिण के दार्शनिक सिद्धान्तों के साम्राज्यवाद से उत्तर कुचला जा रहा है। कारण कि सभी दार्शनिक सिद्धान्त जो हमारे सम्पूर्ण देश में तथा जो उत्तर के भी कोने-कोने में परिव्याप्त हैं, उन्हीं महान् आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित हुये हैं, जिनका जन्म दक्षिण में हुआ है। अनुपम अद्वैत दर्शन के प्रवर्तक शंकर; विशिष्टाद्वैत की भक्ति के आलोक के साथ रामानुज; ईश्वर और जीव की अति उच्च द्वैत

भावना के साथ मध्व तथा वल्लभाचार्य जिन्होंने विश्व को ईश्वर के ही परमानन्दमय स्वरूप में देखा, वे सभी प्रभृति आचार्यगण दक्षिण के थे। तो क्या हमें कहना चाहिये कि दक्षिण दार्शनिक रूप से समस्त देश पर अधिकार किये हुये है ? यह कथन कितना असंगत है ! अरे, क्या मेरा शीश मेरी टाँगों पर अधिकार किये हुये है ? क्या दोनों ही एक शरीर के समान भाव से अंग नहीं हैं ?

भौगोलिक दृष्टि से उत्तर कहा जाने वाला भाग हमें उतना ही प्रिय है जितना कि दक्षिण कहा जाने वाला भाग। गंगा हमारे लिये उतनी ही पावन है जितनी कि कावेरी। हिमालय की अमरनाथ गुफा में हिम-निर्मित भव्य शिव लिंग हम सभी की भक्ति का उतना ही अधिकारी है, जितना कि रामेश्वरम् का शिव लिंग। दूरी एवं मत-मतान्तरों के समस्त बाह्य अवरोधों को अतिक्रान्त कर हम निसर्गतः एक हैं। आज वह एकता का जीवन-रस शुष्क हो गया है, इसीलिए हमारे धर्म के महान् वृक्ष की पत्तियाँ व शाखायें सूख रही हैं, पृथक् हो रही हैं।

दूसरे हिन्दू नाम, जो हमारे सर्वव्यापक धर्म का बोध कराता था, आज अप्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ है। लोग अपने को हिन्दू कहने में लज्जा का अनुभव करने लगे हैं। इस प्रकार वह स्वर्णिम सूत्र जिसमें ये सभी विविध आभायुक्त आध्यात्मिक मोती पिरोये हुये थे, छिन्न हो गया है तथा विविध पंथ एवं मत केवल अपने ही नाम पर गर्व करने लगे हैं और अपने को हिन्दू कहलाने से इन्कार करने लगे हैं।

कुछ सिख, जैन, लिंगायत तथा आर्यसमाजी अपने को हिन्दुओं से पृथक् घोषित करते हैं। प्रमुख सिख नेता भाषायी प्रान्त—पंजाबी सूबा—के बहाने सिखों के एक अलग साम्प्रदायिक राज्य की माँग के लिये आन्दोलन कर रहे हैं तथा अपनी माँग को पुष्ट करने के लिये उनमें से कुछ तो इतने निम्न स्तर पर आ गये हैं कि अलग मुस्लिम राज्य अर्थात् पाकिस्तान का औचित्य सिद्ध करने लगे हैं। वे इस सीमा तक जा चुके हैं कि पाकिस्तान की सहानुभूति एवं सहायता भी चाहने लगे हैं और विभाजन के दिनों में पाकिस्तानियों द्वारा हुए बर्बर अत्याचारों तथा अपमानों को विस्मृत कर बैठे हैं।

इससे अधिक दुर्भाग्य की बात भला और क्या होगी कि वर्तमान सिख-नेता अपने पवित्र पंथ को देश और धर्म के कट्टर विनाशकों के समकक्ष ला खड़ा करने में कमर कसते हैं। इतना ही नहीं तो उन्हीं शत्रुओं से मदद पाने के इच्छुक हैं, जिनके आक्रमणों से मुकाबला कर हमारी रक्षा करने के लिए उसका जन्म हुआ था।

एक बार सिखों के नामधारी पन्थ के प्रधान ने कहा था, "जो व्यक्ति निष्ठावान हिन्दू नहीं है, सिख भी नहीं हो सकता। वह उन महान् पुरुषों का शिष्य नहीं हो सकता, जिन्होंने इस मातृ समाज एवं मातृ धर्म अर्थात् हिन्दू के लिए अपना रक्त बहाया था।" श्री गुरु गोविन्द सिंह ने कहा था—"सच्चा सिख वही है जो वेदों और भगवद्गीता में विश्वास रखता है तथा राम और कृष्ण को पूजता है।" गुरु के इन शब्दों के प्रति विशुद्ध निष्ठावान ही सच्चा सिख है। इन गुरुओं ने हिन्दू समाज की रक्षा के लिए वीरों का यह दल गठित किया और उन्हें सिख की संज्ञा दी, क्योंकि वे निष्ठावान शिष्य थे, शीलवान एवं पराक्रमी थे इसलिए उन्हें 'खालसा' कहा अथवा अकाल—काल से परे जो सत्य है—उसके पुजारी होने के नाते उन्हें 'अकाली' कहा।

वास्तव में आज भी उनका सम्पूर्ण जीवन उन्हीं विचारों एवं अनुभूतियों से परिव्याप्त है, जिनसे कि शेष हिन्दुओं का। अभी वर्तमान काल में दो शताब्दियों के पूर्व प्रत्येक हिन्दू परिवार से एक पुत्र 'सिख' नाम धारण करने वाला हुआ करता था। हमारे परस्पर रक्त-सम्बन्ध आज तक चले आ रहे हैं। यह तो केवल राजनीतिक आकांक्षाओं का विष है, जिसने इस विघटन के दैत्य को खड़ा कर दिया है अन्यथा वह तो हिन्दुत्व की निष्ठा-सम्पन्न एवं पराक्रमी, सशस्त्र भुजा थी।

हिन्दू-विरोधी प्रशासन

यहाँ तक कि हमारे कर्णधार और प्रमुख व्यक्ति भी सिख नेताओं की इस पृथकता की घातक भावना के अनजाने शिकार हो गये। हम उन्हें प्रायः यह कहते सुनते हैं कि हिन्दू और सिखों को मित्रता एवं एकता से रहना चाहिये। वे यह कभी नहीं विचार करते कि इतने उच्च पदों पर प्रतिष्ठित व्यक्तियों के शब्दों का प्रयोग शेष हिन्दुओं से सिखों के पृथकत्व पर स्वीकृति की मुद्रा अंकित कर देता है, जिससे उनके सम्बन्धों में और भी कटुता आ जाती है। स्पष्ट रूप से हमारे विधान में अंकित है कि हिन्दू के अन्तर्गत ही सिख, जैन और बौद्ध सम्प्रदाय हैं। इसका अर्थ है कि 'हिन्दू और सिख' शब्द उच्चारण करना विधान के विरुद्ध है। कितना दुर्भाग्य है कि बड़े लोग भी अनजान में ही इस प्रकार से विधान का अपमान करें।

इसी प्रकार हरिजन सेवक संघ के एक पत्रक में 'हिन्दू और हरिजन' शब्दों का प्रयोग स्वतन्त्रतापूर्वक किया गया था।

वर्तमान सरकार की नीति ने आग में घी डालने का काम किया है। हमारे वर्तमान शासकों के लिये तो हिन्दू शब्द ही अभिशप्त हो गया है। जो भी हिन्दू समाज को छोड़कर अहिन्दू अल्पसंख्यक के रूप में अपने को प्रदर्शित करता है, वह हमारी सरकार का विशेष अनुग्रह-प्राप्त बन जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे अनेकों सम्प्रदाय स्वयं को अहिन्दू कहलाने का अधिकार प्रतिपादित करने की एक दूसरे से होड़ लगाये हुये हैं तथा धन, सत्ता एवं विशेष अधिकार प्राप्त करने के लिये अपने हाथ फैलाये हैं। विशेष रूप से जब वे देखते हैं कि हमारे नेता अहिन्दुओं तथा हिन्दू-विरोधी जातियों को विशेष राजनीतिक प्रतिष्ठा देने के लिये उद्यत हैं तो उनकी विघटनकारी वृत्ति तथा हिन्दू-विरोधी भावना और अधिक जागृत हो जाती है। वे देखते हैं कि अहिन्दू होने के कारण ही मुसलमानों ने अपना एक स्वतन्त्र राज्य प्राप्त कर लिया है। ईसाई भी अपना स्वतन्त्र 'नागालैण्ड' प्राप्त करने वाले हैं। उन ईसाई संस्थाओं को, जो आज भी १५ अगस्त के दिन यूनियन जैक फहराती हैं तथा धर्मोन्मादी प्रचार करती हैं, सरकारी सहायता बन्द हो जाने का भय नहीं है। इसके विपरीत यदि कोई हिन्दू, शिक्षा-संस्था हिन्दू-प्रार्थनायें तथा गीता के श्लोकों का पाठ आरम्भ करती है तो सरकार तुरन्त हस्तक्षेप करती है और वित्तीय सहायता बन्द करने की धमकी देती है।

यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमारे ही नेता, हमारे ही लोग, हमारे समाज की एकता की जड़ें खोदते हैं और उस अभेद की भावना को नष्ट करते हैं, जिसने भूतकाल में सभी विविध सम्प्रदायों को भेदरहित, पूर्ण इकाई के रूप में संघटित रखा था।

पूर्वकालीन गौरव

हमारे समाज की एक अन्य विशेषता थी उसकी वर्ण-व्यवस्था। उसे जातिवाद कहकर आज उसकी भर्त्सना की जाती है। हमारे लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि वर्ण-व्यवस्था की चर्चा मात्र अप्रतिष्ठाकारक है। इसमें निहित समाज-व्यवस्था को वे सामाजिक विभेद के रूप में ग्रहण करने की भूल प्रायः कर जाते हैं। वर्ण-व्यवस्था में ऊँच-नीच की भावना का प्रवेश तुलनात्मक दृष्टि से साम्प्रतिक ही है। अंग्रेजों ने अपनी 'डिवाइड ऐण्ड रूल' 'फूट डालो और राज्य करो' नीति के द्वारा इस विरोध को और भी प्रोत्साहन दिया। किन्तु अपने मूल रूप में उस समाज-व्यवस्था में घटकों के मध्य बड़े-छोटे अथवा ऊँच-नीच की भावना को कोई स्थान नहीं है। इतना ही नहीं

गीता हमें बताती है कि जो व्यक्ति अपने नियत कर्तव्यों का पालन निःस्वार्थ भाव से करता है, वह अपने कर्मों द्वारा ईश्वर की पूजा करता है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवाः।

(अपने कर्मों के द्वारा उसकी अर्चना करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करते हैं)

समाज के सम्बन्ध में यह भावना रखी गई है कि वह उस सर्वशक्तिमान का चतुर्दिक अभिव्यक्त स्वरूप है जो सभी के लिये अपनी-अपनी क्षमता एवं पद्धतियों से पूजनीय है। यदि ब्राह्मण विद्यादान के द्वारा बड़ा हो जाता है तो शत्रुओं का नाश करने से क्षत्रिय भी समान प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। वैश्य भी कम महत्व का नहीं जो कृषि और व्यापार के द्वारा समाज को सुस्थिर रखता है अथवा शूद्र भी कम नहीं है जो अपने कला-कौशल से समाज की सेवा करता है। इन सबके परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रहने तथा साथ-साथ परस्पर के तादात्म्य भाव से उस समाज व्यवस्था का निर्माण हुआ था।

गलत दिशा

वर्तमान काल में उसका अधोमुखी विपर्यस्त स्वरूप देखकर तथा गलती से उसे ही हमारे समाज का मूल स्वरूप समझते हुये कुछ लोग यह प्रचार करते कभी थकते नहीं कि इतनी शताब्दियों से हमारे पतन के मूल में हमारी यह वर्ण-व्यवस्था ही है। किन्तु क्या यह व्याख्या इतिहास-शुद्ध हो सकती है? जातियाँ तो उस प्राचीनकाल में भी थीं और हमारे वैभवशाली राष्ट्र-जीवन के सहस्रों वर्ष में बराबर रही हैं। कहीं एक भी उदाहरण नहीं है कि उन्होंने हमारे समाज की एकता और प्रगति में बाधा डाली हो। प्रत्युत उन्होंने हमारे सामाजिक ऐक्य के सम्पादन में महान् योगदान किया है।

गत एक सहस्र वर्षों में जब हमारा राष्ट्र विदेशियों के आक्रमण का शिकार बना, एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता, जिससे यह सिद्ध हो सके कि हमारे राष्ट्र की जिस फूट ने विदेशीय आक्रान्ताओं को सहायता दी, उसके मूल में यह जाति-भेद थे। मुहम्मद गोरी के द्वारा दिल्ली के हिन्दू राजा पृथ्वीराज की पराजय का कारण जयचन्द था जो उसका जातिबन्धु था। जिस व्यक्ति ने जंगलों-जंगलों राणा प्रताप का पीछा किया वह मानसिंह भी उनकी जाति का ही व्यक्ति था। शिवाजी का भी विरोध उनकी जाति के ही लोगों द्वारा हुआ। सन् १८१८ में पूना में हिन्दू और अंग्रेजों के अन्तिम मोर्चे पर भी पेशवा का निकट सम्बन्धी नातु नाम का ही एक व्यक्ति था, जिसने हिन्दू ध्वजा को गिराकर अंग्रेजी झंडे को फहराया था। यथार्थ में इस प्रकार

के देशद्रोहियों की एक जमात रही है जो भिन्न-भिन्न कारणों और प्रलोभनों की शिकार हो जाती थी। जाति-भेद कभी भी इसका कारण नहीं रहा।

यदि जाति-व्यवस्था ही हमारे दौर्बल्य का मूल कारण होती तो हमारा समाज उन समाजों की तुलना में, जिनमें जातियाँ नहीं थीं, अति सरलता से विदेशी आक्रमणों के समक्ष पराभूत हो गया होता। किन्तु इतिहास क्या कहता है ? पैगम्बर मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् अरब से उनके अनुयायी एक के पश्चात् दूसरी लहर के समान निकल पड़े और अपनी रक्तस्नात तलवारों के साथ भू-मण्डल के एक बहुत बड़े भाग को उन्होंने पादाक्रान्त कर डाला। अनेकों साम्राज्य—ईरान, मिश्र, रोम, योरप तथा चीन तक सभी—जो भी उनके मार्ग में आये उनके पैरों के नीचे कुचले गये। उन देशों के लोगों में जातियों और उपजातियों के भेद नहीं थे। मुसलमानों के विनाशकारी आक्रमण की आँधी ने उन सभी शक्तिशाली साम्राज्यों का विभव, सम्पत्ति एवं यशस्विता धूल में मिला दी और उन्हें ऐसा नष्ट कर दिया कि उनमें से अनेक तो पुनः विश्व-मंच पर फिर कभी प्रगट नहीं हो सके।

उसी उन्माद और आवेश की लहर हिन्दुस्थान के तटों पर भी टकराई। किन्तु यहाँ का दृश्य कुछ दूसरा ही रहा। हमारे लोगों ने उन भीषण आक्रमणों का दृढ़ता एवं वीरता से सतत एक हजार वर्ष तक सामना किया और उसके द्वारा विनष्ट होने के स्थान पर अन्त में हम शत्रु की समस्त शक्तियों को कुचल कर उसे पूर्ण रूप से नष्ट करने में सफल हुए। हमारे समाज की विजयिष्णु भावना के प्रतीकस्वरूप मुसलमानों की शक्ति का सिंहासन दिल्ली में टुकड़े-टुकड़े कर ध्वस्त कर दिया गया। अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु अन्तिम विजय तक सतत भीषण संघर्ष चालू रखने के इन शताब्दियों लम्बे काल में यह स्मरण रहे कि जातियों का अस्तित्व बना हुआ था।

इतिहास हमें बताता है कि हमारे देश के पश्चिमोत्तर एवं पूर्वोत्तर भाग, जहाँ बौद्ध प्रभाव के कारण जाति-व्यवस्था भंग हो गई थी, मुसलमानों के भीषण आक्रमण के शिकार सरलता से हो गये। गान्धार जिसे अब कन्दहार कहते हैं, पूर्ण रूप से मुसलमान हो गया। पूर्वी बंगाल में भी बहुत अधिक धर्म-परिवर्तन हुआ। किन्तु दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश के भू-भाग जो कि जाति-पाँति की मर्यादाओं के पालन में अत्यन्त कठोर एवं पुरातनवादी माने जाते थे, मुस्लिम शक्ति एवं धर्मान्धता के कई शताब्दियों तक गढ़ रहते हुए भी हिन्दू-बहुल बने रहे। हम जानते हैं कि शिवाजी के समय तक तथाकथित

निम्न जाति के लोगों ने भी स्वराज को पुनर्जीवन प्रदान करने के कार्य में एक महान् चिरस्मरणीय पराक्रम का अध्याय प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार इतिहास में हमें चित्र के दोनों पक्ष स्पष्ट देखने को मिलते हैं। एक ओर तो अनेकानेक जातियों से संकुलित हिन्दू समाज दो सहस्र वर्षों से भी अधिक काल से यूनानियों, शकों, हूणों, मुसलमानों तथा योरोपवासियों के विध्वंस का सामना करता हुआ अमर और अजेय बना हुआ है एवं आज भी रामकृष्ण, विवेकानन्द, तिलक और गाँधी उत्पन्न करने की शक्ति से सम्पन्न है तथा दूसरी ओर तथाकथित बिना जातियों वाले समाज इनके एक ही झटके से चूर-चूर होकर पुनः कभी न उठने के लिए धूल में मिल गये हैं।

आग में घृत

निस्सन्देह आज जाति-व्यवस्था सभी प्रकार से भ्रष्ट हो गई है। शताब्दियों की इस विकृति के साथ-साथ हमारी राजनीति में एक नई वस्तु और प्रवेश कर गई है, जिसने जातियों की इस विकृति एवं कठोरता को और भी अधिक गम्भीर बना दिया है। यह वस्तु हमारी राजनीति में उन्हीं व्यक्तियों द्वारा लाई गई है जो इस जाति-व्यवस्था की सदैव आक्रोशपूर्ण भर्त्सना करते रहे हैं। चुनाव के अवसर पर प्रत्याशियों के चुनाव में उनका मुख्य ध्यान जाति पर रहता है और उसी के आधार पर मतदाताओं से मतदान की प्रार्थना की जाती है। जाति वैमनस्य और विरोध के बढ़ते हुए इस आवेग के मूल में है, जाति के नाम पर किया जानेवाला यह नग्न स्वार्थ और सत्ता-पिपासा का आह्वान। इन भेद-भावों को और भी अधिक चौड़ाक रने के लिये राज्य यन्त्र का भी पापपूर्ण प्रयोग किया जाता है। हमारे लोगों के कुछ वर्गों को हरिजन, परिगणित जाति, परिगणित वर्ग आदि नाम देकर उनके लिये कुछ विशेष सुविधाओं का प्रदर्शन कर धन के लोभ द्वारा उन्हें अपना दास बनाने के लिये उनमें विघटनकारी चेतना, ईर्ष्या एवं विरोध उत्पन्न किये जाते हैं।

इन जाति-व्यवस्था विरोधी उत्साही वीरों में ऐसे नगण्य ही होंगे जो अन्तर्तम में उस एकता के भाव की अनुभूति करते हों जो आज की इन सभी विकृतियों को अतिक्रान्त कर सकती है। जाति विरोधी निन्दोक्तियाँ उनके लिये एक आवरण बन गई हैं, जिनकी आड़ में वे अपने जातिजनों के बीच अपनी स्थिति को सशक्त बनाते हैं। यह विष हमारी राजनीति में कहाँ तक फैल गया है, इसका पता कुछ वर्षों पूर्व घटित हुई एक घटना से लग सकता है। पूना के निकट एक विजय-स्तम्भ है, जिसे अंग्रेजों ने पेशवाओं पर

अपनी विजय की स्मृतिस्वरूप बनवाया था। एक प्रमुख हरिजन नेता ने एक बार इसी स्तम्भ के नीचे अपने जाति-बन्धुओं को सम्बोधित किया। उसने घोषणा की कि यह स्तम्भ ब्राह्मणों पर उनकी विजय का प्रतीक है, क्योंकि उन्होंने ही अंग्रेज की अधीनता में लड़कर ब्राह्मण पेशवाओं को परास्त किया था। एक प्रमुख नेता के मुख से गुलामी के इस चिह्न को विजय का प्रतीक कहा जाना एवं अपने ही बन्धुओं से विदेशियों के दास के रूप में युद्ध को एक महान् कर्तृत्व के रूप में वर्णन करना कितना हृदयद्रावी है। घृणा के वशीभूत होकर वह कितना अन्धा हो गया होगा। वह एक सामान्य सत्य भी नहीं देख पाया कि विजयी कौन हुये और कौन पराजित ! कितनी विकृति है।

अनेक तार, एक स्वर

हमारे राष्ट्रीय उत्तराधिकार की विविधता भाषाओं के क्षेत्र में भी व्यक्त होती है। अपने देश तथा समाज की विशालता को देखते हुये इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि हमारे देश में कोई व्यक्ति अपने स्थान से पैदल यात्रा आरम्भ करे और एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त के लिये चले तो भाषा में प्रत्येक दस, पन्द्रह मील पर क्रमिक परिवर्तन, एक भाषा से दूसरी भाषा में एक स्वाभाविक रूपान्तर वह अनुभव करेगा तथा सीमा पर उन भाषाओं को एकीभूत होते देखेगा। एक ही भाषा में स्थान-स्थान पर अन्य भाषाओं की निकटता के कारण शब्दों के प्रयोग एवं अभिव्यक्ति में असासान्य अन्तर हो जाता है। इससे यही प्रगट होता है कि ये सभी भाषायें आन्तरिक रूप से एक ही हैं। यह इन्द्रधनुष में क्रमशः प्रगट होने वाले रंगों के समान है। यद्यपि वह अति देदीप्यमान विविध रंगों में उदित होता है; किन्तु वह होती तो सूर्य की किरण ही है जो उन मोहक परिधानों को धारण कर लेती है। हमारी भाषाओं की यही विशिष्ट महत्ता है।

देश की कोई भाषा ले लीजिये, उसमें हमें वही उदात्त भावनायें मिलेंगी। समान प्रेरणादायी विचार एवं आदर्श हमारे सभी भाषाओं के वाङ्मय में प्रतिफलित होते हैं। श्रीरामचन्द्र का जो श्लाघ्य व्यक्तित्व हमें वालमीकि के द्वारा संस्कृत में मिलता है, वही हिन्दी में तुलसी तथा तमिल में कम्ब के द्वारा प्राप्त होता है। यदि सभी में से एक प्रकाश निकलता है तो माध्यम के परिवर्तन से क्या होता है ? यह तो ठीक इसी प्रकार है जैसे कोई व्यक्ति भाँति-भाँति के सुन्दर परिधान जो उसके चरित्र एवं संस्कृति के अनुकूल हों, धारण करे। उपर्युक्त कारण से मनुष्य नहीं बदलता।

आजकल हम तमिल के विषय में बहुत अधिक सुन रहे हैं। कुछ तमिल का पक्ष ग्रहण करने वाले कहते हैं कि यह तो नितान्त भिन्न भाषा है, जिसकी अपनी पृथक् संस्कृति है। वे वेदों में विश्वास नहीं करते और कहते हैं कि 'तिरुक्कुरल' हमारा पृथक् दिव्य ग्रन्थ है। तिरुक्कुरल निःसन्देह एक महान् श्रौत ग्रन्थ है जो दो हजार वर्ष प्राचीन है। इसके महान् रचयिता सन्त तिरुवल्लवार थे। हम इनका स्मरण अपने प्रातःस्मरण में करते हैं। इस पुस्तक का विश्वसनीय अनुवाद प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री वी० पी० एस० अइयर द्वारा किया गया है। अन्ततः उसमें कौन सा विषय प्रतिपादित हुआ है? वही प्राचीन चतुर्विध पुरुषार्थ उसमें आदर्श के रूप में वर्णित है। केवल मोक्ष का अध्याय आरम्भ में आता है। वह पूजा के किसी विशेष प्रकार का प्रतिपादन नहीं करता और न ईश्वर के किसी विशिष्ट नाम का वरन् मोक्ष के शुद्ध आदर्श का निरूपण करता है। इस प्रकार यह कोई साम्प्रदायिक पुस्तक नहीं है, महाभारत भी सामाजिक जीवन के उसी चित्र को श्लाघनीय कहता है, जिसे तिरुक्कुरल उपस्थित करता है। हिन्दू के अतिरिक्त यह सामाजिक जीवन की अनुपम दृष्टि और कहीं प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार यह विशुद्ध हिन्दू ग्रन्थ है जिसमें महान् हिन्दू विचारों का एक विशुद्ध हिन्दू भाषा में प्रतिपादन हुआ है।

वस्तुतः हमारी सभी भाषायें चाहे वह तमिल हो या बँगला, मराठी हो या पंजाबी हमारी राष्ट्र-भाषायें हैं। वे सभी भाषायें और उपभाषाएँ अनेकों खिले हुये पुष्पों के समान हैं, जिनसे हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की वही सुरभि प्रसारित होती है। इन सभी के लिये प्रेरणा का स्रोत भाषाओं की रानी देववाणी संस्कृत रही है। अपने विभव एवं पावन साहचर्य के कारण केवल वही हमारे राष्ट्रीय पारस्परिक व्यवहार के लिये एक सर्वमान्य माध्यम के रूप में कार्य कर सकती है। संस्कृत का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त करना कुछ कठिन भी नहीं है। अभी भी संस्कृत हमारी राष्ट्रीय एकता के लिये एक महान् संयोजक सूत्र है। किन्तु दुर्भाग्य से आज उसका व्यवहार सामान्य रूप से नहीं होता। और न हमारे वर्तमान शासकों में वह नैतिक गर्व एवं चरित्र-बल ही है जो उसे प्रचलित भाषा बना दे।

अंग्रेजी अथवा हिन्दी ?

कुछ लोग हैं जो चाहते हैं कि अंग्रेजी सदैव के लिये हमारी देश-भाषा बनी रहे। मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार के लिये भाषा एक सजीव माध्यम होती है। विदेशी भाषा अंग्रेजी अपने साथ-साथ अंग्रेजी संस्कृति एवं जीवन के

अंग्रेजी प्रतिमान भी अवश्य लायेगी। विदेशी जीवन प्रतिमानों की जड़ यहाँ जमने देना अपने निज की संस्कृति एवं धर्म की जड़ें खोदना होगा। विदेशी शासन की शताब्दियाँ हमारे महान् राष्ट्र को नष्ट करने में इसी कारण असफल रहीं कि हमने अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार को अपनी भाषाओं के माध्यम से सुरक्षित रखा। अंग्रेजी को स्वीकार करने का अर्थ अपनी जीवनी शक्ति के मुख्य स्रोतों को क्षीण करना होगा। अंग्रेजी जो अंग्रेजों के राज्य के साथ आई है, हमारे ऊपर कृत्रिम रूप से लादी गई है। अब हम स्वतन्त्र हो चुके हैं, हमें उसे उतार फेंकना चाहिये। अंग्रेजी को वही स्थान देते रहना जो उसे विदेशी शासनकाल में प्राप्त था, मानसिक दासता का लक्षण है और संसार की दृष्टि में हमारे राष्ट्रीय सम्मान के लिये कलंक है।

इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है कि दो ठोस कारणों से अंग्रेजी यहाँ से जायेगी ही। प्रथम, अंग्रेजी शासनकाल में हमारे लोगों में अंग्रेजी पढ़ने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति इसलिये हो गई थी कि वह शासकों की भाषा है, उसमें निपुण हो जाओ और अंग्रेज का भी सामना उसकी अपनी ही भाषा में करो। अब अंग्रेजों के चले जाने के साथ-साथ वह प्रेरक कारण भी चला गया। द्वितीय, अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेजी का ज्ञान न होना सरकारी नौकरी में किसी आर्थिक लाभप्रद पद पर प्रवेश के लिये वास्तविक निषेध ही था। बिना अंग्रेजी के ज्ञान के सर्वोत्तम मेधासम्पन्न व्यक्ति का जीवन भी वीरान ही बना रहता था। आर्थिक दृष्टि से ही नहीं अपितु सामाजिक जीवन में भी उसकी यही दशा रहती थी। अब वह भय भी धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। अंग्रेजी भाषा अंग्रेजी शासन का एक अंग थी। अब कितनी ही कृत्रिम प्राणवायु उसे दी जाय अधिक दिनों तक वह जीवित नहीं रह सकती जब कि उसका मुख्य आधार टूट चुका है।

सम्पूर्ण देश की एक भाषा की समस्या के निराकरण के लिये, जब तक संस्कृत स्थान नहीं ले लेती, सुविधा के हेतु हमें हिन्दी को प्रधानता देनी पड़ेगी। स्वाभाविक रूप से हम हिन्दी के उस स्वरूप को प्राधान्य देंगे, जिसका उद्गम संस्कृत से है एवं जो विज्ञान तथा शिल्प विषयक परिभाषाओं के ज्ञान के क्षेत्रों में अपने भावी विकास के लिये संस्कृत से ही पोषण प्राप्त करता है। इसका यह अर्थ नहीं कि केवल हिन्दी ही राष्ट्र भाषा अथवा प्राचीनतम भाषा है अथवा अन्य सभी भाषाओं से अधिक समृद्ध है। वास्तव में तमिल अत्यन्त समृद्ध एवं प्राचीनतम भाषा है, किन्तु हिन्दी हमारे बहुत बड़े जन-समुदाय की बोलने की भाषा बन चुकी है तथा सीखने एवं बोलने में हमारी अन्य सभी

भाषाओं की अपेक्षा सरल है। यदि हम काशी अथवा प्रयाग कुम्भ या अन्य किसी मेले के अवसर पर जाते हैं, जहाँ लोग सुदूर उत्तर, दक्षिण एवं पूर्व, पश्चिम से पवित्र गंगा जी में स्नान के लिये एकत्रित होते हैं तो यह विशाल जनसमुदाय केवल हिन्दी में ही अपने भाव प्रकट कर लेता है, चाहे उनकी वह हिन्दी कितनी ही अपरिष्कृत क्यों न हो।

सभी भाषायें चिरञ्जीवी हों

अतएव राष्ट्रीय एकता एवं आत्मसम्मान के लिये हमें हिन्दी को स्वीकार करना चाहिये तथा 'हिन्दी साम्राज्यवाद' या उत्तर का शासन आदि उद्घोषों में हमें नहीं बह जाना चाहिए। वास्तव में बंगाली, मराठी तथा गुजराती ने अंग्रेजी शासन के होते हुये भी महान् प्रगति की है। उनमें ऐसी उत्तम रचनायें हुई हैं कि संसार के महानतम विद्वानों ने उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। कोई भी इस विचार को सहन नहीं करेगा कि केवल एक भाषा रखने के लिये हमारे राष्ट्र की अनेकों सुन्दर भाषायें नष्ट कर दी जायें जो विगत अनेक शताब्दियों से हमारे राष्ट्र की आत्मा की इतनी योग्यतापूर्वक अभिव्यक्ति करती आ रही हैं। अतएव अन्य भाषाओं के क्षेत्र में हिन्दी द्वारा अतिक्रमण तथा आधिपत्य ज़माने की आशंका स्वार्थी राजनीतिज्ञों के द्वारा रचित एक कल्पना मात्र ही है।

वस्तुतः हिन्दी की उन्नति के साथ हमारी सभी भारतीय भाषायें फूलें फलेंगी। हमारी सभी भाषाओं की शत्रु तो अंग्रेजी ही है। एक बार तमिलनाड के एक प्रमुख नगर में एक वकील ने कहा कि 'हिन्दी हमारी तमिल को नष्ट कर देगी।' किन्तु जब उनसे पूछा गया कि 'वे जिला तथा अन्य नीचे के न्यायालयों में अंग्रेजी क्यों बोला करते हैं, तमिल क्यों नहीं बोलते जब कि उसका बोलना अनुमत है, तो उनके पास कोई उत्तर नहीं था। सत्य यह है कि हिन्दी तमिल की शत्रु नहीं है, अंग्रेजी दोनों की ही शत्रु है। यह बात केवल तमिल के ही सम्बन्ध में नहीं है वरन् हमारी अन्य सभी भाषाओं के भी सम्बन्ध में है।

इस प्रकार स्वराज्य के आगमन के पश्चात् भाषा भी विघटन का एक विधेय हो गई है। भाषावार राज्यों के निर्माण ने राजनीतिज्ञों को लोगों के मस्तिष्कों को भाषाभक्ति के नाम पर संघर्षरत रखने का एक और साधन दे दिया है। यह अत्यन्त विचित्र है कि अग्रगण्य लोग भी अन्य भाषाओं पर कीचड़ उछालते रहते हैं। दक्षिण के एक अत्यन्त श्रेष्ठ व्यक्ति ने एक बार सार्वजनिक सभा में कहा था कि हिन्दी में केवल दो ही महान् रचनायें हैं, एक तो तुलसी

की रामायण दूसरा रेलवे-टाइम-टेबिल। इसी के समान एक प्रसिद्ध मराठी नाटककार ने अपने एक पात्र से कहलाया है, 'दक्षिणी भाषायें ? कुछ कंकड़ एक मिट्टी के पात्र में रखो, जोर से हिलाओ और वे भाषायें सुनो' निस्सन्देह यह विनोद में ही कहा गया है किन्तु इस प्रकार का विघटनकारी भोलाभाला विनोद भी स्थिति को अधिक बिगाड़ेगा।

एक बड़ी काल्पनिक कहानी

आज तो और भी अनेक विरोध एवं विघटन की नवीन बातें उत्पन्न हो रही हैं। उदाहरण के लिये आर्य-द्रविड़ विवाद अत्यन्त नया और कृत्रिम है। यह उन मूढ़ विश्वासों में से एक है, जिसे अज्ञानी, सत्तालोलुप व्यक्तियों ने बड़े प्रयास से निर्माण किया है। आरम्भ में इस देश में कोई भी जातिगत विभेद क्यों न रहे हों किन्तु वह समय एवं इतिहास में घटित घटनाक्रम के प्रभाव से बहुत समय पूर्व लुप्त हो चुके हैं। दो सहस्र वर्ष पूर्व देश दो हिस्सों में विभाजित माना गया था—'पंचगौड़' और 'पंचद्रविड़'। इस बाद की संज्ञा में दक्षिण का समावेश होता है। यह जातीय अभिधान नहीं है वरन् प्रादेशिक है। दक्षिण के भी लोग उतने ही आर्य माने जाते थे, जितने कि उत्तर के। हमारे देश में आर्य शब्द सदैव संस्कृति का बोधक रहा है, जाति का नहीं। सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य में पत्नी पति को आर्य शब्द द्वारा संबोधित करती है। निश्चय ही वे पत्नियाँ अनार्य नहीं होती थीं। आर्य शब्द केवल अभिजात व्यक्तित्व का भाव व्यक्त करता था। हम श्रीकृष्ण को भी भगवद्गीता में इसी अर्थ में आर्य शब्द का प्रयोग करते पाते हैं। जब कुरुक्षेत्र के युद्ध के प्रथम दिन अर्जुन का हृदय दुर्बल हो गया तो श्रीकृष्ण ने 'अनार्यजुष्टम' कहकर उसकी भर्त्सना की है, अर्थात् उसके इस भाव को अधम बताया है।

आज तो यह भी कल्पित किया जाता है कि राम और रावण का युद्ध आर्य और द्रविड़ों में युद्ध था। यह कथन कितना हास्यास्पद है! रावण तो स्वयं संस्कृत का एक महान् पंडित और शैव था। उसके विषय में तो यह भी कहा जाता है कि उसने सामवेद को संगीत के स्वरों में बांधा था। उसका पिता वैश्रवा एवं पितामह पुलस्त्य ब्राह्मण थे। यदि इसमें कुछ सत्य है तो यही कि रावण दक्षिण को सता रहा था और राम ने दक्षिण के लोगों को उसके दमन से मुक्ति दिलाई।

और फिर हर्ष तथा पुलकेशी के संघर्ष को भी उत्तर द्वारा दक्षिण पर आधिपत्य स्थापन करने का प्रयास तथा दक्षिण द्वारा उसका सफल प्रतिकार

कहा गया। किन्तु पुलकेशी कोई द्रविड़ नहीं था और तमिल तो नहीं ही था। उसका राज्य प्रतिष्ठान में स्थापित हुआ था—जिसे आज पैठन कहते हैं, और जो गोदावरी के तट पर महाराष्ट्र में है। कुछ भी हो उन दोनों राजाओं में समझौता हो गया और वे मित्र बनकर रहे। उत्तर और दक्षिण का विवाद शुद्ध सत्ता प्राप्ति की राजनीति मात्र है, जिसे वर्तमान राजनीतिज्ञों ने उठा रक्खा है और जिन्हें सब प्रकार के विघटन के बीज बोने के लिये वर्तमान वातावरण अत्यन्त अनुकूल मिल गया है।

नवीन आविष्कार

हम यह भी देखते हैं कि ऐसे नितान्त नवीन अभिधान सामान्य प्रयोग में आने लगे हैं, जो समाज के एक भाग से दूसरे भाग की असमानता को व्यंजित करते हैं। हमारे राष्ट्र-जीवन के स्वाभाविक क्रम के अनुसार कुछ लोग नगरों में निवास करते हैं जो मुख्य रूप से शिक्षित, नौकरी पेशा, उद्योगों में लगे हुये श्रमिक और व्यापारी हैं। कुछ अन्य जो मुख्य रूप से कृषक हैं, ग्रामों में रहते हैं तथा जो कुछ शेष बच जाते हैं वे जंगलों और पहाड़ों में रहते हैं। किन्तु वे वनों में रहने वाले वनवासी अब आदिवासी कहे जाने लगे हैं। इसका अर्थ यह है कि अन्य लोग अनभिजात एवं कहीं बाहर से आकर यहाँ बस जाने वाले हैं।

नगर निवासियों एवं ग्रामवासियों के बीच भी एक और कृत्रिम बाधा पैदा कर दी गई है। तथाकथित शिक्षित मनुष्य अपने को एक विशिष्ट वर्ग का अनुभव करता है और गाँव के लोगों को असंस्कृत के रूप में नीची दृष्टि से देखता है। अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेजी पढ़ा-लिखा व्यक्ति अपने अंग्रेज स्वामी के समान वेश-भूषा धारण कर उसी के समान व्यवहार करता था और साधारण लोगों को घृणा की भावना से, नीची दृष्टि से देखता था। अंग्रेजी शासनकाल की यह कुत्सित परम्परा आज भी चालू है। आज भी अंग्रेजी पढ़ा-लिखा व्यक्ति अपने को कुछ भिन्न तथा दूसरे लोगों से कुछ उच्च अनुभव करता है। आज तो शिक्षितों के लिये आह्वान है कि वे ग्रामों को लौट जायें तथा ग्रामवासियों के जीवन स्तर को उन्नत करें। किन्तु वास्तव में वहाँ कितने जाते हैं? ग्रामजीवन का विचार ही उनके हृदय को भयाकुल कर देता है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि ग्रामों में रहने वाला वह सामान्य जन ही है जो हमारे राष्ट्र का वास्तविक आधार है। भूतकाल में भी जब कभी हमारे समाज पर विदेशी आक्रमणों की विभीषिका आई तो यह 'असभ्य ग्रामीण', यह

'निरक्षर जन समुदाय' ही थे जो अनेक कष्टों और बलिदानों को सहन करते हुए स्वदेश एवं स्वधर्म के उद्धार के हेतु उठ खड़े हुये।

इस समय स्त्रियों के समानाधिकारों और उन्हें पुरुष की दासता से मुक्ति दिलाने के लिये भी एक कोलाहल है। भिन्न लिंग होने के आधार पर विभिन्न सत्ता केन्द्रों में उनके लिये पृथक् स्थानों के संरक्षण की माँग की जा रही है और इस प्रकार एक और नये वाद अर्थात् 'लिंगवाद' को भी जन्म दिया जा रहा है जो जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद, समाजवाद आदि के ही समान है।

महान् एकता की अनुभूति चाहिये

हमारे भूत और वर्तमान काल का यह ऐसा ही चित्र है। यह दृश्य देखकर स्वाभाविक ही इस भूमि के प्रत्येक पुत्र को उमंग आना चाहिये कि अति प्राचीन सामाजिक एकात्मकता को अतीव शुद्धावस्था में पुनरुज्जीवित किया जाय। हमारा सम्पूर्ण समाज साक्षात् ईश्वर के रूप में हमारे हृदयों में पुनः प्रतिष्ठित होना चाहिये। वास्तव में यही एकत्व की भावना हमारी प्राचीन संस्कृति का अमर सन्देश रही है। संसार के अन्य लोग ईश्वर के पितृत्व एवं मनुष्य के भ्रातृत्व तक पहुँचकर रुक गये हैं किन्तु हम बहुत आगे तक बढ़ चुके हैं। हमने तो ब्रह्म से लेकर जड़ पदार्थ पर्यन्त एकत्व का अनुभव किया है।

अतः हम वह शुद्ध एकत्व की भावना पुनरुज्जीवित करें जिसका प्रादुर्भाव इस अनुभूति के द्वारा होता है कि हम सभी इस महान् पवित्र जन्मभूमि भारत माता के पुत्र हैं। हम उन विविध असंगत स्वरों को रोक दें जो जान या अनजान में उठ रहे हैं और जिनके द्वारा हममें विच्छेद एवं भ्रान्ति उत्पन्न होती है। हमें कहानी के उन अंधों के समान नहीं होना चाहिये जिन्होंने हाथी के विभिन्न अंगों को छूकर अपना-अपना निजी वर्णन उस पशु के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया था। एक ने उसकी टाँगों को पकड़ा और खम्भे से उसकी तुलना की, दूसरे ने सूँड़ को स्पर्श करके सर्प के समान बतलाया तथा एक अन्य ने उसके पेट का आलिंगन कर बड़े ढोल के समान उसे बताया। इसी प्रकार औरों ने भी उस हाथी के स्वरूप का वर्णन किया। उनमें से प्रत्येक आंशिक रूप से सही था किन्तु सम्पूर्ण रूप से उस पशु के आकार के विषय में सभी गलत थे।

हमारे समाज-पुरुष की सभी धमनियों में एक बार यह एकता का जीवन-स्रोत प्रवाहित होना आरम्भ हो जाये तो हमारे राष्ट्र-जीवन के सभी अंग स्वतः क्रियाशील हो जायेंगे तथा सम्पूर्ण राष्ट्र के कल्याण के हेतु मिलकर कार्य करने

लगेंगे। इस प्रकार का जीवित और वर्धमान समाज अपनी प्राचीन पद्धतियों एवं प्रतिमानों में से जो कुछ आवश्यक है और जो हमें प्रगति के पथ पर अग्रसर करने वाला है, उसे सुरक्षित रखेगा तथा शेष को जिनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है, फेंक देगा एवं उनके स्थान पर नवीन पद्धतियों का विकास करेगा। किसी को भी प्राचीन व्यवस्था के समाप्त होने पर आँसू बहाने की आवश्यकता नहीं है और न नवीन वस्तुओं की व्यवस्था के स्वागत में पीछे हटने की ही आवश्यकता है। यही सब सजीव एवं वर्धमान शरीरधारियों की प्रकृति होती है। ज्यों-ज्यों वृक्ष बढ़ता है, पकी पत्तियाँ और सूखी टहनियाँ झड़ जाती हैं और उस वृक्ष की नूतन वृद्धि के लिये मार्ग प्रशस्त करती हैं। ध्यान में रखने की मुख्य बात यही है कि एकता का जीवन-रस हमारे समाज के ढाँचे के प्रत्येक भाग में परिव्याप्त रहे। प्रत्येक पद्धति अथवा प्रतिमान उस जीवन-रस के पोषण में जितना उपयोगी है, उसी के अनुसार वह जीवित रहेगा, परिवर्तित होगा तथा यदि अनुपयोगी हो गया है तो नितान्त लुप्त भी हो जायगा। अतएव वर्तमान सामाजिक सन्दर्भ में सब पद्धतियों के भविष्य के विषय में वाद-विवाद करना बेकार है। इस समय की सबसे महत्वपूर्ण पुकार यही है कि अन्तर्निहित एकता की भावना को पुनर्जीवित किया जाय और हमारे समाज में जीवन के हेतु उसकी उपयोगिता की चेतना जागृत हो। अन्य सब बातें स्वतः ठीक हो जायेंगी।

जन्म से प्राप्त कर्त्तव्य

हम सब ध्यान में रखें कि यह एकता हमारे रक्त में जन्मजात एवं दृढ़-निविष्ट है; क्योंकि हम सभी ने हिन्दू के नाते जन्म लिया है। आज के कुछ बुद्धिमान हमसे कहते हैं कि कोई व्यक्ति हिन्दू, मुसलमान अथवा ईसाई के रूप में पैदा नहीं होता वरन् केवल मानव के रूप में पैदा होता है। यह दूसरों के लिये चाहे सत्य हो पर हिन्दू के लिये नहीं है, क्योंकि उसका प्रथम संस्कार तभी हो जाता है जब वह अपनी माता के गर्भ में होता है और अन्तिम संस्कार तब होता है, जब उसका शरीर अग्नि को समर्पित कर दिया जाता है। हिन्दू के लिये जो कुछ हिन्दुत्व है, उसका निर्माण करने के लिए सोलह संस्कार होते हैं। वास्तव में अपनी माता के गर्भ से उत्पन्न होने के भी पूर्व हम हिन्दू हैं। अतः हम हिन्दू के रूप में ही जन्म लेते हैं। दूसरों के विषय में यह है कि वे इस संसार में बिना नाम के मानव के रूप में जन्म लेते हैं, पश्चात् सुन्नत अथवा बपतिस्मा द्वारा मुसलमान अथवा ईसाई हो जाते हैं।

अतएव अपने समाज में ऐक्य एवं एकात्मता को पुष्ट करना जन्म से ही हमारा कर्तव्य है। वह तो हमारा सहज कर्म है। और जो हमारा सहज कर्म है वह यदि दोषपूर्ण भी प्रतीत हो तो भी नहीं त्यागना चाहिये। गीता कहती है–

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्

अतः यह देखना हमारा सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है कि वर्तमान भेदभाव एवं विरोध जो हमारे समाज की जीवनीशक्ति को क्षीण कर रहे हैं, दूर हो जायँ और हमारा सम्पूर्ण समाज एक बार पुनः संघटित एवं सामञ्जस्य से पूर्ण हो जाय।

हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि अन्य सभी प्रलोभन जैसे राजनीति आदि हमारे जीवन में ज्यों-ज्यों हम बड़े होते हैं, आते जाते हैं। राजनीति एवं अन्य तत्व अस्थायी तथा ऊपरी मात्र हैं। राजनीतिक दल निर्माण होते हैं और विलीन हो जाते हैं। आज भी कतिपय दल एक दूसरे के विरुद्ध व्यूह-रचना किये खड़े हैं और कौन जानता है कि जो दल आज जनप्रियता के चरम बिन्दु को प्राप्त किये हुये हैं वह कल गिर जायें और दूसरा दल उनका स्थान ग्रहण कर ले। राजनीतिक दल निसर्गतः अस्थायी होते हैं। किन्तु समाज तो शाश्वत एवं अमर है। कितने ही राजा और राजवंश, कितनी ही शासन-पद्धतियाँ एवं कितने ही राजनीतिक तथा आर्थिक रचनाक्रम गत सहस्रों वर्षों में आये और चले गये किन्तु रक्त और इतिहास के बन्धनों में आबद्ध समाज के रूप में हम एक एवं पूर्ण बने रहे। अतएव हमें विवेचन करना चाहिये कि क्या स्थायी है और क्या अस्थायी? जो स्थायी है, उसे ग्रहण करना चाहिये। यदि अस्थायी स्थायी के मार्ग में बाधक होकर आता है तो उसे त्यागना चाहिये—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवं परिषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि॥

(वह मनुष्य जो स्थायी को छोड़कर अस्थायी के पीछे दौड़ता है—उस मनुष्य के पास जो भी स्थायी वस्तु है, वह भी नष्ट हो जाती है और अस्थायी का तो नाश हो जाना निश्चित ही है।)

समाज ध्रुवम् (स्थायी) है और राजनीति अध्रुवम् (अस्थायी) है। यदि राजनीति की दौड़ में हम समाज को त्याग देंगे और उसकी आन्तरिक एकता नष्ट कर देंगे तो हम अपने भौतिक कर्तव्य के विरुद्ध कार्य करेंगे।

शुद्ध भक्ति के लिए आह्वान

अतएव एकात्म एवं सम्पूर्ण हिन्दू समाज हम सबके लिये भक्ति का एक

केन्द्र बिन्दु होना चाहिये। इस समाज की भक्ति के मार्ग में अन्य कोई भी विचार चाहे वह जाति, पन्थ, भाषा अथवा दल का हो, नहीं आने देना चाहिये। यही सच्ची भक्ति की कसौटी है। मीरा के जीवन की एक अति प्रसिद्ध आख्यायिका है। जब उसके अपने ही सम्बन्धियों द्वारा उसकी कृष्ण-भक्ति में बाधा उपस्थित की गई तो उसने गोस्वामी तुलसीदास को एक पत्र लिखा और इस विषय में उनका उपदेश माँगा। उन्होंने इसका उत्तर एक सुन्दर कविता में दिया जो विनय पत्रिका में है, जिसमें उन्होंने कहा है—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।

इसका अर्थ यही है कि जो राम को अर्थात् जो भक्त का इष्ट है उसे प्यार नहीं करते और बाधा के रूप में आ जाते हैं, उन्हें कोटि शत्रु के समान त्याग देना चाहिये चाहे वे अत्यन्त निकट सम्बन्धी एवं प्रियजन ही क्यों न रहे हों। पश्चात् उन्होंने ऐसे उदाहरण दिये हैं कि जिनमें इष्ट की भक्ति के लिये माता, पिता तथा अन्य सम्बन्धियों को त्याग दिया गया है। अतएव आज अपने इस प्रत्यक्ष देवता हिन्दू-समाज की भक्ति में विघ्न उपस्थित करने वाले अपने मन के सभी अन्तर्वेगों को त्यागना होगा, क्योंकि वे अपने समाज की आन्तरिक एकता को खड़ी करने और सशक्त बनाने के अत्यावश्यक एवं प्रमुख कर्तव्य के मार्ग में बाधा रूप में आते हैं।

अस्तु, हम सब समस्त विघ्नों एवं बाधाओं को डुबाते, हटाते हुए अपनी अन्तर्जात एकात्मता को प्रत्येक हिन्दू के घर-द्वार तक पहुँचाने के लिए उठें और प्रत्येक हिन्दू के हृदय में एक सजीव समाजदेवता की दीप्तिमान ज्योति की अनुभूति उसकी विविध अभिव्यक्तियों के साथ प्रज्ज्वलित करें।

***

९ पौरुषयुक्त राष्ट्र-जीवन के हेतु

राष्ट्र : एक भावात्मक बोध

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डाक्टर केशव बलिराम हेडगेवार अपने बाल्यकाल से ही राष्ट्रभक्त थे और उस समय मातृभूमि की भक्ति के हेतु चलने वाले विविध आन्दोलनों में उन्होंने भाग लिया था। बहुत वर्षों तक वे क्रान्तिकारी आन्दोलनों में भी रहे। बाद में वे भारतीय महासभा (कांग्रेस) के आन्दोलनों तथा संघटनात्मक कार्य में जुट गये।

किन्तु शीघ्र ही उन्होंने यह स्पष्ट ज्ञात कर लिया कि उन सभी आन्दोलनों के अन्तर्गत केवल अंग्रेजों को निकाल बाहर करने की ही भावना है और यही भावना राष्ट्रीयता के समानार्थी समझी जाती है। उस समय के अधिकतर प्रमुख व्यक्तियों के लिये अंग्रेज-विरोध तथा राष्ट्रीयता पर्यायवाची शब्द थे। हमारे संघ के संस्थापक इस प्रकार के अपूर्ण विचारों से संतुष्ट नहीं हुये। वे अपने राष्ट्र तथा अन्य राष्ट्रों के इतिहास के गम्भीर अध्ययन के द्वारा यह जानते थे कि राष्ट्र की कल्पना तो भावात्मक है। वह किसी अन्य के विरोध पर निर्भर नहीं होती। और वे यह भी जानते थे कि राष्ट्र के लक्ष्य की प्रारम्भिक कल्पना की स्वल्प-सी विकृति हमारे उद्देश्य के श्रेष्ठतम होते हुए भी, ऐसे दुर्भाग्यपूर्ण परिणामों की दिशा में ले जायेगी, जहाँ से हम लौट नहीं सकेंगे। हमारा भाग्य उस व्यक्ति के समान होगा, जिसने विनायक की प्रतिमा बनाना आरम्भ किया किन्तु समाप्ति पर बन्दर की प्रतिमा बनी।

विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्।

इन विषयों पर गम्भीर मनन के पश्चात् डाक्टर हेडगेवार ने अपने

राष्ट्रत्व की वास्तविक, भावात्मक एवं चिरकालिक कल्पना के आधार पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को आरम्भ करने का निर्णय किया।

हमारी राष्ट्रीयता की वह वास्तविक कल्पना क्या है? पहले हम, जिस प्रकार इसकी कल्पना आधुनिक संसार में समझी और व्यवहार में लाई जाती है, इसे निर्देश करें, और उसका विश्लेषण करें, क्योंकि यह वर्तमान संदर्भ में विषय के विवेचन में सहायक होगी।

आधुनिक विद्वानों के कथन

पश्चिम में 'राष्ट्र' की कल्पना का प्रारम्भ में आविर्भाव किस प्रकार हुआ? सर्वप्रथम, विविध जनसमुदायों ने अपने आपको किसी प्रकार की प्रादेशिक सीमाओं के अन्तर्गत मर्यादित कर लिया। किसी विशिष्ट प्रदेश में रहने वाले जनों में यह भावना उदय हुई कि वे उस भूमि के पुत्र हैं, उनकी अपनी एक जीवन-पद्धति है, जिसको उन्हें सुरक्षित रखना है तथा उनके स्वार्थ इसी प्रकार के अन्य जनसमुदायों से भिन्न हैं, संक्षेप में उनका एक अलग एवं विशिष्ट अस्तित्व है। इस प्रकार वे एक सुगठित एवं अविभाज्य समुदाय बन गये। समय-समय पर और विभिन्न देशों में विचारवान अग्रणी पुरुषों ने इन समुदायों का परिचय देने के लिए 'राष्ट्र' की भावना को अभिव्यक्त किया है। यदि हम उनके द्वारा की गई अनेकों अभिव्यक्तियाँ एवं परिभाषायें संकलित करके उनका सार निकालें तो हमें कुछ निश्चित एवं सरल निष्कर्ष प्राप्त होते हैं।

किसी राष्ट्र के लिये प्रथम अपरिहार्य वस्तु एक भू-खण्ड है जो यथासंभव किन्हीं प्राकृतिक सीमाओं से आबद्ध हो तथा एक राष्ट्र के रहने और वृद्धि एवं समृद्धि के लिये आधार रूप में काम दे। द्वितीय आवश्यकता है उस विशिष्ट भू-प्रदेश में रहने वाला समाज जो उसके प्रति मातृभूमि के रूप में प्रेम एवं पूज्य भाव विकसित करता है तथा अपने पोषण, सुरक्षा और समृद्धि के स्थान के रूप में उसे ग्रहण करता है। संक्षेप में, वह समाज उस भूमि के पुत्र रूप में स्वयं को अनुभव करे।

वह समाज केवल मनुष्यों का एक समुच्चय ही नहीं होना चाहिये। विजातीय व्यक्तियों का किसी स्थान पर एकत्रीकरण मात्र नहीं चाहिये। उनके जीवन की एक विशिष्ट पद्धति बनी होनी चाहिये, जिसको जीवन के आदर्श, संस्कृति, अनुभूतियों, भावनाओं, विश्वास एवं परम्पराओं के सम्मिलन के द्वारा एक स्वरूप दिया गया हो। इस प्रकार जब समाज समान परम्पराओं एवं महत्वाकांक्षाओं से युक्त, अतीत जीवन की सुख-दुःख की समान स्मृतियों और

शत्रु-मित्र की समान अनुभूतियों वाला तथा जिनके सभी हित संग्रथित होकर एकरूप हो गये हैं, ऐसे सुव्यवस्थित रूप में संगठित हो जाता है तब इस प्रकार के लोग उस विशिष्ट प्रदेश में पुत्र के रूप में निवास करते हुए एक राष्ट्र कहे जाते हैं।

हिन्दू, भारत का पुत्र

यदि हम अपने देश पर संसार के सभी विद्वानों द्वारा मानी हुई यह परिभाषा लागू करें तो हम देखेंगे कि हमारा महान् देश उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण महासागर तक तथा उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में फैली हुई हिमालय की शाखाओं एवं उनके अन्तर्गत भू-प्रदेशों से युक्त तथा अपने दक्षिण महासागर स्थित द्वीपसमूह के साथ एक महान् नैसर्गिक इकाई है। हमारा सुविकसित समाज यहाँ इस भूमि की सन्तान के रूप में सहस्रों वर्षों से निवास कर रहा है। यह समाज, विशेषतया आधुनिक काल में, हिन्दू-समाज के नाम से जाना गया है। यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है। क्योंकि वे हिन्दू समाज के ही पूर्वज थे, जिन्होंने मातृ-भू के लिए प्रेम तथा भक्ति के आदर्श एवं परम्परायें निश्चित कीं। उन्होंने अपनी मातृ-भू की सजीव एवं अखण्ड प्रतिमा को समाज के मस्तिष्क में सदैव उज्ज्वल बनाये रखने के हेतु तथा उसकी दिव्य सत्ता के प्रति भक्ति जागृत रखने के हेतु विविध कर्त्तव्यों और कृत्यों को भी निर्दिष्ट किया। और फिर यह वही थे, जिन्होंने इस मातृ-भू की अखंडता एवं पावित्र्य की रक्षा के लिए अपने रक्त को बहाया। यह सब कुछ केवल हिन्दू समाज द्वारा ही किया गया। इस तथ्य का साक्षी हमारा सहस्रों वर्षों का इतिहास है। इसका अर्थ है कि केवल हिन्दू ही इस भूमि की सन्तान के रूप में यहाँ रहता आ रहा है। अति प्राचीन काल से आज तक के हमारे सभी महान् पुरुषों ने अपने-अपने जीवन एवं उदाहरणों द्वारा इस पावन सम्बन्ध-सूत्र के सातत्य को पुष्ट किया है।

मातृ-भू की इस संयुक्त उपासना ने हमारे सम्पूर्ण समाज में काश्मीर से कन्याकुमारी तक एवं वनवासी से नगरवासी तक एक दूसरे के प्रति एक रक्त-सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। ये सभी अनेकों जातियाँ, ईश्वर की उपासना के विविध मार्ग तथा विविध भाषायें एक महान् सजातीय ठोस हिन्दू समाज की अभिव्यक्तियाँ हैं जो इस मातृ-भू की सन्तान हैं।

सांस्कृतिक सहचारिता

हमारे हिन्दू समाज का एक आदर्श रहा है और वह है चरम सत्य की अनुभूति। इसी आदर्श के अनुरूप हमारा एक धर्म है जो अपने दृष्टिकोण की

व्यापकता में अनुलनीय है तथा मानव-जीवन के सभी स्तरों एवं पहलुओं को आवेष्टित करता है। हमारी एक जीवनधारा है, जिसे हम संस्कृति कहते हैं, जो अति उदात्त गुण, पवित्रता, चारित्र्य, धैर्य एवं आत्मबलिदान की भावना को व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में निविष्ट कराती हुई उसे मानव सत्ता के उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने की योग्यता प्रदान करती है। ऐहिक को एक अलौकिकता प्रदान करती हुई इस संस्कृति की छाप हमारे दैनिक जीवन में व्यक्त होती है। उदाहरण के लिए हमारा यह सामान्य नियम है कि प्रत्येक स्त्री को चाहे वह छोटी बालिका ही क्यों न हो, हम माँ कहकर पुकारते हैं। हम अपनी अनेक बोलियों में भी जो शब्द प्रयोग करते हैं, वह भी इस अर्थ को व्यक्त करते हैं। इसका यह आशय है कि पत्नी को छोड़कर अन्य प्रत्येक स्त्री वह चाहे जिस अवस्था एवं प्रतिष्ठा की हो, पुरुष के लिए माता का व्यक्त रूप है। यह हमारी संस्कृति का विशिष्ट स्वरूप है।

शिवाजी का प्रसिद्ध उदाहरण है कि उन्होंने कल्याण के मुसलमान सूबेदार की सुन्दरी पुत्र-वधू को नाना प्रकार के उपहारों के साथ अत्यन्त सम्मानपूर्वक लौटा दिया था। यद्यपि यह बात विदेशी, विशेषतया मुसलमान, इतिहासकारों को अपवादस्वरूप प्रतीत होती है परन्तु इस देश की उदात्त संस्कृति के प्रतीक स्वरूप एक अति साधारण उदाहरण है। यहाँ का सामान्य जन तक इसका भागीदार है।

इसी तथ्य को प्रकट करने वाला एक और भी उस समय का उदाहरण है, जब गान्धी जी की हत्या के पश्चात् उपद्रव हो रहे थे। अराष्ट्रीय एवं विध्वंसक तत्वों द्वारा जब निर्दोष जनता की हत्या, लूट तथा अग्निकाण्डों का प्रचण्ड ताण्डव हो रहा था। उस समय एक इसी प्रकार की घातक भीड़ ने एक मकान पर आक्रमण किया। उस घर में केवल एक महिला थी। भय के कारण उसने द्वार खोल दिये। उसे अकेला देखकर वह भीड़ कुछ देर के लिये रुक गई। कुख्यात आततायी लोग उस भीड़ का नेतृत्व कर रहे थे। फिर भी हमारी संस्कृति के 'मातृवत् परदारेषु'—आह्वान ने जो उन लोगों के रक्त में था, उनसे उस महिला के साथ अत्यन्त सम्मान का व्यवहार करवाया। उन्होंने उससे कहा कि वे आग लगाने तथा लूटने आये हैं, किन्तु उसे सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने का प्रबन्ध कर देंगे। अस्तु, उन्हीं में से दो को रक्षक के रूप में उस महिला को साथ ले जाने को नियुक्त कर दिया गया। सहस्रों वर्षों का विदेशियों का विनाशकारी प्रभाव तथा हमारे वर्तमान तथाकथित उच्च वर्ग में सर्वतोमुखी भयंकर अनैतिकता के होते हुए भी हमारे देश के सामान्य जन

में आज भी इस प्रकार के चरित्र के श्रेष्ठ उदाहरण मिल जाते हैं। इस प्रकार की घटनायें हमारे हृदय में पोषित हुई अन्य लोगों से भिन्न विशुद्ध एवं उदात्त संस्कृति की कल्पना देती हैं। इसने हमें एक ऐसा स्वरूप प्रदान किया है जो पूर्णरूप से हमारा अपना है।

इन सहस्रों वर्षों में हमने असंख्य सन्त-महात्माओं, शूरवीरों एवं ऐसे उद्धारकों की एक दीप्तिमय परम्परा को उत्पन्न किया है, जिन्होंने परमात्मा की खोज के मार्ग पर हमारा नेतृत्व किया है और भौतिक सम्पत्ति तथा सम्मान के अर्जन में हमें मार्गदर्शन किया है। विविध प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्होंने एक समाज-व्यवस्था को जन्म दिया, सम्पत्ति के योग्य उत्पादन एवं वितरण के लिये आर्थिक पद्धतियों का विकास किया तथा व्यवस्थित सामाजिक विकास की धारणा एवं रक्षा के हेतु राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण किया। यहाँ इन अनेक शताब्दियों के हमारे अस्तित्व के परिणामस्वरूप हमें वैभव एवं विपत्ति की तथा मित्र एवं शत्रु की अनुभूतियाँ समान भाव से हुई हैं, जिनके कारण हमारे सभी हित अपृथक् रूप से एक साथ मिल गये हैं।

जब कभी गलती से हम परस्पर लड़े और यह विचार किया कि एक विशेष वर्ग के हित दूसरे वर्ग के हितों के विरुद्ध हैं तथा परस्पर विरोधी राज्यों का विकास किया तो विदेशियों के विरुद्ध हम युद्ध में पराजित हुए और हीन दासता एवं दैन्य को प्राप्त हुये। यही परिणाम उस समय भी हुआ जब हमारे समाज का एक भाग किसी विदेशी शक्ति के विरोध में हुआ तथा दूसरे भाग ने उसी विदेशी शक्ति को भूल से मित्र समझा। पृथ्वीराज चौहान का उदाहरण इसी प्रकार का है। उसका शत्रु मुहम्मद गोरी था। जयचन्द ने मुहम्मद गोरी से मित्रता स्थापित की। यहाँ पर हमारे देश के दो प्रमुख व्यक्तियों में एक उसी आक्रान्ता का शत्रु तथा दूसरा मित्र बना। परिणाम यह हुआ कि पृथ्वीराज पराजित हुआ और मारा गया। जयचन्द भी नष्ट हुआ। मुहम्मद गोरी राजा हुआ। फलतः एक के पश्चात् दूसरी विपत्तियाँ, जिन्हें हम आठ सौ वर्षों से भोग रहे हैं एवं वर्तमान काल में हमारे देश के विभाजन के रूप में पराकाष्ठा पर पहुंच गई हैं, हमारे ऊपर छाने लगीं। इसके विपरीत चाहे अल्प काल के लिये ही क्यों न हो, जब कभी हमने यह अनुभव किया कि हमारे हित अविभक्त हैं, हमारे मित्र एवं शत्रु हम सभी के लिये समान हैं तो हमारे राष्ट्र-जीवन में ऐसी महत् शक्ति का उद्भव हुआ कि विदेशी की शक्ति चूर-चूर होकर हमारे पैरों पर लोटने लगी। अस्तु, एक पूर्ण राष्ट्र के निर्माण

के लिए सभी आवश्यक तत्वों की पूर्ति इस महान् हिन्दू समाज के जीवन में इस प्रकार हो जाती है। इसलिये हम कहते हैं कि हमारे इस भारत देश में हिन्दू समाज का ही जीवन, राष्ट्र-जीवन है। संक्षेप में, यह हिन्दू-राष्ट्र है।

दो विरोधों का संगम

किन्तु जब हम राष्ट्र की कल्पना की व्याख्या करते हुए धर्म एवं संस्कृति का उल्लेख करते हैं तो हमारे देश के कुछ तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादी बेचैन हो जाते हैं। वे इन शब्दों को सुनकर पूछने लगते हैं कि राजनीति में धर्म को क्यों लाते हो ? अस्तु, हम उस स्टालिन का ही उदाहरण लें, जिसने ईश्वर एवं धर्म पर सब प्रकार से आक्षेप किया और कहा कि यह तो अज्ञ जनों को ठगने के लिए अफीम मात्र है। राष्ट्र-कल्पना की व्याख्या करते हुये एक बार उसने कहा है कि एक भू-प्रदेश में रहने वाले जनों का, केवल आर्थिक अथवा राजनीतिक सामान्य हितों के आधार पर ही राष्ट्र नहीं बन जाता वरन् वह तो एक अभौतिक भावनाओं की सजातीयता है।

आधुनिक काल में हमारे राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन के महान् अग्रदूत स्वामी विवेकानन्द ने भी बार-बार असंदिग्ध शब्दों में यह घोषित किया है कि यह हिन्दू-राष्ट्र है और हमारे सामने महान् हिन्दू आदर्शों के रूप में गुरु गोविंदसिंह एवं छत्रपति शिवाजी को रखा है। वास्तव में उन्होंने हमारे राष्ट्र के घटक उन लोगों को बताया है जिनके हृदयों का स्पन्दन एक ही आध्यात्मिक लय के अनुसार होता हो।

अस्तु, हम कहते हैं कि हमारा हिन्दू राष्ट्रत्व एक सत्य है, जो तर्कशुद्ध, अनुभवशुद्ध एवं इतिहासशुद्ध है। यह हमारे राष्ट्रजीवन का सबसे महान् और ठोस तथ्य है। यह कोई चलतू सामयिक 'वाद' नहीं है जो किन्हीं राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्तों अथवा सामयिक आवश्यकताओं से उत्पन्न हुआ हो।

राष्ट्रीयता की कसौटी

जब हम कहते हैं कि यह हिन्दू-राष्ट्र है तो कुछ लोग तुरन्त प्रश्न करते हैं कि जो मुसलमान और ईसाई यहाँ रहते हैं, उनके विषय में आप क्या कहते हैं ? क्या वे भी यहाँ उत्पन्न नहीं हुये तथा यहीं उनका पालन-पोषण नहीं हुआ ? वे धर्म के परिवर्तन से ही परकीय कैसे हो गये ? किन्तु निर्णायक बात तो यह है कि क्या उन्हें यह स्मरण है कि वे इस भूमि की सन्तान हैं। केवल हमारे ही स्मरण रखने से क्या लाभ ? यह अनुभूति एवं स्मृति उन्हें पोषित करनी चहिये।

हम इतने क्षुद्र नहीं कि यह कहने लगें कि केवल पूजा का प्रकार बदल जाने से कोई व्यक्ति उस भूमि का पुत्र नहीं रहता। हमें ईश्वर को किसी भी नाम से पुकारने में आपत्ति नहीं है। हम संघ के लोग पूर्णरूपेण हिन्दू हैं। इसीलिए हममें प्रत्येक पन्थ और सभी धार्मिक विश्वासों के प्रति सम्मान का भाव है। जो अन्य पन्थों के प्रति असहिष्णु है, वह कभी भी हिन्दू नहीं हो सकता। किन्तु अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि जो मुसलमान और ईसाई हो गये हैं, उनका भाव क्या है? निःसन्देह वे इसी देश में पैदा हुये हैं। किन्तु क्या वे इसके प्रति प्रामाणिक हैं। इस मिट्टी के ऋणी हैं? क्या वे इस देश के प्रति, जहाँ उनका पालन-पोषण हुआ है, कृतज्ञ हैं? क्या वे अनुभव करते हैं कि वे इस देश और इसकी परम्पराओं की सन्तति हैं और इसकी सेवा करना उनके भाग्य की धन्यता है? क्या उसकी सेवा वे अपना कर्तव्य मानते हैं? नहीं, धर्म-परिवर्तन के साथ ही उनकी राष्ट्र के प्रति प्रेम एवं भक्ति की भावना समाप्त हो गई है।

यहीं तक नहीं वरन् उनमें तो इस देश के शत्रुओं के साथ अभिन्नता की अनुभूति भी विकसित हो गई है। वे अपनी पवित्र भूमि के रूप में किन्हीं अन्य देशों की ओर देखते हैं। वे अपने को शेख और सैयद कहते हैं। शेख और सैयद तो अरब की जातियाँ हैं। ये लोग कैसे इस प्रकार का अनुभव करने लगे कि ये उनके वंशज हैं? इसका कारण है कि उन्होंने अपने इस देश से आबद्ध करने वाले सभी पूर्व पारम्परिक राष्ट्रीय सम्बन्ध सूत्र काटकर अलग कर दिये हैं और मानसिक रूप से अपने को आक्रान्ताओं से एक कर लिया है। आज भी यही सोचते हैं कि वे केवल इस देश को विजय करके यहाँ राज्य स्थापित करने आये हैं। अस्तु, हम कहते हैं यह बात धर्म-परिवर्तन की नहीं है वरन् राष्ट्रीय तादात्म्य में भी परिवर्तन आ गया है। अपने मातृ-राष्ट्र को संकट में छोड़कर शत्रु से मिल जाना राजद्रोह नहीं तो और क्या है?

एक बार एक वरिष्ठ अमरीकी प्रोफेसर ने मुझसे प्रश्न किया—मुसलमान और ईसाई भी इसी देश में हैं, आप उन्हें अपने ही में से क्यों नहीं समझते? उत्तर में मैंने उन्हीं से उल्टे एक प्रश्न कर दिया—"मान लीजिये कि हमारे देश का ही कोई व्यक्ति अमेरिका जाता है, बसने लगता है और वहाँ का नागरिक बनना चाहता है किन्तु वह आपके लिंकन, वाशिंगटन, जेफरसन तथा अन्य राष्ट्रीय महापुरुषों को स्वीकार करने से इनकार करता है, स्पष्ट उत्तर दीजिये कि क्या आप उसे अमेरिका का राष्ट्रीय कहेंगे"? उन्होंने कहा, "नहीं।"

तब मैंने उनसे कहा कि हमारे देश के लिए भी उसी कसौटी का प्रयोग क्यों न किया जाना चाहिये ? आप कैसे कह सकते हैं कि जो यहाँ रहते हुये हमारे देश के सम्मान एवं परम्पराओं के विरोध में कार्य करते हैं तथा हमारे राष्ट्रीय महापुरुषों एवं राष्ट्रीय श्रद्धा की वस्तुओं का अपमान करते हैं, उन्हें हमें राष्ट्रीय कहना चाहिये ?

पोषण नहीं वरन् संस्कृति का महत्व है

किसी व्यक्ति को किसी देश में जन्म तथा पालन-पोषण होने मात्र से ही उस भू-भाग के राष्ट्रीय होने का अधिकार नहीं मिल जाता। इसके लिये उसमें तदनुरूप मानसिक प्रतिमान की आवश्यकता होती है। राष्ट्रीयता के लिये मानसिक निष्ठा एक ऐसा तत्व है, जिसे सम्पूर्ण संसार स्वीकार करता है।

हमारे लिये यह प्राचीन कथा उपदेशप्रद हो सकती है। एक बार एक सिंहिनी को वन में घूमते हुये एक छोटा सियार का बच्चा मिल गया। उसे वह अपनी गुफा में ले आई। सिंहिनी के अपने बच्चे भी थे। उसने अपने बच्चों के साथ उस सियार-शिशु को भी अपने दूध से पालना आरम्भ कर दिया। वे सब बड़े होने लगे और भाई-भाई की भाँति खेलने लगे। एक बार जब वे एक घने वन में थे तो उसी मार्ग से एक हाथी आया। सियार का बच्चा उस विशालकाय पशु को देखकर भय से चिल्लाने लगा और अपने भाइयों को भाग चलने के लिये कहने लगा। सिंह के शावक ने कहा कि तुम कैसे मूर्ख हो ? कितने दिनों बाद तो हमें इतना अच्छा शिकार मिला है। यदि तुम्हें भय है तो तुम घर जाओ। हम तो लड़ेंगे। वह सियार का बच्चा दौड़ता हुआ गुफा में आया और सिंहिनी से कहा कि मुझ ज्येष्ठ के उपदेश पर ध्यान न देने से वे छोटे भाई कैसे महान् संकट में फँस गये हैं। सिंहिनी ने मुस्कराकर उस बच्चे से कहा—निस्सन्देह तुम हमारा दूध पीकर बड़े हुये हो किन्तु तब भी तुम अपनी प्रकृति से भिन्न कैसे हो सकते हो ?

शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक !
यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नः गजस्तत्र न हन्यते ।।

(हे पुत्र ! इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुम वीर हो, चतुर और विद्वान् हो। दर्शनीय हो परन्तु जिस कुल में तुम्हारा जन्म हुआ, उस कुल के लोग हाथी नहीं मार सकते।)

यही बात राष्ट्रों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। किसी विशिष्ट प्रदेश में साधारण रूप से निवास मात्र समान चारित्र्य एवं गुणों से सम्पन्न एकात्म,

राष्ट्रीय समाज का निर्माण नहीं कर सकता। नवागतों को अपने जीवन के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन लाना चाहिये, मानो प्राचीन राष्ट्रीय कुल परम्परा में उनका पुनर्जन्म हुआ हो।

आदर्श जनतन्त्रात्मक देश—इंगलैण्ड का एक उदाहरण अत्यन्त शिक्षाप्रद है। सौ वर्ष से अधिक समय पूर्व कुछ जर्मन लोग वहाँ बस गये थे और उन्हें वहाँ की नागरिकता के अधिकार भी दे दिये गये थे। वे परकीय नहीं समझे जाते थे। उनमें से एक हमारे देश में इँगलैण्ड के सेवक के रूप में आया और मध्य प्रदेश में किसी आई० सी० एस० पद पर नियुक्त किया गया। किन्तु जब १९१४ में युद्ध आरम्भ हुआ तो उसे तुरन्त बन्दी बनाकर जेल भेज दिया गया, कारण कि जर्मन देश के प्रति उसकी आसक्ति कहीं उभड़ न जाय इस सन्देह मात्र से ही वह प्रतिबन्धित रहा। यह उनकी राष्ट्रीयता की परिपक्व और सही धारणा है।

यही बात हमारे देश के लिये भी है। हमारे देश में समान रूप से निवास, जन्म और वृद्धि मात्र यह सूचित नहीं करता कि इसके सभी निवासियों में एक समान निष्ठाओं, गुणों एवं प्रतिमानों का अस्तित्व है।

दासता को उतार फेंकने का आह्वान

अस्तु, हम यही कहते हैं कि मुसलमान और ईसाइयों को चाहिये कि वे अपने वर्तमान विदेशी मानसिक भाव को त्यागें और हमारे राष्ट्र-जीवन की सामान्य धारा में अपने को मिला दें।

प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि केवल मुट्ठी भर मुसलमान यहाँ शत्रु एवं आक्रान्ता के रूप में आये थे। इसी प्रकार अल्प मात्रा में ही विदेशी ईसाई धर्म-प्रचारक यहाँ आये थे। अब मुसलमान और ईसाइयों की संख्या बढ़ गई है। वे मछलियों के समान प्रजनन की रीति से नहीं बढ़े हैं। उन्होंने स्थानीय जनों का धर्म परिवर्तन किया है। हम अपनी वंशपरम्परा के समान उद्गम तक पहुँच सकते हैं, जहाँ से एक भाग हिन्दुओं से लिया जाकर मुसलमान हो गया और दूसरा ईसाई हो गया। शेष धर्मान्तरित नहीं किये जा सके और वे हिन्दू बने रहे। अब यह भी विचार कीजिये कि उन्होंने अपना परम्परागत गृह किस प्रकार जोड़ा ? क्या स्वेच्छा से और उन सम्प्रदायों की श्रेष्ठता के कारण छोड़ा ? नहीं ! इतिहास में इस प्रकार के उदाहरण का एक भी उल्लेखनीय अभिलेख नहीं है।

इसके विपरीत इतिहास हमें बताता है कि धर्मान्तरण का कारण जीवन का भय अथवा बलात्कार या सत्ता और प्रतिष्ठा आदि के भाँति-भाँति के

प्रलोभन थे। इसलिये उन शक्तियों की रीति-नीतियाँ तथा अन्त में धर्म भी ग्रहण करके उन्हें प्रसन्न करने की लोगों की इच्छा होती थी। उसमें बहुत कुछ कपट भी था। गो-मांस अथवा रोटी का टुकड़ा जलाशय में फेंक दिया जाता था, तथा इस बात को न जानते हुये ग्रामवासी यथावत् वहाँ से जल लेते रहते थे। दूसरे दिन प्रातःकाल ईसाई धर्म-प्रचारक या मौलवी आता था और घोषणा कर देता था कि उन्होंने अपवित्र जल का प्रयोग कर लिया है अतः वे धर्मभ्रष्ट हो गये हैं तथा अब उनके लिए एक ही मार्ग है : कि हमारे सम्प्रदाय में मिल जायें। इस प्रकार उत्तर में गाँव के गाँव मुसलमान बना लिये गये तथा अपने सागर के पश्चिमी तट पर ईसाई बना लिये गये। यह तो शुद्ध प्रवञ्चना ही है। इस प्रकार राजनीतिक आधिपत्य के लिये संख्या-वृद्धि का यह उन्मत्त उत्साह था। यह धर्म-प्रचार नहीं था वरन् धर्म की आड़ में एक राजनीतिक चाल थी। विदेशी आक्रान्ता ने उन्हें राजनीतिक एवं सांस्कृतिक रूप से ही वशीभूत नहीं किया वरन् अन्ततोगत्वा उन्हें धर्मान्तरित करके अपने धर्म में भी मिला लिया। यह भी विदेशी आधिपत्य ही है। जिस तरह राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक आधिपत्य होते हैं, उसी तरह यह धार्मिक आधिपत्य है।

हमारा कर्तव्य है कि अपने इन परित्यक्त भाइयों को, जो शताब्दियों से धार्मिक दास्य के क्लेश को भोग रहे हैं पुनः अपने पूर्वजों के घर बुला लावें। ईमानदार, स्वतन्त्रताप्रिय मनुष्यों की भाँति वे भी दास्य तथा आधिपत्य के सभी चिह्नों को उतार फेंके और वंशपरम्परानुगत भक्ति एवं राष्ट्रीय जीवन की रीतियों का अनुसरण करें। सभी प्रकार की दासता हमारी प्रकृति के प्रतिकूल है अतः उसे त्याग देना चाहिये। यह उन सभी भाइयों के लिये आह्वान है कि वे हमारे राष्ट्र-जीवन में अपना मूल स्थान ग्रहण करें। और हमारे समाज के इन लौटे हुये, भटके हुए पुत्रों के पुनः आगमन पर हम महान् दीपावली का पर्व मनायें। यहाँ किसी बात की भी अनिवार्यता नहीं है। यह तो उनके लिये एक आह्वान और प्रार्थना है कि वे परिस्थितियों को उचित प्रकार से समझें तथा लौट आवें एवं परिधान, रीतियाँ, भवन-निर्माण, विवाहोत्सव एवं मृत्यु संस्कारादि सभी बातों में हिन्दू जीवन-पद्धति के साथ अपना तादात्म्य अनुभव करें।

कुछ लोग घोषणा करते हैं कि उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तथा अन्य सभी में राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर एकता स्थापित कर ली है। किन्तु इस एकता को केवल वहीं तक सीमित क्यों करें ? उसे क्यों न अधिक

विस्तृत एवं व्यापक बनायें, जिससे कि उन सभी को हिन्दू-जीवन-पद्धति में, अपने धर्म में, मिला लें तथा खोये हुए भाइयों के समान उन्हें पुनः स्वीकार करें ? जो राजनीतिक एवं आर्थिक स्तर पर एकता की बात करते हैं, हम उनसे कहते हैं कि हमारा लक्ष्य केवल राजनीतिक एवं आर्थिक एकता ही प्राप्त करना नहीं है वरन् हम तो सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकता भी चाहते हैं। हमने अपने घरों के, पवित्र स्थानों और देवालयों, अपनी युगों प्राचीन संस्कृति एवं पैतृक निधियों के द्वार खोल दिये हैं और निःसंशय यही अधिक व्यापक दृष्टिकोण है।

पराक्रमवाद को पुनर्जीवित करो

अनेकों लोग हैं जो अपने अन्तर्तम में यही अनुभव करते हैं। उदाहरणार्थ, पंडित जवाहरलाल ने 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक पुस्तक की भूमिका लिखी है, जिसमें उन्होंने हिन्दू-संस्कृति के प्रति, जिसे वे भारतीय संस्कृति के नाम से पुकारते हैं, अपनी अन्तर्तम की गम्भीर भावनाओं और आत्यंतिक प्रेम को व्यक्त किया है और अपनी इस तीव्र आकांक्षा को व्यक्त किया है कि एक बार पुनः उसकी प्राचीन आत्मसात् करने की शक्तियों से युक्त उसे देखने का प्रसंग प्राप्त हो। उन्होंने कहा है कि हमारे सांस्कृतिक इतिहास की दो अवस्थायें रही थीं। प्रथम अवस्था में हूण तथा शकों जैसी जातियों ने, जो आक्रान्ताओं के रूप में यहाँ आईं, अपनी मूल रीतियों तथा धर्मों को छोड़ दिया और अपने को राजपूत कहना आरम्भ कर दिया। वे सभी प्रसन्नतापूर्वक स्वेच्छया हममें विलीन हो गये। उस समय हममें आत्मसात् करने का साहस और शक्ति थी और हमने उन्हें अपने राष्ट्र-जीवन की सांस्कृतिक धारा में पूर्ण रूप से विलीन कर लिया। हमने उनकी भी अच्छी बातें ग्रहण कीं। फिर वे कहते हैं कि द्वितीय अवस्था आई जब कि हमारे देश पर अत्यन्त उग्र चरित्र वाले आक्रान्ताओं ने आक्रमण किया तथा हमारे लोगों ने अपनी सामाजिक रचना में ही सुरक्षा प्राप्त करने के लिए विधि-निषेध के नियमों में अपने को बन्द कर लिया। इस प्रकार अपने आपको सबसे पृथक् रखते हुए वे संकुचित हो गये। अन्त में उन्होंने कहा कि अब यहाँ संकुचितता त्याग देना चाहिए और एक बार पुनः आत्मसात् करने का प्राचीन विचार पुनर्जीवित कर लेना चाहिए।

दुर्भाग्यवश उन्होंने केवल दो ही अवस्थाओं का उल्लेख किया है। एक और भी दुःखद अवस्था है। उनमें से कुछ लोगों ने जो हिन्दू-संस्कृति के प्रेम की दुहाई देते थे, विदेशियों के आक्रमण का सामना करना कठिन समझकर

यह सोचा कि आक्रान्ताओं के चरणों पर आत्मसमर्पण करके और उनके रीति-रिवाजों को अपनाकर, वे अपनी रक्षा कर सकेंगे। यह भूतकाल में घटित हुआ। हैदराबाद का एक वजीर जो पचास-साठ वर्ष पूर्व हिन्दू था अत्यन्त निष्ठावान मुसलमानों की भाँति पाँच समय की नमाज पढ़ा करता था, यह शरणागति है। यदि प्रथम अवस्था को हम पराक्रमवाद कहें और दूसरी को सकुंचिततावाद तो इस तीसरी अवस्था को शरणागतिवाद कह सकते हैं। आज भी यह अवस्था चली आ रही है। भाषा में भी हमारी सेना की आज्ञाओं में तेंतीस प्रतिशत अंग्रेजी तथा तेंतीस प्रतिशत फारसी के शब्द हैं। क्या इस प्रकार का मिश्रण, गणना और गणित एकीकरण ला सकेगा और हमारे समाज की एकात्मता को निश्चित रूप से दृढ़ करेगा ? यह तो आक्रान्ताओं को प्रसन्न करने के प्रयत्न, आत्मसमर्पण और उनके सामने झुक जाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि वे अविनेय रहे अतः हमारे लोगों की कल्पना में संकट से बचने का उपाय यह शरणागतिवाद ही आया।

हमें एक बार पुनः पराक्रमवाद को पुनरुज्जीवित करना चाहिए। इसके लिये हमें यह स्पष्ट करना होगा कि यहाँ निवास करने वाले अहिन्दू का एक राष्ट्रधर्म अर्थात् राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है, एक समाज-धर्म अर्थात् समाज के प्रति कर्तव्यभाव है, एक कुलधर्म अर्थात् अपने पूर्वजों के प्रति कर्तव्य-भाव है तथा केवल व्यक्तिगत धर्म, व्यक्तिगत निष्ठा का पंथ अपनी आध्यात्मिक प्रेरणा के अनुरूप चुनने में वह स्वतंत्र है। वह किसी भी पंथ को, जो उसकी आध्यात्मिक भूख को शान्त करे, स्वीकार कर सकता है। सामाजिक जीवन में उन सभी विविध कर्तव्यों का पालन करने के पश्चात् भी यदि कोई कहता है कि उसने कुरान शरीफ या बाइबिल का अध्ययन किया है और पूजा का अमुक प्रकार उसके हृदय को अधिक स्पर्श करता है तथा वह भक्ति के उस मार्ग द्वारा ईश्वर की आराधना अधिक भलीभाँति कर सकता है तो हमें उसमें बिल्कुल आपत्ति नहीं होगी। शेष के लिए उसे राष्ट्रीय धारा के साथ एक होकर रहना ही चाहिए। यही वास्तविक एकीकरण है।

इसी प्रकार हमने भूतकाल में भी व्यवहार किया है। हम सदा आतिथ्य-शील रहे हैं। किन्तु उन सभी को हमारे राष्ट्रीय नियमों एवं लोकाचारों के अनुसार व्यवहार करना पड़ा। कई शताब्दियों पूर्व, जब बर्बर अरब और तुर्कों ने फारस पर आक्रमण किया तो उस समय कुछ पारसी अपनी ,मातृभूमि को छोड़कर तथा अपनी पवित्र अग्नि एवं धर्म-पुस्तक को लेकर जल-पथ से चल पड़े और सूरत में आकर उतरे। राजा यादव राना ने उनका खुले हृदय से

स्वागत किया और द्वारिकापीठ के शंकराचार्य से पूछा कि उन्हें किस भाँति ग्रहण किया जाय। उनसे कह दिया गया कि वे हमारी राष्ट्रीय निष्ठा की वस्तु गो माता का सम्मान करते हुये गोमांस भक्षण त्याग दें और यहाँ शान्तिपूर्वक रहें। इन जरथुस्त्र के अनुयायियों ने आज तक अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया है। वे अपने धर्म की पूर्ण सुरक्षा के साथ यहाँ निवास कर रहे हैं। किन्तु उन्होंने अपने को यहाँ के राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा में पूर्ण रूप से विलीन कर दिया है।

एक बार पं० नेहरू ने जबलपुर की जनसभा के एक भाषण में कहा था कि कोई कारण नहीं कि हम मुसलमानों को अपने में न मिला सकें जब कि पूर्व काल में हम हूण और शकों को आत्मसात् कर चुके हैं। निर्विवाद रूप से हमारे राष्ट्रीय जीवन की एकात्मता के लिये यही और केवल यही शुद्ध मार्ग है।

हिन्दू-राष्ट्र की हमारी यही कल्पना है और यही है हमारा भाव उन अहिन्दुओं के प्रति जो यहाँ निवास करते हैं। इससे अधिक तर्कसंगत, व्यावहारिक एवं उचित समाधान अन्य कुछ नहीं हो सकता।

इस तर्कशुद्ध एवं भावात्मक दृष्टिकोण के होते हुए भी कुछ लोगों का अनुमान है कि हिन्दू-राष्ट्र की कल्पना मुसलमान तथा ईसाई नागरिकों के अस्तित्व के लिये चुनौती है। वे निकाल बाहर किये जायेंगे तथा उनका उन्मूलन हो जायगा। हमारी राष्ट्रीय भावना के लिये इससे अधिक मूर्खतापूर्ण अथवा घातक और कुछ नहीं हो सकता। यह तो हमारे महान् एवं सर्वग्राही सांस्कृतिक दाय का अपमान है। उदाहरण के लिये, क्या हम शिवाजी के नेतृत्व में हुए सबसे अन्तिम शक्तिशाली हिन्दू पुनरुत्थान के विषय में नहीं जानते कि उनकी सेना के अधिकारियों में एक रनदुल्ला खाँ था? उसके भी बाद के समय में सन् १७६१ के पानीपत युद्ध में, जो कि हिन्दू-स्वराज्य के उत्थान के लिये एक जीवन-मरण का संघर्ष था, तोपखाने का प्रमुख इब्राहीम गार्दी था। हमारे सामने इस प्रकार का अति स्पष्ट ऐतिहासिक साक्ष्य तथा सहस्रों वर्षों की राष्ट्रीय परम्परायें होते हुए भी यह कहना कितना विचित्र है कि यदि हिन्दू-राष्ट्र अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो गया तो अहिन्दुओं के लिये संकट उत्पन्न हो जायगा।

राष्ट्रीय एकता की आधारशिला

आज हम अपने राजनीतिक नेताओं के मुख से, राष्ट्रीय एकता, भावात्मक एकता आदि शब्द प्रायः सुनते हैं। किन्तु वह कौन सी समान भावना

है, वह कौन सा समान आधार है, जिस पर सब एक साथ आ सकते हैं ? हमारे राष्ट्र-जीवन के वे कौन से शाश्वत स्रोत हैं जो उसके एकीकरण, उत्थान एवं गौरव सम्पादन में समर्थ हैं ?

सबसे पहला है, जिस देश को अनन्तकाल से हमने अपनी पवित्र मातृभूमि माना है, उसके लिये ज्वलन्त भक्ति-भावना का आविर्भाव ।

द्वितीय है, साहचर्य एवं भ्रातृत्व भावना, जिसका जन्म इस अनुभूति के साथ होता है कि हम एक ही महान् माता के पुत्र हैं ।

तृतीय है, राष्ट्र-जीवन की समान धारा की उत्कट चेतना जो समान संस्कृत एवं समान पैतृक दाय, समान इतिहास एवं समान परम्पराओं तथा समान आदर्शों एवं आकांक्षाओं से उत्पन्न होती है ।

जीवन के मूल्यों की यह त्रिगुणात्मक मूर्ति एक शब्द में हिन्दू राष्ट्रीयता है जो राष्ट्र-मन्दिर के निर्माण के लिये आधार बनती है ।

* * *

२०

प्रादेशिक राष्ट्रवाद

१. उसके मूल

राष्ट्रीय क्यों ?

अपने इस संगठन का नाम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ रखने के पूर्व इस विषय पर बहुत विचार-विनिमय हुआ था। संघ से सम्पर्क रखने वाले अनेक व्यक्तियों की भी सम्मति ली गई थी। स्वाभाविक रूप से ही बहुत से नाम सामने आये और प्रत्येक नाम के लिये कुछ न कुछ आपत्ति उठाई गई। इस वर्तमान नाम पर भी यह आपत्ति हुई कि यदि राष्ट्रीय—शब्द रखा गया तो इसके द्वार देश में रहने वाले सभी लोगों के लिये अर्थात् मुसलमान, ईसाई आदि के लिये भी खुले रखने पड़ेंगे। अतः केवल हिन्दुओं के लिये ही सीमित होने के कारण इसका नाम 'हिन्दू-स्वयंसेवक संघ' सुझाया गया।

फिर 'हिन्दू' के स्थान पर 'राष्ट्रीय' शब्द को वरीयता क्यों प्रदान की गई ?

एक उदाहरण है जो इसमें निहित दृष्टिकोण को शुद्ध रूप में व्यक्त करता है। बम्बई में हिन्दू-कॉलोनी के नाम से एक स्थान है। उस स्थान के कुछ व्यक्तियों ने विचार किया कि इसका विदेशी शब्द 'कॉलोनी' बदल देना चाहिये। वे नाम बदलने के लिये एकत्र हुये। हमारे संघ के पूज्य संस्थापक उस समय बम्बई में ही थे। वे भी बुलाये गये थे। जब उनकी राय पूछी गई तो उन्होंने कहा कि 'कॉलोनी' शब्द की अपेक्षा 'हिन्दू शब्द' में पहले परिवर्तन करना चाहिये। वहाँ उपस्थित सभी लोगों को कट्टर हिन्दू होने के कारण, इस बात से आघात पहुँचा। उन्होंने कहा "एक दृढ़निष्ठ हिन्दू होते हुये आप 'हिन्दू' शब्द का विरोध क्यों करते हैं ?" डाक्टर जी ने उत्तर दिया कि वे इस

अर्थ में 'हिन्दू' शब्द के विरोधी नहीं हैं। उनका विरोध तो इस प्रसंग में 'हिन्दू', शब्द के प्रयोग करने पर है, जो यह लक्षित करता है कि हिन्दू ने अपने ही देश में अपने लिये एक कॉलोनी बना रखी है। हिन्दुस्थान में हिन्दू के लिये 'कॉलोनी' का क्या अर्थ होता है? यदि कुछ अंग्रेज हिन्दुस्थान में आयें और किसी विशिष्ट स्थान पर रहें और उसे ब्रिटिश कॉलोनी के नाम से पुकारें तो यह समझ में आने वाली बात हो सकती है। इसी प्रकार यदि आप भी इँगलैण्ड जाकर किसी विशिष्ट स्थान पर बसने लगें तो उसे हिन्दू-कॉलोनी कह सकते हैं। किन्तु इँगलैण्ड में ब्रिटिश-कालोनी, अमेरिका में अमेरिकन-कॉलोनी और हमारे देश हिन्दुस्थान में हिन्दू-कॉलोनी, सरीखे नाम बेतुकापन दर्शाते हैं। या तो आप यह स्वीकार करें कि यह आपकी मातृभूमि नहीं है, आप कहीं बाहर से आये हैं और यहाँ अपनी कॉलोनी बनाई है अथवा इसमें प्रयुक्त हिन्दू नाम बदल दें। किन्तु वे लोग अपने देश में हिन्दू-कॉलोनी के अनौचित्य एवं असंगति को अनुभव नहीं कर सके। अतः अब भी वह नाम चला आ रहा है।

इस बात से हम अनुभव कर सकते हैं कि अपने इस संगठन के नाम में 'हिन्दू' शब्द न रखकर 'राष्ट्रीय' शब्द क्यों रखा गया। डाक्टर जी कहा करते थे कि हमारे देश में "राष्ट्रीय" शब्द का अर्थ स्वाभाविक रूप से हिन्दू ही है। अतः राष्ट्रीय के स्थान पर हिन्दू शब्द का प्रयोग करते हैं तो हम भी अपने को इस देश की अनेक जातियों में से एक मान लेते हैं तथा इस देश के राष्ट्रीय के रूप में जो हमारी पद-प्रतिष्ठा है, उसे अनुभव नहीं करते हैं, किन्तु यह एक वास्तविकता है कि हमारे देश में राष्ट्र के सम्बन्ध में पर्याप्त भ्रान्ति है। यह बम्बई की घटना उस भ्रान्ति का एक उदाहरण है।

अँग्रेज की चाल

यह भ्रान्ति कैसे उत्पन्न हुई? विगत सहस्र वर्षों में हमारे देश पर अनेक विदेशी आक्रमण हुए। पूर्व काल में हमारे देश पर आक्रमण करने वाले यूनानी, हूण और शक आक्रान्ता या तो परास्त करके निकाल दिये गये या उनमें से जो शेष रह गये उन्हें हिन्दू-समाज में आत्मसात् कर लिया गया। किन्तु जो आक्रान्ता पिछली दस बारह शताब्दियों में आये वे न तो निकाले जा सके और न आत्मसात् ही किये जा सके। उनका अलग अस्तित्व बना रहा और विदेशी के रूप में वे इस देश पर शासन करते रहे। अन्तिम शासक अँग्रेज कई हजार मील दूर से शासन करता रहा। चतुर होने से अँग्रेज जानते थे कि इस दूरस्थ साम्राज्य

को सदा के लिये बनाये रखना तभी सम्भव है जब कि हमारे समाज के मस्तिष्क से उस आस्था को निकाल बाहर किया जाय जो स्वतन्त्रता के लिये युद्ध करने की प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान करती है। कौन-सी थी वह आस्था ?

अंग्रेज ने यह ज्ञात किया कि यहाँ का सामान्य मनुष्य मातृभूमि पर श्रद्धा रखता है। यहाँ समाज सावयव पूर्णता के रूप में संगठित था, यद्यपि कुछ काल के लिये उसकी एकता विच्छिन्न हो गई थी। आत्म-सम्मान, स्वातन्त्र्य प्रेम एवं अपनी संस्कृति और परम्पराओं के लिये भक्ति उनके रक्त में दृढ़-निविष्ट थी। यह जानकर कि इस प्रकार की अदम्य राष्ट्रीयता की भावना उनके साम्राज्य के लिये विनाशकारी होगी, उन्होंने यहाँ मातृभूमि, धर्म तथा हमारे परम्परागत स्वत्व के प्रति समाज की आस्था की जड़ें खोदने की योजना बनाई।

हमारे एक बड़े क्रान्तिकारी लाला हरदयाल की बताई हुई एक घटना है। दक्षिण में कहीं एक अंग्रेज अधिकारी था। उसका सहायक अधिकारी एक स्थानीय व्यक्ति शायद कोई नायडू था। उस अंग्रेज का अर्दली एक ब्राह्मण था। एक दिन जब वह अंग्रेज सड़क पर अपने अर्दली के साथ जा रहा था, सामने से उसका वह सहायक अधिकारी आ गया। दोनों ही अधिकारियों ने एक दूसरे को अभिवादन करते हुए हाथ मिलाया। किन्तु जब उस सहायक अधिकारी ने अर्दली को देखा तो अपनी पगड़ी उतार कर उसके चरणस्पर्श किये। अंग्रेज यह देखकर चकित रह गया। उसने पूछा, "यह क्या बात है कि तुम्हारा उच्च अधिकारी हूँ तो तुम मुझसे सीधे खड़े रहकर हाथ मिलाकर अभिवादन करते हो और यह जो मेरा चपरासी है, उसे इतनी व्यस्त सड़क पर भी तुम भूमि पर साष्टांग प्रणाम करते हो ?" सहायक अधिकारी ने उत्तर दिया—"आप मेरे उच्चाधिकारी हुआ करें किन्तु आप म्लेच्छ हैं। वह चपरासी है किन्तु वह हमारे समाज के उस वर्ग का है, जिसका शताब्दियों से अत्यन्त सम्मान होता चला आ रहा है। इसे झुककर प्रणाम करना मेरा कर्तव्य है।" इस सबका उल्लेख करते हुये उस अंग्रेज ने इंगलैण्ड के इण्डिया आफिस को जो पत्र लिखे थे, वे मौजूद हैं। उसने लिखा था कि "जब तक ब्राह्मण को उसके उस प्रतिष्ठित पद से बहिष्कृत कर अंग्रेज स्वयं उसे अधिकृत नहीं कर लेता अर्थात् उतना ही या उससे भी अधिक सम्मानित नहीं हो जाता, उसका साम्राज्य अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता।"

इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुये अंग्रेज ने हमें अनेक प्रकार से तदनुरूप व्यवस्था के अनुसार शिक्षा देना आरम्भ किया। पहली बात जो उसने हमें सिखलाई, वह यह थी कि भारत एक देश नहीं वरन् एक बड़ा महाद्वीप है।

उसने कहा कि हम एक समाज या एक राष्ट्र नहीं हैं। यहाँ कुछ आदिवासी थे जो बहुत काल से यहाँ बस रहे थे, जिन्हें वनों और पहाड़ों में खदेड़ दिया गया। एक दूसरे प्रकार के भी आदिवासी थे जो द्रविड़ कहे जाते हैं। उत्तर दिशा से आर्य आये और अपनी उत्कृष्ट अस्त्र-शक्ति के द्वारा इस देश को जीता और शेष लोगों पर अपनी सत्ता स्थापित की। अर्थात् हमसे कहा गया कि हमारे पास मातृभूमि है ही नहीं, हममें से अधिकतर कहीं बाहर से आये हैं अतः इस देश के लिये सभी समान रूप से अपरिचित और विदेशी हैं। हमसे यह भी कहा गया कि हमारा कोई धर्म नहीं है और न कोई उल्लेखनीय दर्शन व नैतिक आचार ही, हमारा सम्पूर्ण अतीत जीवन अन्धकारमय था, यहाँ पर अंग्रेज का आगमन दैवी व्यवस्था थी, जिनके चरणों में बैठकर हम सभ्यता, धर्म एवं व्यवस्थित सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का प्रथम पाठ पढ़ सकते हैं।

अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के पीछे जिसका मस्तिष्क था उस मेकाले के साम्राज्यवादी उद्देश्यों का उच्चस्वर से उद्घोष किया गया कि "हमें भारत में एक इस प्रकार का वर्ग निर्माण करने में पूर्ण शक्ति लगा देनी चाहिये जो हमारे और उन शासितों के बीच, जिन पर हमें शासन करना है, दुभाषिये का काम करे—वह वर्ग ऐसे व्यक्तियों का हो जो रक्त तथा रंग में तो भारतीय हों किन्तु रुचि, विचार, आचार एवं बुद्धि में अंग्रेज हों।" सन् १८३६ में उसने अपने पिता को लिखा भी था कि '-कोई भी हिन्दू जिसे अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त हो जाती है, फिर कभी अपने धर्म के प्रति ईमानदारी से सम्बद्ध नहीं रहता……। यदि शिक्षा सम्बन्धी मेरी योजनाओं का पालन हुआ तो अब से ३० वर्ष बाद बंगाल में सम्मानित वर्ग में से एक भी मूर्तिपूजक नहीं रह जायगा।" यहाँ के ईसाई कन्वेण्टों में आज भी वही धूर्तता और कपटपूर्ण शिक्षा चालू है कि ईसा के अतिरिक्त अन्य कोई सच्चा उद्धारक नहीं है, हिन्दू धर्म मूढ़ विश्वासों का गट्ठर मात्र है, बिना ईसाई बने अनन्त नरक यातना का भागी बनना पड़ेगा आदि-आदि।

इतिहास विकृत किया गया

विद्यालयों में बालकों के लिये इतिहास की एक पुस्तक हुआ करती थी, जिसमें 'Tangle-wood-Tales' (एक कहानियों का संग्रह) शीर्षक से हमारे सभी प्राचीन सम्राटों और राजाओं का इतिहास चित्रित किया गया था। जिसका आशय था कि वह काल हमारे इतिहास का भ्रान्ति एवं अन्धकार का युग था। वह

'इतिहासकार' कहता है कि फिर उस भ्रान्ति और अन्धकार की परिस्थिति में यहाँ आर्यों का आगमन हुआ। ये आर्य प्रथम पंजाब में बस गये जहाँ महाभारत का युद्ध हुआ। फिर वे गंगा और यमुना की ओर चलकर अयोध्या में बसे। इस प्रकार उस इतिहासकार ने यह निष्कर्ष निकाला कि रामायण की कथा महाभारत की कथा के कई शताब्दी पश्चात् की है। उस 'इतिहासकार' की इस अनोखी विचक्षणता की प्रशंसा ही करनी चाहिए। वास्तव में इस प्रकार का आविष्कार करने के लिए कि पिता का जन्म पुत्र के पश्चात् हुआ, क्या असामान्य प्रतिभा की आवश्यकता नहीं है? इस प्रकार हमारा सम्पूर्ण प्रारम्भिक इतिहास तो अन्धकार युग—में समाविष्ट हुआ तथा बाद का मुसलिम काल और अंग्रेजकाल दो भागों में विभाजित किया गया। ये सभी चीजें बचपन से ही हमें पढ़ाई जाती रहीं। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि हमारे बहुत से लोग यह विश्वास करने लगें कि हमारा कोई राष्ट्रजीवन नहीं था और न हममें कोई महत्व की बात है।

अंग्रेजों के चले जाने पर भी हमारे विद्यालयों की पाठ्य पुस्तकों में वही इतिहास पढ़ाया जाता है जो हिन्दू-काल, मुसलिम-काल और ब्रिटिश-काल तीन भागों में विभाजित है तथा जिसमें वही अंग्रेजों का विषाक्त सिद्धान्त विद्यमान है, जिसके द्वारा इस देश में हिन्दू को भी वही स्तर प्रदान किया गया है जो मुसलमान और अंग्रेज को। इस वास्तविकता को आज भी मान्यता नहीं दी जाती कि भारत का इतिहास एक लम्बा हिन्दू-काल ही है, जिसमें कभी उसकी स्थिति स्वतन्त्र, यशस्वी तथा कभी अपने राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य एवं सम्मान की रक्षा के हेतु विदेशी आक्रान्ताओं से युद्धरत रही है। इतिहास के काल तो राष्ट्रीयों के नाम से ही जाने जाते हैं, राजाओं के वेश में बैठे हुये अपहरणकर्ताओं और तानाशाहों के नाम से नहीं।

राष्ट्र गढ़ने के मार्ग पर

कोई आश्चर्य नहीं कि तथाकथित शिक्षित हिन्दू अंग्रेज की चालाकी का शिकार बन गया। वह उनके ही समान वेश-भूषा धारण करने और बोलने लगा। वह अपने पूर्वजों और अतीत के दाय पर लज्जा का अनुभव करने लगा। कुछ समय पूर्व एक प्रमुख हिन्दी साप्ताहिक 'धर्मयुग' में उस समय का एक अत्यन्त अद्भुत समाचार प्रकाशित हुआ था। एक बार योरोप में किसी होटल में तीन सज्जन ठहरे, जिनमें एक आयरलैण्ड निवासी, एक स्काटलैण्ड निवासी तथा एक बड़े हिन्दू नेता थे। आगन्तुक-पुस्तिका में अपनी-अपनी राष्ट्रीयता का उल्लेख

करते हुये प्रथम ने लिखा कि मुझे गर्व है कि मेरा जन्म आयरलैण्ड में हुआ है, दूसरे ने भी इसी प्रकार स्काटलैण्ड में जन्म लेना अपना सौभाग्य बताया तथा तीसरा यात्री जो कि हिन्दू था उसने लिखा—मैं इसे अपने पूर्वजन्म के पापों का परिणाम समझता हूँ कि हिन्दू ब्राह्मण परिवार में मेरा जन्म हुआ है।

ऐसे वातावरण में स्वाभाविक ही अंग्रेजी पढ़ा हुआ व्यक्ति यह विश्वास करने लगा कि हमारे अतीत जीवन की सभी शताब्दियाँ अज्ञान, परस्पर मार-काट और कलह की रही हैं तथा उन्हें एक राष्ट्र के रूप में नये सिरे से जीवन आरम्भ करना होगा। अंग्रेजों के विरुद्ध चलाए गये अतीव प्रारम्भिक दिनों के उस तथाकथित संघर्ष के काल में हम अपने कई बड़े-बड़े नेताओं को इस प्रकार के उद्गार व्यक्त करते हुए पाते हैं, "हम राष्ट्र गढ़ने जा रहे हैं।" उनके इस कथन का अर्थ यही है कि हम अभी तक एक राष्ट्र के नाते स्वरूपबद्ध नहीं हुए। आज भी कई नेता कहते हैं, हम पिघली हुई धातु के समान निर्माण की संक्रमण अवस्था में हैं और हमें अभी अपने राष्ट्रजीवन के लिए नया आकार, नये अर्थ प्रदान करना है। आदि, आदि।

ऐसे लोगों की कल्पना पर हावी होने वाला एक अन्य सिद्धान्त भी था कि इस देश के सभी निवासियों पर विदेशी शासन का संकट समान रूप से है और सामान्य संकट के परिणामस्वरूप वे एक नवीन राष्ट्रीयता में ढल जायेंगे। यह एक जानी हुई बात है कि सामान्य संकट तभी राष्ट्रीयता का निर्माण करता है, जब बीज-रूप में उसका अस्तित्व पहले से विद्यमान हो। किन्तु जहाँ बीज-रूप में भी राष्ट्रीयता न हो वहाँ नव आविर्भाव संभव नहीं। वह संकट किसी राष्ट्र को उद्बुद्ध एवं शक्तिसंपन्न बना सकता है किन्तु नितान्त नवीन राष्ट्र को निर्मित करने की शक्ति उसमें नहीं। वह किसी राष्ट्र में विदेशी आक्रान्ताओं का प्रतिरोध एवं चुनौती देने की आकांक्षा से उत्पन्न एकत्व एवं बलिदान की भावना का निवेश कर सकता है। सामान्य संकट के सिद्धान्त के अन्तर्गत केवल इतना ही आता है। परन्तु यहाँ अपने देश में एक नितान्त नवीन राष्ट्रीयता की प्राप्ति के दृष्टिकोण से उसका प्रयोग सोचा गया।

प्रादेशिक (Territorial) कल्पना का बेतुकापन

वे यह भूल गये कि यहाँ पहले से ही हिन्दुओं का एक विकसित राष्ट्र था तथा इस देश में रहने वाली अन्य विविध जातियाँ या तो अभ्यागत के रूप में हैं—यथा यहूदी और पारसी, अथवा आक्रान्ताओं के रूप में—यथा मुसलमान और ईसाई। उन्होंने इस प्रश्न पर कभी विचार ही नहीं किया कि विभिन्न

विसंगत वर्ग, जो केवल संयोगवश एक भू-प्रदेश में समान शत्रु के शासन में रहने लगे हैं, भला किस प्रकार उस भूमि के पुत्र कहे जा सकेंगे ?

एक बार अपनी एक बैठक में एक सज्जन ने अत्यन्त बल देकर कहा कि "जो भी इस देश में रहता है; उसे इस देश का राष्ट्रीय समझना चाहिये।" मैंने उनसे प्रश्न किया—"कितने समय तक रहने से ?" उन्होंने कहा—"इसके लिये समय की कोई अवधि नहीं।" मैंने प्रश्न किया—"एक दिन भी ?" उन्होंने कहा—'हाँ'। इस पर मैंने कहा कि "तब तो आनन्द मनाओ। समझ लो कि स्वराज्य जीत लिया; हमने एक साम्राज्य भी जीत लिया। अब स्वतन्त्रता-संग्राम की अग्नि परीक्षाओं और क्लेशों की आवश्यकता नहीं। क्योंकि आपकी परिभाषा के अनुसार इंगलैण्ड का वर्तमान प्रधानमन्त्री रँमसे मेकडानल्ड हमारे देश का राष्ट्रीय है, कारण कि उसने पर्याप्त समय तक यहाँ निवास किया है। इसका यह अर्थ है कि हम इंगलैण्ड पर शासन कर रहे हैं, इंगलैण्ड हम पर नहीं।" प्रादेशिक राष्ट्रीयता का यह 'सराय सिद्धान्त' हमें इस सीमा तक बेतुके और विकृत निष्कर्षों पर पहुँचा देता है।

प्रादेशिक स्वतन्त्रता और समान संकट के सिद्धान्तों ने, जो हमारी राष्ट्र-कल्पना के आधार बने थे, हमें अपने भावात्मक एवं प्रेरणादायी सच्चे हिन्दू-राष्ट्र के भाव से वंचित कर दिया और अनेकों स्वातन्त्र्य आन्दोलनों को वस्तुतः अंग्रेज-विरोधी आन्दोलन बना दिया। अंग्रेजों का विरोध ही देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता का समानार्थी माना गया। हमारे स्वतन्त्रता-आन्दोलन की सम्पूर्ण गतिविधि पर, उसके नेताओं एवं सामान्य समाज पर इस प्रतिगामी दृष्टिकोण के विनाशकारी प्रभाव हुए।

***

२० प्रादेशिक राष्ट्रवाद

२. उसके फल

दिशाभ्रष्ट देशभक्त

हमारे देश में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध मुख्य रूप से दो प्रकार के आन्दोलन उठे। एक था क्रान्तिकारियों द्वारा संचालित सशस्त्र क्रान्ति के रूप में तथा द्वितीय भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) द्वारा संचालित निष्क्रिय प्रतिरोध। इन दोनों पर अंग्रेज-विरोध के जो प्रभाव हुये उन पर हम अलग-अलग विचार करें।

क्रान्तिकारी नेताओं ने गुप्त केन्द्रों, शस्त्र-शालाओं और अपने जीवन को बलिदान करने के लिये उद्यत रहने वाले तेजस्वी देशभक्त वीरों की टोलियों का एक जाल फैला दिया था। किन्तु यहाँ-वहाँ कुछ-देशद्रोही विश्वासघात करके उनके गुप्त कार्यों का भेद शत्रु पर प्रगट कर देते थे। फलतः उनकी अत्यन्त सावधानी से बनाई गई सुचिन्तित योजनाओं का भी अन्त खेदजनक हो जाता था। जब कोई व्यक्ति बार-बार उद्यम करने पर भी सफल नहीं होता तो वह अपने चारों ओर किसी ऐसे व्यक्ति को खोजता है जो उसी पद्धति का अनुसरण करते हुए सफल हुआ हो। यह मानव प्रकृति होने के कारण, क्रान्तिकारियों ने भी किसी सफल क्रान्ति का अनुकरण करना चाहा।

उनमें से उन लोगों ने जिनकी अपनी राष्ट्र-जीवन की पकड़ भावात्मक थी, इस प्रकार की क्रान्तिकारी प्रेरणा के लिये अपने देश और अपने इतिहास की ओर देखा, जैसे सावरकर और सुभाषचन्द्र बोस शिवाजी के आदर्श से स्फूर्त थे। अपने देश से अदृश्य होने के पूर्व सुभाषचन्द्र बोस ने अपनी किसी अन्तिम भेंट में शिवाजी की महत्ता के विषय में अति उच्च भावना प्रगट की थी और

यहाँ तक घोषणा की थी कि केवल शिवाजी के आदर्श तथा पद्धतियों का अनुसरण करके ही हम स्वराज लाभ कर सकेंगे।

किन्तु जिन्हें अपने राष्ट्रत्व की भावात्मक, चिरन्तन निष्ठा की पकड़ नहीं थी, और जिन्हें केवल अंगरेजी शासन का तीव्र विरोध ही कुछ कर डालने को कोचता रहता था, उन्होंने अपने अतीत के अतिरिक्त और सभी जगह देखा। उन्होंने देखा कि १९१७ में रूस में सफल क्रान्ति हुई, जिसने जारशाही तथा सामन्तशाही का तख्ता उलट दिया और जैसा कि कहा जाता था, 'जनता का शासन' स्थापित कर दिया। हमारे बहुत से क्रान्तिकारी उस पर इतने आसक्त हो गये कि उन्होंने पूर्णतया साम्यवादी विचारधारा तथा साम्यवादी पद्धतियों पर ही क्रान्ति करने का अपना उद्देश्य बना लिया। परिणाम यह हुआ की जो आरम्भ में अपने देश कि स्वतन्त्रता के भक्त थे, अब साम्यवाद तथा रूसी व चीनी नेतृत्व के भक्त बन गये। वे अब अपने देश को अपने ही से मुक्त कराने तथा रूस और चीन का दास बनाने के लिये संघर्ष कर रहे हैं। इसलिये हम देखते हैं कि जो अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के हेतु अपना जीवन अर्पण करने की इच्छा करते थे वे आज अपनी उसी मातृभूमि को रूस और चीन का अनुषंगी बनाने के लिये उसी प्रकार जीवन अर्पण करने की इच्छा करने लगे हैं। जो किसी समय ज्वलन्त देशभक्ति से पूर्ण देशभक्त थे, वे आज उसी प्रकार उत्कट परदेश-भक्त हो गये हैं? कितना घोर पतन है।

कांग्रेसी विध्वंस

दूसरा आन्दोलन जिसका नेतृत्व कांग्रेस ने किया, देश के लिये और भी अधिक विघातक एवं पतनकारी सिद्ध हुआ। विगत कुछ दशाब्दों में जिन दुःखद प्रसंगों एवं अनिष्टों ने हमारे राष्ट्र-जीवन को ग्रसित कर रखा है और अब भी जो उसकी जड़ें खोद रहे हैं, स्पष्टरूपेण उसी के परिणाम हैं।

जब कांग्रेस के नेताओं का सामना ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति से हुआ तो उन्हें अपनी शक्ति बहुत कम प्रतीत हुई। उसकी पूर्ति के लिये, अपनी दुर्बलता के कारण, अपने चारों ओर वे अन्य देशों की ओर सहायतार्थ देखने लगे क्रान्तिकारी भी इस प्रकार का प्रयास कर चुके थे। किन्तु विदेशी शक्तियाँ दुर्बल समाजों की सहायता के लिये तब तक नहीं आतीं जब तक वे अपने निजी स्वार्थ-पूर्ति के कुछ अवसर नहीं देखतीं। कुछ चोटी के कांग्रेसी नेता अफगानिस्तान के अमीर अमानुल्ला से सहायता के लिये मिले। योजना यह थी कि अमीर हमारे देश पर आन्तरिक विद्रोह के साथ-साथ आक्रमण करे और

अँग्रेजों को निकाल बाहर करने में हमारी सहायता करे। हमारी ओर से यह प्रतिज्ञा की गई थी कि इस सहायता के प्रतिदानस्वरूप हम उसे अंग्रेज के स्थान पर बादशाह स्वीकार कर लेंगे। किन्तु अंग्रेज विचक्षण होने के कारण इस कूट योजना से अवगत हो गया। उसने इन नेताओं को प्रतिबन्धित कर दिया और अपनी विदग्ध कूटनीति के द्वारा अफगानिस्तान में अमानुल्ला के आधिपत्य को ही योजनापूर्वक उलट दिया।

जब यह उपाय असफल हो गया तो कांग्रेस के नेताओं ने सोचा कि कम से कम यहाँ के सभी रहने वालों का एक सम्मिलित मोर्चा अँग्रेजों के विरुद्ध बनाया जाय। वह उनकी राष्ट्रीयता की कल्पना के अनुकूल भी था। हिन्दुओं के अतिरिक्त यहाँ चार सम्प्रदाय और निवास कर रहे थे—यहूदी, पारसी, ईसाई और मुसलमान।

हिन्दुओं के सम्बन्ध में कोई कठिनाई न थी; क्योंकि वे स्वभाव से ही अपनी पवित्र मातृ-भूमि के रूप में इस देश को प्यार करते हैं। अति प्राचीन काल से उन्होंने यहाँ एक महान् संस्कृति एवं परम्परागत स्वत्व निर्माण किया है। उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और देश के सभी भागों में महान् मनीषियों एवं कर्मयोगियों को जन्म दिया था। अतएव हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण देश उनके लिये पवित्र है। वे देश को विदेशी सत्ता से मुक्त स्वाधीन करना चाहते हैं। उनके शास्त्र उन्हें स्वतन्त्रता की स्पृहा करने का आदेश देते हैं—नत्वेवार्यस्य दास्य भावः। स्वातन्त्र्य भावना तो उनके रक्त में ही समाविष्ट है। उन्होंने कभी भूतकाल में भी विदेशी सत्ता को स्वीकार नहीं किया तथा सफलता की विविध अवस्थाओं के साथ उस सत्ता की शृंखलाओं पर आघात करते रहे।

यहूदी, पारसी, ईसाई

अब रहे यहूदी और पारसी जो यहाँ शरणार्थी के रूप में आये थे। यहूदियों की संख्या अत्यल्प होने के कारण उनकी उपेक्षा की गई। पारसी, संख्या में अल्प होते हुए भी एक मेधावी, उद्यमी एवं उन्नतिशील जाति थी। किन्तु बहुत परिमाण में वे यहाँ हिन्दू-जीवन की मुख्य धारा में विलीन हो गये थे। उन्होंने हमारी मातृभूमि के लिये प्रेम विकसित कर लिया था और हमारे स्वातन्त्र्य संग्राम की अग्रिम पंक्ति में थे। दादा भाई नौरोजी, फीरोज शाह मेहता और मैडम कॉमा स्वातन्त्र्य सैनिकों के लिए प्रेरणा के प्रतीक थे।

अब ईसाई सज्जनों का प्रश्न उठता है। सन् १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम में यहाँ पर कुछ पादरियों ने उस विप्लव को दबाने में अंग्रेज सरकार की

सहायता के लिये पल्टनें बनाई थीं। तब से वे सदैव ही अंग्रेजों के पक्ष में रहे, अन्ततः वे थे तो उनके सम्प्रदाय के ही। अंग्रेज भी ईसाई धर्मप्रचारकों के कार्यों में भली-भांति सहायता करते थे। विस्तृत वन्य एवं पर्वतीय क्षेत्र उदाहरणार्थ छोटा नागपुर का क्षेत्र और नागा प्रदेश केवल ईसाई धर्मप्रचारकों के ही प्रवेश के लिये चुन लिये गये, और उनके सीमाञ्चल अन्य धर्मों के उपदेशकों के लिए पूर्ण रूप से बन्द कर दिये गये। स्थानीय ईसाइयों, ईसाई धर्मप्रचार संस्थाओं और अंग्रेज सरकार के बीच एक स्वाभाविक समन्वय का भाव था। इसलिये सामान्यतया ईसाइयों ने अपने को स्वतन्त्रता-संग्राम से पृथक् रखा।

नेतृत्व की परीक्षा

फिर आया मुसलमानों का प्रश्न। वे यहाँ आक्रान्ताओं के रूप में आये थे। वे स्वयं को गत बारह सौ वर्षों से इस देश का विजेता और शासक समझ रहे थे। वह भाव उनके मन में अब भी था। इतिहास साक्षी है कि उनका विरोध केवल राजनीतिक ही न था। यदि ऐसा रहा होता तो उन्हें अत्यल्प काल में ही अपना लिया जा सकता था। किन्तु वह विरोध इतना दुराग्रही और गहरा था कि हम जिस-जिस वस्तु में भी विश्वास रखते थे, मुसलमान पूर्ण रूप से उसके प्रति प्रतिकूल होता था। यदि हम मन्दिर में पूजा करते हैं, तो वह उसे अपवित्र करेगा। यदि हम भजन कहते हैं और भगवान् की रथयात्रा निकालते हैं तो इससे वह रुष्ट होगा। यदि हम गौ को पूजते हैं तो वह खाना पसन्द करेगा। यदि हम स्त्री को पवित्र मातृत्व के प्रतीक रूप में सम्मानित करते हैं तो वह उस पर बलात्कार करेगा। वह हमारी जीवन-पद्धति के— धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि—सभी पक्षों का अपनी पूर्ण शक्ति के साथ विरोधी था। उसने इस प्रतिकूलता को चरम सीमा तक ग्रहण किया था। उनकी संख्या भी अल्प न थी। हिन्दू के पश्चात् उन्हीं की संख्या सर्वाधिक थी।

हमारे नेताओं के सामने यह समस्या उत्पन्न हुई कि किस प्रकार उन लोगों की इस प्रतिकूल मनोवृत्ति को दूर कर उन्हें देशभक्तों की श्रेणी में लाया जाय। इसके लिये एक अत्यन्त युक्तियुक्त और देशभक्तिपूर्ण उपाय था। वह यह था कि उनसे स्पष्ट कह दिया जाता—"दोस्तो, पुरानी मुगल बादशाहत के दिन बीत चुके हैं। अन्त में हम दोनों ही को यहाँ भाई-भाई की भाँति इस राष्ट्र में जीवन के भागीदार के रूप में रहना है। अन्ततः आप भी उसी जाति के हैं, जिसके

हम हैं और हमारा आपका रक्त एक ही है, किन्तु मुगल, तुर्क तथा अन्य विदेशी जातियों ने आपको तलवार की नोंक से इस्लाम में धर्मान्तरित कर लिया है। अब मन से उन विदेशी आक्रान्ताओं से अपने को सम्बन्धित रखने और उनके चरण चिह्नों का अनुसरण करने के प्रयत्न का कोई अर्थ नहीं है। इस प्रकार की सभी अलगाव की स्मृतियों को भूल जाओ। इस भूमि के जीवन में अपने को विलीन करो। अबसे इस देश के महान् पुत्रों का सम्मान करने और उनके उदाहरणों का अनुसरण करने का प्रयत्न करो जो हमारी मातृभूमि एवं संस्कृति की स्वतन्त्रता और सम्मान के लिए लड़े हैं।''—तो कार्य बहुत सरल हो गया होता। उदाहरणार्थ नार्मन लोग इंगलैण्ड में आक्रान्ता बनकर आये थे; किन्तु बाद में दोनों साथ-साथ एक दूसरे में विलीन हो गये और उन्होंने भावी आक्रमणों का एक संगठित समाज की भाँति सामना किया तथा आज भी वे एकात्म जीवन-यापन कर रहे हैं।

आत्मघात के बीज बोना

किन्तु युद्धप्रिय, उपद्रवी मुसलमान से यह कहना कि उसके पूर्वज हिन्दू थे, उसे एक स्वाभिमानी पुरुष के समान हिन्दू-समाज में लौट आना चाहिये, उसे मुगलों के समय की अपनी आक्रामक वृत्ति त्याग देनी चाहिये तथा वर्तमान शताब्दियों की वास्तविकताओं के प्रति सचेत होकर जीवन की राष्ट्रीय धारा में अपने को विलीन कर लेना चाहिये—इस सबके लिये सत्य की परम महत्ता में अविचल निष्ठा एवं परिस्थिति के कठोर सत्य का सामना करने का अदम्य साहस चाहिये। किन्तु दुर्भाग्यवश इस समय के अनेक अग्रणी व्यक्तियों में सत्य के प्रति दृढ़ आग्रही प्रेम तथा निर्भीकता का सचमुच अभाव हो गया है।

हमारे सामने मौलाना मुहम्मद अली का एक प्रसिद्ध उदाहरण है जो महात्मा जी के दाहिने हाथ माने जाते थे और एक निष्ठावान मुसलमान थे। वे सन् १९२३ में कांग्रेस के काकिनाड़ा अधिवेशन के सभापति चुने गये थे। उस अधिवेशन में राष्ट्रीय गीत 'वन्देमातरम्' के गान के लिये प्रख्यात देशभक्त संगीतज्ञ पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर आये थे। जैसे ही अधिवेशन आरम्भ होने को हुआ और वन्देमातरम् का गान करने के लिये वे आगे बढ़े, मौलाना साहब ने उन्हें यह कहते हुये रोक दिया—"नहीं, आप वह राष्ट्रीय गीत नहीं गा सकते। वह हमारी धार्मिक भावना पर आघात करता है।'' किन्तु दृढ़ निश्चयी हृदय पलुस्कर ने यह कहकर दब जाने से इनकार कर दिया कि वह विशेष रूप से इसीलिये आये हैं और अपने कर्तव्य को पूरा करेंगे। क्रोध में

आकर मौलाना साहब उस स्थान से चले गये और जब तक राष्ट्रीय गीत चलता रहा, दूर खड़े रहे। वहाँ एकत्रित नेताओं की सम्पूर्ण भीड़ में एक भी ऐसा साहसी आत्मा नहीं था, जिसमें उनसे यह कहने का साहस होता कि "जनाब, यह हमारा राष्ट्रीय-गीत है। राष्ट्रीय महासभा के सभापति के नाते आपको इसके गायन पर एतराज नहीं होना चाहिये। देशभक्ति के मार्ग में अन्य विचारों को नहीं आने देना चाहिये।" किन्तु इसके विपरीत इस साम्प्रदायिक धर्मान्धता को तुष्ट करने के लिये 'वन्देमातरम्' के कुछ अंश ही निकाल दिये गये।

इस प्रकार हमारे नेताओं में विशुद्ध राष्ट्रीयता के स्पष्ट आधार पर मुसलिम दुराग्रह का सामना करने की इच्छा एवं निष्ठा के नितान्त अभाव के कारण ही मुसलिम तुष्टीकरण के बीज बोये गये। नयी एकता और नयी राष्ट्रीयता को प्राप्त करने की हवा के पीछे दौड़ते हुये हमारे नेताओं ने हिन्दू-मुसलिम एकता का नारा लगाया और घोषणा की कि इसके मार्ग में जो भी वस्तु बाधा के रूप में आये उसे भूल जाना चाहिये। वे मुसलमान से यह कहने का साहस नहीं कर सके कि वह अपनी विघटन वृत्ति को भूल जायें, अतः अपने सभी उपदेशों की बौछार विनम्र हिन्दू पर ही करने लगे। उनका प्रथम उपदेश था कि हमारी राष्ट्रीयता हिन्दू नहीं कही जा सकती और न हमारा देश ही अपने परम्परागत हिन्दुस्थान नाम से पुकारा जा सकता है; क्योंकि यह मुसलमान को बुरा लगेगा। अंग्रेजों द्वारा दिया हुआ 'इण्डिया' नाम स्वीकृत हुआ। इस नाम को लेते हुये भारत को नवीन राष्ट्र 'इण्डियन राष्ट्र' कहा गया। और हिन्दू से कहा गया कि वह अपना नाम 'इण्डियन' रख ले।

हिन्दू–बलि का बकरा

यहीं तक नेताओं के उपदेश समाप्त नहीं हुये। सारांश में हिन्दू से कहा गया कि वह मुसलमानों द्वारा हुए ध्वंस और अत्याचारों की उपेक्षा करे। उनके समक्ष नम्रता से झुक भी जाये। उससे कहा गया—"मुसलमानों ने तुम्हारे प्रति भूतकाल में जो कुछ किया है और अब जो कुछ कर रहे हैं, उसे भूल जाओ। यदि मन्दिर में तुम्हारा पूजा करना और सड़कों पर देवताओं की शोभा यात्राएँ मुसलमानों को कुपित करती हैं तो यह काम मत करो। यदि वे तुम्हारी पत्नियों और पुत्रियों को ले जाते हैं तो ले जाने दो। उन्हें बाधा मत दो। यह हिंसा होगी।" उदाहरणार्थ, उन दिनों उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में एक मुसलमान ने एक हिन्दू लड़की का अपहरण किया। केन्द्रीय धारा सभा

में यह प्रश्न रक्खा गया, जहाँ हमारे प्रमुख नेतागण भी उपस्थित थे। एक मुसलमान कांग्रेसी नेता ने बड़े सरलभाव से यह कहकर उसे उड़ा दिया कि "अन्तत: लड़के लड़के और लड़कियाँ लड़कियाँ हैं।" इस अपमानकारक वाक्य पर वहाँ उपस्थित एक भी हिन्दू नेता का विरोध का स्वर नहीं उठा। किसी ने भी यह पूछने का साहस नहीं किया कि यदि यह केवल लड़के और लड़कियों का ही मामला है तो मुसलमान लड़के सदैव हिन्दू लड़कियों ही का अपहरण क्यों करते हैं, मुसलमान लड़कियों का क्यों नहीं करते ? इतना ही नहीं उन्होंने उसमें एक विनोद का आनन्द लिया।

जब हिन्दू भावनाओं का अपमान करने के लिये मुसलमानों ने गाय काटी तो हिन्दुओं से कहा गया कि यह मुसलमानों का धार्मिक अधिकार है। अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु होने के कारण तुम्हें इस पर आपत्ति नहीं करना चाहिये। पं० जवाहरलाल ने मुसलमानों को लिखित आश्वासन दिया था कि उनकी धार्मिक भावनाओं का ध्यान रखते हुये स्वराज मिलने पर गोवध पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जायेगा, यद्यपि कुरान में गोवध के लिये स्वीकृति सूचक एक भी शब्द नहीं है।

उन दिनों एक बार एक विशिष्ट हिन्दू व्यक्ति द्वारा एक बड़ी सार्वजनिक सभा में यह घोषणा की गई थी—"बिना हिन्दू-मुस्लिम एकता के स्वराज्य नहीं हो सकता और इस एकता को प्राप्त करने का सरलतम मार्ग है कि सभी हिन्दू मुसलमान हो जायें।" उन्होंने इतना भी नहीं समझा कि तब वह हिन्दू-मुसलिम एकता न होकर केवल मुसलिम एकता होगी, क्योंकि हिन्दू तो रहेंगे ही नहीं।

इस सीमा तक हिन्दुओं को आत्म-विस्मरण सिखाया गया। अपना वैभवशाली इतिहास भूल जाने की उन्हें शिक्षा दी गई। उन्हें सिखाया गया कि राणा प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह तथा इस प्रकार के सभी प्रेरणादायी नामों को भूल जाओ और जिन लोगों को उनका स्मरण फिर भी होता रहे तो उन्हें 'पथभ्रष्ट देशभक्त' कहो। वास्तव में, उनके हिन्दू-मुसलिम एकता के घोष-अनुरूप इतिहास की 'नई खोज' की गयी। इस प्रकार के आविष्कार के उदाहरणस्वरूप हमारे देश के एक प्रख्यात विद्वान् का लेख है, जिसमें उन्होंने लिखा है कि हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाये जाने की बात को सिद्ध करने वाला कोई भी लिखित प्रमाण नहीं है। क्या यह आविष्कार मौलिकता में आइन्स्टीन के आविष्कारों से भी ऊँचा नहीं है ? और यह सब हिन्दू-मुसलिम एकता के लिये अर्थात् स्वराज्य प्राप्ति के लिये है, ऐसा समझा जाता था।

श्रद्धालु एवं स्वतन्त्रताप्रिय हिन्दू ने इस सब पर विश्वास कर लिया और अपने हिन्दुत्व, अपने युगों प्राचीन सभी आदर्शों, परम्परागत स्वत्व तथा आकांक्षायें सभी कुछ बलिदान करने के लिये उद्यत हो गया, क्योंकि उससे उसके नेताओं ने कहा कि बिना यह किये हिन्दू-मुसलिम एकता सम्भव नहीं और हिन्दू-मुसलिम एकता के बिना स्वराज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। एक प्रख्यात नेता ने तो यहाँ तक कहा कि हिन्दू-मुसलिम एकता के बिना वह स्वराज्य भी स्वीकार नहीं करेगा।

दूसरे शब्दों में हिन्दू से कहा गया कि वह अशक्त है, वह निर्जीव है, उसमें अपने पैरों पर खड़े होने तथा मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता के लिये लड़ने का दम नहीं है। और यह सब उसमें मुस्लिम रक्त के रूप में प्रविष्ट करवाना होगा। कितनी निर्लज्जता, और कितने दुर्भाग्य की बात है कि हमारे अपने ही नेता हममें से प्राचीन और अदम्य विश्वास का विच्छेद करें तथा हमारे आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता की भावना को नष्ट करें, जो किसी भी समाज का जीवन-प्राण होती है। हिन्दू-मुसलिम एकता के बिना स्वराज नहीं—की घोषणा करने वालों ने इस प्रकार हमारे समाज के प्रति सबसे बड़े द्रोह का अपराध किया है। उन्होंने एक महान् प्राचीन समाज के जीवन को हतोत्साहित करने का जघन्य पाप किया है। जिस समाज में शिवाजी का जन्म हुआ। महान् इतिहासकार यदुनाथ सरकार के शब्दों में जिन्होंने "समस्त विश्व के समक्ष यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दू अमृत रसपान किये हुये हैं," उस समाज को नपुंसकता का उपदेश देने तथा ऐसे महावीर्यसम्पन्न समाज के आत्मविश्वास एवं चैतन्य को भंग करने के समान विशुद्ध और भीषण विश्वासघात संसार के इतिहास में दूसरा नहीं है।

कड़ुए फल

इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि हिन्दू सन् १९४७ में मुसलमानों के हाथ परास्त हो गये। कौन थे यह मुसलमान ? उनमें अत्यधिक संख्या उनकी थी जो प्राणों के भय से अथवा धन एवं शक्ति के प्रलोभनों द्वारा इस्लाम में धर्मान्तरित किये गये थे। अर्थात् वे हमारे समाज के उस वर्ग की सन्तान थे, जिसमें अपने स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिये अविचलित भाव से खड़े रहने का मानसिक सत्व और स्वाभिमान नहीं था, वरन् अपनी रक्षा के लिये शत्रु-पक्ष में मिल जाना जिन्हें अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ था। और हमने, जो ऐसे अद्वितीय शौर्यसम्पन्न पराक्रमी पूर्वजों की सन्तान हैं, जो शताब्दियों तक

आक्रान्ता मुसलमानों के झंझावात की एक के बाद दूसरी लहरों को चुनौती देते हुये ठोकर मारते रहे, इस प्रकार के लोगों के हाथों पराजय स्वीकार की।

यह पराजय कितनी अपमानास्पद थी ! उन आक्रान्ताओं के साथ गत एक हजार वर्षों के अपने संघर्ष में हमने कभी उनका सार्वभौम अधिकार अपने इस देश के किसी भी भाग पर स्वीकार नहीं किया था। उस समय भी, जब अकबर तथा औरंगजेब के काल में हमारे देश का एक बहुत बड़ा भाग उनके शासन में था, एक दिन भी ऐसा नहीं गया जब कोई राणा प्रताप, गुरु गोविन्दसिंह, छत्रसाल अथवा शिवाजी उन्हें चुनौती देने एवं अपने राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के अधिकार को जताने के लिए खड़ा न रहा हो। अंग्रेजों के राज्यकाल में भी स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष की प्रेरणादायी यही परम्परा निरन्तर चलती रही। तथापि, प्रथम बार १९४७ में हमने लड़ना छोड़ दिया। राष्ट्र की स्वाधीनता के लिये एक हजार वर्ष के यशस्वी संघर्ष का निन्दनीय अन्त कर दिया। अपने देश के बहुत बड़े भाग पर आक्रान्ता के निर्द्वन्द्व आधिपत्य को मान लिया और अपने सभी अधिकारों को उन्हें समर्पित कर दिया।

यह था कटु परिणाम हिन्दुओं में निर्माण किये गये आत्मविश्वास की भावना के निरन्तर ह्रास, का जिसका कारण था हमारे नेताओं द्वारा आग्रह पूर्वक किया गया वह आत्मघाती घोष कि "बिना हिन्दू-मुसलिम एकता के स्वराज नहीं हो सकता।"

बुरे कर्मों का फल

संसार में अन्य कोई भी समाज इस विषय में अब तक हम हिन्दुओं के समान असामान्य रूप से अभागा नहीं रहा। भिन्न-भिन्न समाजों के नेताओं ने सदैव अपने समाजों में आत्मविश्वास निविष्ट करने, उनकी शिथिल होती हुई चेतना को जागृत करने तथा शत्रुओं के सामने उन्हें वीर्यवान् एवं विजयी बनाने के लिये अपनी सम्पूर्ण शक्ति से प्रयत्न किया। किन्तु यहाँ, हमारे ही नेता थे, जो मानों अपने समाज से समस्त पौरुष का क्षय करने की प्रतिज्ञा लिए हुए थे। फिर, यह कोई इतिहास की संयोगवश घटित हुई घटना मात्र नहीं है। यह नेतृत्व हमें उस धिक्कारने योग्य हमारे पूर्वजों की लम्बी जमात की तीव्रतम कड़ुआहट के रूप में प्राप्त हुआ जिन्होंने गत बाहर सौ वर्षों में सम्मान तथा स्वतन्त्रता को विदेशियों के हाथों बेचा और अपना व्यक्तिगत बड़प्पन चमकाने हेतु अपने ही जाति-बन्धुओं के गले कटाने के लिए देश तथा धर्म के चिरकालिक शत्रुओं के हाथ से हाथ मिलाया। आश्चर्य की बात नहीं

कि ऐसे लोगों को अपने बुरे कर्मों के फल के रूप में आज इस प्रकार का आत्मघाती नेतृत्व प्राप्त हुआ ।

तुष्टीकरण से क्षुधा तीव्र होती है

अच्छा, क्या ये नेता, इतना भयंकर मूल्य चुकाने पर भी हिन्दू-मुसलिम एकता के अपने स्वप्न को साकार कर सके ? नहीं । जितना ही अधिक हमारे नेताओं ने उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया, उतनी ही उनकी विघटनात्मक एवं आक्रामक भूख तीव्र हुई । अंग्रेज भी राष्ट्रीयतावादी शक्तियों के विरुद्ध उन्हें खड़ा करने के लिये उनके विघटन के दांत तथा पंजे पैने करता रहा । इस प्रकार मुसलमानों की वह स्थिति हो गई कि अंग्रेज और राष्ट्रवादी दोनों ही उन्हें अपने-अपने पक्ष में चाहने लगे और उनका मूल्य ऊँचा और ऊँचा चढ़ता गया ।

सन् १८८७ में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपनी डायरी में लिखा कि मुसलमानों को कांग्रेस अधिवेशन में ले जाने के लिये वे लोग भरसक प्रयत्न करते थे, उन्हें रेल किराया तथा अन्य सुविधायें दिया करते थे, जिससे कि कांग्रेस केवल हिन्दुओं की संस्था न दिखे । इन सब प्रयत्नों के होते हुये भी अत्यल्प मुसलमान आते थे ।

स्वतन्त्रता संग्राम में एक बार पण्डित नेहरू ने अपने निज के प्रान्त में मुसलिम जनसम्पर्क आरम्भ किया था, जिससे कि मुसलमानों को अपने पक्ष में लाया जावे । किन्तु परिणाम यह हुआ कि मुसलिमलीग बड़े जोरों से बढ़ने लगी और वही प्रान्त यानी उत्तर प्रदेश विघटनकारी मुसलिम आन्दोलन का प्रमुख अड्डा हो गया ।

इससे पूर्व १९१६ में ही लखनऊ समझौते के अनुसार कांग्रेस ने मुसलमानों की पृथक् निर्वाचन की मांग को स्वीकार कर लिया था । उसके पश्चात् १९३१ के साम्प्रदायिक निर्णय में उन्हें केन्द्रीय धारा सभा में सवा तेंतीस प्रतिशत स्थान दे दिये गये यद्यपि उनकी कुल जनसंख्या २४ प्रतिशत ही थी । इसके सिवाय बंगाल और पंजाब में, जहाँ जनगणना के समय हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक जनसंख्या दिखाने के लिये मुसलिम जनसंख्या के अंक बढ़वाये गये थे, उन्हें वैध रूप से (Statutory) बहुसंख्यक मान लिया गया । और फिर, मुसलमानों के लिये सुरक्षित स्थानों की संख्या उस बढ़ाई हुई जनसंख्या के उन अंकों से भी अनुपाततः बहुत अधिक थी । अन्य प्रान्तों में जहाँ मुसलमान अल्पसंख्या में थे, उन्हें अधिप्रतिनिधित्व (Weightage)

दिया गया। इससे जनसंख्या के अनुपात की अपेक्षा उन्हें अत्यधिक प्रतिनिधित्व मिला। फिर भी माँगें बढ़ती ही गईं। १९४६ में जब केन्द्रीय अन्तरिम सरकार बनी तो मुसलमानों को सवर्ण हिन्दुओं से समानता (Parity) दी गई और इस प्रकार हिन्दुओं में विभेद निर्माण किया गया। अन्त में उनका मूल्य इतना ऊँचा बढ़ गया कि उन्होंने इस देश के दो बड़े भाग ही नहीं ले लिये, जहाँ कि आज वे उनके पूर्ण स्वामी के रूप में निवास करते हुये हमारे देश के अवशिष्ट भाग को विजय करने की योजनायें बनाते हैं, वरन् यहाँ भी पर्याप्त संख्या में, सम्भाव्य पंचमांगी के रूप में रह रहे हैं।

ध्वस्त घोष

अंग्रेजों के भारत छोड़ने तथा हमारे नेताओं के साधिकार कथन के अनुसार स्वराज्य के आगमन के साथ ही घटित हुये विभाजन ने इस घोष की—"कि बिना हिंदू-मुसलिम एकता के स्वराज नहीं हो सकता"—असत्यता का भण्डाफोड़ किया। वास्तव में हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध इतने कटु तथा विलग अन्य किसी समय कभी नहीं हुए थे जितने कि उन १९४६ और १९४७ के वर्षों में हुए। लाखों परिवार अपने पैतृक गृहों से उन्मूलित हो गये। प्रान्त के प्रान्त रक्त की नदियों के बहने से लाल हो गये, तथा मृत्यु, विनाश एवं अपकीर्ति ने कोटि-कोटि निरपराध मानवों के मुख क्षताङ्कित कर दिये। उन दोनों के बीच का सामान्य सामाजिक संसर्ग भी, जो युगों से था, उस काल में विच्छिन्न हो गया। यह ठीक वही समय था जब अंग्रेज ने यह देश छोड़ा। किन शब्दों में हम उन नेताओं की दूरदर्शिता एवं राजनीतिज्ञता का वर्णन करें जिन्होंने यह उद्घोष किया था कि 'बिना हिन्दू-मुसलिम एकता के स्वराज नहीं हो सकता!'

शोधक

अंग्रेज के इस देश से चले जाने के पश्चात् आज भी, हम राष्ट्रीयता की उस प्रतिगामी एवं विकृत कल्पना के विघातक परिणाम देख रहे हैं। यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि किसी विशेष मार्ग को ग्रहण करने में आरम्भ का अल्प-पथ-भ्रंश भी कुछ समय पश्चात् मनुष्य को नितान्त भिन्न लक्ष्य पर पहुँचा देता है। और भी, यदि एक बार मनुष्य कोई भूल कर बैठता है तो वह उसे आग्रहपूर्वक पकड़े रहता है। उस भ्रान्त पथ को छोड़ देने का दूसरों का

उपदेश उसे केवल कुपित करता है तथा और भी दुराग्रह से उसी से संलग्न रखता है। भूल करना मानवीयता है किन्तु प्रमाणित और निर्णीत भूल को हठपूर्वक पकड़े रहना अमानवीयता है। यह तो एक पशु की विशेषता है, मानव प्राणी की नहीं। बुद्धिमान मानव प्राणी का तो यह गुण होता है कि अपनी भूल को स्वीकार करे और अत्यन्त नम्रतापूर्वक उस भूल को पुनः कभी न दुहराने के निश्चय के साथ उसका शोधन करे। किन्तु दुर्भाग्य से हमारे नेता अपनी राष्ट्रीयता की प्रादेशिक कल्पना का, जिस कल्पना से अपनी मातृभूमि के विभाजन का अभूतपूर्व दुःखद प्रसंग उसके नित्य एवं बढ़ते हुये संकटों के साथ उपस्थित हुआ और अपने दो करोड़ से अधिक बन्धुओं का उन्मूलन घटित हुआ तथा जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अकथनीय क्लेश, उच्छेदन, दुर्गति एवं अपमान सहना पड़ा पुनर्निरीक्षण एवं शोधन करने को उद्यत नहीं हैं।

यह है मूल्य राष्ट्र की गलत और अस्वाभाविक कल्पना का, जिसे हमने ग्रहण किया था, जिसे हमने चुकाया और चुकाते आ रहे हैं। उसमें से इससे अच्छा कहलाने योग्य कुछ भी निकलने की आशा नहीं की जा सकती। निश्चय ही प्रादेशिक राष्ट्रीयता की कल्पना ने हमारे राष्ट्र को वीर्यहीन कर दिया है और जीवन-शक्ति से रहित शरीर से हम और अधिक क्या आशा कर सकते हैं।

एक बार किसी विद्यालय के प्राणिशास्त्र विभाग के छात्रों ने अपने वृद्ध आचार्य से विनोद करने की योजना बनाई। उन्होंने एक जल कीड़े (Water-bug) की टांगें अलग करके एक अन्य जाति के उसी जीव की टांगों को उसमें जोड़ दिया। वे उसे अपने आचार्य के पास लाये और सम्भ्रम के स्वर में पूछा—"महाशय हम लोग नहीं जान सके हैं कि यह क्या है? कैसा नये प्रकार का यह कीड़ा (बग) है? वृद्ध आचार्य ने सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा उसका परीक्षण किया और गम्भीरता से बोले—"बच्चो, यह क्या बात है कि तुम इसके समान सरल, साधारण बग भी नहीं जानते। इस बग का नाम 'हमबग' (Humbug वंचना) है।

यह थी इस 'हमबग' की तरह की राष्ट्रीयता, जिसमें प्राण डालने का प्रयास किया गया। यह एक ऐसा अनोखा प्राणी निर्माण करने के प्रयास के समान था, जिसे हाथी के धड़ में बन्दर का सिर तथा बैल की टांगे जोड़कर बनाया जाय। इसका परिणाम तो बस एक वीभत्स शव ही होगा। यह सजीव शरीर नहीं हो सकता। यदि उस शरीर में कुछ संचलन दिखेगा भी तो वह उस शव के सड़ने से उत्पन्न हुये कीटाणुओं एवं रोगजन्तुओं के कारण ही

होगा। और वही आज हम देख रहे हैं कि अस्वाभाविक, अवैज्ञानिक तथा निर्जीव प्रादेशिक राष्ट्रीयता की संकर कल्पना के अनुसरण में अपने स्वाभाविक और सजीव राष्ट्रीयता को त्यागने से भ्रष्टाचार, विच्छिन्नता एवं विघटन हमारे राष्ट्र की जीवनी शक्तियों को खा रहे हैं।

अतः, यदि हमें पुनः एक राष्ट्र के रूप में खड़े होना है तो अपनी इस प्रारम्भिक महती भूल का शोधन करना ही चाहिये, जिसे हमने इस नई फ़ैशन की राष्ट्रीयता की कल्पना को स्वीकार करके किया है तथा जो अनुभव द्वारा नितान्त मिथ्या एवं घातक सिद्ध हो चुकी है। स्वार्थी लोगों के धूर्ततापूर्ण प्रचार से हमें गलत मार्ग पर भ्रमित नहीं होना चाहिये। हम अब तक उनके उत्साही उपदेशों से कि हम हिन्दुओं को जिनका मानव-भ्रातृत्व का इतना महान् दर्शन, भाव की विशालता आदि है, हिन्दू राष्ट्रीयता तथा इस प्रकार के सभी साम्प्रदायिक, मध्ययुगीन एवं प्रतिगामी विचारों के कथन द्वारा स्वयं को संकुचित नहीं कर लेना चाहिये, पर्याप्त मूर्ख बन चुके हैं। हमें इस कपट को समझ लेना चाहिये तथा अपनी उस राष्ट्रीयता की ओर जो एक प्राचीन सत्य है, पुनः लौटना चाहिये। हिन्दू ही भारत के राष्ट्रीय होने के कारण हमारे संघटन के लिये 'राष्ट्रीय' शब्द जब निर्णीत किया गया था तब स्पष्ट रूप से हमारे पूज्य संस्थापक ने इसी तथ्य का पुनः निरूपण किया था। हमें एक बार पुनः अपने वास्तविक एवं पूर्ण आकार तक उठ कर खड़े होना चाहिये और साहस के साथ दृढ़तापूर्वक कह देना चाहिये कि हम हिन्दू भारत में राष्ट्रीय जीवन का उत्कर्ष करते हुए उसे वैभव और सम्मान के उच्च शिखर पर पहुँचायेंगे, जो कि अति प्राचीन काल से उसका जन्मसिद्ध अधिकार है।

***

२२ दृढ़ धारणा के लिये साहस का आह्वान

हृदय से सब स्वीकार करते हैं किन्तु……

आज हम अपने देश में विचित्र घटनाएँ होते देख रहे हैं। हिन्दू राष्ट्रीयता की वास्तविक एवं भावात्मक कल्पना को तो साम्प्रदायिक, प्रतिगामी, संकुचित आदि-आदि की उपाधियाँ दी जा रही हैं और प्रादेशिक राष्ट्रीयता के अवैज्ञानिक प्रतिगामी एवं विघातक सिद्धांत को हमारे आज के नेतागण, धर्मनिरपेक्ष, प्रगतिशील तथा व्यापक दृष्टिकोण वाला प्रदर्शित कर रहे हैं। किन्तु इस उठाये हुये राजनैतिक धूल के बादल के होते हुये भी क्या तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादी अपने हृदय के अन्तर्तम में मूलतः हमसे भिन्न हैं ?

आज अपने देश के अत्यन्त प्रमुख व्यक्ति उस दर्शन एवं कला की महानता की अति उत्साहपूर्वक प्रशंसा करते हैं, जिसे वे, 'इण्डियन फिलासफी' और 'इण्डियन आर्ट' कहते हैं। वे कहते हैं—भारतीय दर्शन की उच्चतम उपलब्धियाँ उपनिषदों में प्राप्त होती हैं, 'कालिदास भारतीय साहित्य के सर्वोत्तम रत्न हैं' आदि-आदि। वे घोषणा करते हैं कि इण्डियन थॉट–भारतीय चिन्तन की मानवता के लिये अनोखी देन है, विविधता में एकता को देखना तथा पृथ्वी के सभी सम्प्रदायों तथा पन्थों के प्रति सम्मान का भाव आदि। किन्तु ये सब वक्तव्य वास्तव में कौन सा भाव व्यक्त करते हैं ? क्या इस सबमें जो कुछ हिन्दू है, उससे भिन्न कोई वस्तु है जो 'इण्डियन' है ?

एक बार एक प्रमुख नेता ने हमसे कहा—"निःसन्देह हिन्दू राष्ट्र आदि के सम्बन्ध में आप जो कुछ प्रतिपादित करते हैं, उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है

किन्तु कूटनीतिज्ञता से उसी को हिन्दू के स्थान पर भारतीय कहकर क्यों न रखा जाय ? क्योंकि आजकल 'हिन्दू' शब्द आक्रामक प्रतीत होता है। और उन्होंने संस्कृत का प्रसिद्ध वचन उद्धृत किया—'न ब्रूयात सत्यमप्रियम्'। सत्य को छलने का कितना सुन्दर ढंग है। यथार्थ में उस कहावत का सही अर्थ दूसरा ही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अप्रिय सत्य को दबाना चाहिये। उसका अर्थ तो असत्य को प्रश्रय देना होगा। सत्य अवश्य कहना चाहिये किंतु मीठे ढंग से। सत्य तो यह है कि जिस विचार का हम प्रतिनिधित्व करते हैं, उसका शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से वर्णन 'हिन्दू' शब्द द्वारा ही हो सकता है। यद्यपि 'भारतीय' शब्द से भी वही अर्थ व्यक्त होना चाहिये किन्तु आज जिस ढंग से उसका प्रयोग हमारे नेताओं ने किया है, वह भ्रमोत्पादक तथा सत्य से परे ले जाने वाला है। अतः हमने निश्चय किया है कि किसी को प्रसन्न करने अथवा किसी की तुष्टि के लिये सत्य को मिश्रण द्वारा क्षीण नहीं करेंगे। हम इस सत्य को प्रचारित करते हुये इतने निम्नस्तर पर भी नहीं आयेंगे कि कटु भाषा का प्रयोग करने लगें। हमारा आधार हमारे राष्ट्रीय जीवन का शुद्ध एवं भावात्मक विषय ही है तथा हम राष्ट्र की सभी-समस्याओं को उसी के स्पष्ट प्रकाश में देखते हैं।

हिन्दू राष्ट्रीयता के इस सत्य की छाप सभी मस्तिष्कों पर है, चाहे कुछ लोग उसे इतने शब्दों में व्यक्त न करें। सोमनाथ का ही उदाहरण लीजिये। जब सोमनाथ के मन्दिर का नवनिर्माण होकर स्थापना-संस्कार हुआ तो हमारे देश के अनेकों महान् नेता तथा विद्वान् वहाँ गये, जिनमें हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति स्मरणीय डा० राजेन्द्रप्रसाद भी थे। उस अवसर पर उनके भाषण का प्रमुख भाव क्या था ? उन्होंने कहा था कि सोमनाथ के पुनर्निर्माण द्वारा हम बारह सौ वर्षों की दासता का कलंक धो रहे हैं। क्या ही सत्य प्रकट करने वाला यह वाक्य है। जब उन्होंने बारह सौ वर्षों की दासता की बात कही तो उनके मस्तिष्क में हमें दास बनाने वाले वे कौन थे ? सोमनाथ का मन्दिर किसने तोड़ा ? स्पष्ट है कि वे मुसलमान थे। और किन लोगों के लिये यह सम्मान तथा भक्ति का विषय था ? इसका भी उत्तर बहुत स्पष्ट है। यह सब हिन्दुओं के लिये सम्मान का विषय है। उनका यह एक ज्योतिर्लिंग है। उस मन्दिर का ध्वंस हिन्दू समाज के गौरव के लिये अपमानकारक था, उसके पुनर्निर्माण द्वारा उस गौरव की पुनः प्रतिष्ठा की गई। विदेशी आक्रमण अर्थात् मुसलमानों के आक्रमण के कलंक को धो डाला गया। इस एक ही वाक्य में उन्होंने असंदिग्ध रूप से यह कह दिया है कि हिन्दू इस देश का

अज्ञात काल से निवासी है, यहाँ उसी की राष्ट्रीय सत्ता है और उसके उपासना के स्थानों की पुनः स्थापना के द्वारा ही देश पर हुये विदेशी आक्रमण का कलंक मिटाया जा सकता है।

इसलिये हम देखते हैं कि वे लोग भी, जो अपने व्यापक दृष्टिकोण की तुलना में हमें साम्प्रदायिक कहते हैं, हमारे समान ही विश्वास रखते हैं यद्यपि वे उसे सीधे रूप में कहते नहीं हैं। वे एक घुमावदार मार्ग ग्रहण करते हैं और अन्त में हिन्दूराष्ट्र के ठोस सत्य के विषय में उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इतना ही नहीं वे इस देश में निवास करने वाली अहिन्दू जातियों की, विशेष रूप से मुसलमान, जिनका विचार उनके मस्तिष्क में सर्वोच्च है, वास्तविक प्रकृति के सम्बन्ध में भी उसी परिणाम पर पहुँचते हैं।

एक बार एक प्रमुख कांग्रेसी कार्यकर्ता ने मुझसे कहा—देखो, मैं साफ-साफ यह सब नहीं कह सकता कि यह हिन्दू-राष्ट्र है, क्योंकि इस देश में चार करोड़ मुसलमान रहते हैं। यदि पाकिस्तान ने हमारे विरुद्ध कुछ किया तो यह चार करोड़ मुसलमान उसके पक्ष में जा सकते हैं। उत्तर में मैंने पूछ दिया—"तो हिन्दू-मुसलिम भाई-भाई" आदि के नारे का फिर क्या हुआ ? क्या आपके इस कथन से यह अति स्पष्ट नहीं है कि वे सब वचन किसी श्रेष्ठ विचार के कारण नहीं वरन् मुसलमानों के भय से उत्पन्न हुये थे ?" निःसन्देह उनके पास कोई उत्तर न था, कारण कि यह सत्य है। अपने आपको धर्मनिरपेक्ष, विशाल हृदयी आदि नामों से सम्बोधित करने वाले लोगों के मन में समाया हुआ यह भयपूरित न्यूनगंड ही है जो उनसे कहलाता है कि, "हम स्वयं को हिन्दू न कहें अन्यथा मुसलमान नाराज होकर हमसे लड़ने के लिए खड़े हो जावेंगे।" किन्तु उनका विरोधी स्वभाव तो उन्हें भी स्वीकार है ही। वे उन्हें केवल इसीलिये सन्तुष्ट करना चाहते हैं कि कहीं वे विरोधी के समान व्यवहार न करें।

एक शिक्षाप्रद कथा

महाभारत में एक रोचक कथा है। एक बार जिन दिनों पाण्डव अपनी माता कुन्ती के साथ प्रच्छन्नरूप से भ्रमण कर रहे थे, वे एक स्थान पर पहुँच गये जिसे एकचक्रापुरी कहा जाता था। वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि वह नगर उस समय तक भयानक दैत्य के आधीन था, जिसका नाम बक था। एक बार जब वह उस सम्पूर्ण नगर को नष्ट करना चाहता था तो लोगों ने उससे प्रार्थना की—"हमारा सबका अभी वध न करो। आपकी इस दया के बदले में हम प्रतिदिन आपके भोजन के लिये एक गाड़ी भर भात तथा अन्य खाद्य सामग्री, गाड़ी में जुते हुये दो भैंसे और गाड़ीवान भेज दिया करेंगे।" यह समझौते की शर्तें थीं।

कथा का आगे का भाग बहुत ही रोचक तथा उद्‌बोधक है। कुन्ती ने लोगों से कहा कि वे चिन्ता न करें, वह अपने पांच पुत्रों में से एक को भेज देंगी, जिसमें उस राक्षस को नष्ट करने की क्षमता है। तदनुसार भीम को भेजा गया। वह गाड़ी भर भोजन के साथ बक के स्थान पर गये और उच्च-स्वर से पुकारा—"अरे बक, तुम कहाँ हो, बक आओ, मैं तुम्हारा भोजन लाया हूँ।" उन्होंने भैंसों को खोल दिया और स्वयं बड़े स्वाद के साथ भोजन करने लगे। बकासुर इस दृश्य को देखकर चकित रह गया। अभी तक किसी ने उसे नाम लेकर पुकारने का साहस नहीं किया था। बकासुर ने जब अपने शिकार को ही अपना भोजन करते देखा तो उसके आश्चर्य ने बढ़कर क्रोध का रूप धारण कर लिया। क्रोधावेश से अति क्षुब्ध होकर वह भीम की ओर झपटा और उन पर घूंसों की वर्षा करने लगा। किन्तु ये सज्जन यह कहते हुये खाते रहे—"थोड़ा रुकिये, मुझे भोजन कर लेने दीजिये।" जब वह भोजन समाप्त कर चुके तो बोले—"अब आ जाओ, इन गरीब लोगों को तुम इतने दिनों से सता रहे हो, अब समय आ गया है कि उसका हिसाब कर लिया जाय।" हमें ज्ञात है कि भीम ने वह हिसाब किस प्रकार चुकता किया। दूसरे दिन प्रातःकाल लोगों ने उस भयंकर बकासुर के शव को नगर-द्वार पर पड़ा देखा और परम शान्ति की सांस ली।

आक्रान्ता से व्यवहार करने के दो प्रकार होते हैं। दोनों ही प्रकारों में इस बात की चेतना वर्तमान रहती है कि वह आक्रान्ता तथा विरोधी है। इसलिये हमारे लोग चाहे यह कहते फिरें कि हम पांच प्रतिशत स्थान देंगे, पन्द्रह प्रतिशत स्थान देंगे, हम इतनी समानता देंगे, हम देश को बाँट देंगे आदि अथवा यह कि खड़े होकर कह दें 'आओ, हम लोग निपट लें' इन दोनों ही अवस्थाओं में उसकी विरोध की वास्तविक प्रकृति के विषय में वही चेतना वर्तमान है।

इस प्रकार हम जानते हैं कि यद्यपि कुछ लोग हमें साम्प्रदायिक आदि कहते भी रहें तो भी उनके और हमारे विश्वास एक ही हैं। अन्तर इतना ही है कि हम में सत्य के कथन का साहस है और वे भय के कारण तुष्टीकरण एवं शमन करने का प्रयत्न करते रहते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि वे अपनी इस भीति पर विशाल हृदयता, धर्मनिरपेक्षता आदि का आवरण डालते हैं। बस इतना ही, और कोई अन्तर नहीं है। इसलिये हम जिस परिणाम पर पहुँचते हैं, वह यह है कि वे सब जातियाँ जो इस देश में रह रही हैं अब भी इसके लिये नमकहलाल नहीं हैं, इसकी संस्कृति को उन्होंने मनसा ग्रहण

नहीं किया है, उस जीवन-रचना को स्वीकार नहीं किया है, जिसे इस देश ने अनेक शताब्दियों से विकसित किया है, इसके दर्शन, इसके राष्ट्रीय महापुरुषों तथा इस देश के सभी आधारभूत तत्वों पर उनका विश्वास नहीं है। यदि संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि वे हमारे राष्ट्र-जीवन के लिये विदेशी हैं और केवल हिन्दू-समाज का ही जीवन भारत की इस पवित्र भूमि का वास्तविक चिरन्तन एवं वैभवशाली राष्ट्र-जीवन रहा है।

वह मूल दृढ़ धारणा वर्तमान है

वास्तव में हमारे सच्चे राष्ट्रत्व का यह बद्धमूल विश्वास अति प्राचीन काल से हमारे रक्त में समाविष्ट है। आज के दिन भी वही विश्वास इस भूमि के प्रत्येक पुत्र के हृदय में विद्यमान है, यद्यपि कभी-कभी सुप्त पड़ा रहता है।

सन् १९२० के लगभग डा० मुंजे, जो उन दिनों कांग्रेस के एक बड़े नेता थे, पाण्डिचेरी में श्री अरविन्द से भेंट करने के लिये मद्रास जा रहे थे। डा० हेडगेवार उनके साथ थे। डा० मुंजे प्रथम श्रेणी के डिब्बे में यात्रा कर रहे थे और अपने डाक्टर जी लगभग उनके परिचर के ही रूप में तृतीय श्रेणी में यात्रा कर रहे थे। जब ट्रेन पूर्ववर्ती स्टेशन पर रुकी तो डाक्टर जी डा० मुंजे के डिब्बे में उनका सामान बाँधने के लिये आये। किन्तु उनका कार्य पूर्ण होने के पूर्व ही ट्रेन चल दी। जब ट्रेन मद्रास स्टेशन पर पहुँची तो एक टिकट चेकर ने कहा कि वह डाक्टर हेडगेवार से इस बात का दण्ड लेगा कि उन्होंने तृतीय श्रेणी के टिकट से प्रथम श्रेणी की यात्रा की है। डा० मुंजे ने समझाने का प्रयत्न किया; किन्तु जब देखा कि वह अपने हठ पर अड़ा हुआ है तो क्रोधावेश में उनके मुंह से निकल गया कि—"अच्छा तुम मुझ पर विश्वास नहीं करते ? मैं इस रेल का स्वामी हूँ; क्योंकि मैं किराया देता हूँ। अन्ततः तुम तो एक नौकर हो। निकल जाओ।" वह टिकट इन्सपेक्टर भी अत्यन्त क्रोधित हो गया और बोला—"तुम मुझसे यह कहने वाले कौन होते हो ? यह कोई मुस्लिम देश नहीं है, तुम निकल जाओ।" यह सुनकर वे दोनों ही डाक्टर खूब हँसे। उसने ऐसा क्यों कहा ? क्योंकि डा० मुंजे की लम्बी दाढ़ी थी अतः टिकट इन्स्पेक्टर ने उन्हें भूल से मुसलमान समझ लिया था। कहने का अर्थ यही है कि ऐसे अतीव साधारण प्रसंगों में मन के भीतर बैठा सत्य प्रकट हो जाता है कि यह देश मुस्लिम देश नहीं है।

बहुत वर्ष हुए जब गोविन्द राव काले ने, जो निजाम के दरबार में पेशवा के राजदूत थे, यह वार्ता सुनी कि पेशवा अपनी विजयिनी खड्ग के साथ

सिन्धु पार कर काबुल तक पहुँच गये हैं तो उनको बधाई देते हुए पत्र में लिखा—"मैं अत्यधिक प्रसन्न हूँ कि भगवाध्वज पुनः सिन्धु पार लहरा रहा है, मुस्लिम शक्ति चूर-चूर हो गई है तथा यह एक बार पुनः सिद्ध हो गया है कि यह देश हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक हिन्दुस्थान है, तुर्किस्तान नहीं।" जिस मूलभूत विश्वास को एक सौ पचास वर्ष पूर्व एक महान् हिन्दू साम्राज्य के विदग्ध राजनीतिज्ञ ने व्यक्त किया था, उसी सत्य को एक सामान्य टिकट इन्स्पेक्टर ने भी इन्हीं शब्दों से दुहराया कि यह मुसलमान देश नहीं है। यह है वास्तविकता।

सत्य को भी प्रमाण चाहिये

दुर्भाग्य से कुछ प्रख्यात व्यक्तित्वों ने इस सत्य पर अनेक भ्रान्तियों एवं असत्यों का आवरण डालने का प्रयत्न किया है तथा हिन्दुओं को इस बात का विस्मरण कराने का प्रयत्न किया जा रहा है कि वास्तव में वे ही एक राष्ट्र हैं। असत्य भी यदि सतत दुहराया जाय तो दुर्बल मस्तिष्क पर अपना प्रभाव करता ही है। जैसा कि एक कथा में आता है कि एक बार एक ब्राह्मण एक बकरी के बच्चे को अपनी गोद में लिये जा रहा था। तीन लुटेरों ने उसे हड़पने की योजना बनाई, एक के बाद दूसरा उस ब्राह्मण से मिला और उस ब्राह्मण को आक्षेपपूर्ण उपहासात्मक उद्गारों से सम्बोधन कर कहा कि कैसी विचित्र बात है जो उसके समान पवित्र ब्राह्मण अपनी गोद में कुत्ता उठाये लिए जा रहा है। उस भोले-भाले ब्राह्मण पर प्रथम चोर के कहने का प्रभाव नहीं हुआ। किन्तु जब दूसरे चोर ने वही बात दुहराई तो उसे संदेह उत्पन्न हो गया। तथा फिर तीसरे के कहने पर उसे विश्वास ही हो गया। उसने उस बकरी के बच्चे को फेंक दिया। फलस्वरूप उन चोरों ने उसे अपने अधिकार में ले लिया।

हम इस ऐतिहासिक सत्य की ओर से अपनी आँखें बन्द न करें कि चतुर अंग्रेज ने हमारे देश पर अपने अधिकार को स्थायी रूप से बनाये रखने के लिए हिन्दुओं की स्वाभिमानी एवं विद्रोही भावना को भंग करने के उद्देश्य से ही राष्ट्रत्व के विषय में इस प्रकार के विसंगत भाव हमारे मस्तिष्कों में जमा दिये। क्योंकि यही भावना उनकी सत्ता के लिये वास्तविक संकट उपस्थित कर सकती थी। आज भी क्या हम अनुभव नहीं करते कि अपने देश के भीतर और देश के बाहर भी ऐसी ताकतें हैं जो उस पवित्र और प्रखर राष्ट्रभाव की भावना के उच्छेदन से लाभ उठा लेना चाहती हैं जो एक मात्र उनके कुटिल

कार्यों का निराकरण करने में समर्थ हैं। और जान में या अनजान में हमारे लोग भी उनके उस कपटी प्रचार में बह जाते हैं, जिसका उद्देश्य हमको आत्मघाती मार्ग पर ले जाना है। इसलिये यह हमारा पवित्र कर्तव्य है कि अपने हिन्दू राष्ट्रत्व के सत्य की पुनः स्थापना करें, असत्यों का ध्वंस करें तथा प्रत्येक हिन्दू को यह अनुभव करा दें कि वह इस महान् हिन्दू-राष्ट्र का एक सजीव अंग है।

किन्तु यह किया कैसे जाये ? कठोर अनुभवों के आधार पर हमें ज्ञात है कि सत्य को भी सिद्ध करने की आवश्यकता हुआ करती है, उसके प्रमाणीकरण की आवश्यकता होती है। इसी प्रमाणीकरण को अपने शास्त्रों ने निग्रहानुग्रहक्षम शक्ति के रूप में वर्णन किया है। एक ऐसी शक्ति जो शुभ की रक्षा एवं अशुभ का नाश करने में समर्थ हो। हमें ज्ञात है कि भगवद्‌गीता के प्रथम अध्याय में ही अर्जुन अपनी शंकाओं के साथ आगे आता है। द्वितीय अध्याय उन शंकाओं का पूर्ण उत्तर है। उसके पश्चात् श्रीकृष्ण उन बातों की व्याख्या करते हैं, जिनका प्रतिपादन उन्होंने द्वितीय अध्याय में किया है। किन्तु अर्जुन सन्तुष्ट नहीं होता। अन्त में जब श्रीकृष्ण अपना अतिविराट विश्वरूप प्रकट करते हैं तो वह तुरन्त कहता है—"हाँ, अब मैं समझ गया।" इसके पश्चात् जीवन के मूलभूत सिद्धान्तों के प्रति उसकी कोई इच्छायें नहीं रह जातीं। एकादश अध्याय के पश्चात् हम अर्जुन को अत्यन्त ग्रहणशील हुआ पाते हैं। क्यों ? कारण कि जिन दिव्य उपदेशों को उसने अब तक श्रीकृष्ण जी से श्रवण किया था, उनकी पृष्ठभूमि में विश्वरूप की उस असीम शक्ति का आविर्भाव उपस्थित है।

एक बार हमने अपने एक दिल्ली शाखा के उत्सव में अध्यक्षता करने के लिए एक प्रमुख कांग्रेसी नेता को आमन्त्रित किया, जो बाद में केन्द्रीय मंत्रिमंडल के एक महत्वपूर्ण मंत्री हो गये थे। उन्होंने निमन्त्रण स्वीकार किया। उनके कांग्रेसी मित्रों ने उन्हें यह कहकर निवृत्त करने की चेष्टा की कि उन्हें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसी साम्प्रदायिक संस्था के साथ अपने को सम्बन्धित नहीं करना चाहिये। किन्तु उन्होंने उन सबको आश्वासन दिया कि वह अपने सिद्धान्तों का किसी से समझौता नहीं करेंगे। वे आये और उन्होंने कई हजार स्वयंसेवकों को सुरचना तथा गणवेश में देखा। वहाँ तीन लाख की संख्या में एक बहुत बड़ा श्रोता समुदाय भी पूर्ण व्यवस्था एवं शान्ति के साथ उपस्थित था। परिचयात्मक वक्तव्य के पश्चात् वे अपना अध्यक्षीय भाषण देने के लिए खड़े हुये। उन्होंने कहा—"यदि यह हिन्दुस्थान देश हिन्दुओं का नहीं तो किसका

है ? तथा इस भूमि का राष्ट्रीय जीवन यदि हिन्दू का नहीं तो और किसका है ?'' दूसरे दिन उनका भाषण पत्रों में प्रकाशित हुआ। स्वाभाविक रूप से उन्हें उनके कांग्रेसी सहयोगियों की आपत्तियों ने परेशान किया। इस पर यह कहा जाता है कि उन्होंने उन लोगों को उत्तर दिया कि ''यदि तुममें से किसी ने भी वह दृश्य देखा होता तो, जो कुछ मैंने कहा है, उससे भिन्न और कुछ नहीं कहता।'' और उनकी यह बात सत्य भी थी। उनके सामने खड़े हुये सहस्रों सुअनुशासित एवं निष्ठावान स्वयंसेवकों के रूप में हिन्दू राष्ट्र की शक्ति के आविर्भाव ने उनकी वास्तविक राष्ट्रत्व की प्रसुप्त गूढ़ चेतना को पुनः जागृत कर दिया था।

अतएव प्रत्येक हिन्दू के लिए सर्वप्रथम कर्तव्य का यह भार आता है कि वह अपने हिन्दू-राष्ट्र के अति प्राचीन सत्य के प्रतिपादन के लिए हिन्दू समाज की तदनुकूल पवित्र, उदार एवं अजेय शक्ति का निर्माण करे। हमारे शास्त्रों का वचन है कि आत्मविस्मृति अधर्म है और अपनी आत्मा के सच्चे ज्ञान की जागृति धर्म है। इस प्रकार हमारे सभी प्राचीन आचार्यों द्वारा दिखाये गये धर्म की पुनः स्थापना का स्पष्ट मार्ग यही है कि हिन्दू समाज अपनी राष्ट्रीय आत्मा के सत्य अर्थात्—गौरवशाली, दीप्तिमान हिन्दू राष्ट्रत्व का जागरण करे।

***

२२ आन्तरिक संकट

१. मुसलमान

राष्ट्र की सुरक्षा के लिये संकट

संसार में अनेकों देशों के इतिहास की यह एक दुःखद शिक्षा रही है कि राष्ट्र की सुरक्षा को बाहरी आक्रान्ताओं की अपेक्षा आन्तरिक विरोधी तत्व अधिक बड़ा संकट उपस्थित करते हैं। दुर्भाग्यवश, जब से अँग्रेज ने इस देश को छोड़ा, हमारे देश में राष्ट्र की सुरक्षा का यह प्रथम पाठ सतत उपेक्षित रहा है। हमारे देश के कर्णधारों की ईप्सित कल्पनाओं (wishful thinking) ने अपने राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य एवं सुरक्षा के लिए घातक आन्तरिक उच्छेदन की संभावना को अत्यन्त प्रखर और वास्तविक बना दिया है। वास्तविकताओं का सामना करने के साहस के अभाव में से उत्पन्न राष्ट्र-जीवन में आए एक के बाद दूसरे दुःखद प्रसंग, उन पर उत्तरदायित्व वहन करने वाले प्रमुखों द्वारा आवरण डालने के लिए किये गये ऊँचे-ऊँचे नारों के उद्घोष तथा अपने संकुचित स्वार्थों की सिद्धि के लिये राष्ट्रविरोधी भावना वाले दलों एवं वर्गों के साथ समय-समय पर अवसर से लाभ उठाने के लिए किये गये समझौतों से इन आन्तरिक उच्छेदनों का जन्म हुआ है।

प्रथम हम मुसलमानों के विषय में विचार करें।

आज तक ऐसा कहने वाले अनेकों लोग मौजूद हैं कि "अब मुसलमान समस्या बिलकुल नहीं रही। पाकिस्तान को प्रश्रय देने वाले वे सब दंगाई तत्व सदा के लिए चले गये हैं। शेष मुसलमान हमारे देश के भक्त हैं। आख़िर उनके लिए जाने को कहीं कोई स्थान नहीं है और वे निष्ठावान बने रहने के लिये बाध्य हैं।"

तथ्य क्या कहते हैं

किन्तु तथ्य क्या हैं ? क्या यह सत्य है कि सभी पाकिस्तान-समर्थक तत्व पाकिस्तान चले गये ? प्रत्यक्ष में वह हिन्दू बहुल प्रान्त उत्तर प्रदेश के ही मुसलमान थे जो आरम्भ से ही पाकिस्तान के लिए किए गए आन्दोलन के प्रमुख रहे और विभाजन के पश्चात् भी वे सभी यहीं बने रहे। वास्तव में पंजाब, बंगाल, सिन्ध तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्तों के मुसलमान जो पाकिस्तान में चले गये, १९३७ के निर्वाचन में मुसलिम लीग को बिलकुल अमान्य कर चुके थे। बाद के वर्षों में हमारे नेतृत्व की गलत नीति के कारण वे मुसलमान पुनः मुसलिम लीग की गोद में ढकेल दिए गए।

और फिर, विभाजन के पूर्व, कान्स्टीटुएण्ट एसेम्बली की स्थापना के लिए निर्वाचन हुए। मुसलिम लीग ने पाकिस्तान के निर्माण को अपने चुनाव का आधार बनाकर वे निर्वाचन लड़े। कांग्रेस ने भी सम्पूर्ण देश में अपने मुसलमान प्रत्याशी खड़े किए किन्तु ऐसे प्रत्येक स्थान पर मुसलमानों ने मुसलिम लीग के प्रत्याशियों को ही वोट दिये और कांग्रेस के मुसलमान प्रत्याशी बुरी तरह परास्त हुए। उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त एक अपवाद था। इसका अर्थ यही है, जो करोड़ों मुसलमान यहाँ अब भी रह रहे हैं, उन सभी ने पाकिस्तान के लिए वोट (समर्थन) दिया था।

क्या उसके बाद भी जो यहाँ रह गये उन्होंने अपने में परिवर्तन किया है ? क्या अब भी उनका वही पुराना विरोध और खूनी भाव, जिसका परिणाम १९४६-४७ में व्यापक दंगे, लूट, अग्निकाण्ड, बलात्कार तथा अत्यन्त बड़े परिमाण में और भी इसी प्रकार के उन्मादपूर्ण कार्य में हुआ था, समाप्त हो गया है ? तब विभाजन के पश्चात् एक रात में ही वे परिवर्तित होकर देशभक्त हो गये हैं, ऐसे विश्वास के धोखे में रहना आत्मघाती होगा। इसके विपरीत पाकिस्तान के निर्माण से यह मुस्लिम विभीषिका सैकड़ों गुना बढ़ गई है, जिसका निर्माण ही हमारे देश पर भावी आक्रमण की योजनाओं के आधार रूप में हुआ है।

पाकिस्तान—एक सतत चल रहा आक्रमण

उनकी आक्रामक नीति सदैव दोहरी रही है। एक तो है सीधा आक्रमण। स्वतन्त्रता के पूर्व के दिनों में जिन्ना ने इसका नाम 'सीधी कार्यवाही' रखा था। पहले प्रहार में उन्हें पाकिस्तान मिल गया। हमारे नेतागण जिनका हाथ इस पाकिस्तान के निर्माण में रहा है, इस दुःखद घटना को भाइयों के बीच बँटवारा कहकर लीपा-पोती करने का प्रयास करते हैं। किन्तु यह नग्न सत्य

बना ही रहेगा कि हमारी अपनी मातृभूमि में से ही काटकर एक आक्रान्ता मुसलिम राज्य निर्माण किया गया है। जिस दिन से यह तथाकथित पाकिस्तान अस्तित्व में आया, हम घोषणा करते आ रहे हैं कि यह सतत चल रहे मुसलिम आक्रमण को स्पष्ट करने वाली एक घटना है। बारह सौ वर्ष पूर्व से जब मुसलमान ने यहाँ पैर रखा, उसकी यही आकांक्षा रही है कि इस सम्पूर्ण देश को धर्मान्तरण करके गुलाम बनाया जाय। किन्तु शताब्दियों तक राज्याधिकार उनके हाथ में रहते हुए भी उनकी यह आकांक्षा फलवती नहीं हुई, क्योंकि राष्ट्र की विजयिष्णु भावना समय-समय पर महान् पराक्रमी पुरुषों के रूप में जागृत होती रही जो यहाँ उनके साम्राज्य की मृत्यु का कारण बनी। यद्यपि उनका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, किन्तु इस देश पर अधिकार बनाये रखने की उनकी आकांक्षा भंग नहीं हुई। अंग्रेजों के यहां आने में उन्हें अपनी इस इच्छा की पूर्ति का अवसर मिल गया। उन्होंने अत्यन्त धूर्ततापूर्वक अपना खेल खेला, कभी-कभी आतंक और विद्रोह का निर्माण किया और अन्त में घुड़ककर हमारे नेताओं को विभाजन की पापपूर्ण मांग के सामने आत्मसमर्पण कराने में सफल हो गये।

हम संघ के लोग, वास्तव में, बार-बार इस ऐतिहासिक सत्य को गत इतने वर्षों से लोगों के मन में पैठाने का प्रयत्न करते आ रहे हैं। कुछ समय पूर्व, विश्व के प्रख्यात इतिहासज्ञ प्रो० अरनाल्ड टायनबी ने भी इसे पुष्ट किया है। उन्होंने दो बार हमारे देश की यात्रा की। हमारी राष्ट्रीय गतिविधियों का निकट से अध्ययन किया तथा विभाजन के शुद्ध ऐतिहासिक यथार्थ चित्र को प्रस्तुत करने वाला एक निबन्ध लिखा। जिसमें उन्होंने असंदिग्ध रूप से कहा है कि पाकिस्तान का निर्माण इस बीसवीं शताब्दी में मुसलमानों का इस देश को पूर्णतया अधीन करने के १२०० वर्ष पुराने स्वप्न को साकार करने की दिशा में प्रथम सफल पग है। फिर उनका सीधा आक्रमण, जो उनकी प्रथम सफलता के जोश में अधिक बढ़ा हुआ था, कश्मीर पर हुआ। वहाँ भी वे सफल हुए, यद्यपि आंशिक रूप से ही। आज भी एक तिहाई कश्मीर उनके अधिकार में है। अब पाकिस्तान शेष कश्मीर को भी वहां के पाकिस्तान-समर्थक शक्तिशाली तत्वों की सहायता से हड़पना चाहता है।

जिन्ना के स्वप्न को साकार करने के लिये

हमारे देश के सामरिक महत्व के भागों में मुस्लिम जनसंख्या की वृद्धि करना उनके आक्रमण का दूसरा मोर्चा है। कश्मीर के पश्चात् उनका दूसरा लक्ष्य

आसाम है। योजनाबद्ध रीति से आसाम, त्रिपुरा और शेष बंगाल में बहुत दिनों से उनकी संख्या की बाढ़ आ रही है। कुछ लोग हमें यह विश्वास दिलाना चाहेंगे कि पूर्वी पाकिस्तान अकालग्रस्त होने के कारण वहाँ के लोग निकल-निकल कर आसाम तथा पश्चिमी बंगाल में आ रहे हैं, किन्तु बात ऐसी नहीं है। पाकिस्तानी मुसलमान आसाम में १५ वर्षों से शनैः-शनैः घुसते आ रहे हैं। क्या इसका यह अर्थ है कि वहाँ इन १५ वर्षों में अकाल ही बना रहा। आसाम में मुसलमान गुप्त रूप से प्रवेश कर रहे हैं और स्थानीय मुसलमान उन्हें आश्रय देते हैं। परिणामस्वरूप जहाँ सन् १९५० में वहाँ की मुसलमान जनसंख्या केवल ११ प्रतिशत थी, वहाँ आज दुगने से भी अधिक बढ़ गई है। आसाम को मुसलिम बहुल प्रान्त बनाने के षड्यन्त्र के अतिरिक्त यह और क्या है, जिससे कि आसाम अपने आप थोड़े समय बाद पाकिस्तान की गोद में चला जाय।

१९६० के बंगाली विरोधी दंगों में भी जिन्होंने आसाम को आन्दोलित कर दिया था, सदा की भाँति वहाँ के मुसलमानों और मुसलमान मिनिस्टरों ने अपना देश-द्रोह का कार्य किया था। उन्होंने आसामी हिन्दुओं को बंगाली हिन्दुओं के विरुद्ध तथा बंगाली हिन्दुओं को आसामी हिन्दुओं के विरुद्ध, जहाँ जैसा उन्हें अपने अभिप्रेत के अनुकूल प्रतीत हुआ, खड़ा कर दिया तथा बंगाली हिन्दुओं को निकाल बाहर करने के अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के प्रयत्न में हिन्दुओं के घरों को हत्या एवं अग्निकाण्डों का शिकार बनाया। इसके द्वारा उन्होंने हिन्दुओं की तुलना में उस प्रान्त में मुस्लिम अनुपात को बढ़ा लिया। कुछ चीजें जो वहाँ घटित हुईं, इस रहस्य की सूचक हैं। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ हुई थीं जहाँ किसी बंगाली मुसलमान सज्जन का घर तो सुरक्षित रहा और उसके दोनों ओर के बंगाली हिन्दुओं के घर भस्म हो गये। पत्रों में भी यह घटनाएँ छपीं कि कुछ व्यक्ति लूटी हुई सम्पत्ति को ईस्ट पाकिस्तान ले जाते हुए बन्दी बनाये गये। यह बात स्पष्ट है कि उनकी योजनाओं को पूर्ण करने के लिए पूर्वी पाकिस्तान से मुसलमानों से भरे हुए ट्रक पर ट्रक आये थे। जब हम स्मरण करते हैं कि जिन्ना के पाकिस्तान के स्वप्न में कश्मीर और आसाम के भाग सम्मिलित थे तो हमारे सामने उनके कार्यों की योजना दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट हो जाती है।

जिन्ना के स्वप्न को पूर्ण करने की उनकी योजना को केवल मात्र ईप्सित कल्पना कहकर छोड़ देना हमारे लिए घातक सिद्ध होगा। और इसी प्रकार जिन्ना द्वारा की गई पाकिस्तान की माँग को भी हम एक 'बेहद अव्यवहार्य

कल्पना' मात्र कह-कर एक बारछोड़ चुके थे। परन्तु तो भी आज वह एक कठोर सत्य है। शस्त्रास्त्र एकत्र करने का उनका ज्वर अविरत बढ़ता जा रहा है। उनकी मस्जिदों में सभायें तथा हिंसा के लिए प्रोत्साहन भयंकर रूप से बढ़ रहे हैं। कुछ वर्षों पूर्व कलकत्ता के पुलिस कमिश्नर ने सावधान किया था कि केवल नाखोदा की मस्जिद में ही इतनी बारूद संग्रहीत है कि आधा कलकत्ता उड़ा दिया जा सकता है तथा जब तक उसकी तलाशी लेकर उसमें से वह भयंकर सामान हटाया नहीं जायगा तब तक कलकत्ता में जन-शान्ति बनाये रखना नितान्त असम्भव होगा। उसकी इस साहसपूर्ण चेतावनी के कारण कलकत्ता से तुरन्त उसका स्थानान्तरण कर दिया गया। यदि उनके एक हजार वर्ष के नग्न आक्रमण के इतिहास के बाद भी प्रमाणों की आवश्यकता हो तो दिल्ली तथा देश के अन्य स्थानों पर बमों का फटना उनकी विध्वंसक तैयारियों के स्पष्ट प्रमाण हैं।

हमारा वर्तमान नेतृत्व उनकी इन कार्यवाहियों पर कठोरतापूर्वक प्रतिबंध लगाने के प्रश्न पर अति दुर्बल है। इस तथ्य के आभास ने उन्हें अपने अति दुष्ट अभिप्रेतों को सिद्ध करने के लिए और भी साहसिक बना दिया है। उन्हें यह भली-भाँति स्मरण है कि कलकत्ता, नोआखाली और त्रिपुरा में उनके द्वारा किये गए हिंसा एवं रक्तपात के कार्यों ने हमारे नेताओं को निःसाहस कर दिया था जिससे कि वे अपनी मातृभूमि की एकता का विनिमय कर डालने तथा देश का एक भाग दे डालने को विवश हो गये थे। आज भी वे यह देख रहे हैं कि हमारे वर्तमान नेताओं के हाथों से गुण्डागिरी के द्वारा बहुत बड़ा लाभांश प्राप्त किया जा रहा है।

सन् १९५० में हिन्दुओं के हत्याकाण्ड और पूर्व बंगाल से सामूहिक निष्कासन के परिणामस्वरूप एक घटना घटित हुई थी। ठीक उसी काल में बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली के अनेक भागों में लगातार दंगे होने लगे थे। हमारी सरकार इस विचित्र मनोगति से पीड़ित है कि जहाँ कहीं भी दंगे होते हैं, उसमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का हाथ अवश्य होना चाहिए। तदनुसार उत्तरप्रदेश सरकार ने हमारे कुछ कार्यकर्ताओं को जेलों में डाल दिया। उसी समय किसी अन्य कारण से मेरी भेंट सरदार पटेल से हो गई। मैंने स्वाभाविक रूप से पूछ लिया कि मेरे लोगों को क्यों पकड़ा गया है? उन्होंने उत्तर दिया कि उत्तर प्रदेश सरकार को ऐसी सूचनायें मिली हैं कि उन विप्लवों के लिए संघ के कार्यकर्ता उत्तरदायी थे। तो मैंने उनसे कहा कि "यदि आपने उन क्षेत्रों की स्थिति पर ध्यान दिया होता, जहाँ उपद्रव हुए

हैं तो आपको यह तथ्य स्पष्ट हो जाता कि वे क्षेत्र वही हैं, जिन्हें जिन्ना ने पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान को मिलाने के लिए मार्ग के रूप में माँगा था। और यह भी कि ये दंगे पूर्वी पाकिस्तान से हिन्दुओं के सामूहिक निष्कासन के समकालीन हैं। इसका केवल यही अर्थ है कि उस मार्ग को मनवाने के लिए वे हमारी सरकार को झुकाना चाहते हैं।" सरदार पटेल एक क्षण के लिए चुप रहे। फिर बोले—"हाँ जो कुछ तुम कहते हो उसमें सत्यता है।" कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके बाद शीघ्र ही हमारे सभी कार्यकर्ता छोड़ दिये गये। हमारा यह सौभाग्य था कि उन दिनों वास्तविकता का सामना करने के लिए सरदार पटेल के रूप में फौलादी इच्छा शक्तिसम्पन्न एक व्यक्ति था।

नियतकालिक बम

सरदार पटेल इस तथ्य से अवगत थे कि पश्चिमी उत्तर प्रदेश पहले ही की भांति एक शक्तिशाली मुसलिम क्षेत्र बना हुआ है। वह नहीं चाहते थे कि एक मुसलिम पट्टी द्वारा उसका सम्बन्ध पश्चिमी पाकिस्तान से जुड़े। अतः उन्होंने पहले से ही इस बात के लिए सावधानी से काम लिया था कि विभाजन के पश्चात् पूर्वी पंजाब से निकाले हुए मुसलमान, पश्चिमी पाकिस्तान से उत्तर प्रदेश तक लगातार एक मुसलिम शृंखला बनाने के लिए, कहीं पश्चिमी पंजाब के निकट ही न बस जायें। किन्तु आचार्य बिनोवा भावे के दबाव से मुसलमानों को पहले ही गुड़गाँव जिले के निकट पुनर्वास के लिए आज्ञा दे दी गई। अब उन क्षेत्रों में चार लाख से अधिक मुसलमान बस चुके हैं।

इस बात के निश्चित लक्षण प्रकट हो रहे हैं कि सन् १९४६-४७ के समान ही एक विस्फोटक स्थिति शीघ्रता से उत्पन्न होती चली जा रही है और कुछ भी पता नहीं कि कब उसका विस्फोट हो जाय। ठीक दिल्ली से रामपुर और लखनऊ तक मुसलमान एक भयंकर योजना तैयार कर रहे हैं, शस्त्रास्त्रों का एकत्रीकरण तथा लोगों को सब प्रकार से लैस करते हुए सम्भवतः इस बात की प्रतीक्षा में अपना समय बिता रहे हैं कि जब पाकिस्तान हमारे देश से सशस्त्र संघर्ष का निर्णय करे तब वे भीतर से चोट करें। यदि इस कुचेष्टा के अंकुर को ही हम नहीं काटते तो बहुत सम्भव है कि दिल्ली नींव तक भी कम्पित हो जाये। यह नहीं है कि हमारे नेता इस बात से अवगत नहीं हैं। गुप्तचर विभाग उन्हें सूचनायें देता है। किन्तु यह प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में केवल चुनाव रहता है। चुनाव का अर्थ वोट प्राप्त करना जिसका अर्थ होता है कि जनता के उन वर्गों का तुष्टीकरण जिनके पास

मतों की अच्छी और ठोस संख्या रहती है। और मुसलमान इस प्रकार का ठोस संख्या वाला वर्ग है। इस सब तुष्टीकरण की मूल में यही तथ्य है, जिसका परिणाम घातक होता है।

न कुछ भूलना, न कुछ सीखना

दक्षिण में मुसलिमलीग ने अपना कुत्सित सिर पुनः उठाया है। पाकिस्तान के निर्माण ने उत्तर में हिन्दुओं को, कम से कम कुछ समय के लिये तो, मुसलिमलीग के संकट के प्रति जागरूक कर दिया है। इसीलिए लीग के नेताओं ने अपने मुख्यावास दक्षिण में स्थानान्तरित कर लिए हैं। अब वे इस वक्तव्य के साथ प्रकट हो गये हैं कि इस समय तक वे अपने कार्यों का संचालन गुप्त रूप से करते रहे थे। केरल के उस सामूहिक आंदोलन ने जिससे साम्यवादी सरकार का वहाँ पर पतन हुआ, उन्हें बाहर आने के लिए स्वर्णिम अवसर प्रदान किया। उसके बाद जो चुनाव आये वह उनके लिए अनपेक्षित लाभकारी सिद्ध हुए। क़ांग्रेस ने अपने अतीत के अनुभव से कोई शिक्षा ग्रहण नहीं की। उसने यह भी विचार नहीं किया कि मुसलिमलीग का ही अनुनय करने से हमारे देश पर पाकिस्तान रूपी विपत्ति आई है। एक बार पुनः चुनावों के अन्तर्गत उसी देशद्रोही दल का आलिंगन करने के लिए कांग्रेस ने अपनी बाहें फैला दीं और उनके इस स्पष्ट राष्ट्र-विरोधी कृत्य के समर्थन के लिए पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने मुसलिमलीग को यह कहकर देशभक्ति का एक बेहतरीन प्रमाण-पत्र भी दे दिया कि यह नवीन दल पुरानी मुसलिमलीग नहीं है वरन् एक नया देशभक्त दल है जो अपनी जाति एवं धर्म के प्रति भक्ति रखता है। देशभक्ति की कैसी अद्भुत परिभाषा है। किन्तु हमारे पण्डित जी के दुर्भाग्य से दूसरे ही दिन अखिल भारतीय मुसलिमलीग के अध्यक्ष ने यह वक्तव्य प्रकाशित किया कि उनका दल वही पुराना दल है, जिसमें परिवर्तन की छाया भी नहीं है। अब वे केरल में स्वतन्त्र 'मोपालानाड' के लिए खुले रूप में प्रचार कर रहे हैं।

इन नवीन विकासमान परिस्थितियों में कोई भी देख सकता है कि एक बार पुनः लगभग अर्धशताब्दीपूर्व की वही पुरानी घटनायें सजीव हो रही हैं। हमारे नेताओं ने विंशति काल में (१९२१ से १९२९ तक) मुसलमानों की मैत्री प्राप्त करने के लिये हिन्दुओं से कहा था कि वे भी खिलाफत आन्दोलन (एक आन्दोलन जो कि टर्की के बादशाह को सिंहासनच्युत करने के कारण अंग्रेजों के विरुद्ध किया गया था) को अपना ही मानकर उसमें भाग लें। केरल में भी

आन्दोलन की सहायता के लिये हिंदू धन तथा जन के साथ आगे आये। किन्तु मुसलमानों का कोप जो अंग्रेजों पर था, शीघ्र ही हिन्दू काफिरों के विरुद्ध जेहाद के रूप में उभड़ पड़ा, जिसमें मुसलिम बर्बरता के सभी सामान्य भीषण अत्याचार, जैसे हत्या, अग्निकाण्ड, स्त्रियों को सताना, लूट तथा बलात् धर्मपरिवर्तन आदि हुए। जब इन रोमांचक अत्याचारों के समाचार देश के अन्य भागों में पहुँचे और वहाँ के निवासियों के हृदयों पर आघात हुआ तो एक प्रख्यात नेता ने उन ज़घन्य अपराधियों को 'बहादुर मोपला' कहते हुए उनकी खुलकर प्रशंसा की। हम उन शब्दों की तुलना अपने वर्तमान नेताओं के इन शब्दों से करें जो उन्हें आज भी 'देशभक्त' कहते हैं, तो हमें उस लम्बी आत्मघाती मूर्च्छा की कल्पना हो जायगी, जिसने हमारी राष्ट्रीय जागरूकता एवं सुरक्षा की सम्पूर्ण मानसिक शक्ति को निर्जीव बना दिया है।

हमारी अपनी सरकार द्वारा मुसलमानों को हर जगह उनकी विघटनात्मक और विध्वंसक क्रियाओं में प्रोत्साहन मिलता है। इस कार्य में हमारे नेता तथा राजनीतिक दल भी उन्हें प्रोत्साहित करते हैं। कलकत्ता के उन दंगों को ले लीजिए जो १९६३ में पूर्वी पाकिस्तान के खुलना, नारायणगंज और ढाका के क्षेत्रों में हिन्दुओं के विध्वंस के बाद ही घटित हुए थे। हमारे अपने ही सत्ताधारी लोगों ने उन्हें पूर्वी बंगाल के दंगों की प्रतिक्रिया के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया। किन्तु तथ्य क्या हैं? वह मुसलमान ही थे जिन्होंने पहले कलकत्ता में विद्यार्थियों के शान्तिपूर्ण जलूस पर आक्रमण किया और उन्हीं ने स्वामी विवेकानन्द की शताब्दी समारोह के उपलक्ष्य में निर्मित विशाल प्रदर्शिनी में आग लगायी तथा बहुमूल्य वस्तुएँ नष्ट कर दीं। क्या कोई सही मस्तिष्क वाला व्यक्ति इस बात पर विश्वास करेगा कि कलकत्ता के हिन्दुओं ने उस पण्डाल को जला डाला जिसमें स्वामी विवेकानन्द की दर्शनीय वस्तुएँ रखी गई थीं। मुसलमानों के इस प्रकार विध्वंस करने लगने के पश्चात् ही हिन्दू अपनी रक्षा के लिए उठ खड़े हुए। इस प्रकार इसमें तनिक भी सन्देह के लिए अवकाश नहीं है कि कलकत्ता के दंगे पूर्वी बंगाल के दंगों का प्रसार मात्र था, उनकी प्रतिक्रिया कदापि नहीं थी।

किन्तु हमारी सरकार जो अब तक सामान्यत: अपने अंग्रेज मालिकों के पदचिह्नों पर ही चल रही है, हिन्दुओं पर प्रचण्ड रूप से पिल पड़ी और उन्हें बिना सोचे-विचारे गोलियों से उड़ाने लगी। हमारे एक केन्द्रीय मंत्री ने तो घोषणा भी की कि "हमारे लिए एक-एक मुसलमान का जीवन पवित्र है" जब कि सच्चे अर्थों में किसी भी सरकार कहलाने योग्य सत्ता के लिये प्रत्येक जीवन

पवित्र धरोहर होनी चाहिए। उन्होंने यह कहकर आत्मप्रशंसा भी की कि पुलिस की गोलियों से मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू अधिक मारे गये। इस वक्तव्य से उन्होंने इस सम्बन्ध में सरकार की वास्तविक मनोभूमिका को ही प्रकट कर दिया। संक्षेप में, हमारे अपने देश में जिस भाँति काम चल रहा है, उसका यही ढंग है।

अगणित 'छोटे-छोट पाकिस्तान'

वास्तव में सम्पूर्ण देश में जहाँ भी एक मस्जिद या मुसलमानी मुहल्ला है, मुसलमान समझते हैं कि वह उनका अपना स्वतन्त्र प्रदेश है। यदि वहाँ हिन्दुओं का कोई जलूस गाते-बजाते जाता है तो वे यह कहते हुए क्रोधित होते हैं कि उनकी धार्मिक भावनाओं को ठेस लगती है। यदि उनकी धार्मिक भावनायें इतनी नाजुक हो गई हैं कि मधुर संगीत से भी क्षुब्ध हो जाती हैं तो वे अपनी मस्जिदों को जंगलों में स्थानान्तरित करके वहाँ चुपचाप आराधना क्यों नहीं करते। वे सड़क के किनारे ही एक पत्थर जमाने का, उस पर सफेदी पोतने का तथा उसे प्रार्थना-स्थल कहने का हठ क्यों करते हैं ? और फिर जब वहाँ संगीत होता है तो हायतोबा मचाते हैं कि उनकी आराधना में व्याघात होता है।

कुछ वर्षों पूर्व एक अरब का मुसलमान मौलवी हमारे देश में आया था। उससे प्रार्थना की गई कि वह कुरान का पाठ उसी प्रकार करे जैसे उसके देश में किया जाता है। उसने इस बात का उत्तर दिया कि वहाँ तो हम उसे हारमोनियम, तबला तथा इसी प्रकार के अन्यान्य वाद्य यंत्रों के साथ गाते हैं। यदि यहाँ मैं यह करूँगा तो यहाँ के मूर्ख मुसलमान मेरे टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे। क्या यह इससे स्पष्ट नहीं हो जाता कि यहाँ मुसलमानों की संगीत विषयक तथाकथित धार्मिक भावनाओं का धर्म अथवा आराधना से कोई सम्बन्ध नहीं है वरन् पूर्णरूपेण इसकी प्रेरणा में हिन्दुओं से झगड़ा करना तथा अपने लिए एक छोटा स्वतन्त्र कक्ष स्थापित करने का दृष्टिकोण निहित है।

यह किस प्रकार सम्भव होता है कि वे इन आक्रामक और राष्ट्र-विरोधी कार्यों को खुल्लमखुल्ला करने का साहस करते हैं ? यह इसलिए है कि हमारी सरकार भी उन्हें व्यक्त अथवा प्रच्छन्न रूप से प्रश्रय देती है। यद्यपि उच्च न्यायालय नागरिकों के अनिवार्य अधिकारों के अन्तर्गत सार्वजनिक मार्गों पर बाजे के साथ जलूस निकालने के अधिकार का समर्थन कर चुका है, फिर भी सरकार शान्ति और व्यवस्था की दृष्टि से जलूसों को नियमित करने के लिए

प्रशासकों को दी हुई स्वतन्त्र निर्णय की शक्तियों के आवरण में प्रायः हिन्दुओं को उन सड़कों पर जलूस निकालने को बिलकुल रोक देती है जिन पर मस्जिदें स्थित हैं। यह उन लोगों के लिए पारितोषिक है जो शान्ति भंग करना चाहते हैं। और शान्तिप्रिय नागरिक, नागरिकों के रूप में अपने सहज अधिकारों का उपभोग करने में, इस प्रकार की ज्यादती के शिकार हो जाते हैं। कानून का पालन करने वाले नागरिकों से कहा जाता है कि वे अपने को संयमित रखें और जो हिंसा में प्रवृत्त होने को निकलते हैं, उन्हें उनकी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता दी जाती है। यह एक प्रकार परोक्ष रीति से स्वीकार करना है कि देश के अन्दर कितनी ही मुसलिम बस्तियाँ हैं, अर्थात् कितने ही लघु पाकिस्तान, जहाँ कि देश का सामान्य कानून कुछ संशोधनों के साथ लागू होता है और जहाँ दुष्टों के मन की लहर ही अन्तिम नियम है। यह स्वीकृति, चाहे वह परोक्ष ही क्यों न हो, एक अत्यन्त खतरनाक सिद्धान्त को उपलक्षित करती है, जिसमें हमारे राष्ट्रीय जीवन के पूर्ण विनाश की सम्भावनायें भरी पड़ी हैं। इस देश में इस प्रकार की बस्तियाँ (कक्ष) निःसंशय रूप से पाकिस्तान-समर्थक तत्त्वों के चारों ओर फैले हुए जाल के छोटे-बड़े केन्द्र हो गये हैं।

अनेक उदाहरण

उदाहरण के लिए महाराष्ट्र के मालेगाँव में एक दंगा (१९६३) हुआ। गणेश की प्रतिमा विसर्जन के लिए जलूस के साथ ले जाई जा रही थी। मुसलमानों ने इस पर आक्रमण किया। कुछ झगड़ा हुआ। सदैव के समान सरकार कानून और व्यवस्था को स्थापित करने आगे आई और एक बड़ी संख्या में प्रमुख हिन्दू सज्जनों को पकड़ लिया मानों वही उस कानून भंग के कृत्य के लिए उत्तरदायी रहे हों। बाद में मुझे उसी राज्य के एक महत्वपूर्ण उच्च पदाधिकारी से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। मैंने उनसे कहा कि यह घटना रात्रि के नौ, दस बजे घटित हुई। ठीक दूसरे ही दिन पाकिस्तान रेडियो ने प्रसारित कर दिया कि उस नगर में मुसलमानों की जाति-शेष करने वाला हत्याकाण्ड हुआ है। पाकिस्तान को यह बात कुछ घण्टों में ही कैसे ज्ञात हो गई। कोई पाकिस्तानी सज्जन ट्रान्समीटर के साथ अवश्य होने चाहिए और उनका पाकिस्तान से सतत सम्पर्क भी होना चाहिए।" उन्होंने कहा—"हाँ, यही सम्भावना है।" तब मैंने उनसे पूछा—"क्या आपको ज्ञात है कि प्रधान मंत्री के भी घर में होने वाली गुप्त मन्त्रणाओं की सूचनायें, जो अत्यन्त गोपनीय मानी जाती हैं, प्रायः उसी रात में पेकिंग और रावलपिण्डी चली जाती हैं।" उन्होंने कहा—"हाँ, यह मेरी जानकारी में है।"

निष्कर्ष यह है कि प्रायः हर स्थान में ऐसे मुसलमान हैं जो ट्रान्समीटर के द्वारा पाकिस्तान से सतत सम्पर्क स्थापित किए हैं और अल्पसंख्यक होने के नाते सामान्य नागरिक के ही नहीं अपितु कुछ विशेषाधिकारों तथा विशेष अनुग्रहों का भी उपभोग करते हैं। हमारा गुप्तचर विभाग राष्ट्रीय अस्तित्व को समाप्त करने का प्रयास करने वाले उन तत्वों के प्रति उतना सचेष्ट नहीं प्रतीत होता, जितना कि देशभक्त व्यक्तियों के प्रति।

कुछ दिन पूर्व उत्तर प्रदेश विधान सभा में एक सदस्य ने चुनौती दी थी कि लखनऊ नगर में ही कई ट्रान्समीटर चालू हैं और वह पुलिस को उनका पता लगाने के लिए ले चलने को तैयार है, यदि पुलिस में साहस हो। अब तक तो ऐसा लगता है कि सरकार उसकी बात बिलकुल नहीं सुन पाई है। कोई आश्चर्य नहीं कि शत्रु के पंचमाँगी अपनी अति दुष्ट योजनाओं को इस प्रकार आनन्द से चलाते रहते हैं मानों स्वयं सरकार ही उनके पक्ष में हो। इस प्रकार के तत्व उत्तरदायित्व के पदों तथा महत्व के स्थानों पर भी हो सकते हैं। हम मानों एक ज्वालामुखी पर बैठे हुए यह अनुभव कर रहे हैं कि हमारे धर्मनिरपेक्ष संसार में सब कुछ ठीक ही है।

महान् 'राष्ट्रीय मुसलमान'

कम से कम अब हम जागें, चारों ओर देखें और बड़े-बड़े प्रमुख मुसलमानों के भी शब्द तथा कृत्यों के सही तात्पर्य को समझें। उनके अपने ही वक्तव्यों ने आज तथाकथित 'राष्ट्रीय मुसलमानों' के महानतम व्यक्तियों को भी उनके सच्चे नग्न रूप में प्रकट कर दिया है।

स्वतन्त्रता संग्राम के प्रारम्भिक काल में मौलाना मुहम्मद अली महात्मा गाँधी के दाहिने हाथ थे। उन्होंने सार्वजनिक रूप से यह घोषणा की थी कि मुसलमानों में बुरे से बुरा पापी तथा भ्रष्ट उनकी निगाह में महात्मा गाँधी से भी बहुत अधिक श्रेष्ठ है।

मुझे एक बार अपने देश में सूफी सम्प्रदाय के एक बड़े विद्वान् से बात करने का अवसर मिला। उन्होंने कहा कि कम्युनिज्म के अनीश्वरवादी दर्शन की चुनौती का सामना करने का एक ही मार्ग है कि ईश्वर में विश्वास रखने वाले सभी मनुष्यों को जुटाकर एकत्रित लाया जाय चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय अथवा धर्म के क्यों न हों। मैंने उनसे पूछा कि वह कौन सा सामान्य आधार है जिस पर साथ-साथ आ सकते हैं? एक क्षण भी संकोच न करते हुए उन्होंने उत्तर दिया—'इस्लाम'। उनके तथाकथित विद्वान् और दार्शनिकों के भी मस्तिष्क इस प्रकार से काम करते हैं।

हमारे समय के महानतम 'राष्ट्रीय मुसलमान' मौलाना आजाद ने भी अपने अन्तिम समय में 'इण्डिया विन्स फ्रीडम' नाम की पुस्तक में अपने मस्तिष्क को निर्भ्रान्त शब्दों में प्रकट कर दिया है। प्रथम तो सम्पूर्ण पुस्तक आरम्भ से अन्त तक एक निर्लज्जतापूर्ण अहम्मन्यता से भरा हुआ कथन है, जिसमें अन्य सभी नेताओं को, गाँधी जी तथा नेहरू आदि को भी समाविष्ट करते हुए, क्षुद्र बुद्धि के रूप में चित्रित किया गया है और पटेल को साम्प्रदायिक के रूप में। दूसरे कलकत्ता और नोआखाली आदि अनेक स्थानों पर मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर होने वाले घोर संहार तथा अत्याचारों की निन्दा के लिए उनके पास एक शब्द भी नहीं है। सबसे बढ़कर पाकिस्तान के निर्माण का उनका विरोध पूर्णरूप से इस कारण है कि वह मुसलमानों के हितों के प्रतिकूल होगा। आजाद के कहने का अर्थ है कि जिन्ना का अनुसरण करना मुसलमानों की मूर्खता थी क्योंकि इससे मुसलमानों को देश का एक टुकड़ा ही मिला, परन्तु यदि उन्होंने उनकी (आजाद की) शिक्षा का अनुसरण किया होता तो सम्पूर्ण देश के कार्यकलापों में उनकी आवाज निर्णयात्मक होती और साथ ही पाकिस्तान के सभी लाभ भी प्राप्त होते। सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश श्री मेहरचन्द महाजन ने भी उस किताब के विषय में यही टीका की है। उदाहरण के लिए वे कहते हैं—"मौलाना जिन्ना से अधिक धूर्त थे। यदि उन पर छोड़ दिया जाता तो भारत वस्तुतः मुसलमानी वर्चस्व का देश हो जाता।"

वास्तविकता का सामना करो

आज भी मुसलमान चाहे वे सरकारी उच्च पदों पर हों अथवा उसके बाहर हों घोर अराष्ट्रीय सम्मेलनों में खुले रूप में भाग लेते हैं। उनके भाषणों में भी खुली अवज्ञा औ र विद्रोह की झंकार रहती है। एक केन्द्रीय मुसलमान मंत्री ने इसी प्रकार के एक सम्मेलन के मञ्च पर से बोलते हुए चेतावनी दी थी कि यदि मुसलमानों के हितों की भली प्रकार रक्षा न की गई तो यहां भी स्पेन की कहानी दुहराई जायगी, जिसका यही अर्थ है कि वे सशस्त्र विद्रोह के लिए उठ खड़े होंगे।

अब तो उनमें इतना साहस हो चुका है कि कुछ प्रान्तों में वे मुसलिमलीग के नाम से केवल चुनाव ही नहीं लड़ते हैं अपितु अपनी सार्वजनिक सभाओं और जलूसों में 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' के नारे भी लगाते हैं। उनके लिए वही क्षेत्र 'पाक' अर्थात् पवित्र है, जहाँ उनका अबाध प्रभुत्व स्थापित है और शेष

भारत जहाँ वे निवास करते और समृद्ध हो रहे हैं 'नापाक' अर्थात् अपवित्र है। क्या कोई पुत्र, कितना ही पतित और भ्रष्ट क्यों न हो गया हो, अपनी माँ को कभी अपवित्र तथा पापपूर्ण कह सकता है ? और इतने पर भी हमें यह विश्वास करने के लिए कहा जाता है कि ऐसे तत्व इस भूमि के पुत्र हैं।

अधिक विलम्ब होने के पूर्व ही इस ईप्सित धारणा के लम्बे और आत्मघाती सम्मोहन को हम तुरन्त रोक दें और राष्ट्र की सुरक्षा एवं समग्रता के हितों को सर्वोच्च स्थान देते हुए स्थिति की कठोर वास्तविकताओं को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करें।

***

Central Library
185489
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

१२

आन्तरिक संकट

२. ईसाई

ऊपरी प्रभाव

जहाँ तक ईसाइयों का सम्बन्ध है, ऊपरी तौर से देखने वाले को तो वे नितान्त निरुपद्रवी ही नहीं वरन् मानवता के लिए प्रेम एवं सहानुभूति के मूर्तिमान स्वरूप प्रतीत होते हैं। उनकी वक्तृताएं 'सेवा' एवं 'मानवोद्धार' जैसे शब्दों से परिपूर्ण रहती हैं और उनसे ऐसा प्रतीत होता है मानो उस सर्वशक्तिमान् ने उन्हें मानवता के उत्थान के लिए विशेष रूप से नियुक्त किया है। सब स्थान पर वे स्कूल, कालेज, अस्पताल तथा अनाथालय चलाते हैं। हमारे देश के लोग जो सीधे-सादे और भोले हैं, इन बातों पर विश्वास करने लगते हैं; किन्तु इन सब गतिविधियों में करोड़ों रुपये उँड़ेलने में ईसाइयों का वास्तविक और भीतरी उद्देश्य क्या है ?

नग्न पंजा

हमारे स्वर्गीय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद एक बार आसाम गये थे। उन्होंने वे स्कूल और अस्पताल देखे, जिन्हें ईसाई धर्मप्रचारकों ने उन पहाड़ी प्रदेशों में स्थापित कर रखा था, और उन सब कार्यों के प्रति अपना सन्तोष व्यक्त किया। किन्तु अन्त में यह भी उपदेश किया कि निःसंदेह तुमने बहुत अच्छा काम किया है किन्तु इन चीजों को धर्मान्तरण के उद्देश्य के लिए उपयोग में मत लाना। किन्तु उनके बाद जो धर्मप्रचारक बोला, उसने सीधे शब्दों में कह दिया—"यदि हम केवल मानवता के विचार से ही यह करने के लिए प्रोत्साहित हुए होते तो यहां इतनी दूर क्यों आते ? इतना धन हम लोग क्यों

व्यय करते ? हम तो यहाँ एक ही निमित्त से हैं कि अपने प्रभु ईसा के अनुयायियों की संख्या में वृद्धि करें।'' वे इस विषय में अत्यन्त स्पष्ट हैं।

वे मानते हैं कि इस लक्ष्य के लिए प्रत्येक युक्ति, वह कितनी ही अनुचित क्यों न हो, उचित है। भाँति-भाँति की रहस्यपूर्ण एवं क्षुद्र युक्तियां, जिन्हें वे धर्मान्तरण के लिए प्रयोग में लाते हैं, सभी बहुत अच्छी प्रकार से विदित हैं। एक गाँव की बात है, जहाँ गत जनगणना के अवसर पर ईसाई प्रचारकों ने उस गाँव के सम्पूर्ण निवासियों को ईसाई के रूप में लिखा दिया। जब इस कुचेष्टा का पता चला और वहाँ के लोगों ने विरोध प्रकट किया तो उन ईसाई धर्मप्रचारकों ने उन्हें बताया कि अब कुछ नहीं हो सकता, अब तो तुम सरकारी अभिलेखों में ईसाई के रूप में लिख लिये गये हो। इस कारण तुम्हें ईसाइयों की भांति ही व्यवहार करना चाहिए। उन गरीब हिन्दू ग्रामीणों ने हमारे उदासीन हिन्दू समाज से सहारा तथा सहायता न पाकर उनकी बातों पर विश्वास कर लिया और ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। इस प्रकार की युक्तियों द्वारा वे अपनी संख्या दिनोंदिन बढ़ाते चले जा रहे हैं।

अनेक प्रमुख ईसाई धर्म प्रचारक इस बात को असंदिग्ध रूप से प्रायः घोषित कर चुके हैं कि उनका एक ही लक्ष्य है कि इस देश को ईसा के साम्राज्य का एक प्रान्त बनावें। मद्रास के 'वेदान्त केसरी' की सूचना के अनुसार मदुराई के आर्क बिषप ने कहा है कि उनका मुख्य उद्देश्य है सम्पूर्ण भारत पर ईसा के झण्डे को फहराना। अभी हाल में बम्बई में हुई यूकेरिस्टिक कांग्रेस में कार्डिनल ग्रेशियस इस बात से दुःखी थे कि शताब्दियों तक धर्मान्तरण करने के पश्चात् भी भारत में केवल साठ लाख ही कैथोलिक ईसाई हैं और हिन्दू अत्यधिक बहुसंख्या में बने हुए हैं। उन्होंने अपने अनुयायियों को प्रोत्साहित करते हुए कहा कि अब से उनमें का प्रत्येक व्यक्ति धर्मान्तरण के कार्य के लिए स्वयं को प्रचारक समझे। इस सबका क्या अर्थ है ? इसका अर्थ है कि देश की सम्पूर्ण जनता ईसाई धर्म में धर्मान्तरित हो जाना चाहिए, अर्थात् उनका वंशपरम्परागत धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा जीवन-पद्धति ध्वस्त हो जाना चाहिए और उन्हें ईसाई धर्म के विश्वसंघ में विलीन हो जाना चाहिए।

धर्म व राजनीति

जिस प्रकार वे अन्य जनों के प्रति व्यवहार करते हैं, वह हमें यह निष्कर्ष निकालने के लिए बाध्य करता है कि आधुनिक मतान्तरकारी धर्मों में सच्चे धर्म के तत्व अत्यल्प मात्रा में होते हैं। ईश्वर, पैगम्बर और धर्म के नाम

पर वे केवल अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को आगे बढ़ाना चाहते हैं। सच्चे धर्म में तो मतान्तरित करने की, पूजा की विधि में परिवर्तन करने की आवश्यकता ही नहीं। प्राचीन काल में हमारे धर्मप्रचारक जो दूसरे देशों में गये थे उन्होंने अन्य लोगों पर बलात् अपना धर्म नहीं लादा। इसके विपरीत हमारे गुरुओं ने उनके पूजा के प्रकार अस्वीकृत न करते हुए एक सर्वव्यापक दर्शन से सुरक्षित करके उसे और भी उदात्त बनाने का, मस्तिष्क एवं हृदय के उदात्त और पवित्र गुणों को उनके मन में बैठाकर तथा अपनी ही पूजा के प्रकार द्वारा उन्हें और भी अच्छे भक्त बनाने का प्रयत्न किया। यह था वास्तविक धर्म।

धर्म की जो कल्पना ईसाई प्रचारकों द्वारा प्रचारित की जाती है वह सचमुच आश्चर्यकारक है। मैं एक बार एक धर्मप्रचारक से मिला। उसने मुझे इंग्लैण्ड के एक आर्क बिशप द्वारा लिखी गई एक पुस्तक दी और कहा कि इस पुस्तक के द्वारा मुझे उनके कार्य की प्रकृति के विषय में स्पष्ट ज्ञान हो जायगा। मैंने उसे पढ़ा। जब मैंने उसे वह पुस्तक लौटाई तो उसने अत्यन्त उत्साहपूर्वक पूछा कि पुस्तक कैसी थी। मैंने उत्तर दिया "यदि तुम्हारा आर्क बिशप ऐसा है तो तुम क्या होगे।" वह इस बात से चौंका। मैंने उस पुस्तक के कुछ अंश उसे दिखाये जिनमें लिखा था कि ईश्वरप्राप्ति के लिए इतना ही पर्याप्त है कि प्रतिदिन दो बार प्रार्थना की जाय और रविवार को गिरजाघर में जाया जाय। शेष समय में सभी प्रकार के शारीरिक आनन्द एवं भोगों का सेवन करने में कोई हानि नहीं। सत्य यह है कि ये शब्द उस महान सन्त ईसा के उपदेशों के पूर्ण विरुद्ध है।

लोकमान्य तिलक ने ईसा के महान् शिष्य सन्त पाल को अपने 'गीता-रहस्य' में उद्धृत किया है। वह भी ईश्वर से कहता है "यदि मैं असत्य भाषण द्वारा तुम्हारी (ईश्वर की) महिमा की वृद्धि करता हूँ तो वह पाप कैसे हो सकता है।" इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उनके इस वक्तव्य का वर्तमान ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अपने कुचक्रों को आगे बढ़ाने में पूर्ण उपयोग किया है। यह सच ही कहा गया है कि दुनिया में सच्चा ईसाई केवल एक ही हुआ और उसकी क्रूस पर मृत्यु हुई।

पक्षपातरहित निर्णय

उनकी गतिविधियाँ केवल अधार्मिक ही नहीं, राष्ट्रविरोधी भी हैं। एक बार मैंने एक ईसाई धर्मप्रचारक से प्रश्न किया कि वे हमारे पवित्र ग्रन्थों और देवी-देवताओं की निन्दा क्यों करते हैं?" उसने स्पष्ट उत्तर दिया–"हमारा

लक्ष्य है कि हिन्दू के हृदय से उसके धर्म के प्रति विश्वास को झटक कर बाहर कर दिया जाय। जब उसका यह विश्वास ध्वस्त हो जायगा तो उसका राष्ट्रत्व भी नष्ट हो जायगा। उसके मस्तिष्क में एक रिक्तता उत्पन्न हो जायगी। तब हमारे लिये उस रिक्तता को ईसाइयत से भरना सरल हो जायगा।"

कुछ वर्ष पूर्व मध्यप्रदेश सरकार ने इन ईसाई धर्मप्रचारकों की गतिविधियों के सम्बन्ध में सूचना देने के लिए एक समिति गठित की थी। इस कमेटी के अध्यक्ष श्री नियोगी एक अति सम्माननीय, अवकाशप्राप्त उच्चन्यायालय के न्यायाधीश थे जो किसी भी गुट या दल के व्यक्ति नहीं थे। समिति के सदस्यों ने सम्पूर्ण मध्यप्रदेश का प्रवास किया और धर्मान्तारित ईसाइयों, ईसाई धर्मप्रचारकों तथा अन्यान्य लोगों से भेंट की। वे अनेक गिरजाघरों में भी गये। इस सभी व्यक्तिगत जाँच के आधार पर उन्होंने एक लम्बा निवेदन (रिपोर्ट) प्रस्तुत किया। उस निवेदन का सार यह है :—

'ईसाई धर्मप्रचारकों के सभी औदार्यपूर्ण कार्य उनकी धर्मान्तरण की गतिविधियों को चलाने के लिए एक आवरण मात्र हैं। भोले-भाले लोगों को कभी त्रस्त करके और कभी प्रलोभन द्वारा आकर्षित कर वे अपना उपर्युक्त कार्य करते हैं। इन गतिविधियों के मूल में उनकी यह महत्वाकांक्षा है कि उनकी संख्या की शक्ति के आधार पर अपने लिए एक अलग ईसाई राज्य बना लिया जाय। वे इसी एक उद्देश्य से करोड़ों रुपये व्यय कर रहे हैं।

एक 'पादरिस्तान' के लिए

आसाम में नागालैण्ड की सृष्टि इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है। नागालैण्ड में जो खुला विद्रोह चल रहा है, वह ईसाई प्रचारकों द्वारा ही संचालित है, इस तथ्य को पण्डित नेहरू ने भी स्वीकार किया है। किन्तु हमारी सरकार समय-समय पर देश को यह बताने में नहीं थकती कि वहां 'शान्ति' स्थापित हो गई है, चाहे दूसरे ही दिन वहाँ से यह समाचार क्यों न आ जाये कि कोई ट्रेन लूट ली गई, कोई पुल उड़ा दिया गया अथवा हमारी फौज के कुछ जवान छिपकर मार दिए गए। जब लोकसभा में यह प्रश्न किया गया कि विद्रोहियों के अधिकार में इतने बड़े परिमाण में शस्त्रास्त्र और गोला-बारूद कैसे पहुँचे, तो उत्तर यह दिया गया कि गत युद्ध के समय जब जापानी भाग रहे थे, हथियारों का भार ढोने में असमर्थ होने के कारण उन्होंने उन्हें जंगलों में फेंक दिया और नागाओं ने उन्हें अपने अधिकार में कर लिया। किन्तु वृत्तपत्रों में एक सूचना प्रकाशित हुई है कि अपनी सेना से एक संघर्ष में कुछ विद्रोही मारे गए

और उनके हथियार ले लिए गए। वे हथियार नवीनतम थे और अमेरिका के बने हुए थे। उन पर बनाने का वर्ष भी अंकित था। यह था १९५५ और १९५६। और हमारे नेताओं ने हमसे यह विश्वास कर लेने के लिए कहा कि नागाओं ने १९५५ और १९५६ में बने हुए अमेरिकन हथियार बहुत पूर्व १९४४ में प्राप्त किए थे। यह सूचना मिली है कि नागाओं के अधिकार में नवीनतम माडेल की हवाई जहाजों को मारने की तोपें हैं। यह भी स्पष्ट है कि ये हथियार किस प्रकार उनके अधिकार में आये होंगे। जो अमेरिकन हथियार पाकिस्तान में आते हैं वे आसाम में ईसाई धर्मप्रचारकों को हस्तान्तरित कर दिए जाते हैं।

इस प्रकार विद्रोह चलता रहा है, और फिलहाल हमारे नेताओं ने आंशिक रूप में उनकी मांग को स्वीकार कर नागालैण्ड की स्थापना कर दी है। इसके विषय में यह अनिष्टसूचक लक्षण है कि यह सीधा विदेश मन्त्रालय के आधीन है, हमारे देश के वर्तमान अन्य सभी राज्यों के समान गृह मन्त्रालय द्वारा प्रशासित नहीं है। जिस दबाव के कारण यह विशेष सुविधा उसे दी गई है, वह अब भी मौजूद है। यह दबाव दो प्रकार का है। एक तो आन्तरिक विद्रोह है जो उनके द्वारा प्राप्त की गई आंशिक सफलता के कारण अब भी चल रहा है और जिसका वेग बढ़ता जा रहा है। नागालैण्ड बनाने के हमारे निर्णय के पश्चात् भी हमारा एक हवाई जहाज गिरा लिया गया। द्वितीय प्रकार का दबाव अन्तरराष्ट्रीय है। हमें ज्ञात है कि विद्रोही नागाओं का नेता फिजो पाकिस्तान तथा कुछ अन्य शक्तियों की सहायता से हमारे देश से गायब हो गया और इंगलैण्ड चला गया है। उसे एक प्रसिद्ध ईसाई धर्मप्रचारक माइकेल स्काट ने आश्रय दिया, जिसने कि हमारे सम्मान को धक्का पहुँचाने वाले अनेक प्रकार के वक्तव्य देने के लिये प्रोत्साहित किया। हमारे नेताओं ने संसार में शान्तिस्थापक होने के अपने सम्मान को दाँव पर लगाने से नागालैण्ड दे डालना श्रेयस्कर समझा, क्योंकि वे अपने अन्तरराष्ट्रीय सम्मान के प्रति, वह कुछ भी क्यों न हो, अति कोमल हृदय हैं। और अब उन्होंने उनको और अधिक स्वायत्तशासनाधिकार देने की दृष्टि से नागा-विद्रोहियों के साथ 'शान्तिवार्ता' आरम्भ की है तथा उस शान्ति-नियोग के एक सदस्य के रूप में उस 'सज्जन' माइकेल स्काट को भी रखा है। हमारे नेता स्वयं को शान्तिनिर्माता प्रदर्शित करने के लिए देश-विभाजन को अत्यन्त सस्ता मूल्य समझते हैं। अन्तरराष्ट्रीय दबाव बढ़ता ही जा रहा है। अत: यह आश्चर्य नहीं होगा कि निकट भविष्य

में ही नागालैण्ड अलग हो जायगा तथा ईसाई धर्मान्धों के वर्चस्व तथा आधिपत्य से व्याप्त एक स्वतन्त्र राज्य बन जायगा।

अन्ताराष्ट्रीय ईसाई आन्दोलन के एजेन्ट

आसाम में शिलांग के आसपास के प्रदेश के लिये अलग पहाड़ी राज्य की एक अन्य भी माँग हो चुकी है तथा इन्हीं ईसाई प्रचारकों से उसे भी प्रेरणा मिली है। बिहार में भी वे एक अलग 'झारखण्ड' के लिए आन्दोलन चला रहे हैं। निःसंदेह हमारे नेताओं ने स्पष्ट कह दिया है कि उनकी यह माँग एक अव्यवहार्य अद्‌भुत कल्पना मात्र है और कदापि स्वीकार नहीं की जा सकती। किन्तु भविष्य में क्या होगा, इस विषय में हम निश्चिन्त नहीं हो सकते। क्योंकि हमारा यह बहुत बार का अनुभव है कि हमारे नेताओं द्वारा किसी मांग की, अद्‌भुत कल्पना, राष्ट्रविरोधी कल्पना आदि कहकर की गई प्रबल भर्त्सना इस बात का एक सूचक लक्षण रही है कि वे उस माँग को स्वीकार करने का निश्चय अपने मन में कर चुके हैं। हमारा यह अनुभव पाकिस्तान के निर्माण से लेकर नागालैण्ड के निर्माण तक एक समान रहा है।

केरल में भी जिस समय कम्युनिस्ट सरकार के विरुद्ध जनआन्दोलन चल रहा था, ईसाई नेता कहा करते थे कि केरल में यह ईसाई मिशनों का जीवन-मरण का संघर्ष है। वे यहाँ तक कहने लगे थे "केरल में या तो कैथोलिक का राज होगा या कम्युनिस्टों का। और हम शासन करना चाहते हैं।"

कुछ वर्षों पूर्व योरोप में ईसाई पादरियों के एक अन्ताराष्ट्रीय सम्मेलन में एक लघु पुस्तिका प्रकाशित की गई थी, जिसमें हमारे पूरे समुद्री तट पर और विन्ध्य एवं सतपुरा की पहाड़ी श्रेणियों के बीच इधर से उधर तक ईसाई-प्रभाव के केन्द्र आरम्भ करने की विस्तृत योजना थी। वह दक्षिणी प्रायद्वीप को घेरकर उसे ईसाई वर्चस्व के आधीन लाने की योजना का प्रथम चरण था। फिर दूसरे प्रसार में हिमालय की सम्पूर्ण मेखला पर वर्चस्व करना था।

कुछ दिनों पूर्व एक समाचार द्वारा वृत्तपत्रों में एक भेद प्रकाशित हो गया था कि हमारे देश में ईसाई मिशन और मुसलिम लीग में यह समझौता हुआ है कि दोनों को मिलकर काम करना चाहिए और आपस में देश का बँटवारा कर लेना चाहिए। इस बँटवारे के अनुसार पंजाब और मनीपुर के बीच का गंगा का सम्पूर्ण मैदान मुसलमानों का तथा दक्षिणी प्रायद्वीप और हिमालय ईसाइयों का था।

कुछ वर्ष हुए ईसाइयों का एक अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ था, जिसमें

इनसे भारत में ईसाई साम्राज्य स्थापित करने का संकल्प कराया गया था और हमारे केन्द्रीय मंत्रियों में से एक उन कार्यवाहियों को आशीर्वाद देने के लिए उपस्थित था।

इस प्रकार की भूमिका है हमारे देश में निवास करने वाले ईसाई सज्जनों की। वे यहाँ हमारे जीवन के धार्मिक एवं सामाजिक तन्तुओं को ही नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील नहीं हैं वरन् विविध क्षेत्रों में और यदि सम्भव हो तो सम्पूर्ण देश में राजनीतिक सत्ता भी स्थापित करना चाहते हैं। वास्तव में जहां कहीं भी उन्होंने कदम रखा है, उनकी यही भूमिका रही है और यह सब उन्होंने जीसस क्राइस्ट के दैवी पंखों की छाया में मानव के बीच शान्ति एवं भ्रातृत्व लाने के आकर्षक परिधान में किया है। जीसस ने अपने अनुयायियों से कहा था, अपना सब कुछ गरीब, अज्ञानी तथा दलित को दे डालने के लिए। किन्तु उसके अनुयायियों ने व्यावहारिक रूप में क्या किया ? वे जहाँ भी गए 'रक्त देने वाले' सिद्ध न होकर 'रक्त चूसने वाले' ही सिद्ध हुए। जहाँ इन तथाकथित क्राइस्ट के अनुयायियों ने अपने उपनिवेश बनाये हैं, उन सभी देशों की क्या गति हुई है ? जहां कहीं उन्होंने कदम रखा, वहाँ के निवासियों के आंसुओं और रक्त से उस भूमि को सिक्त कर दिया और उन सभी जातियों को लुप्त कर दिया। क्या हम वह हृदयद्रावी कहानियाँ नहीं जानते कि किस प्रकार इन्होंने अमेरिका, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका के मूल निवासियों का समूल नाश किया। इतने दूर जाने की क्या आवश्यकता। क्या हमें ईसाई मिशनरियों का अपने देश का भीषण अत्याचारी इतिहास ज्ञात नहीं है कि किस प्रकार उन्होंने गोआ तथा अन्य स्थानों पर आगजनी और हत्याकांड से लोगों का उत्पीड़न किया।

सन्त जेवियर के विषय में कहा जाता है कि उस समय वह अपने जीवन में परम आनन्द का अनुभव करता था जब नवीन धर्मान्तरित जन अपने पूर्व के देवी-देवताओं को पैरों से कुचलते थे, मन्दिरों को ढहाते थे तथा अपने ही माता-पिताओं और वृद्ध जनों को, जो हिन्दू रह जाते थे, अपमानित करते थे। और अभी अति निकट काल में, कांग्रेस शासन के अन्तर्गत (वस्तुतः ईसाई शासन में) अंग्रेजों के जाने के पश्चात् केरल में सैकड़ों प्राचीन पवित्र हिन्दू मन्दिर अपवित्र किए गए तथा ईसाई शिल्प-भंजकों ने उनकी मूर्तियों को तोड़ा, जिनमें शबरी मलाई का प्रसिद्ध मन्दिर भी है। ये वही धर्मान्ध ईसाई हैं, जिन्होंने कन्याकुमारी में विवेकानन्द शिला पर स्थापित पट्टिका को तोड़ा था। इस

प्रकार के हैं ये लोग जो हमें यह उपदेश देने आते हैं कि ईसाई धर्म मानवता पर शान्ति के मंगल एवं मानवीय दयालुता के दुग्ध की वर्षा करेगा।

जब तक यहाँ ईसाई इस प्रकार की गतिविधियों में लगे हुए हैं और अपने को ईसाई धर्म के प्रसार के लिए अन्ताराष्ट्रीय आन्दोलन का एजेण्ट मानते हैं, अपनी इस जन्मभूमि के प्रति सर्वोच्च निष्ठा अर्पण करने तथा अपने पूर्वजों के पैतृक दाय एवं संस्कृति की सच्ची संतान के रूप में व्यवहार करने से इनकार करतें हैं तब तक वे यहाँ विपक्षियों के रूप में रहेंगे और उनके साथ उसी प्रकार का व्यवहार किया जायगा।

***

१२

आन्तरिक संकट

३, कम्युनिस्ट

कम्युनिज्म के लिए भूमि की तैयारी

अंग्रेज के इस देश को छोड़कर जाने के पश्चात् जब हम अपने राष्ट्र की भावी रचना को आकार देने के लिए स्वाधीन हुए तो हमारे लिए विविध सिद्धान्तों और वादों पर विचार-विमर्श करना एक महत्व की वस्तु हो गया। निःसन्देह हमने पाश्चात्य ढंग की जनतान्त्रिक रचना को अपनाया है। किन्तु क्या इतने सब वर्षों के प्रयोगों के पश्चात् हम उसके हितकर फलों को प्राप्त करने में समर्थ हो पाये हैं? जनता की सामूहिक इच्छा के प्रतीक बनने के बजाय इसने सब प्रकार की अस्वास्थ्यकर स्पर्धाओं तथा स्वार्थ एवं विच्छेद की शक्तियों को बढ़ावा दिया है।

हमारे देश में जनतन्त्र की गम्भीर असफलताओं में कम्युनिज्म की बढ़ती हुई विभीषिका है, जो जनतान्त्रिक विधान की मानी हुई शत्रु है। जनता के समक्ष की गई अपनी आर्थिक अपील में कम्युनिस्टों से कहीं पिछड़ न जायें, इस प्रयास में हमारे नेतागण कम्युनिस्टों की ही भाषा तथा कार्यक्रमों को स्वयं भी अपना कर कम्युनिज्म को और भी सम्माननीय ही बना रहे हैं। यदि नेतागण यह समझते हैं कि इस प्रकार के चातुर्य से वे कम्युनिस्टों के पाल की हवा ही खींच लेंगे तो यह उनकी बहुत बड़ी भूल है।

वे यह भी अनुभव करते हैं कि आर्थिक विकास ही कम्युनिज्म से रक्षा का एकमेव उपाय है। 'उच्चतर जीवनस्तर' के आश्वासन की जनता के कानों में हो रही सतत घोषणा, इस प्रकार ऐसे समय में उनकी अपेक्षाएं बढ़ाना जब
९ सम्भवतः सन्तुष्ट नहीं की जा सकतीं, विफलता के भाव की वृद्धि करना एवं

सामान्य जनता के लिए असन्तोष और अराजकता के मार्ग को प्रशस्त करना है। हमें देशभक्ति, चरित्र एवं ज्ञान जैसी उच्चतर भावनाओं के लिए आह्वान कहीं भी सुनने को नहीं मिलता, और न कहीं सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा नैतिक विकास पर ही बल दिया जाता है। इसी प्रकार के दुर्बल एवं विफल मस्तिष्कों में कम्युनिज्म के बीज जड़ पकड़ते हैं।

आग में घी डालना

कम्युनिज्म की इस विभीषिका को रोकने का पाश्चात्य देशों का दृष्टिकोण भी यहाँ कम्युनिज्म के विस्तार के लिए प्रोत्साहन देने में अपना योगदान करता है। अमेरिका का विश्वास है कि अधिकाधिक डालर सहायता कम्युनिज्म की समस्या को हल कर देगी। चीन के सम्बन्ध में तथा अब वियतनाम में हुए अनुभवों ने स्पष्ट कर दिया है कि तदनुरूप राष्ट्रीय चारित्र्य एवं आत्मविश्वास की निर्मिति के बिना इस प्रकार की सहायता का कोई लाभ नहीं होगा। प्रत्येक आर्थिक सहायताओं के साथ होने वाला उनका देशव्यापी प्रचार जनता की केवल आर्थिक संज्ञा को ही उत्तेजित करता है और उन पहलुओं से वंचित रखता है जो स्वतन्त्र एवं जनतान्त्रिक जीवन के वास्तविक मेरुदण्ड का निर्माण करते हैं।

पाश्चात्य जन एक विचित्र बुद्धि-विभ्रम से भी पीड़ित हैं कि यदि हमारे देश की कम्युनिज्म से रक्षा करना है तो प्राचीन हिन्दुत्व मिट ही जाना चाहिए। उन्हें लगता है कि केवल ईसाई पन्थ ही कम्युनिज्म की बाढ़ का प्रतिरोध कर सकता है। एक बार अरनाल्ड टायनबी ने वास्तविक रूप में कम्युनिज्म का वर्णन 'ईसाई पाखण्डमत' (क्रिश्चियन हेरेसी) कहकर किया था। आश्चर्य का विषय है कि वही आज यह कहने लगे हैं कि ईसाई पन्थ ही कम्युनिज्म के लिए एक मात्र उत्तर है।

ईसाई पन्थ उस समस्या का समाधान कैसे हो सकता है जो स्वयं उसी की त्रुटियों की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुई है। जिनका यह विचार है कि इस मूर्तिपूजक देश की रक्षा ईसाई पन्थ ही कर सकता है, उन्हें कुछ रुक कर सोचना होगा कि ईसाईविश्व के सबसे कट्टर देश रूस ने ईसामसीह का परित्याग क्यों किया ? अपने देश में ही क्या यह नहीं है कि केरल प्रान्त, जहाँ ईसाई जनसंख्या एवं प्रभाव सर्वाधिक है, सबसे बड़ा कम्युनिस्ट क्षेत्र है। यदि पाश्चात्यों का यह विचार है कि हिन्दुओं को ईसाई पन्थ में धर्मान्तरित करने के लिए धन तथा जन उड़ेल कर वे इस देश को कम्युनिज्म से बचा लेंगे तो वे केवल आत्म-

घाती आत्मवंचना से ही ग्रस्त हैं। क्योंकि, ईसाइयत के प्रसार से समाज की प्राचीन श्रद्धाएँ और राष्ट्रीयता भंग हो जाती है और जहाँ श्रद्धाएँ भंग हो जाती हैं, वहीं कम्युनिज्म जड़ पकड़ता है। कम्युनिज्म के बढ़ने का यही सबसे बड़ा मनोवैज्ञानिक तत्व रहा है।

जब निष्ठा चली जाती है कम्युनिज्म आता है

मनुष्य केवल रोटी से जीवित नहीं रहता। उसकी कोई निष्ठायें भी होनी चाहिए, जिनके लिए वह जीवित रहे और मरे। बिना इसके जीवन दिशा एवं अर्थ से विहीन हो जाता है तथा मनुष्य इधर-उधर बहने लगता है। वह खोया हुआ-सा अनुभव करता है। ऐसी अवस्था में अधिक समय रहना प्राणी के लिये एक असम्भव-सी बात होती है। विज्ञान के उदयकाल तक योरोपीय जीवन को ईसाई धर्म आवश्यक निष्ठा प्रदान करता था। किन्तु विज्ञान ने उसे नष्ट कर दिया। उसने काल, अन्तरिक्ष, जीवन एवं विश्व की ईसाई कल्पना को उड़ा दिया। फिर भी योरोप को एक लंगर खोने के पश्चात् अपनी नौका को स्थिर रखने के लिए दूसरा मिल गया था। धर्म में से उसकी निष्ठा चली गई किन्तु विज्ञान में नवीन निष्ठा प्राप्त हो गई। वास्तव में विज्ञान योरोप का नवीन धर्म हो गया। तब लोग विज्ञान को उसी प्रकार सर्वज्ञ और सर्वशक्ति-सम्पन्न मानने लगे जैसा कि किसी भी धर्म में ईश्वर के विषय में विचार किया जाता है।

परन्तु कुछ शताब्दियों के पश्चात् विज्ञान ने अपने को उस रूप में अप्रमाणित करना आरम्भ कर दिया। विश्व के सम्बन्ध में अपने अज्ञान को वैज्ञानिक स्वतः स्वीकृत करने लगे। आधुनिक काल के सबसे बड़े वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने भी एक ऐसे सत्य की सत्ता को स्वीकार किया जो भौतिक विज्ञानों की पहुंच के परे है। इस प्रकार वैज्ञानिक लोग, विक्टोरिया युग के सर्वज्ञता के मनोभाव के स्थान पर यह अनुभव करने लगे कि उनके समक्ष ज्ञान का एक सम्पूर्ण सागर अज्ञात सा पड़ा है और वे उसके तट पर कंकड़ चुनने वालों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। विज्ञान-निष्ठा के इस अवसाद के पश्चात् पश्चिम का मनुष्य अज्ञात सागर में कर्णधारविहीन नौका के समान हो गया। प्राचीन निष्ठायें मर चुकी थीं तथा नवीन प्रकाश में आ नहीं पाई थीं। निष्ठा की इसी रिक्तता की स्थिति में यह घटित हुआ कि उस अवकाश को पूर्ण करने के लिए कुछ ऐसे विश्वास आये जिनमें सत्य एवं शिव का आभास मात्र था। ऐसा ही एक विश्वास कम्युनिज्म था।

अतः हमारी प्राचीन जीवनदायी निष्ठा को उन्मूलित करने वाला किसी भी दिशा से किया गया प्रयास हमारे राष्ट्र-जीवन पर महान् संकट को निमंत्रण है, क्योंकि हमारे इसी विश्वास ने हमारे अस्तित्व को बनाये रखा और मानव संस्कृति के श्रेष्ठतम पुष्प उत्पन्न किए हैं।

प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण सदैव संकटापन्न

हमारे देश में कम्युनिज्म की विचारधारा को विफल करने के विविध प्रयत्न हो रहे हैं। कुछ लोग अनुभव करते हैं कि विनोबा जी द्वारा चलाया गया भूदान आन्दोलन कम्युनिज्म की विचारधारा को समाप्त कर देगा। भूदान आन्दोलन का कम्युनिज्म के समान यह घोष कि 'भूमि जोतने वाले के लिए' तथा विनोबा जी के कुछ अदूरदर्शी अनुयायियों द्वारा दी गई यह धमकी कि 'यदि तुम स्वेच्छा से नहीं दोगे तो कम्युनिस्ट निश्चित रूप से आयेंगे और तुम्हारा सब कुछ बलात् हरण कर लेंगे' विपरीत प्रभावकारी सिद्ध होंगे, कारण कि वे जनमानस में एक विचार अंकित करते हैं कि अन्ततः कम्युनिज्म सही और अवश्यम्भावी है। यह कम्युनिज्म के लिए परोक्ष स्वीकृति होगी। इससे भी बढ़कर जनता में यह संशय उत्पन्न हो जायगा कि इस प्रकार के सभी आन्दोलन जो उनकी उन्नति के नाम पर चलाये जाते हैं, कम उत्साह के और वंचनापूर्ण है। वह ऐसा कह सकते हैं "अब चूँकि कम्युनिस्ट आगे बढ़ रहे हैं, तुम इन सभी सुधारों और प्रतिज्ञाओं को लेकर आगे आना चाहते हो। हम स्पष्टवादी कम्युनिस्टों को अधिक पसन्द करेंगे। वे कम से कम प्रामाणिक और साहसी तो हैं। वे जो कुछ कहते हैं उसका वही अर्थ होता है और हम उनका विश्वास कर सकते हैं।" इस प्रकार अपेक्षाओं के विपरीत यह आन्दोलन कम्युनिस्टों के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकता है। वास्तव में केवल कम्युनिज्म को निष्फल करने के दृष्टिकोण से कार्य करना सदैव संकटापन्न है। यथार्थ एवं भावात्मक निष्ठा का पोषण ही जनता को कम्युनिज्म की हीन विचारधारा के आकर्षण से ऊपर उठा सकता है।

फिर कुछ और भी लोग हैं जो समझते हैं कि जब तक आर्थिक असमानता बनी हुई है, कम्युनिज्म की वृद्धि अनिवार्य है। किन्तु वास्तविकता यह है कि आर्थिक असमानता पारस्परिक घृणा का सही कारण नहीं है, जिस पर कम्युनिस्ट पनपा करते हैं। श्रम की महत्ता का विचार हमारे समाज के मन ने भली प्रकार ग्रहण नहीं किया है। उदाहरण के लिए एक रिक्शावाला जो कि प्रतिदिन तीन-चार रुपये कमाता है 'ए' 'ओ' कह कर पुकारा जाता है और

क्लर्क जो साठ रुपये मासिक वेतन पाता है "बाबूजी' कहा जाता है। यही दृष्टिकोण की असमानता, जो हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में फैली हुई है, घृणा को उत्पन्न करती है। यह है अधुनातन विपर्यास जो हमारे जीवन में प्रविष्ट हो गया है। हमारे दर्शन में अपने कर्तव्य कर्मों के पालन से किसी के ऊँच-नीच होने का भाव नहीं है। प्रत्येक कार्य उसी सर्वशक्तिमान की समाज के रूप में पूजा है। यह भावना एक बार पुनरुज्जीवित करनी है।

'मतपत्र द्वारा समाजवाद'

हमारे देश में एक अन्य दिशा से कम्युनिज्म का संकट वास्तविक हो गया है और यह हुआ है हमारे शासन की वर्तमान नीति के द्वारा। जिसने समाजवाद को अपना लक्ष्य घोषित कर दिया है, जिसमें कम्युनिज्म के सभी तत्व मौजूद हैं, केवल उन्हें प्राप्त करने के साधनों का ही अन्तर है। पहली बात हमारे नेता कहते हैं कि वे समाजवाद को मतपत्र पेटिका द्वारा प्राप्त करेंगे, चीन और रूस के समान गोली से नहीं। इसका केवल यही अर्थ होता है कि चीन और रूस के समाज में तथा हमारे समाज में एक अन्तर है। सम्भवत: रूस और चीन के लोग जागृत तथा क्रियाशील थे इसीलिये उन्हें गोली से दबाया गया। यहाँ हमारे लोग नम्र वीरपूजक हैं। यदि राष्ट्रसेनानी आता है और कहता है "मेरे प्यारे मित्र आओ, गर्दन झुकाओ, मैं तुम्हारा सर काटना चाहता हूँ।" हमारे लोग निश्चय ही आगे आकर झुक जायेंगे और अपने को सर कटाने के हेतु अर्पण कर देंगे। इस प्रकार के विनीत लोगों के लिए गोली की क्या आवश्यकता ? क्योंकि मतपत्र पेटिका पर्याप्त है। यदि नेता कहता है–समाजवाद के लिए मतदान करो" लोग समाजवाद के लिए मतदान करेंगे। यदि कल उन्हें पता लगेगा कि समाजवाद के पक्ष में मतदान करने से उनकी स्वाधीनता चली गई तथा व्यक्ति के रूप में वे एक यन्त्र के निर्जीव अंग मात्र रह गये हैं तो वे इसे भाग्य का विधान मानकर उसे स्वीकार कर लेंगे।

हमारे लोग मुसलमानी शासन को एक हजार वर्ष से अधिक काल तक इस सीमा तक स्वीकार किए रहे कि आज भी हमें ऐसे कुछ लोग यह कहते हुए मिलते हैं कि मुसलमान महान् एवं सन्त पुरुष थे। कुछ तो यहाँ तक कहते हैं कि हमें हैदरअली की जिसने अपने हिन्दू राजा को जेल में डालकर उसका सिंहासन हड़प लिया था तथा उसके पुत्र टीपू की प्रतिमा खड़ी करनी चाहिए जिसने बलात् अनगिनत हिन्दुओं को मुसलमान बनाया, बहुत से मन्दिर ढाये तथा अनेक स्त्रियों को सताया। अब भी इस सीमा तक हमारा बुद्धिभ्रंश

बना हुआ है। जब अंग्रेज आया, कुछ लोगों ने कहा–"वे तो स्वर्ग से भेजे गये हैं," कुछ यहाँ तक बोले कि "भविष्य पुराण में भविष्यवाणी की जा चुकी है कि हमारे देश पर विकटेश्वरी नाम की रानी शासन करेगी। और वह महारानी विक्टोरिया के अतिरिक्त और कोई नहीं है।" इस प्रकार के विनम्र लोगों के लिए थोड़ा सा प्रचार ही पर्याप्त है।

जान बनियन के 'दि पिलग्रिमस् प्रोग्रेस' में यात्री को एक दैत्य पकड़ लेता है। वह दैत्य सीधे ही उसकी हत्या करना चाहता है किन्तु अपनी पत्नी के उपदेश से उससे आत्महत्या करने के लिए अनुरोध करता है। दैत्य कहता है–"तुम जीवन के इन सब कष्टों को क्यों भोग रहे हो। आत्महत्या से अधिक आनन्ददायी और कुछ नहीं है। तुम जो चाहो चुन लो, चाकू, फाँसी या विष, अपने कष्टपूर्ण जीवन का अन्त कर डालो और सदैव के लिए इस भार से मुक्त हो जाओ।" वह उस यात्री को ऐसा समझा देता है कि वह आत्महत्या करने को उद्यत हो जाता है। ठीक उसी समय एक मित्र यात्री को सलाह देता है और उस जाल में फँसने से रोकता है। मतितार्थ यह है कि भोले और विनम्र लोगों के लिए थोड़ा सा अनुनय गोली का काम करता है।

अनिष्ट सूचना

समाजवाद के नाम पर यहाँ जो कुछ हो रहा है, वह क्या है ? हम देखते हैं कि सभी उपाय जिनका हम यहाँ प्रयोग करते हैं, चीन में घटित हुई चीजों की संशोधित प्रतिलिपि मात्र हैं। केवल अन्तर इतना ही है कि चीन में ये परिणाम पाशवी हिंसा के द्वारा प्राप्त किये गये जबकि वही चीजें यहाँ परिष्कृत प्रचार के द्वारा की जा रही हैं। यदि हम दोनों देशों के प्रशासनिक कार्यों की तुलना करेंगे तो यह बिलकुल स्पष्ट हो जायगा। जब वर्तमान कम्युनिस्ट सरकार ने चीन में प्रथम बार सत्ता ग्रहण की तो उन्होंने अपनी एकछत्र सत्ता के लिये किसी चुनौती को नहीं चाहा। अतः उन्होंने पुराने सरदारों, रजवाड़ों तथा उद्योगपतियों को समाप्त किया और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया। उन्होंने बड़े जमींदारों और अन्त में छोटे जमींदारों तथा कृषकों को भी समाप्त कर दिया।

यहाँ भी जमींदारी उन्मूलन हो चुका है। अब सत्रहवाँ संशोधन आया है, जिसके द्वारा एक छोटे से छोटा कृषक भी जिसके पास आधा एकड़ भी भूमि है, एस्टेट होल्डर माना जायगा और सरकार को अधिकार होगा कि उसकी सम्पत्ति को वस्तुतः बिना प्रतिफल (मुआवजा) दिये ही ले ले। सहकारी खेती,

सामूहिक खेती, बैंकों और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण तथा इसी प्रकार के समाजवादी मतवाद वातावरण में हैं। यह सब कुछ एक प्रकार से प्रत्येक पग पर चीन के मार्ग का ही अनुसरण है। हम उसके चीन के साथ के निकट साम्य को देखने का प्रयत्न करें तथा अति स्पष्ट अनिष्ट सूचना को पढ़ें और केवल दास एवं उस व्यवस्था के औजार बन जाने की स्थिति को प्राप्त होने के पूर्व ही चेत जायें।

इससे भी आगे यदि विचार करें तो समाजवाद इस मिट्टी की उपज नहीं है। यह हमारे रक्त एवं परम्पराओं में नहीं है। हमारे सहस्रों वर्ष प्राचीन राष्ट्र-जीवन की परम्पराओं एवं आदर्शों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। यहाँ के हमारे करोड़ों लोगों के लिए यह विचार पारकीय है। ऐसा होने के कारण इसमें हमारे हृदयों को पुलकित और समर्थ एवं चारित्र्यसम्पन्न जीवन के लिये प्रेरित करने की शक्ति नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इसमें हमारे राष्ट्रीय जीवन के आदर्श की आवश्यकता पूर्ण करने की प्रारम्भिक योग्यता भी नहीं है।

सब प्रकार से अयोग्य

अन्ततः जैसा कि हम देख चुके हैं समाजवाद (वैसा ही जैसा कि कम्युनिज्म अपने मूल रूप में है, क्योंकि रूस भी अपने को समाजवादी राज्य ही कहता है) वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त में सराबोर एक प्रतिक्रिया के रूप में पैदा हुआ था और रूस को भी लाभान्वित करने में असफल हुआ। सिद्धान्त के रूप में बहुत पूर्व इसका विस्फोट हो चुका है और अब व्यवहार में भी विस्फोट हो चुका है।

आजकल हमारे नेता समाजवाद के घातक दोष अर्थात् व्यक्ति को एक जीवमान सत्ता के रूप में मिटाने के दोष पर—'जनतान्त्रिक समाजवाद', 'समाजवादी जनतन्त्र' आदि के समान घोषों को गढ़कर परदा डालने का प्रयास कर रहे हैं। वास्तव में जनतन्त्र और समाजवाद की दोनों कल्पनायें परस्पर विरोधी हैं। समाजवाद जनतन्त्रात्मक नहीं हो सकता और जनतन्त्र समाजवादी नहीं हो सकता। जैसा कि हम विचार कर चुके हैं, व्यक्ति स्वातन्त्र्य जनतन्त्र का प्रथम विश्वास है, जबकि यह समाजवाद का पहिला शिकार है। जनतन्त्र में व्यक्ति के गौरव को उच्च स्थान दिया जाता है जबकि समाजवाद में वह केवल पहिये का एक दाँत है, उस भीषण यंत्र का जिसे हम राज्य कहते हैं केवल एक निर्जीव पेंच।

राष्ट्र की प्रतिभा को पुनरुज्जीवित करो

इस प्रकार अंग्रेज के छोड़ जाने के पश्चात् हम अपने को एक भ्रमित दशा में विदेशी सिद्धान्तों एवं वादों में से प्रत्येक का कुछ न कुछ ग्रहण करने के प्रयत्न में पाते हैं। यह उस देश के लिए अत्यन्त अपमानकारक है, जिसने एक ऐसे सर्वग्राही दर्शन को जन्म दिया है, जिसमें राष्ट्रजीवन के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य सभी क्षेत्रों के पुनर्निर्माण के लिए वास्तविक एवं स्थायी आधार प्रदान करने की सामर्थ्य है। यह विश्वास करना हमारी मेधा एवं मौलिकता का शुद्ध दिवालियापन होगा कि पश्चिम के वर्तमान सिद्धान्तों और वादों में मानव की मेधाशक्ति अपनी चरम उच्चता पर पहुँच चुकी है। इसलिये हमें अपने जीवन-पथ का विकास हमारे प्राचीन ऋषियों द्वारा आविष्कृत तर्क, अनुभव एवं इतिहास की कसौटी पर कसे हुए सत्य के आधार पर ही करना चाहिये।

***

तृतीय भाग

वैभव का मार्ग

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
की स्मृति में सादर भेंट–
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य

२३

ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति

संघ का उद्देश्य

अपने संगठन के संस्थापक संघ के उद्देश्य को इस एक छोटे से सारगर्भित वाक्य में रख दिया करते थे कि "हमें अपने हिन्दू समाज को संगठित कर इतना शक्तिशाली बनाना है कि पृथ्वी की कोई भी शक्ति इस पर कुदृष्टि न डाल सके।" अस्तु, इस महान् समाज के सभी पुत्रों के कंधों पर यह सबसे महत्व का उत्तरदायित्व आया हुआ है।

कृतज्ञता का हमारा ऋण-भार

हम ऐसा क्यों कहते हैं कि अपने समाज को संगठित करने के इस पवित्र कार्य के हेतु अपने आपको समर्पित करने के लिए हम कर्तव्य-बद्ध हैं। प्रथमतः हम सबने इस समाज में जन्म लिया है और इसी में हमारा पालन-पोषण हुआ है। हमारे व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन की सुखमयता एवं सुरक्षा इस समाज में जन्म लेने के कारण ही सम्भव हुए हैं।

एक अन्य महत्वपूर्ण विचार और है। हमारा एक प्राचीन तथा अमर समाज है, जिसने जीवन के सभी क्षेत्रों में महानतम व्यक्तियों को जन्म दिया है तथा सर्वोत्कृष्ट दर्शन एवं पवित्रतम सामाजिक मानदण्डों को विकसित किया है। जगत् पर उस महानता की छाप आज तक भी देखी जा सकती है। अन्य लोग इस भूमि के एक पुत्र का—एक राम, एक कृष्ण और एक शंकराचार्य की संतति के रूप में उल्लेख करते हैं, जिसके रक्त में उन सब

प्रख्यात पूर्वजों के गौरवमय कीर्तिमान गुणों की धारा प्रवाहित है जो ज्ञान तथा कर्तृत्व के प्रत्येक क्षेत्र में जगद्‌गुरु रहे हैं।

यह सब क्या प्रकटित करता है ? यही कि हिन्दू समाज में हमारे जन्म ने हमें एक सुखदायी शारीरिक अवलम्ब के अतिरिक्त यह सब अनुपम प्रतिष्ठा प्राप्त कराई है तथा हमारे लिए महान् आत्माओं द्वारा प्राप्त किये उन्नत शिखरों पर पहुँचने का मार्ग प्रशस्त किया है।

इस प्रकार हम कितने ही रूपों में अपने समाज के अमित ऋणी हैं ! इस अवस्था में क्या हमारे लिए यह योग्य है कि हम इसके प्रति अपने कर्तव्यपालन की चिन्ता किए बिना इसके पुण्यों तथा फलों का उपभोग मात्र करते रहें ? हमारे शास्त्रों में यह कहा गया है कि एक मनुष्य को उतने पर ही निर्भर रहना चाहिए जितना उसके पास समाज को समर्पित करने के पश्चात् शेष रहता है। इस प्रकार हमारा प्रथम कर्तव्य यह है कि हम अपने को कृतज्ञता के उस ऋण-भार से मुक्त करें। इसी में हमारे जीवन की सार्थकता है।

हम सेवा कैसे करें ?

अब वह कौन सा साधन है, जिससे कि हम उस ऋण को चुका सकते हैं ? एक यथार्थ भक्त परमेश्वर से कहता है, "हे भगवान् ! मैं तेरी पूजा कैसे करूँगा ? पुष्प, चन्दन तथा जल सब तेरे ही तो हैं। तू ही तो उस दीपक की दीप्ति है, जिससे मैं तेरी आरती करता हूँ। सब कुछ तेरा ही है। इस प्रकार जो कुछ तूने मुझे दिया है, उसको ही तेरे चरणों में अर्पित कर तेरा दीनतम सेवक बने रहने के अतिरिक्त मेरे पास और रास्ता ही क्या है ?" प्राचीन काल से ही, अपने समाज को ही ईश्वर का जीवन्त स्वरूप वर्णित किया गया है। हमें भी उस स्वरूप को ही अपना इष्ट देवता स्वीकार करना चाहिए तथा अपने ऋण-भार से मुक्ति के लिए अपने जीवन भर उसकी सेवा करने का निश्चय करना चाहिए।

हमें किस प्रकार की सेवा करनी चाहिए ? सेवा के अनेक तथा विभिन्न प्रकार सम्भव हैं। भूखे को भोजन देना, अज्ञानी को ज्ञान देना, रोगी को औषधि देना, ये सब सेवा के ही प्रकार हैं। अर्थात् यथार्थ सेवा से तात्पर्य है कि जिसकी सेवा करना है, उसमें जो कमी है, उसे दूर करना। अब हमारे समाज में आज वह कमी क्या है ? निःसंदेह हमारा समाज आज अज्ञानता, गरीबी, छुआछूत, अनैतिकता आदि का एक अति पीड़ादायी चित्र प्रस्तुत

करता है । हम उन ऐसे अनेकों प्रयासों को भी देखते हैं जो इन कमियों को दूर करने के लिए व्यक्तियों द्वारा सद्उद्देश्य से किये जा रहे हैं । और यह स्वाभाविक भी है कि हममें उनके प्रति सद्भावना उत्पन्न हो । परन्तु प्रश्न यह है कि क्या हम इन प्रयासों को सेवा का वह सही प्रकार कह सकते हैं, जिसकी कि हमारे समाज को आज अतीव आवश्यकता है ? क्या वे हमारे समाज का अन्तत: स्थायी कल्याण कर सकेंगे ? शरीर पर एक के बाद एक उठते हुए फोड़े का उपचार एवं मलहम-पट्टी करना व्यर्थ होगा जबकि रक्त ही दूषित हो गया हो । जब मूल कारण का उपचार किया जायगा तभी व्याधि दूर होगी । वह मूल कारण क्या है ?

चित्र : विगत तथा वर्तमान

क्या यह सत्य है कि हमारे समाज में पूर्वकाल में भी दैन्य और दारिद्र्य उसी रूप में विद्यमान था, जिस रूप में आज देखने को मिलता है ? इतिहास एक बिलकुल भिन्न कहानी प्रस्तुत करता है । कुछ विदेशी यात्री जो पूर्वकाल में यहाँ आये थे, उन्होंने यहाँ जो पाया, उसका आँखों देखा हाल वे छोड़ गए हैं : उनके लेख, जो आज भी विद्यमान हैं, बताते हैं "जन-समाज यहाँ सुखी और संतुष्ट है । यहाँ कोई निराश्रयी तथा भिखारी नहीं है । लोग जब तीर्थ-यात्रा पर बाहर जाते हैं तब वे चोरी का किञ्चित् मात्र भय न रखते हुए वर्षों के लिए अपने मकानों को ताला लगाये बिना छोड़ देते हैं । नैतिक पथभ्रष्टता की बहुत कम घटनाएँ होती हैं । वे सब अपने व्यवहार में अत्यन्त धर्मपरायण, उदार तथा विश्वसनीय हैं । वे एक पौरुषेय, सामर्थ्यवान् जाति हैं, धनी और बुद्धिमान्…" उन विदेशी दर्शकों का इतना देदीप्यमान वर्णन लिखने के पीछे कोई दूर का मन्तव्य नहीं हो सकता था । हमारे देश में कोई लौहआवरण भी नहीं था, जैसा कि आजकल रूस या चीन में है । वे कई वर्षों तक देश के चारों कोनों में मनचाहे ढंग से इधर-उधर घूमते रहे । इसलिए उन उल्लेखों को बिना किसी संदेह के विश्वसनीय मानना चाहिए ।

ऐसा नहीं है, जैसा कि बहुधा गलत समझा जाता है कि हमारे समाज ने केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही ख्याति प्राप्त की थी और दैनिक व्यावहारिक जीवन के अन्य क्षेत्रों की ओर दुर्लक्ष्य किया था । प्रामाणिक प्राचीन आलेखों ने नि:संदिग्ध रूप से यह प्रकट कर दिया है कि विज्ञान और कला की प्रत्येक शाखा में हम बाकी दुनिया से कई शताब्दियाँ आगे थे । दो सहस्र वर्ष पुराना चमकता हुआ अशोक स्तम्भ, जिसको किञ्चित् भी जंग नहीं लगा है, आज भी धातुशोधन की एक अपराजित चुनौती है ।

पुरानी पुस्तकों तथा विदेशी आलेखों में भी एक घटना का उल्लेख है। एक रोमन शासक एक विचित्र रोग से पीड़ित हुआ जो उसके राज्य में किसी के द्वारा ठीक न किया जा सका। उसने हमारे देश से सहायता माँगी जो उस समय औषधि विज्ञान में निष्णात माना जाता था। हमारा एक राजवैद्य वहाँ गया, उसने उसकी खोपड़ी खोली और उसके मस्तिष्क की शल्यक्रिया की। राजा का रोग ठीक हो गया। वह चिकित्सक उन लोगों को वह विज्ञान सिखाने के लिए वहाँ और तीन वर्ष रहा और तब उच्च सम्मान प्राप्त कर लौटा। यह स्मरण रखना चाहिए कि शल्यशास्त्र की वर्तमान प्रगति की अवस्था में भी मस्तिष्क की शल्यक्रिया एक अत्यन्त गम्भीर खतरे की विधि समझी जाती है।

हम कभी घर के लिए व्याकुल लोगों में से भी नहीं थे। 'कृण्वंतो विश्वमार्यम्' **(विश्व के मनुष्यमात्र को श्रेष्ठ बनाओ)** उद्घोष के साथ हमारे संत-महात्माओं ने संसार के चारों कोनों में भ्रमण किया। हमारा कल्याणकर प्रभाव पृथ्वी के विशाल खण्डों में फैला हुआ था और हमारी पताका अनेकों देशों में फहरती थी। दूर देशों से यात्री हमारे वैभव का दर्शन प्राप्त करने के लिए आया करते थे। दूर और पास, सभी ओर से विद्यार्थीगण मानवीय-ज्ञान के पवित्र एवं नित्य स्रोत से ज्ञान प्राप्त करने आया करते थे। उन दिनों की हमारी जाति की सांस्कृतिक-विजय क्षमता की साक्ष्य देने वाले मन्दिर एवं मूर्तियाँ, चित्रकला एवं नक्काशी, भाषा एवं आचार-व्यवहार, महाकाव्य तथा लोकगीत, साहित्य एवं कला के अगणित जीवन्त एवं भव्य प्रमाण इन सब देशों में खड़े हुए हैं। मुसलमानों का 'अर्द्धचन्द्र और तारा' हमारे ओंकार—ॐ का ही एक अंश है। यह सत्य नहीं है कि हमारे पूर्वजों ने केवल बुद्ध के जन्म के बाद ही अपने देश से बाहर जाना प्रारम्भ किया था। हमारे धर्म-विस्तारक इससे पूर्व ही अमरीका पहुँच चुके थे। बौद्ध भिक्षुओं ने तो केवल उस परम्परा का अनुसरण किया था। घर में और विदेशों में भी हमने एक प्रतापी और साथ ही साथ एक उदार जाति के रूप में श्रेष्ठता प्राप्त की थी।

फिर अपने देश में यह वर्तमान घृणित अवस्था क्यों है ? इस धन-धान्य पूर्ण और संस्कृति के देश में दुःख-दारिद्र्य तथा अधर्म का पिशाच किस प्रकार घुस आया ? क्या कारण है कि एक समय का जगन्माता भारत जिसने कभी अनेकों निष्कासित जातियों को आश्रय एवं सुरक्षा प्रदान की थी, आज संसार की गलियों का भिखारी बन गया है ? आज हम सभी विदेशियों के द्वारों पर केवल अन्न और धन के लिए ही नहीं तो आदर्शों एवं जीवन-मूल्यों की भी भीख माँगते फिरते हैं। इस प्रकार हम समस्त संसार के सामने अपनी बुद्धि-

मत्ता तथा मौलिकता के दिवालिएपन का प्रदर्शन कर रहे हैं। फिर इस दैन्य और अधोगति की पतित स्थिति की जड़ में कौनसा रहस्य छिपा हुआ है ?

क्या विदेशी उत्तरदायी हैं ?

गत कुछ दशाब्दियों के अनेक विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि गत सहस्र वर्षों की हमारी दासता ही इस पतन का प्रधान कारण है। इतिहास बताता है कि मुसलमान आक्रमणकारियों ने, जो यहाँ शासक बनकर बस गए थे, हमारी राष्ट्रीय श्रद्धा और सम्मान-बिन्दुओं का योजनानुसार विनाश किया। उन्होंने हमारी माँ-बहिनों का शीलभंग किया, मन्दिरों तथा तीर्थ-स्थानों को खंडित किया, और बहुत बड़ी संख्या में लोगों का धर्म-परिवर्तन तलवार का भय दिखाकर अथवा भौतिक सुखों का प्रलोभन देकर किया। ऐसे नये धर्मान्तरितों ने भी, अपने राष्ट्रीय बन्धों से टूट जाने के कारण, विदेशी आक्रामकों के उसी बर्बर शासन तथा उन्हीं घृणित कृत्यों को जारी रखा।

अंग्रेज, जो बाद में आये, अधिक कुटिल तथा शिष्ट थे। उन्होंने खुले-आम तोड़फोड़ एवं भ्रष्ट करने का रास्ता नहीं अपनाया। उन्होंने अपने धूर्ततापूर्ण प्रचार के द्वारा परम्परागत चली आई श्रद्धा तथा राष्ट्रीय एकता नष्ट करने की चेष्टा की। उन्होंने एक विशेष शिक्षा-पद्धति आरम्भ की, जिसका लक्ष्य हमारे लोगों की राष्ट्रीय, सांस्कृतिक तथा पौरुष की भावनाओं का उन्मूलन कर ब्रिटिश साम्राज्य को पुष्ट करना मात्र था। और अपने शिक्षित कहलाए जाने वाले लोग उनके कपट के शिकार हो गए तथा गोरे लोगों के रीति-रिवाजों तथा विचारों की नकल कर जो कुछ अपना था, उसका उपहास करने लगे। इस प्रकार मातृभूमि की परम्पराओं की मिट्टी से उखड़कर, दूर फेंका जाकर, हमारा राष्ट्र-जीवन मुर्झाने और सूखने लगा और परिणामस्वरूप दुर्गुण और दुर्गन्ध फैलने लगे।

इस प्रकार गत सहस्र वर्षों के विदेशी प्रभुत्व का यह मलिन चित्र सामने रखकर वे विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि केवल यह विदेशी शासन ही वर्तमान बुराइयों का मूल कारण है। अतः उन्होंने इस विदेशी जुए को उतार फेंकने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया। यह बिल्कुल स्वाभाविक भी था।

परन्तु यह प्रश्न यहीं समाप्त नहीं होता। प्रश्न उठता है कि विदेशी यहाँ पैर जमाने में किस प्रकार सफल हो गए ? आक्रमणकारी इतने विशाल देश को गुलाम बनाकर यहाँ राज्य प्रस्थापित कर सके इसका कारण क्या यह है

कि वे हमसे अधिक गुणी और योग्य थे ? नहीं। हमारे इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर यह स्पष्ट अक्षरों में लिखा हुआ है कि हमारी जाति जनसंख्या, सेना, नीतिज्ञता, पराक्रम, ऐश्वर्य, बुद्धिमत्ता, ज्ञान आदि प्रत्येक गुण में, जिनसे किसी भी जाति को निश्चित विजय प्राप्त होती है, आक्रामकों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ थी।

प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ

अपनी मातृभूमि में हमारा एक स्वतन्त्र तथा ऐश्वर्यशाली राष्ट्रीय जीवन था। हमारी एक अनूठी सामाजिक व्यवस्था और अतीव विकसित राजनीतिक संस्थाएँ थीं। उन दिनों के हमारे राजनीतिज्ञों को राज्यप्रशासन के सिद्धान्तों की गहरी पकड़ थी। कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसकी बराबरी का संसार के समस्त राजनीतिक साहित्य में दूसरा एक भी ग्रन्थ मिलना कठिन है। यह छोटा-सा ग्रन्थ वास्तव में ऐसे विचारों का कोष है जिनकी स्वाभाविक एवं स्थायी श्रेष्ठता देश तथा काल की सभी सीमाओं से परे है। यह एक पुस्तक में संकलित शुष्क ज्ञान मात्र नहीं था, बल्कि उन दिनों के वास्तविक राज्य शासन का एक जीवन्त तथा व्यावहारिक मार्गदर्शक ग्रन्थ था। हमारी सेनाओं की आघाती-शक्ति बाहर से आने वाले आक्रमणकारियों के लिए भयकारक थी। वास्तविकता यह है कि हमने पहले शकों और हूणों के बर्बर समूहों को खदेड़ दिया था और जो लोग यहाँ रह गए थे, उनको अपनी समन्वयकारी संस्कृति में समाविष्ट कर लिया था।

तथाकथित 'विश्वविजेता' यूनान के सिकन्दर को भी यही सब कुछ भोगना पड़ा था। पाश्चात्यों द्वारा लिखित हमारी इतिहास की पुस्तकों में हमको पढ़ाया जाता है कि 'सिकन्दर महान् ने हमारे देश में जो राज्य जीता था उसे 'उदारता के भाव से' वापस कर दिया था। वही सिकन्दर जो ईरान में अत्याचार करके फूला नहीं समा रहा था और जिसने विजय के उन्माद में जहाँ भी कदम रखा, वहीं सर्व प्रकार के बर्बर अनाचार किए, भारत की भूमि पर कदम रखते ही मानों उदार व्यक्ति बन गया ! और हमसे आशा की जाती है कि ऐसे 'इतिहास' में विश्वास करें। संसार को आज तक एक उदार पाश्चिमात्य विजेता देखने के लिये मिलना शेप है। लगभग दो सहस्र वर्ष की बहुप्रशंसित ईसाई-शिक्षा के बाद भी, उनके द्वारा पश्चिम के जीते हुए राष्ट्रों में अपने ईसाई भाइयों के प्रति दिखाई गई उनकी 'उदारता' की कथाओं को पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इतिहास द्वारा प्रकट किया हुआ तथ्य यह है कि

सिकन्दर हमारे छोटे पर्वतीय सरदारों के प्रलयंकरी प्रहारों को भी झेल नहीं सका और उसे अपनी जान बचाने के लिये भाग जाना पड़ा। फिर भी वह हमारे एक योद्धा के खतरनाक तीर से बच न सका। प्राणघातक रूप में घायल होकर और उसी मार्ग से पीछे हटने का खतरा न मोल लेने के विचार से उसने दूसरा रास्ता अपनाया; परन्तु वह केवल ईरान तक पहुँच सका, जहाँ कि अन्त में उसकी कब्र बनी। सेल्यूकस द्वारा किया गया एक अन्य यूनानी आक्रमण भी मगध के महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वारा कुचल दिया गया।

परन्तु, एक विभाजित गृह

तथापि, उस समय तक हमारे राष्ट्रीय ऐक्य में धीरे-धीरे शिथिलता आनी प्रारम्भ हो गई थी। 'महाभारत' के विराट् युद्ध के पश्चात् के लम्बे शान्ति-काल में, समस्त राष्ट्र सुरक्षा की भावना के कारण एक प्रकार की मूर्च्छा को प्राप्त हो गया था। ऐक्य की प्रवृत्ति, जो आने वाले समान खतरे की चेतना के फलस्वरूप उत्पन्न होती है, शताब्दियों के कालान्तर में मन्द पड़ गई और एक राष्ट्र होने की जीवन्त चेतना धीरे-धीरे अनजाने में कम होती गई, जिसके फलस्वरूप छोटे स्वतन्त्र राज्य बनते चलते गए और राष्ट्र कमजोर हो गया। राजपद जनता की निष्ठा का आधार बन गया और उसने राष्ट्रीय भावना का स्थान ले लिया। परस्पर विद्वेष तथा विभिन्न राज्यों में स्पर्द्धा ने उनके संबंधों को दूषित कर दिया और इस प्रकार हमारा राष्ट्र अपने में ही विभाजित हो गया। राजाओं पर अपनी व्यक्तिगत शान-शौकत तथा प्रतिष्ठा का नशा चढ़ गया था और वे शत्रु तथा मित्र की पहचान करने की क्षमता खो बैठे थे। हम राष्ट्रीय सुरक्षा के इस प्रथम पाठ को भी भूल गये कि जिस शत्रु ने हमारी भूमि के एक हिस्से को लूटा है, वह किसी दिन इस पूरी भूमि को लूटेगा तथा यह कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अविभाज्य है। हम यह भी भूल गए कि इसका परिणाम हमारे स्वयं के तथा सभी के लिए घातक होगा और वे सब चीजें जिससे हमें लगाव है तथा जो हमारे लिए पवित्र हैं, हमारी सारी धन-सम्पत्ति एवं समृद्धि धूल में मिल जावेगी। इस प्रकार शत्रु जो पहले हमारी सामर्थ्य के सामने काँपते थे, बाद में 'सम्माननीय अतिथि' के रूप में आये और हमारे विजेता तथा शासक बन गये।

हमारा देश मुस्लिम आक्रमण के सामने किस प्रकार पराजित हो गया इसकी दर्दनाक कहानी हमारे सामने है। अपने पैगम्बर की मृत्यु के एक शताब्दि के अन्दर ही, मुसलमानों ने लगभग सम्पूर्ण दक्षिणी योरोप, स्पेन,

पुर्तगाल तथा एशिया के हिस्सों को परास्त कर दिया था और वे प्रशान्त महासागर तक मजबूती के साथ जम गये थे। अपने पीछे अन्धमहासागर (एटलॉटिक) से प्रशान्त महासागर (पैसिफ़िक) तक सर्वदूर फैले हुए साम्राज्य-निर्माण के पश्चात्, उन्होंने अपनी लालच भरी आँखें हमारे देश की ओर घुमाईं। उन्होंने दो जगह से घुसने की चेष्टा की, एक सिंध के रास्ते से और दूसरे अफगानिस्तान के द्वारा हिमालय के पार पंजाब में प्रवेश करके। परन्तु इतने विशाल साम्राज्य तथा सेनाओं के उनके आधिपत्य में होते हुए भी उनके एक के बाद एक आक्रमणों के झोंके अपनी उत्तरी-पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा के हेतु लड़ने वाले छोटे राजाओं द्वारा दो शताब्दियों तक सफलतापूर्वक पीछे हटा दिये जाते रहे। इस प्रकार यह प्रमाणित हो गया कि हिंदू सैन्य-कौशल तथा पराक्रम मुस्लिम समूहों की आक्रामक शक्ति की तुलना में अति श्रेष्ठ था। तथापि हिन्दू-प्रतिरोध का अन्तत: ह्रास हो जाने का कारण यह था कि आन्तरिक वैमनस्य तथा द्रोह ने उनकी श्रेणियों को दुर्बल कर दिया था और देश का बाकी हिस्सा मातृभूमि की रक्षा के हेतु युद्ध को चलाये रखने के लिए समय-समय पर उनको सहायता देने में असफल रहा।

मुस्लिम आक्रमण के पहले धक्के के पश्चात् भी अपना देश जागकर संघटित रूप से खड़ा नहीं हुआ। वैमनस्य और विश्वासघात की आत्मघाती कहानी चलती रही। गजनी के मोहम्मद को, जो पवित्र सोमनाथ के मन्दिर को लूटने और अपवित्र करने के उद्देश्य से निकला था, हमारे अपने ही सरदारों ने मार्गदर्शन कर सहायता दी। और वह जयचन्द ही था जिसने मोहम्मद गोरी को आमन्त्रित किया। इस प्रकार एक हिन्दू राजा ने ही एक विधर्मी शत्रु को हस्तिनापुर की पवित्र राजधानी में पहली बार एक विदेशी शासन स्थापित करने में सहायता दी। जयचन्दों की जाति तीव्र गति से बढ़ने लगी। अकबर के विशाल साम्राज्य का आधारस्तम्भ राजा मानसिंह ही था। यही महाराणा प्रताप के विरुद्ध युद्ध करने के लिए आया था जो उन दिनों में अकेले ही स्वतन्त्रता का दीपक प्रज्ज्वलित किए हुए थे। मिर्जा राजा जयसिंह, जसवन्त सिंह और अन्य लोग, सब हिन्दू सरदार कुख्यात हिन्दू-विरोधी धर्मोन्मत्त औरंगजेब के संरक्षक हाथ बन गये थे। औरंगजेब की ओर से शिवाजी को नष्ट करने के लिए यही लोग सामने आये थे।

हमारा विघटन इतना अधिक हो गया था कि बख्त्यार खिलजी जो देहली से पूर्व की ओर निकला और जिसके पास केवल अठारह व्यक्ति थे, ऐसा कहा जाता है वह नरसंहार, सामूहिक धर्मपरिवर्तन, स्त्रियों का अप-

हरण, मंदिरों की तोड़-फोड़ तथा राज्यों को नष्ट करता हुआ अपनी तलवार के बल पर सीधे बंगाल तक पहुँच गया। जगत्प्रसिद्ध नालन्दा विश्वविद्यालय के सहस्रों विद्यार्थी तथा अध्यापक उसके द्वारा निर्दयतापूर्वक कत्ल कर दिए गए। उसने नगर की समस्त जनसंख्या को भी तलवार के घाट उतार दिया। उसने वहाँ के पुस्तकालय को भी आग लगा दी जो सहस्रों वर्षों में संग्रहीत ज्ञान का भंडार था। अन्त में उसने बंगाल में अपना शासन भी स्थापित किया।

औरंगजेब की सेना के मनुची नामक इटालियन अधिकारी ने स्वयं देश में चारों ओर घूमकर अपनी डायरी में लिखा—"यदि इस समय कोई आक्रामक ३०,००० सेना के साथ दर्रा खैबर होकर प्रवेश कर जाये तो वह सुगमता से सम्पूर्ण हिन्दुस्थान को जीत कर यहाँ शासन कर सकता है।" ऐसे उदाहरण तथा आलेख हमारे तत्कालीन इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित हैं जो आपसी विनाशक झगड़ों, विश्वासघातों तथा देश को गुलाम बनाने के लिए शत्रु की सहायता करने की हृदयविदारक कहानी का वर्णन करते हैं।

अंग्रेजों के आने के बाद भी विश्वासघात की यह आत्मघातक कहानी उसी प्रकार चलती रही। हमने मुस्लिम आक्रमण के पाठों से अपनी आँखें मूँद ली थीं। हिन्दू सैन्य अधिकारी तथा सैनिक ब्रिटिश साम्राज्य को सुरक्षित एवं सुदृढ़ बनाने के लिए अपना और स्वतन्त्रता-सेनानियों का भी रक्त बहाते रहे। हमारे धनी व्यापारी अंग्रेजों की सहायता धन से करते रहे। व्यक्ति, धन और बुद्धि, हमारे ये सभी साधन उनके चरणों में रख दिए गए। हमारी बेड़ियों को मजबूत करने के लिए उनका उपयोग किया गया। जैसा कि एक अंग्रेज इतिहासकार ने लिखा है—"इंगलैंड में यदि स्वस्थ शरीर के सभी व्यक्ति भी शस्त्रसज्जित कर एक सेना के रूप में संगठित कर दिए जाते, तो भी वे अपने आप से भारत को विजित नहीं कर सकते थे, शान्तिपूर्वक शासन करने की तो बात ही अलग है। वास्तव में ये यहाँ के स्थानीय व्यक्ति ही थे, जिन्होंने अपने आन्तरिक झगड़ों के कारण, हमारे लिए काट-छाँट कर एक राज्य निर्माण करके दे दिया।"

इतिहास की चेतावनी

अतः इतिहास का निष्कर्ष इतना स्पष्ट है कि उसे गलत समझने की कोई गुंजाइश नहीं है। राष्ट्रीय चेतना तथा एक ही राष्ट्र-शरीर के अंग होने की अवयवी भावना का अभाव तथा इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न परस्पर

घृणा, फूट, विद्वेष तथा निजी क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति के लिए परस्पर विनाशक कलह, इन्हीं ने गत सहस्र वर्षों से अपने राष्ट्र के मर्मस्थान को ग्रस लिया है।

मुसलमान अथवा अंग्रेज हमारे शत्रु नहीं थे, बल्कि हम स्वयं ही अपना विनाश कर रहे थे। गीता में कहा है,

आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः।

(हम ही अपने मित्र हैं, हम ही अपने शत्रु हैं) खेद है कि हमारे सम्बन्ध में इस उक्ति का अन्तिम अर्धांश ही सत्य हुआ।

इसलिए हम कहते हैं कि अपने पतन तथा विनाश के कारणों के लिए बाह्य अक्रामकों को कोसने से कोई लाभ नहीं है। आखिरकार दुर्बल देशों पर आक्रमण करना, उन्हें लूटना तथा उनका विनाश करना, यह लुटेरे राष्ट्रों की प्रकृति ही होती है। यदि साँप किसी आदमी को काटता है, तो यह उसका दोष नहीं है। काटना तो उसकी प्रकृति में ही है। दोष तो उस आदमी का है जो सतर्कता नहीं बरतता और सम्भाव्य खतरे से अपना बचाव नहीं करता। दुर्भाग्य से अपने गत सहस्र वर्षों में अपमान तथा विपत्तियों के बार-बार घटित होने वाले इतिहास के अनुभवों के बावजूद भी हम एक आधारमूल शिक्षा ग्रहण नहीं कर सके कि हम स्वयं ही अपने पतन के लिए उत्तरदायी हैं और जब तक हम अपने में से उस प्राणघातक दुर्बलता को नहीं मिटा देते, हम एक राष्ट्र के रूप में जीवित बने रहने की आशा नहीं कर सकते।

क्या हमने, कम से कम अब भी, यह शिक्षा ग्रहण कर ली है? हम आजकल सुनते हैं कि हमने स्वतन्त्रता हस्तगत कर ली है तथा अब चारों ओर जागृति हो गई है और इसलिये अब हमें अपनी पुरानी असफलताओं के बारे में चिन्ता नहीं करनी चाहिए, आदि-आदि। परन्तु, क्या यह सत्य है कि हमने स्वतन्त्रता केवल अपने पराक्रम तथा त्याग के बल पर जीती है? यदि यह सत्य है, तो यह कैसे हुआ कि अंग्रेज ब्रह्मा तथा श्री लंका को भी छोड़ कर चले गये जबकि वहाँ स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष बिलकुल हुआ ही नहीं? एक नये स्वतंत्र राज्य—पाकिस्तान का अस्तित्व मुसलमानों की ओर से किञ्चित् भी त्याग हुए बिना ही कैसे बन गया? और हमारे नेताओं की, अविभाजित भारत की स्वतंत्रता की सभी घोषणाओं और प्रतिज्ञाओं के विपरीत, इसके लिए सहमति क्यों कर हो गई? वास्तविकता यह है कि पिछले विश्वयुद्ध के रक्तपात के उपरान्त अंग्रेजों में एक विशाल और विस्तृत साम्राज्य को चलाने की शक्ति रह ही नहीं गई थी। उनको भारतीय सेना की ब्रिटिश-राजभक्ति का भी विश्वास नहीं रह गया था। परन्तु अंग्रेजों

ने, धूर्त होने के कारण, अपने प्रति सद्भावता बनी रहे इस प्रबंध के साथ इन सब देशों को छोड़ दिया और पाकिस्तान के रूप में अपने लिये एक स्थायी अड्डा निर्माण कर लिया। सर जान स्ट्राशी ने, अपनी एक पुरानी पुस्तक में, अर्द्धशताब्दी पूर्व लिखा है कि "यदि अंग्रेजों को संयोगवश भारत छोड़ना ही पड़ा तो वे इसे हिन्दू भारत एवं मुस्लिम भारत में विभाजित करके ही जायेंगे।" उनकी घोषणा तो सही निकली। अब भिन्नता केवल यही है कि हमारे नेताओं ने उस योजना को क्रियान्वित करने में अंग्रेजों को सहायता मात्र ही नहीं दी, अपितु उस ओर आगे बढ़कर देश को 'मुस्लिम भारत' और 'गैरमुस्लिम भारत' में विभाजित कर दिया है।

कार्य-कारण-नियम

पाकिस्तान के निर्माण ने केवल यही सिद्ध किया है कि हमने इतिहास से शिक्षा ग्रहण नहीं की है और अपनी प्राणघातक दुर्बलता का उपचार नहीं किया है।

अंग्रेजों के जाने के समय हिन्दू अत्यधिक असंगठित थे, और राष्ट्रीय नेतृत्व मुसलमानों के द्वारा इधर-उधर की गई छोटी-मोटी भी मारकाट और अंग्रेजों की कूटनीति का सामना करने के लिये अत्यन्त दुर्बल था। परिणामस्वरूप हुआ भारत का विभाजन। इतिहास की पुनरावृत्ति हुई। दुःख है कि हम इतिहास से केवल यही शिक्षा ग्रहण करते हैं कि हम इतिहास से कुछ भी नहीं सीखते। अतः अपनी मातृभूमि के बड़े-बड़े खण्ड–आधा पंजाब, आधा बंगाल, सिंध और सीमान्त प्रान्त–पुनः शत्रुओं के हाथ में चले गये।

ये भूखण्ड कभी हिन्दूराष्ट्र के गौरवस्थल थे। पंजाब वेदों का जन्मस्थान है, जो हमारी पवित्र दायों में पवित्रतम हैं। हमारे महान् ऋषियों ने सिन्धु के किनारे पर साधना की थी। बंगाल संतों, कवियों तथा क्रान्तिकारियों की गोद रहा है। उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रान्त ने सहस्रों वर्षों से हमारी सुरक्षा रखी थी। हमारे स्वतन्त्र और शक्तिशाली हिन्दू राज्य के आदेश उन सब स्थानों में गूँजते थे। परन्तु शताब्दियों पूर्व वे हिस्से मुस्लिम आक्रमण से पराजित हो गये। बाद में उन्होंने मुस्लिम आधिपत्य को उखाड़ फेंका, परन्तु एक अन्य शत्रु अंग्रेज के शासन के अन्तर्गत आ जाने मात्र के लिये। अब वे पुनः मुस्लिम नियन्त्रण में चले गये हैं।

इन प्रान्तों के १९४७ में मुस्लिम शासन में दे दिये जाने के बाद, वहाँ लाखों हिन्दू भाई-बहनें निर्दयता के साथ कत्ल कर दिये गये। हमारी नारीत्व

का शील कुचला गया, तलवार के जोर पर विशाल प्रमाण में सामूहिक धर्म-परिवर्तन किया गया। मुस्लिम समूहों द्वारा हिन्दू मात्र पर जो अमानवीय अत्याचार एक सहस्र वर्ष पूर्व किये गये थे, उनकी पुनरावृत्ति हुई। वही क्रूरता अब भी उसी प्रमाण में, उसी बर्बरता के साथ चल रही है। क्या इन बातों के लिये इससे भी अधिक स्पष्ट प्रमाण की आवश्यकता है कि ध्वस्त मानवों के कंकाल बने लाखों की संख्या में शरणार्थी भाइयों का पश्चिमी बंगाल में नित्य प्रति चले आने का ताँता लगातार लगा रहता है ?

एक सहस्र वर्ष पूर्व और एक सहस्र वर्षों के पश्चात् आज भी हमारी राष्ट्रीय दुर्घटना का मूल कारण यही है—इस भूमि के पुत्र, हिन्दुओं में संगठित तथा एकरूप जीवन का नितान्त अभाव। कारण और परिणाम का (कार्य-कारण) नियम, काल और स्थान की सीमा के परे है। गत एक सहस्र वर्ष के इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ हमारे राष्ट्रीय स्तर पर घटित हो रहे इस कटु सत्य का मौन साक्षी है।

अब हम उन क्षेत्रों की अवस्था का अवलोकन करें, जो अंग्रेजों के जाने के बाद हमारे हाथ में आये। क्या हमारा स्वातन्त्र्य और सम्मान कम से कम यहाँ सुरक्षित है ?

जयचन्दों की परम्परा

उस प्रथम विभाजन के पश्चात् पुनः कश्मीर का विभाजन हुआ है। एक समय, हमारे स्वर्गीय प्रधान मंत्री पंडित नेहरू ने तथाकथित कश्मीर समस्या को हल करने के विचार से कश्मीर के पाकिस्तान अधिकृत हिस्से को पाकिस्तान को दे डालने की अपनी इच्छा भी व्यक्त की थी। कश्मीर में मतगणना का प्रस्ताव भी हमारे नेताओं द्वारा ही सुझाया गया था। इससे क्या स्पष्ट होता है ? यदि शरीर के किसी अवयव में चोट लग जाती है, तो क्या उस विशेष अवयव को अपना भाग्य स्वयं निर्णीत करने के लिये कहा जाय ? इसके विपरीत क्या सम्पूर्ण शरीर को ही इस विषय में निर्णय नहीं लेना चाहिये ? उसी प्रकार से यदि मतगणना होनी ही है तो वह सम्पूर्ण देश में होनी चाहिये। केवल कश्मीर में मतगणना का तात्पर्य यह होगा कि हमारी मातृभूमि की एकता की चेतना हमारे मस्तिष्क से प्रायः निकल चुकी है।

इसके अतिरिक्त हमारे समाज में किसी भी तथा प्रत्येक विषय में, चाहे वह भाषा, पंथ, सम्प्रदाय अथवा पार्टी से संबंधित हो, गम्भीर दरार बनती जा रही है। कोई भी व्यक्ति खड़ा हो जाता है और कहता है कि उसे अपनी

भाषा के लिये एक राज्य अथवा अपने सम्प्रदाय के लिए एक राज्य चाहिये। और यदि वह संघ में बने रहने के लिए तैयार है तो वह चाहता है कि वह एक ढीले तौर से बाँधा गया संघ हो, जिसमें उसके राज्य को अधिकाधिक अधिकार प्राप्त हों तथा केन्द्रीय सत्ता नाममात्र के लिये लागू हो।

परस्पर घृणा तथा विद्वेष का वही अभिशाप, जिसने हमारे राष्ट्रीय जीवन को गत एक सहस्र वर्षों में कसाईखाने में बदल दिया था अब भी प्रान्त, दल, भाषा, पंथ, सम्प्रदाय आदि के नये वेश में अपना मृत्यु-नृत्य किये जा रहा है। एक बार आन्ध्र के एक प्रसिद्ध नेता ने सार्वजनिक रूप से घोषणा की थी कि यदि एक पृथक् आन्ध्र राज्य नहीं बनाया गया तो इसे प्राप्त करने के लिए वह रूस की सहायता लेगा। एक प्रसिद्ध सिख नेता ने एक समय धमकी दी थी कि यदि पंजाबी सूबा नहीं बनाया गया तो सभी सिख साम्यवादी बन जायेंगे। हमारी सीमाओं पर चीनी सेनाओं के सन्नद्ध खड़े रहने के समय इस प्रकार के वक्तव्य का केवल एक ही आशय हो सकता था और वह यह कि एक पृथक् राज्य के निर्माण में उसकी सहायता के बदले में आक्रमणकारी को एक निमन्त्रण तथा अन्दर से सहायता देने का एक आश्वासन दिया जा रहा है। कुछ वर्ष पूर्व वही नेता पाकिस्तान से सहायता प्राप्त करने के लिए साँठ-गाँठ कर रहा था। क्या हम कह सकते हैं कि इस भूमि से जयचन्दों तथा मानसिंहों की जाति समाप्त हो गई है?

इतिहास की पुनरावृत्ति

राष्ट्रीय चेतना के अभाव का वही घातक रोग, जिसके कारण हमने शत्रु-मित्र की पहचान करने की पात्रता खो दी थी, आज भी पूर्ववत् चालू है। एक बार नागपुर में अपने आपको अब्राह्मण कहने वाले लोगों का एक सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन में मुसलमान तथा ईसाई भी भाषण कर रहे हैं, यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। जब उस सम्मेलन के आयोजकों में से एक से इस बारे में मैंने पूछा तो उसने उत्तर दिया—"अजी! वे भी तो अब्राह्मण हैं।" यह कितना आश्चर्यजनक है कि वे इस सामान्य तथ्य को भी नहीं पहचान सकते कि हिन्दू की, उसके पंथ अथवा सम्प्रदाय की कोई भी संज्ञा क्यों न हो, एक सामाजिक इकाई होती है, और मुसलमान एवं ईसाई एक बिल्कुल विदेशी ही नहीं तो विरोधी पक्ष के हैं।

यह कल्पनातीत हो, तथापि एक कठोर सत्य है कि १९५७ के चुनावों में पंजाब के अम्बाला निर्वाचन क्षेत्र से एक मुसलमान निर्वाचित हुआ, जो कि

वहाँ पर एकमात्र मुस्लिम मतदाता था और अन्य सभी हिन्दू थे, जिन पर एक दशाब्दि पूर्व ही, मुसलमानों के हाथों अवर्णनीय अत्याचार हुए थे। ऐसी है हमारे समाज की आत्मघातक, आत्मविस्मरण की अवस्था।

देश का कोई भी भाग इन आपस के झगड़ों से मुक्त नहीं है। हर जगह हमारे ही लोगों द्वारा शत्रु के प्रवेश तथा उसकी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए भूमिका तैयार की जा रही है। आसाम में जुलाई १९६० में बंगाली-विरोधी उपद्रवों ने, जिनके कारण बंगाली हिन्दुओं को भारी संख्या में वहाँ से जाना पड़ा, मुसलमानों को ही लाभ पहुँचाया क्योंकि इस प्रकार उस दुर्बल राज्य में हिन्दुओं की प्रतिशत संख्या कम हो गयी। आसामियों और बंगालियों में परस्पर घृणा और विभेद ने उस प्रान्त में मुसलमानों को सामान्य हिन्दुओं पर और अधिक अत्याचार कर सकने में सहायता प्रदान की है।

वास्तव में हमें श्रीहट (सिल्हट) इसी आसामी-बंगाली विभेद के कारण पाकिस्तान को देना पड़ा। १९४७ में श्रीहट में, यह निर्णय करने के लिए कि वह जिला भारत में रहेगा अथवा पाकिस्तान में, मतगणना हुई थी। हिन्दुओं ने, जो कि आसामी-बंगाली झगड़ों और विद्वेषों से जर्जर हो गए थे, मतदान करने की चिन्ता ही नहीं की। परन्तु मुसलमानों ने, राजनीतिक दृष्टि से अधिक सतर्क होने के कारण, दूर और पास से अपनी संख्या को बड़े प्रमाण में एकत्रित किया और पाकिस्तान के पक्ष में ठोस मतदान कराया। यह है वह दुर्भाग्यपूर्ण कथा कि किस प्रकार हमने हिन्दू बहुसंख्या के होते हुए भी श्रीहट को पाकिस्तान के हाथों खो दिया।

विदेशी जाल

हमारा एक देश और एक संस्कृति है इस चेतना के अभाव ने कुटिल विदेशियों को फूट के बीज बोने के लिए हमारे समाज को एक उपजाऊ भूमि बना दिया है। तथाकथित बुद्धिवादी वर्ग भी ऐसे कपटी प्रचार के कारण सुगमता से अपना आधार छोड़ बैठता है। उदाहरणस्वरूप, एक पृथक् द्रविड-नाड के लिए आन्दोलन एक विदेशी के कुटिल मस्तिष्क की उपज है। एक विदेशी ईसाई मिशनरी ने ही सर्वप्रथम लगभग अस्सी वर्ष पूर्व तामिलनाड में प्रत्येक नगर तथा ग्राम का दौरा किया था और यह दुष्ट प्रचार सतत किया था कि तमिल संस्कृति, तमिल भाषा तथा तमिल की प्रत्येक चीज शेष भारत की संस्कृति, भाषा आदि से मूल रूप में भिन्न है और तमिलवासी अपने में एक स्वतन्त्र राष्ट्र हैं। इस विषाक्त सिद्धान्त को सामान्य व्यक्ति के लिए ग्राह्य

बनाने के लिए उसने 'तिरुक्कुरल' का एक विकृत भाष्य भी तैयार किया। किन्तु आश्चर्य यह है कि तथाकथित बुद्धिवादी भी उस जाल को नहीं देख पा रहे हैं जो उनको फँसाने के लिए बिछाया गया है। वस्तुतः उनमें से कुछ तो शत्रुरचित खेल खेलने में ही गर्व का अनुभव करते हैं। आन्दोलन के तथाकथित विचार-प्रवर्तकों द्वारा प्रस्तुत तर्क उस विदेशी मिशनरी के तर्कों का तोते के समान दोहराना मात्र है।

द्रविडनाड आन्दोलन के समर्थन में एक प्रिय तर्क इस प्रकार है : "पूर्वकाल में भी, यद्यपि भारत सांस्कृतिक दृष्टि से एक था, तो भी सदैव ही अन्यान्य राज्य रहे हैं। अतः इसमें क्या हानि है यदि अब भी हम अपने भौतिक कल्याण के लिए अपना एक पृथक् राज्य निर्माण कर लेते हैं और साथ ही साथ हम भारत को सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से एक ही मानते रहें और हमारे लोग भारत भर में तीर्थयात्रा आदि के लिये पूर्ववत् जाते रहें ?" यह सत्य है कि पूर्वकाल में बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे यद्यपि हम सांस्कृतिक दृष्टि से सदैव एक बने रहे। परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि हमारी भूमि के मुख्य शासकों में सम्पूर्ण देश को एक प्रशासकीय इकाई के अन्तर्गत लाने की अप्रतिहत प्रवृत्ति सदैव ही बनी रही। राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञों का एकमेव उद्देश्य यही था कि सम्पूर्ण भारत को एक ही चक्रवर्ती के सर्वोच्च राजकीय प्रभुत्व के अन्तर्गत लाया जाय। इन यज्ञों को करने वाले का दूसरे राज्यों की जनता को शोषित अथवा उसका दमन करने के सदृश कोई स्वार्थी मन्तव्य नहीं होता था। वह छोटे-छोटे राज्यों से एक सर्वोच्च केन्द्रीय सत्ता के प्रति राज्यभक्ति की अपेक्षा मात्र रखता था। अन्य बातों में हस्तक्षेप न करते हुए वह उनको स्वतंत्र रूप से पहले के समान रहने को छोड़ देता था।

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार इतिहास में अनेकों राज्यों के अस्तित्व का उल्लेख है, उसमें यह कटु सत्य भी निहित है कि इन अनेकों छोटे-छोटे राज्यों के, जो कालान्तर में परस्पर से दूर तथा परस्पर के वैरी हो गये थे, स्थापित हो जाने से ही विदेशी आक्रामकों द्वारा इन सब राज्यों सहित सम्पूर्ण देश को गत एक सहस्र से भी अधिक वर्षों के लिये अधीन कर लिए जाने का मार्ग प्रशस्त हुआ। इतिहास ने विपुल मात्रा में यह सिद्ध कर दिया है कि देश के किसी एक हिस्से का भाग्य देश के अन्य हिस्सों के साथ अविभाज्य रूप में जुड़ा हुआ है और विशेषतया जब भौतिक कल्याण (उत्कर्ष) ही प्रेरणा का एक मात्र निमित्त होता है, जैसा कि पृथक् द्रविडनाड की माँग के बारे में है, कोई विदेशी शक्ति निश्चित ही भौतिक प्रलोभन देकर इसे अपने हाथ का

मोहरा बना लेगी। इसका परिणाम होगा, जैसा कि पूर्वकाल में हो चुका है, शेष भारत का ही नहीं, उस तथाकथित द्रविडनाड का भी विनाश।

विषाक्त बीज

हमारे संविधान के संघात्मक ढाँचे से स्पष्ट है कि हमारे वर्तमान संविधान के निर्माणकर्त्ता भी शुद्ध समानभावनायुक्त राष्ट्रत्व में विश्वास नहीं रखते थे। हमारे देश का वर्णन अब 'राज्यों का संघ' इस प्रकार से किया जाता है। भूतपूर्व व्यवस्था के अन्तर्गत जो केवल प्रान्त माने जाते थे, उनको अब अनेकों अनन्य अधिकारों के साथ राज्य का दर्जा दिया गया है। वास्तव में पूर्व काल में हमारे अविभक्त राष्ट्रीय जीवन के अनेकों पृथक् राजनीतिक इकाइयों में खंडित हो जाने से ही राष्ट्रीय विशृंखलता तथा पराजय के बीज समाज में जड़ जमा सके। वर्तमान संघात्मक ढाँचे में विशृंखलता के वही बीज विद्यमान हैं जो सीमा निर्धारण, नदियों के जल की वितरण-व्यवस्था आदि विषयों को लेकर राज्यों में विवादों के रूप में अंकुरित होना आरम्भ हो गये हैं। इन सब झगड़ों को अब एक ऊँचा दर्जा प्राप्त हो गया है और ये अधिकृत रूप में 'सीमा विवाद', 'नदियों के जल का विवाद' आदि नाम से पुकारे जाते हैं मानों ये विवाद दो सर्वप्रभुतासम्पन्न देशों के मध्य उपस्थित हों! महाराष्ट्र के एक नेता ने एक समय कहा था कि उसे अपने सीमान्त पर चीनी आक्रमण के बारे में सोचने का उस समय तक अवकाश अथवा इच्छा नहीं है, जब तक कि मैसूर-महाराष्ट्र सीमाविवाद उसकी सन्तुष्टि के अनुसार निर्णीत नहीं हो जाता।

वर्तमान गम्भीर खाद्य-संकट काल में भी, प्रान्तीयता के विषैले दाँतों ने, भुखमरी के शिकंजे में जकड़े हुए करोड़ों लोगों की भयानक विपत्ति उपस्थित देखकर पीछे हटने के बजाय, राजनीतिक क्षेत्र में विष की और अधिक मात्रा प्रविष्ट कर दी है। १९६३-६४ में मध्यप्रदेश तथा पंजाब में उन प्रदेशों की आवश्यकता से अधिक गेहूँ का संचय था। परन्तु वे राज्य सरकारें उसे अपने पड़ोसी राज्यों को देने को तैयार नहीं थीं। समाचार पत्रों ने लिखा था कि पंजाब में अतिरिक्त गेहूँ सड़ना आरम्भ हो गया है और उसे जानवरों के चारे के रूप में उपयोग करना पड़ रहा है। परन्तु पंजाब सरकार भुखमरी से प्रभावित पड़ोसी राज्य, उत्तर प्रदेश, को अनाज का एक भी दाना देने को तैयार नहीं थी। केन्द्र के द्वारा पंजाब सरकार पर दबाव डाले जाने के पश्चात् ही वह उत्तर प्रदेश को उसकी माँग का पांचवाँ हिस्सा ही देने को

तैयार हुआ। वह भी एक पीड़ित पड़ोसी की सहायता के रूप में नहीं, तो, शराब और चीनी के बदले में, जिनको कि पहले उत्तर प्रदेश ने बदले की भावना से पंजाब को देना अस्वीकार कर दिया था। गेहूं हमारे द्वार पर अमरीका से आ सकता है, जो हमारी सीमाओं से दस हजार मील दूर है, परन्तु वह अपने ही देश में एक अतिरिक्त अनाज वाले राज्य से पड़ोस के भुखमरी पीड़ित राज्य तक नहीं पहुँच सकता! कितनी लज्जा का विषय है!

हाल ही में चुनाव आयोग ने राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करने का एक नया आधार विकसित किया है। राष्ट्रीय आधार पर दलों को मान्यता देने की पद्धति को, राज्यस्तर पर मान्यता देने के पक्ष में बदल दिया गया है। इससे केवल यही संकेत मिलता है कि राजनीति के कर्णधारों की मानसिक प्रक्रिया राज्यीय इकाइयों के पृथकत्व की चेतना से प्रभावित है, सम्पूर्ण राष्ट्र की अविभाज्य एकता से नहीं। एक ओर वे 'राष्ट्रीय एकता' पर प्रस्ताव पारित करते हैं, और दूसरी ओर राष्ट्रीय विषयों पर वास्तविक व्यवहार में ऐसी नीतियाँ निर्धारित करते हैं जो राष्ट्रीय एकता के अधिष्ठान पर ही आघात करती हैं।

वायुमंडल में ये सब अशुभ लक्षण हैं। और सबसे बड़ा खतरा तो अभी आने को है। भाषावार राज्यों के विषैले सिद्धान्त ने 'आत्मनिर्णय का अधिकार' और 'पृथक् होने का अधिकार' माँगों को उत्तेजित किया है। यह हो सकता है कि हमारे वर्तमान संविधान में 'पृथक् होने के अधिकार' को अंगीकार नहीं किया गया है। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सत्ताधारी कांग्रेस दल उस सिद्धान्त को बहुत पहले मान चुका है। इसी के कारण तो वास्तव में अपनी मातृभूमि के विभाजन का बीज बोया गया था। यह भी सत्य है कि कांग्रेस ने आज तक उस प्रस्ताव को रद्द नहीं किया है। उसी कांग्रेस का नेतृत्व चलते रहने और प्रान्तीय तथा भाषायी विद्वेष एवं घृणा का वातावरण बढ़ते जाने के कारण, एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब संविधान में आवश्यक संशोधन कर पृथक् होने के अधिकार को भी अंगीकार कर लिया जाय। बेरूबारी के विषय में हम देख चुके हैं कि विदेशी राज्यों को अपनी मातृभूमि के हिस्सों को दे डालने का संसद् को, जिसका वास्तव में आशय है सत्ताधारी दल को, अधिकार देने के लिए संविधान में संशोधन किया गया।

इन संशोधनों के, जो कि संविधान की भावना पर ही आघात करते हैं, बार-बार होते रहने पर भी, जनता को संविधान की पवित्रता तथा देश की

एकता बनाये रखने के लिए शपथ लेने का आग्रह किया जाता है ! और वे कौन हैं जो शपथ दिलाते हैं ? वे हैं संविधान को नष्ट करने में निश्चयी और हमारे देश के 'विभाजन विशेषज्ञ' लोग ! कितनी बड़ी विडम्बना है ?

आज भी जब हमारे राष्ट्र के मर्म-स्थलों को ऐसे कीटाणु खाए जा रहे हैं, क्या यह मान लेना संकट से खाली होगा कि मूल रोग, जिसके परिणामस्वरूप पूर्वकाल में हमारी यह दुर्गति हुई तथा हमें कलंक पूर्ण दासता भुगतनी पड़ी, और जिसने आज पहले से भी अधिक भयंकर रूप ग्रहण कर लिया है, कालान्तर में हमारी वर्तमान स्वतन्त्रता को क्रमशः समाप्त नहीं कर देगा ?

मूलगामी उपचार

इन परिस्थितियों में समाज की सेवा का सर्वोत्तम प्रकार क्या है ? स्पष्टतः वह यही है कि राष्ट्रीय चेतना एवं एकत्व के अभाव के मूलभूत रोग को दूर किया जाय और एक सशक्त, सुसंगठित, आत्मचेतनापूर्ण तथा आत्मनिर्भर राष्ट्रजीवन का निर्माण किया जाय। हमारी स्वतन्त्रता उसी अवस्था में सुदृढ़ एवं सुरक्षित रह सकती है। जड़ों के प्रति दुर्लक्ष्य करते हुए, केवल फलों का आनंद लेते रहने की आशा करना व्यर्थ होगा। इसमें संदेह नहीं कि रोग से दूषित होने पर भी वृक्ष कुछ समय तक फल देता है; परन्तु वे फल अस्वास्थ्यकर, शुष्क तथा स्वादरहित होंगे। और ऐसा ही है विभिन्न प्रकार के रोगों को प्रगट करता हुआ स्वतन्त्रता का फल जो आज हमें प्राप्त है; कारण यह है कि राष्ट्रीय जड़ें हमारे समाज के मस्तिष्क एवं हृदय में गहराई तक प्रवेश नहीं कर सकी हैं। यदि हम जड़ों के प्रति दुर्लक्ष्य करते चले जायेंगे, तो कुछ समय के पश्चात् ये फल भी अदृश्य हो जायेंगे और वृक्ष का सूखा और नंगा तना मात्र ही खड़ा हुआ दिखाई देगा। यदि हम जड़ों की चिन्ता करेंगे, तो फल की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। फलों को बाहर से उधार लेकर उन्हें वृक्ष पर चिपकाने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए हमें अपनी राष्ट्रीय जड़ों को गहरा ले जाने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे कि हम संसार के सभी तूफानों में स्वतन्त्र एवं सीधे खड़े रह सकें।

यह किस प्रकार करना है ? क्या यह नये उद्योग स्थापित करने अथवा आर्थिक आयोजना द्वारा किया जा सकता है ? नहीं। एक रोगी के यदि आन्तरिक रोग का उपचार करना है तो उसे औषधि देने की आवश्यकता है, स्वादिष्ट भोजन तथा पेय जैसी वस्तुएँ नहीं। उस दुर्बल अवस्था में, वह उस कुत्ते को भी भगा नहीं सकेगा जो उसे परोसी गई समस्त सामग्री को

खा जा सकता है। हमारी राजनीति का भाग्य इससे भिन्न नहीं है। जब तक हमारे समाज का विघटन एवं आत्मविस्मरण का यह आन्तरिक रोग दूर नहीं हो जाता और राष्ट्रीय दृष्टि में सतर्क एवं संगठित नहीं बना दिया जाता, तब तक वह संसार में किसी भी प्रकार की समृद्धि का उपभोग करने के अयोग्य रहेगा। इस पूर्वापेक्षित के बिना केवल भौतिक उत्कर्ष प्राप्त कर लेने का कोई भी प्रयास समाज के प्रति सेवा के बजाय एक अभिशाप बन सकता है। इतिहास हमें यह बताता है कि हमारी असीम समृद्धि ने ही आक्रामकों के बर्बर समूहों को हमारे देश पर आक्रमण करने के लिए आकर्षित किया था। हमारे पास उसकी रक्षा करने के लिए संगठित शक्ति नहीं थी, जिसके फल-स्वरूप हम उन लुटेरों के हाथ अपने वैभव को खोकर अपने आपको घोर दरिद्रता एवं दुर्गति की वर्तमान स्थिति में पाते हैं।

इसलिए हमें अपने मातृ-समाज को एक बार पुनः संयुक्त, संगठित, जागरूक तथा राष्ट्रीय चेतना एवं ऐक्य की प्रचण्ड भावना से पुनरुत्थानशील कर मूल रोग का उन्मूलन करने का निश्चय करना है। इस हेतु हमें इस भूमि के प्रत्येक पुत्र के पास एक संगठित राष्ट्रत्व का संदेश लेकर पहुँचना चाहिए और उन्हें परस्पर प्रेम और अनुशासन के बंधनों से बाँधते हुए एक सामर्थ्यशाली संगठित अभिन्न रूप में निर्मित करना चाहिए। ऐसा एक सतर्क, संगठित तथा अजेय शक्तिशाली राष्ट्र-जीवन ही युद्ध द्वारा जर्जर संसार के वर्तमान संक्षोभ में अपना मस्तक सीधा करके खड़े रहने की आशा कर सकता है।

***

२४ शाश्वत अधिष्ठान

वृद्धि की आकांक्षा

राष्ट्रीय स्वयंसेवकसंघ का कार्य एक अत्यन्त छोटे स्वरूप में आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे, परन्तु दृढ़ता के साथ कालान्तर में इसने अपने कार्य का विस्तार किया और आज हम देखते हैं संघ की शाखाएँ देश के प्रत्येक प्रान्त में पूर्ण वेग के साथ कार्य कर रही हैं। बाह्य प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उपस्थित सतत उथल-पुथल और चुनौतियों के बीच निरन्तर वृद्धि और स्थिर विस्तार संघ की अचूक विशेषता रही है।

संघ प्रारम्भ होने के पन्द्रह वर्ष में उसके सामने तब प्रथम परीक्षा का काल उपस्थित हुआ जबकि उसके संस्थापक परमपूजनीय डा० हेडगेवार का अकस्मात् तथा अनपेक्षित देहावसान हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि डाक्टर साहब संगठन के जीवन-प्राण के सदृश थे। उन्होंने संघ के छोटे से पौधे को अपने खून-पसीने से सींचा था। उन्होंने अपने जीवन को एक जलते हुए दीपक के समान बना दिया था जो तेल की अन्तिम बूंद तक जलता रहा। ऐसा एक अपरिहार्य तथा अनुपम नेता अकस्मात् चला गया। संगठन अभी बाल्यावस्था में ही था। और संघ के अनेक शुभचिंतकों को इसके भविष्य के सम्बन्ध में गम्भीर शंकाएँ हो गई थीं। परन्तु यह सबके लिए आश्चर्य का विषय था कि संघ द्विगुणित गति तथा उत्साह से बढ़ता गया। इसकी स्थिर प्रगति अंग्रेजों के चले जाने के पश्चात् भी घटी नहीं। कुछ लोगों को यह एक आश्चर्यजनक घटना प्रतीत होती है। भ्रमित होकर वे पूछते हैं, "अब क्योंकि अंग्रेज चले गए हैं और हम स्वतन्त्र हो गए हैं, संघ के समान एक पृथक्

संगठन की क्या आवश्यकता है ? अब क्योंकि हम स्वतन्त्र हैं, इसका क्या प्रयोजन हो सकता है ?''

हमारा उत्तर है, केवल बाह्य परिस्थितियाँ, जैसे कि राजनीतिक स्वतन्त्रता, समाज की संगठित अवस्था की महत्ता को कम नहीं करतीं। वस्तुत: केवल एक सुगठित तथा शक्तिशाली समाज ही स्वतन्त्र, शान्तिमय तथा समृद्धिशाली जीवन के फलों का आनन्द ले सकता है। संगठित जीवन एक स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए अपने स्वातन्त्र्य की रक्षा के हेतु उतना ही प्रभावी हथियार है, जितना कि अपने बन्धनों से छुटकारा पाने के हेतु एक गुलाम राष्ट्र के लिए। केवल एक सचेत और संगठित राष्ट्र ही आन्तरिक ह्रास एवं विध्वंस को रोक सकता है, बाह्य आक्रमणों को परास्त कर सकता है तथा अपनी एकता एवं स्वातन्त्र्य को सुरक्षित रख सकता है।

एक स्थायी अधिष्ठान के लिए

यह भी सर्वविदित है कि समाज की एक स्थायी, सचेत, भावात्मक तथा संगठित अवस्था केवल दूसरों के विरोध पर आधारित नहीं रह सकती। इसका कारण अत्यन्त सरल है। वे आन्दोलन जो बाह्य परिस्थितियों की प्रतिक्रियास्वरूप प्रारम्भ होते हैं, उसी समय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, जब उनके विरोध का निमित्त समाप्त हो जाता है। एक अन्य महत्वपूर्ण दृष्टिकोण भी है। जब विरोध की भावना हमारे मस्तिष्क पर सवार रहती है, हमें विवश होकर सतत उन्हीं के बारे में सोचना पड़ता है जिनका हम विरोध करते हैं और विशेषतया हमें बार-बार उनके दुष्कार्य एवं दुर्गुणों के बारे में मनन करना पड़ता है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि एक व्यक्ति वैसा ही बन जाता है, जैसा कि वह विचार करता है। निरन्तर विचार-प्रक्रियाएँ ही व्यक्ति की मानसिक रचना का निर्णय करती हैं तथा इस प्रकार उसके व्यक्तित्व को ढालती हैं। इसलिए अंग्रेजों अथवा मुसलमानों के प्रति घृणा के आधार पर अपने समाज की पुनर्रचना का प्रयास करना विघटन एवं विनाश को निमन्त्रण देना होगा। क्योंकि इस प्रकार उनके क्रूर अपराधों का निरन्तर स्मरण हमारे मस्तिष्कों को दूषित कर देगा। गंभीर चिन्तन करने तथा अपने जीवन को तदनुरूप ढालने के लिये क्या हमारे पास भावात्मक, चैतन्यपूर्ण और उदात्त जीवनादर्श नहीं हैं ? जो हम अपने हृदयों में एक कुटिल आक्रामक को चिन्तन बिन्दु के रूप में स्थापित करें ?

यह सत्य है कि यदाकदा हमारे संघ-कार्यकर्त्ता भी अंग्रेजों तथा मुसलमानों

से सम्बन्धित घटनाओं का उल्लेख करते हैं। परन्तु वह केवल उस शिक्षा की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए ही जो हम इतिहास से प्राप्त करते हैं; यह स्पष्ट करने मात्र के लिए कि हम स्वयं ही अपने पतन के लिए उत्तरदायी हैं। सचमुच में इंग्लैंड जैसे छोटे से देश द्वारा अपने भारत जैसे विशाल देश पर ६००० मील दूर से राज्य करने की यह अनोखी घटना ही थी जिसने अपने संघ के आदरणीय संस्थापक को उनकी बाल्यावस्था के ८वें वर्ष में उन्हें आश्चर्य में डालकर विचार करने के लिये प्रेरित कर दिया। फिर गुलामी के मूल-कारण तथा उसके निराकरण हेतु सही और भावात्मक कार्य-प्रक्रिया के सम्बन्ध में दीर्घकालीन गंभीर और परिपक्व चिन्तन के बाद ही निष्कर्ष रूप उन्होंने संघ की स्थापना की।

प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण के परिणाम

किन्तु, कारण जो भी रहे हों, हमारे अधिकांश नेता अंग्रेज अथवा मुसलमान के विरोध की प्रतिक्रियात्मक भावना के शिकार हो गये, परिणाम यह निकला कि वे अंग्रेजियत और मुसलमानियत से प्रभावित हो गए। उदाहरण के लिए, अपने देश में मुसलमानों की बढ़ती हुई हिंसा, लूटपाट तथा राजनीतिक क्षेत्र में उनके तुष्टीकरण को रोकने के लिए कुछ अतिवादी हिन्दू संस्थाएँ स्थापित हुई। उन्होंने मुसलमानों द्वारा किये जाने वाले जबरन् धर्मान्तरण, खून खौलाने वाले कत्लेआम, माँ-बहिनों के सतीत्व-हरण, मंदिरों के तोड़ने आदि उन सब हृदयद्रावक भीषण अत्याचारों से पूर्ण घटनाओं का बार-बार बखान किया जो मुसलमानों के भारत में कदम रखने से लेकर आज तक जारी हैं।

इस तथ्य को स्पष्ट करने वाला एक प्रसंग है जो गोहत्या विरोधी आन्दोलन के दिनों में मेरे सामने आया। मैं एक अतीव प्रसिद्धिप्राप्त एवं विद्वान् हिन्दू नेता से मिला जो अपनी धधकती देशभक्ति के लिए सुपरिचित हैं। हमारी बातचीत के दौरान सहसा उन्होंने पूछा, "क्या हानि है, यदि एक हिन्दू गोमांस खाता है ?" मैं उन सज्जन से, जिनके प्रति मेरे हृदय में बहुत सम्मान है, ये शब्द सुनकर सन्न सा रह गया। ऐसे उद्‌गारों की अभिव्यक्ति का, जिसके विचार-मात्र से एक गया-बीता हिन्दू भी काँप उठेगा, क्या कारण हो सकता है ? कारण है कि मुसलमानों और उनके दुर्गुणों के सतत चिन्तन ने उनके मस्तिष्क पर वैसे ही विचारों की एक गहरी छाप छोड़ दी है और उनको सांस्कृतिक दृष्टि से एक मुसलमान बना दिया है यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से हिन्दू ही बने हुए हैं।

इस प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति से युक्त वातावरण के कारण ही लोग संघ को भी इसी दृष्टि से देखते हैं। एक बार हम एक जगह अपना कार्य प्रारम्भ करने गये हुये थे। नगर के सज्जनों ने हमसे प्रश्न किया, "हमारे नगर में संघ की क्या आवश्यकता है ? यहाँ तो मुसलमान हैं ही नहीं।" मैंने उत्तर दिया, "हम यहाँ हिन्दुओं का संगठन करने के लिये आये हैं, मुसलमानों का नहीं। मैं आशा करता हूँ कि आप सब हिन्दू हैं। इससे हमें क्या सरोकार कि यहाँ मुसलमान रहते हैं अथवा नहीं।"

जीवित समाज का लक्षण

इसी प्रतिक्रियात्मक भूमिका के कारण लोग कहते हैं कि अब परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया है और क्योंकि अंग्रेज इस देश को छोड़कर चले गये हैं, इसलिये इस प्रकार के संगठन की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत हम समस्या को भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। हम कहते हैं, हिन्दू यहाँ थे और यहाँ रहते चले आ रहे हैं। वे असंगठित थे और अब भी असंगठित हैं। हम वही विघटित, मूक हिन्दू समाज आज भी देख रहे हैं जो अपने आपको किसी प्रकार का विरोध व्यक्त किये बिना ही कुचलवाये ले रहा है। और जब वह बोलता है तो इतने स्वरों में बोलता है, जिससे कोई अर्थ प्रकट नहीं होता। इस प्रकार स्थिति में किंचित् भी परिवर्तन नहीं हुआ है। मानलीजिये एक व्यक्ति संक्रामक रोग के दिनों में विषम-ज्वर से पीड़ित है। क्या उस रोगी की चिकित्सा करने वाला डाक्टर उस स्थिति में रोगी के प्रति अपनी रुचि समाप्त कर देगा यदि नगर का स्वास्थ्य अधिकारी यह घोषणा कर दे कि अब यह संक्रामक रोग समाप्त हो गया है ? ठीक इसी प्रकार क्या हम नहीं देख पाते कि इस महान् एवं प्राचीन समाज को विघटन की पुरानी व्याधि अब भी पीड़ित किए जा रही है। तब हम रोग-मुक्ति के लिए उपयुक्त औषधि देने का कार्य भला कैसे बन्द कर सकते हैं ?

इसलिए अपने समाज को सुगठित, संगठित तथा शक्तिशाली बनाना आज भी हमारा उतना ही महत्वपूर्ण कर्त्तव्य है, जितना वह पहले कभी था। यह हमारा धर्म है कि हम अपने समाज को, जिसे कि हम अपनी पूज्य माता मानते हैं, शक्तिशाली, महान् तथा सुखी बनावें। अपने समाज के लिए यह सहज प्रेम एवं भक्तिभाव, अपने राष्ट्रीय अस्तित्व में यह भावात्मक श्रद्धा हमारे सभी कार्यों के लिए निरन्तर प्रेरणा प्रदान करती है। इस प्रकार का वास्तविक प्रेम बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करता। न ही वह उनके

कारण उत्पन्न होता है। इसकी जड़ें हमारे हृदय में होती हैं जो हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण में अपने राष्ट्र के प्रति कर्तव्य का स्मरण कराती रहती हैं। यह हमें सचेत करता रहता है कि हम इस महान् एवं पवित्र मातृभूमि से सम्बन्धित हैं, इसकी कृतज्ञता का हमारे ऊपर बड़ा ऋण है और हमारी प्रत्येक कृति उसके कार्य के हेतु समर्पित होनी चाहिए।

हिन्दुत्व, जो हमारा प्रधान अवलम्ब है, इस पवित्र एवं सर्वग्राही प्रेम का पोषण करता है तथा प्रतिक्रिया की भावना से सर्वथा मुक्त है। संघ के हम लोग, जो इस परम्परा में जन्मे तथा पले हैं, केवल अपना कर्तव्य करते हैं। हम प्रतिक्रिया नहीं करते। वास्तव में, नगण्य एवं भौतिक वस्तुओं की ही ऐसी प्रकृति होती है कि वे क्षणिक गर्मी या सर्दी के प्रति प्रबल प्रतिक्रिया प्रदर्शित करते हैं। परन्तु स्वस्थ जीवित प्राणी मौसम के परिवर्तन से प्रभावित नहीं होते। वे अपना ही एक स्थिर तापक्रम बनाए रखते हैं, जिसको कि मौसम के उग्र परिवर्तन भी बदल नहीं सकते। होता यह है कि जब कभी उनके शरीर प्राकृतिक तापक्रम को बनाए नहीं रख सकते, वे निर्जीव होकर गिर पड़ते हैं। इसीलिए हम अपने मनःचक्षु के सम्मुख संगठित समाज की कल्पना सदैव बनाए रखते हैं जो बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तनों के कारण अपने निर्धारित मार्ग से इधर-उधर नहीं होती।

स्वप्न साकार करना

क्योंकि संघ अपने राष्ट्रीय जीवन के प्रति इस अप्रतिक्रियात्मक, भावात्मक तथा स्थायी श्रद्धा पर दृढ़तापूर्वक स्थापित है, इसीलिए वह बाह्य वायुमंडल में होते रहने वाले परिवर्तनों से अप्रभावित रहकर शान्तिपूर्वक तथा स्थिर गति से उत्तरोत्तर शक्तिमान होता जा रहा है। अपने सामाजिक जीवन की एक नित्य, शक्तिमान् तथा वैभवशाली अवस्था की यह कल्पना ही एक स्वयंसेवक के लिए संघ-कार्य को स्वार्थ की लेश-मात्र भावना से भी रहित जीवन-कार्य के रूप में अपनाने के लिए प्रेरणा के शाश्वत स्रोत का कार्य करती है। वास्तव में स्वयंसेवक को संघ के दैनन्दिन कार्य में हर्ष तथा प्रेरणा का स्फुरण अनुभव होता है, जब वह अपने स्वप्नों की कल्पना को, स्वल्प रूप में ही क्यों न हो, वास्तविकता में चरितार्थ होते देखता है। उसे अपने जीवन-कार्य की पूर्ति के लिए और अधिक प्रयत्नशील होने की प्रेरणा मिलती है।

संघ-कार्य का यह अनोखा लक्षण है, जिसमें 'साधन' और 'साध्य' एकरूप हो जाते हैं। सुसंगठित समाज के निर्माण का हमारा 'साध्य' व्यक्तियों को

एकत्रित करने तथा संगठित जीवन के लिये उन्हें संस्कारित करने के प्रत्यक्ष कार्य अर्थात् 'साधन' द्वारा धीरे-धीरे दिन-प्रतिदिन साकार होता जा रहा है। भक्तों के सम्बन्ध में हमारे शास्त्रों ने जो उपदेश किये हैं यह बात ठीक उसके अनुकूल है। एक भक्त के लिए, भक्ति 'साधन' और 'साध्य' दोनों हैं—'स्वयंफलरूपता'। इसी प्रकार हमारे संगठन का कार्य जो समाज के प्रति आत्यंतिक भक्ति के कारण उत्पन्न होता है, स्वप्रेरित तथा स्व-आधारित है। अपने स्वीकृत ध्येयपथ पर हमारी पूर्ण एकाग्रता ने ही जो कि शाश्वत शक्तिशाली, आत्मनिर्भर राष्ट्र जीवन के मूलाधार रूप सिद्धान्तों के परिपूर्ण ज्ञान से उत्पन्न होती है, हमारे इस संगठन को सतत विकासशील और अजेय बनाया है।

एक विरोधी उदाहरण

अब हम इसके विपरीत एक उदाहरण लें जो इस दृष्टिकोण को अधिक अच्छी प्रकार से समझने में सहायक हो सकता है। यह एक ऐसे संगठन का उदाहरण है, जिसने अपने समक्ष एक अस्थायी उद्देश्य रखा था। इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने, जो कि आज देश में सबसे पुराना राजनीतिक दल है, अपने सामने अंग्रेजों को भारत से निकालने का उद्देश्य रखा था। अब क्योंकि अंग्रेज चले गए हैं, कांग्रेस का उद्देश्य पूरा हो गया है। यथार्थ में इसी कारण से महात्मा गांधी जी ने, जो इस संस्था के लगभग २५ वर्ष तक मुख्य आश्रय रहे तथा जिनको इसकी कार्य-पद्धति का पूर्ण ज्ञान था, अंग्रेजों के चले जाने के तुरन्त बाद ही कांग्रेस को भंग कर देने का परामर्श दिया था। परन्तु, जैसा कि हम जानते हैं, मनुष्य को नाम और रूप से लगाव हो जाता है। और इसीलिए उनके बहुत से अनुयायियों को कांग्रेस भंग कर देने का विचार रुचिकर नहीं लगा। कदाचित राजनीतिक सत्ता का स्वाद भी, अपने नेता की आन्तरिक इच्छा को भी झुठला कर, उसी नाम और रूप के साथ चिपके रहने का एक और कारण रहा होगा।

परिणाम यह है कि प्राप्ति के लिए कोई भावात्मक लक्ष्य सामने न होने के कारण, वह अत्यल्पकाल में ही उन सब आदर्शों से दूर तथा पतित हो गई है, जिनकी कि उसने अंग्रेजों के साथ संघर्ष के समय घोषणा की थी। सत्य, अहिंसा, चारित्र्य, देशभक्ति आदि सभी सिद्धान्त हवा में विलीन हो गए हैं। यद्यपि घोष वाक्य वही है, उनका सार पूर्णतया अदृश्य हो गया है।

ऊपर से सचाई का ढोंग करते हुए निरा झूठ बड़ी ठाट-बाट के साथ

स्वेच्छापूर्वक चल रहा है, उनकी ही स्वीकारोक्ति के अनुसार, सरकार को १९५४ से ही अपनी उत्तरी सीमाओं पर चीनी आक्रमण की जानकारी थी। परन्तु उन्होंने वास्तविकता को दबाया तथा उसको अस्वीकार किया और जिन्होंने इसकी चर्चा की, उनका उपहास किया। वे देश के सामने 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का आकर्षक चित्र खींचते रहे। क्या यह मिथ्याचार की पराकाष्ठा नहीं थी ?

जहाँ तक अहिंसा का संबंध है, निःसंदेह हमारे नेता समस्त संसार को शान्ति और अहिंसा का उपदेश देते हैं, परन्तु स्वदेश में जिनको वे अपना राजनीतिक विरोधी समझते हैं ऐसे देशवासियों पर अंग्रेजी शासनकाल से भी अधिक गिरफ्तारियाँ, लाठी चार्ज तथा गोली वर्षा करते हुए हिंसा कर रहे हैं। और जहाँ तक वाणी द्वारा हिंसा की बात है, उसकी तो कोई सीमा ही प्रतीत नहीं होती। पं० जवाहरलाल नेहरू ने एक समय देश के सभी राजनीतिक नेताओं से अपनी आलोचनाओं में संयत रहने के लिए सार्वजनिक प्रार्थना की थी और उन्होंने ही उन लोगों की, जो उनके राजनीतिक विचारों से भिन्नता रखते थे, गद्दार कहकर भर्त्सना की थी।

चरित्र की अवनति तो आजकल सामान्य बात बन गई है। भ्रष्टाचार तथा पक्षपात व्यापक हो गए हैं। विभिन्न विभागों में भ्रष्टाचार रोकने के लिए एक पृथक् विभाग खोला गया है। किन्तु यह अनुभव किया गया कि स्वयं उस भ्रष्टाचार विरोधी विभाग में भ्रष्टाचार रोकने के लिए एक अन्य विभाग की आवश्यकता है। इस प्रकार यह सब ऐसा ही चलता रहेगा। मेरे एक परिचित व्यक्ति जो कभी एक बड़े कांग्रेसी कार्यकर्त्ता थे, मुझसे मिलने आये। वे दुःख प्रकट करने लगे कि चोरबाजारी, तस्करी, भ्रष्टाचार आदि रोकने के लिए इतने अधिक विभाग बनाए रखने के लिए सरकारी धन का अत्यधिक अपव्यय हो रहा है। उन्होंने सुझाव दिया कि इन बुराइयों के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों का सुधार करने का कार्य संघ को ले लेना चाहिए। मैंने उनसे कहा, "मैं आपके सुझाव का स्वागत करता हूँ। परन्तु क्या आप इतना भी बतायेंगे कि मैं किससे आरम्भ करूँ !" जो कुछ मैंने कहा उसे वे भी समझ गए क्योंकि वे अच्छी प्रकार जानते थे कि उच्चतम व्यक्तियों की नसों में भी यह दोष प्रवेश कर गया है।

नया पागलपन

अब हम देशभक्ति एवं स्वार्थत्याग की उन उदात्त कल्पनाओं की वर्तमान

अवस्था पर दृष्टिपात करते हैं, जिन्होंने अंग्रेज-विरोधी आन्दोलन के दिनों में अपने नेताओं को प्रोत्साहित किया था, तो हमें ज्ञात होता है कि उनके अर्थ ही सर्वथा बदल गए हैं। मातृभूमि की अखण्डता अब उनके लिए, सजीव कल्पना नहीं रह गई है। श्रेष्ठ नेताओं ने भी देश को खण्डित करने के उद्देश्य से चलाए गए आन्दोलनों को आशीर्वाद एवं प्रोत्साहन देना प्रारम्भ कर दिया है। श्री सी. राजगोपालाचारी ने जिसको वे 'हिन्दी का थोपना' कहते हैं, कहा है कि इसकी तुलना में वे देश का विभाजन अधिक पसन्द करेंगे। त्याग के भाव के स्थान पर पुराने त्यागों का पारिश्रमिक बटोरने की भावना ने घर कर लिया है। सच्चा त्याग कहीं दिखाई नहीं पड़ता। सब ओर त्याग का दिखावा मात्र दृष्टिगोचर हो रहा है। यह तो एक पंडित की कहानी जैसी बात हो गई जो सत्यनारायण की कथा कहने के बाद पूजा में से एक हीरा चुराकर चलता बना किन्तु दिखावे के लिए धागे का एक टुकड़ा देने पूरा रास्ता वापस चलकर पुनः उस घर में आया और घर के लोगों पर अपनी ईमानदारी की छाप बैठा गया।

त्याग की वास्तविक भावना से रहित दिखावे की इस प्रवृत्ति ने हमारी सभी बड़ी योजनाओं को एक मजाक बना दिया है। नाम और ख्याति की इच्छा को सेवा समझा जा रहा है। एक मजेदार उदाहरण है। कुछ वर्ष पूर्व गंगा नदी में बाढ़ आई थी, जिससे काशी का कुछ भाग जलमग्न हो गया। एक मन्त्री ने, जो प्रसंगवश उस समय वहाँ थे, प्रभावित क्षेत्रों को देखने का विचार किया। वह बाढ़ के पानी के किनारे तक कार में गए। वहाँ वह रुक गए और अपने सचिव से पूछा कि फोटोग्राफर कहाँ है? परन्तु वह 'महत्वपूर्ण व्यवस्था' किसी प्रकार नहीं हो पायी थी। कार फोटोग्राफर को लाने के लिए वापस भेजी गई। जब वह आ गया और 'बाढ़-सहायताकार्य' के नाटक के लिए घुटनों तक पानी में खड़े हुए मंत्री जी के दो-एक छाया-चित्र खींच लिए गये, उसके बाद वे सब बाढ़-पीड़ितों के लिए अपना अधिकतम योगदान करने का संतोष अर्जित कर प्रसन्नतापूर्वक कार में लौट आए।

अस्थिर श्रद्धाएँ

वे व्यक्ति, जो किसी समय राष्ट्र-कार्य के लिए समर्पण की बातें कहा करते थे, अब स्वयं के बड़प्पन की छाया के पीछे दौड़े जा रहे हैं। आत्मसमर्पण का स्थान आत्म-अहंकार ने ले लिया है। उनके विचार, शब्द और कार्य सभी अहम्-केन्द्रित हो गए हैं। कुछ वर्ष पूर्व, जब पंडित नेहरू नागा-पर्वतीय

क्षेत्रों के प्रवास पर गए थे, कुछ लोग एक पृथक् स्वतन्त्र राज्य की माँग के लिए उन्हें सार्वजनिक सभा में एक स्मृतिपत्र देना चाहते थे। परन्तु स्थानीय अधिकारियों ने इसकी अनुमति नहीं दी। विरोधस्वरूप ३००० नागा एक साथ उठ खड़े हुए और जैसे ही पंडित नेहरू भाषण देने वाले थे, वे सभा छोड़कर चले गए। पंडित नेहरू ने इसे निजी अपमान समझा और कहना आरम्भ किया कि विदेशी ईसाई मिशनरी इस देश में दूषित राष्ट्र विरोधी षड्यन्त्र रच रहे हैं आदि। इसके पूर्व अब तक वे उनकी 'मानव-सेवा' की गतिविधियों की सब ओर प्रशंसा ही किया करते थे और जब कोई स्थानीय पादरी 'कार्डिनल' बन जाता था तो इसे अपने देश का एक बड़ा सम्मान हुआ ऐसी घोषणा तक किया करते थे।

सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए स्वार्थरहित निष्ठा का अति श्रेष्ठ तथा आग्रही भाव छोड़कर, इसके स्थान पर छोटे और निम्न-स्तर के उद्देश्यों ने अपने हृदय में घर कर लिया है। दल के साथ, भाषा के साथ, प्रदेश के साथ, सम्प्रदाय अथवा पंथ के साथ लगाव के बेमेल विरोधी स्वरों ने हमारे राष्ट्रीय जीवन को चिथड़े-चिथड़े कर दिया। और दुर्भाग्य का विषय यह है कि वे 'उच्चस्तरीय नेता' ही हैं जो अपने स्वार्थ-साधन के लिए इस प्रकार की सभी विश्रृंखलकारी युक्तियाँ अपनाने में अग्रगण्य रहते हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के निर्माण के लिये स्थापित विशेषज्ञ समिति ने यह कहकर कि जिस ढंग से योजना का स्वरूप निर्धारित किया गया है वह एक प्रकार से उनके सुविचारित मतों के विरुद्ध उन पर राजनीतिक दबाव डालकर उनसे कराया गया है, योजना के पीछे छिपे असली निहित उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है।

निरुद्देश्य गति

इस प्रकार हमारा समाज प्रगति की ऊँची बातों के नाम पर लक्ष्यहीन बहता जा रहा है। हम नहीं जानते कि हम कहाँ जा रहे हैं। क्या आज कोई ऐसी चीज है, जिसे हम अपने राष्ट्रीय जीवन के स्वत्व के रूप में इंगित कर सकते हैं? जीवन की हमारी पद्धति, शिक्षण की हमारी विधि, व्यवहार की हमारी रीति, वेश-भूषा का हमारा प्रकार, मकान, कस्बे तथा नगर-निर्माण के हमारे ढंग तथा हमारी राष्ट्रीय प्रकृति के ऐसे सभी तत्वों में इतना भयानक परिवर्तन आ गया है कि हम एक क्षण के लिए भी यह सोचने के हेतु नहीं रुकते कि क्या दूसरों का यह निम्न-स्तर का अनुकरण हमारे राष्ट्र के स्वाभिमान को चोट पहुँचा रहा है जो हमारे राष्ट्रीय अस्मिता के गवाँ बैठने तथा बौद्धिक दासता में बँधते चले जाने का सुनिश्चित लक्षण है।

उदाहरणस्वरूप, हमारे नेताओं ने हमारे राष्ट्र के लिए एक नया ध्वज निर्धारित किया है। उन्होंने ऐसा क्यों किया ? यह प्रवाहपतितता तथा परानुकरणता का एक स्पष्ट प्रमाण है। इस ध्वज का निर्माण कैसे हुआ ? फ्रांसीसी क्रान्ति के समय, फ्रांस ने अपने ध्वज पर 'समता', 'भ्रातृत्व' तथा 'स्वातन्त्र्य' इन त्रिरूप कल्पनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अपने झंडे पर तीन पट्टियाँ बनाई थीं। इसी प्रकार के सिद्धान्तों से प्रेरित अमेरिकी क्रान्ति ने भी कुछ परिवर्तनों के साथ इसको अपना लिया। इसलिए हमारे स्वातन्त्र्य सेनानियों के लिए इन तीन पट्टियों का विशेष आकर्षण था, अतः कांग्रेस ने इसे अपना लिया। फिर इसे विभिन्न जातियों की एकता का स्वरूप प्रकट करने का अर्थ प्रदान किया गया—भगवा रंग हिन्दुओं का प्रतीक है, हरा मुसलमानों का तथा सफेद अन्य सभी जातियों का। अहिन्दू जातियों में मुसलमानों को विशेष स्थान इसलिए दिया गया क्योंकि उन प्रख्यात नेताओं के मस्तिष्कों में मुसलमान ने विशेष स्थान बना लिया था और उसका नाम लिए बिना उनके विचार में हमारी राष्ट्रीयता पूर्ण नहीं होती थी। जब कुछ लोगों ने कहा कि इससे तो कुछ साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की गन्ध आती है, तो एक नया स्पष्टीकरण सामने लाया गया कि 'भगवा' त्याग का प्रतीक है, 'सफेद' पवित्रता का, और 'हरा' शान्ति का आदि। इन सब व्याख्याओं पर उन दिनों कांग्रेस कमेटियों में वाद-विवाद हुआ। कौन कह सकता है कि यह एक शुद्ध तथा स्वस्थ राष्ट्रीय दृष्टिकोण है ? यह तो केवल एक राजनीतिज्ञ की जोड़-जाड़ थी, केवल राजनीतिक कामचलाऊ तात्कालिक उपाय था। यह किसी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अथवा राष्ट्रीय इतिहास तथा परम्परा पर आधारित किसी सत्य से प्रेरित नहीं था। वही ध्वज आज कुछ छोटे से परिवर्तनों के साथ राज्य ध्वज के रूप में अपना लिया गया है। हमारा एक प्राचीन तथा महान् राष्ट्र है, जिसका एक गौरवशाली इतिहास है। तब, क्या हमारा अपना कोई ध्वज नहीं था ? क्या इन सहस्रों वर्षों में हमारा कोई राष्ट्रीय चिह्न नहीं था ? निःसंदेह, वह था। तब हमारे दिमागों में यह शून्यता, पूर्णरिक्तता क्यों ?

हमारा संविधान भी पश्चिमी देशों के विभिन्न संविधानों में से लिए गए विभिन्न अनुच्छेदों का एक भारी-भरकम तथा बेमेल अंशों का संग्रह मात्र है। उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसको कि हम अपना कह सकें। उसके निर्देशक सिद्धान्तों में क्या एक भी शब्द इस सन्दर्भ में दिया गया है कि हमारा राष्ट्रीय-जीवनोद्देश्य तथा हमारे जीवन का मूल स्वर क्या है ? नहीं ! राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र से अथवा पुराने लीग आफ नेशन्स के घोषणापत्र से कुछ अपूर्ण

सिद्धान्तों और कुछ अमेरिकन एवं ब्रिटिश संविधानों की विशेषताओं के कुछ अंशों को एक-साथ मिलाकर एक खिचड़ी मात्र बना दी गई है। थियोडू शे ने 'The Legacy of Lokamanya' (लोकमान्य की देन) नामक पुस्तक में लिखा है--"आश्चर्य है कि स्वराज्य, धर्मराज्य तथा जीवन के लक्ष्य के साथ राज्य के लक्ष्य के संयोग जैसी कल्पनाएं संविधान की भूमिका में देखने को नहीं मिलतीं। दूसरे शब्दों में भारतीय संविधान में भारतीय आदेशों अथवा राजनीतिक दर्शन की कोई झलक नहीं है।"

हम यह भी देखते हैं कि प्रत्येक चुनाव के पूर्व अथवा प्रत्येक वर्ष ही अनेकों नारों की रचना की जाती है जो ऐसी विदेशी कल्पनाओं में से चुने जाते हैं जो बहुत पहले ही असत्य सिद्ध हो चुके हैं। वे कहते हैं, अब हम 'समाजवाद के सिद्धान्त' के लिए संघर्ष कर रहे हैं। आजकल कांग्रेसी नेता की हाँ में हाँ मिलाने तथा यूरोपीय विचारों की गुलामी की इतनी अधिक भावना है कि एक अदना-सा कांग्रेसी कार्यकर्त्ता भी 'समाजवाद', 'समाज का समाजवादी ढाँचा', 'लोकतान्त्रिक समाजवाद' और इसी प्रकार के शब्दों को इस हद तक दोहराता है और दावा करता है मानों १८८५ से ही कांग्रेस की यही सुनिर्धारित नीति चलती आ रही हो।

कभी हम अमेरिका की ओर बह जाते हैं और कभी रूस की ओर। यह सब हमें नैतिक तथा बौद्धिक विनाश के अतिरिक्त और कहाँ ले जायगा? हम क्यों बहते चले जा रहे हैं? क्योंकि हम अपने पैरों पर नहीं खड़े हैं। जिन्होंने अपने आधारस्तम्भ को ही खो दिया है, उनको बहना ही पड़ेगा। एक वृक्ष, जो जड़ से उखड़ गया है तथा बाढ़ के प्रवाह में आ गया है, जल की प्रत्येक धारा के द्वारा इधर से उधर फेंक दिया जाता है। हमारा सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन अपना जड़मूल ही खो बैठा है और इसलिये बहने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है। बहने का अर्थ होता है, ऊँचे स्तर से निचले स्तर की ओर जाना, अन्ततः अथाह सागर में डूब जाना। इस दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था में ही हम आजकल अपने आपको खड़ा पाते हैं।

इतिहास की शिक्षा

इस पतन को रोकने का केवल एक उपाय है। और वह है स्वयं में इस चेतना का पुनर्जागरण कि हमारा अपना भावात्मक आधार है। और हमारी अपनी जड़ें हैं जो हमारे राष्ट्रीय आदर्शों एवं आकांक्षाओं की तथा इतिहास एवं परम्परा की धरती में गहरी पैठी हुई हैं। संघ के सदृश संगठन का

भावात्मक एवं जीवमान निर्माण ही जो अपने समस्त समाज को प्रेममय एवं शाश्वत भ्रातृत्व में समेटने और उनको अपने राष्ट्रीय भवितव्य के प्रति अत्यन्त सचेत करने में समर्थ हो, लक्ष्यहीनता से उत्पन्न स्वार्थपरता, मतभेद तथा भद्दे अनुकरण की वर्तमान दुर्गन्ध को सफलतापूर्वक रोक सकता है।

अतः हम प्रामाणिकता के साथ कह सकते हैं कि संघ की आवश्यकता, जिस समय यह प्रारम्भ किया गया था उस समय से कहीं अधिक आज अनुभव की जा सकती है। वर्तमान अवस्था में किसी प्रकार की सन्तोष-भावना उचित नहीं है। देश के अन्दर तथा बाहर की परिस्थितियाँ विस्फोटक हैं। हम सुना करते हैं कि सतत जागरूकता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है। कम से कम अब हमें अपने इतिहास से शिक्षा लेनी चाहिए। पृथ्वीराज, जो कि पहले कई बार मोहम्मद गोरी के काफिलों को खदेड़ सका था, उस समय परास्त हो गया जब वह देहली के द्वारों पर शत्रु के पहुँच जाने पर भी अपनी नवविवाहिता पत्नी संयोगिता के साथ आमोद-प्रमोद में डूबा रहा।

खतरे का संकेत

क्या हम प्रामाणिकता के साथ कह सकते हैं कि हमारा राष्ट्र इतना प्रबल इच्छा-शक्तिसम्पन्न तथा सुसंगठित हो गया है कि हम अपने स्वतन्त्र एवं समृद्धिशाली अस्तित्व के प्रति आने वाली आपत्तियों का विश्वास के साथ सामना कर सकते हैं? उदाहरणस्वरूप क्या हम अपने युवकों के नेत्रों में पौरुष एवं आदर्शवाद की चमक देख सकते हैं? इसके विपरीत, क्या हम अपने युवकों को विदेशी फैशनों की भद्दी नकल करते हुए तथा इन्द्रिय विषयोपभोग में लिप्त नहीं देखते? एक बार मुझे कांग्रेस के द्वारा संचालित शारीरिक शिक्षण का शिविर देखने का अवसर मिला। लड़के तथा लड़कियाँ दोनों ही कार्यक्रमों में भाग ले रहे थे। मैंने शिविर के आयोजक से पूछा कि क्या यह अच्छा नहीं होता कि यहाँ लड़कियाँ नहीं बुलाई जातीं। उसने निष्कपट भाव से स्वीकार किया कि उस अवस्था में बहुत कम युवक वहाँ आये होते। लखनऊ में एक युवक सम्मेलन आयोजित किया गया था। वहाँ अपने मित्रों से उस सम्मेलन का आँखों देखा विवरण सुनने पर मैंने अनुभव किया कि उस सम्मेलन का कोई शैक्षणिक महत्व नहीं था बल्कि वह भयानक अनैतिकता फैलाने का एक अपवित्र केन्द्र मात्र था।

कोई भी राष्ट्र अपने युवकों के इन्द्रिय-विषयों तथा क्लीवता में लिप्त हो जाने पर जीवित रहने की आशा नहीं कर सकता। यह क्षय तथा विनाश का

निश्चित लक्षण है, भले ही कुछ काल विशेष के लिए राष्ट्र कितना भी समृद्धिशाली तथा शक्तिशाली हो जाये। एक बार एक अमेरिकी संवाददाता यह जानने के लिए मुझसे मिलने आया कि अमेरिका तथा रूस की वर्तमान खींचातानी में अपने संघ की सहानुभूति किस ओर है। परन्तु हम तो अपने ही पैरों पर दृढ़ खड़े रहते हैं और अपने आपको किसी भी ओर खिचने नहीं देते। उसने मुझसे पूछा, "आपकी आजकल के अमेरिका के बारे में क्या राय है?" मैंने उत्तर दिया, "अमेरिका बड़ी तेजी के साथ आत्मविनाश के मार्ग पर जा रहा है। जरा आप अपने ही वस्त्रों को देखें। एक ढीलाढाला फैशनेबुल वेश जो आप पहने हुए हैं और आपकी जेब में जो कंघा है, वह आजकल के सामान्य अमेरिकी की स्त्रैण प्रकृति का परिचायक है। प्रथम विश्वयुद्ध में 'मित्र सेनाओं' का सर्वोच्च सेनाधिकारी, एक फ्रांसीसी, मार्शल फोश था। उस समय उस राष्ट्र की इतनी पराक्रमयुक्त स्थिति थी कि उन्होंने विकट निश्चय के साथ जर्मनी से मोर्चा लिया और अन्ततः युद्ध में विजय प्राप्त की। उन्होंने जर्मनी का एक बड़ा हिस्सा भी अपने अधिकार में ले लिया। परन्तु विजय के पश्चात् फ्रांसीसी लोग इन्द्रियलोलुपता तथा सुखोपभोग के शिकार हो गए। वे मद्यपान, नाच-गाने में लिप्त हो गए, जिसके फलस्वरूप अपने विशाल सैनिक संगठन तथा अपनी भीषण 'मेजीनो रेखा' के होते हुए भी, द्वितीय विश्व-युद्ध में जर्मन आक्रमण के १५ दिन के अन्दर ही फ्रांस का पतन हो गया। फ्रांस के आकस्मिक तथा पूर्ण पतन का कारण था वह स्त्रैण-जीवन ही, जिसने फ्रांस के पराक्रमयुक्त पुरुषत्व की शक्ति को उखाड़ फेंका था। युद्ध के पश्चात् वृद्ध फ्रांसीसी जनरल मार्शल पेतां ने कहा कि 'फ्रांस की पराजय युद्ध-क्षेत्र में नहीं, बल्कि पेरिस के नृत्य-गृहों में हुई।' मैं प्रामाणिकतापूर्वक आशा करता हूँ कि अमेरिका समय रहते जाग उठेगा और अपने तरुण पुरुषत्व के इस आन्तरिक क्षय को रोकेगा।"

हमारे देश में भी परिस्थिति भिन्न नहीं है। तरुण पुरुषों का आधुनिक फैशन बना है—अधिकाधिक स्त्रैण रूप में दिखाई पड़ना। वेश में, स्वभाव में, साहित्य में और अपने दैनन्दिन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'आधुनिकता' का अर्थ हो गया है 'स्त्रैणता'। 'यौन' हमारे सभी 'आधुनिक' साहित्य का एक सर्वप्रभावी विषय-विशेष हो गया है। संसार भर के देशों के इतिहास ने बार-बार यह प्रकट कर दिया है कि यौन-प्रभावित साहित्य ने ही राष्ट्रों तथा सभ्यताओं के विनाश की निश्चित भूमिका तैयार की है।

यह है संक्षेप में 'स्वातन्त्र्य' काल में हमारे राष्ट्रीय जीवन का आन्तरिक

चित्र । यह खतरे का संकेत है, जिसके प्रति हम दुर्लक्ष्य नहीं कर सकते । इन परिस्थितियों में केवल संघ ही एक ऐसा संगठन है, जिसने अपने समाज को एक ऐसे शुद्ध, पवित्र, कल्याणकारी तथा संगठित जीवन में सूत्रबद्ध करने का निश्चय किया हुआ है, जो त्याग एवं पराक्रम की भावना से युक्त हो और जो हमारे प्राचीन तथा गौरवशाली राष्ट्रत्व की भावात्मक तथा स्थायी नींव पर आधारित हो । अपने राष्ट्र की रक्षा तथा पुनर्निर्माण के लिए ऐसे ही संगठन का आसरा लिया जा सकता है और यही है आह्वान अभी तक अपूर्ण इस कार्योद्देश्य का जो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के निरन्तर विकसित होते हुए तथा निरन्तर बढ़ते हुए कार्य के पीछे की प्रेरक शक्ति है ।

***

२५

राष्ट्रजीवन का अमृतकुंभ

१. वास्तविकता का संसार

महान् तथ्य

इस महान् एवं प्राचीन राष्ट्र के पुत्र हम स्वाभाविक रूप से यह कामना रखते हैं कि हमारा राष्ट्र विश्व में समृद्धि, वैभव तथा प्रतिष्ठा के नवीन शिखरों को प्राप्त करे। यह एक बिल्कुल ही उचित कामना है, इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। तथापि इस कठिन जगत् में जीवन सदैव सुगमता से अथवा निर्विघ्न तो चलता नहीं। न्यायोचित तथा उचित इच्छाओं की पूर्ति के लिये भी बाह्य जगत् की ओर से आने वाली बाधाओं तथा विरोधों का सामना करना पड़ता है। यदि हमें अपने राष्ट्रीय वैभव के स्वप्न को साकार करना है तो इस आह्वान के स्वरूप का मूल्यांकन एवं विश्लेषण करना पड़ेगा तथा इसके सफल निराकरण की तैयारी करनी होगी।

जगत्, जिस अवस्था में आज है, मनुष्यों के समूहों में, जिनको हम राष्ट्र कहते हैं, बँटा हुआ है। ये राष्ट्र अधिकाधिक सामर्थ्य एवं समृद्धि तथा पृथ्वी के अधिकांश प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए परस्पर स्पर्द्धा में लगे हुए हैं। यह मानव इतिहास का आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक एक निश्चित लक्षण रहा है। इन सहस्रों वर्षों के काल में घोषणाएँ बदलती रही हैं, परन्तु यह आधारभूत तथ्य वैसा ही बना है। मुखौटा भले ही बदला हो, परन्तु भावना नहीं।

पूर्व काल में साम्राज्य-भावना अपने निर्लज्ज एवं नग्न रूप में अन्यों पर अपना राजनीतिक जाल फैलाने की चेष्टा करती रही। आज आधिपत्य की भावना ने अन्य अनेक चोले धारण कर लिये हैं जो पूर्वापेक्षा अधिक प्रलोभन-

कारी तथा खतरनाक हैं। वे देखने में कभी आर्थिक तथा कभी सिद्धान्तवादी होते हैं। परन्तु संसार पर प्रभुत्व स्थापित करने की भावना सदैव के समान ही प्रबल बनी हुई है। जब एक राष्ट्र दूसरे पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है, तो संघर्ष अपरिहार्य है। इसलिए इस विस्तृत जगत् में हम कभी वास्तविक शान्ति नहीं देखते। वास्तविकता यह है कि इस संसार में एक के बाद दूसरे युद्ध की अवस्था बनी रहती है तथा शान्ति दो युद्धों का मध्य-काल मात्र होती है। संघर्ष इस मानवजाति की, जैसी कि आज यह गठित है, प्रकृति में ही विद्यमान है।

श्रीकृष्ण जैसे एक महान् पुरुष, जिन्होंने पाण्डवों तथा कौरवों में परस्पर विनाशकारी युद्ध को टालने के लिए न्यायोचित एवं शान्तिपूर्ण समझौता कराने का कोई प्रयास शेष नहीं छोड़ा, अपने उद्देश्य में विफल हो गये। युद्ध अपरिहार्य हो गया और श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

(मैं ही विनाशक शक्ति हूँ जो इन लोगों का संहार करने आई है। तेरे बिना भी ये सब योद्धा जो विरोधी पंक्तियों में खड़े हैं, मृत्यु को प्राप्त होंगे।)

इसका यही आशय है कि मृत्यु एवं विनाश जगत् की प्रकृति में ही समाविष्ट हैं। मानव जीवन का यह महान् तथ्य है, जिसे आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता।

संघर्ष चल रहे हैं। कभी-कभी यथार्थ में शस्त्र टकरा जाते हैं, रक्तपात होता है। फिर किसी अन्य समय 'शीत-युद्ध' होता है, एक देश के कूटनीतिक व्यक्ति दूसरों को कूटनीति द्वारा नीचा दिखाने की चेष्टा करते हैं। युद्धनीति जो भी हो, राष्ट्रों के बीच संबंधों का आधारभूत नियम है, जंगल का कानून-याने शक्तिमान दुर्बल का भक्षण करते हुए और अधिक शक्तिशाली होता जाता है। यह मत्स्य न्याय का एक नियम है—'जीवो जीवस्य जीवनम्', बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है तथा बड़ा छोटे को मिटाकर और बड़ा होता जाता है।

वास्तविकता का संसार

योरोप के इतिहास पर तनिक दृष्टिपात करें। जब योरोप के देश औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप शक्तिशाली हो गए, तो उनमें से प्रत्येक ने अन्य देशों को हड़पने के लिए अपने आक्रामक हाथ फैलाये। जब स्पेन शक्तिशाली हुआ

तो उसने अमेरिका पर आक्रमण किया। अपने सामर्थ्य के काल में पुर्तगाल ने विनाश का जाल हमारे देश में गोआ तक फैलाया। जब कभी फ्रांस शक्तिशाली हुआ, उसने योरोप के छोटे देशों को अपने पैरों तले दबाया। इंग्लैण्ड का इतिहास सबको भलीभांति परिचित है, जिसने अपने साम्राज्य को पृथ्वी के दूर-दूर के कोनों तक फैलाया। जर्मनी की कहानी भी भिन्न नहीं है। इसने अपनी आक्रामक भावना की तृप्ति के लिए संसार को दो बार विश्वयुद्ध में झोंका। इटली ने, जब अपने को पर्याप्त शक्तिशाली अनुभव किया, ऐबीसीनिया को कब्जे में कर लिया। अब रूस ने द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् एक शक्ति के रूप में उभर कर फिनलैंड, पोलैंड, चैकोस्लोवाकिया, बाल्कन राज्यों और आधे जर्मनी को भी हड़प लिया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की ठीक नाक के नीचे उसने हंगरी के सहस्रों स्वतन्त्रता सेनानियों का संहार किया और उसे अपनी लौह-एड़ियों के नीचे कुचल दिया। अब रूस अपने अगले शिकार की तलाश में संसार के चारों ओर ताक लगाये बैठा है। चीन, अपने शक्ति-विकास के सद्यः प्रारम्भिक काल में ही कोरिया तथा इंडोचीन में अपने पञ्जे नग्न कर चुका है। वह तिब्बत पर जमकर बैठा है, लद्दाख तथा नेफा के हिस्सों को हड़प कर चुका है और अब हिमालय के राज्यों में और अधिक घुसने के लिए सन्नद्ध है।

हर बार जब युद्ध छिड़ता है, युद्ध के अधिनायक कहते हैं कि यह युद्ध भविष्य में सभी युद्धों को समाप्त करने के लिए है! प्रथम विश्वयुद्ध की भयानकता को देखकर संसार भर के मनुष्यों ने शान्ति तथा समस्त युद्धों की समाप्ति के लिए प्रार्थना की थी। परन्तु दो दशाब्दियों के अन्दर ही संसार एक और अधिक भयंकर विध्वंस और हत्याकांड के रक्तपात से स्नात हो गया। और पुनः, द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात्, मानवमात्र ने शान्ति के लिए आशा एवं प्रार्थना की। परन्तु अब यथार्थ परिस्थितियाँ क्या हैं? हर जगह झगड़े चल रहे हैं जो कभी-कभी गोलाबारी के युद्ध का रूप ग्रहण कर लेते हैं। सम्पूर्ण अफ्रीका ज्वालामुखी के उबलते हुए अन्तराल के समान है, जिसका हर थोड़े दिनों में विस्फोट होता रहता है। रूस की, क्यूबा को अपने मिसाइलों का अड्डा बनाने की, छद्म योजना ने संसार को विश्वसंघर्ष के कगार पर खड़ा कर दिया था।

घोषणाएँ बदलती हैं, वास्तविकता वही बनी रहती है

तथापि ये संघर्ष एवं रक्तपात विभिन्न परिधानों के आवरणों में किये

जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, आज अधिकांश खतरनाक तथा आक्रमण की षड्यंत्री योजनाएँ साम्यवाद की आड़ में ही बनाई जाती हैं। यह स्मरण रखना होगा कि साम्यवाद का जन्म प्रत्येक प्रकार के आधिपत्य के विरुद्ध क्रान्ति की घोषणा के साथ हुआ था। रूस और चीन में साम्यवादी अपने ही राजाओं तथा जागीरदारों के विरुद्ध विद्रोह के रूप में खड़े हुए थे। उन्होंने उनको समाप्त कर दिया और सत्ता ग्रहण कर ली। परन्तु अल्पकाल में ही उन्होंने साम्राज्यवाद का वही मार्ग अपना लिया, यद्यपि 'संसार के मानवों को साम्राज्यवाद तथा पूंजीपतियों के पंजे से मुक्त करने की' नवीन घोषणा की आड़ लेकर। यहाँ तक कि वे अपनी आक्रमणकारी सेनाओं को 'मुक्ति सेना' के नाम से सम्बोधित करते हैं।

रूस द्वारा 'मुक्त किए गए' चीन तथा हंगरी, पोलैण्ड आदि पूर्वी यूरोपीय देशों की कहानी क्या है ? बाद में जो चीन गए हैं तथा जो यथार्थता को प्रकट करने का मानसिक सन्तुलन एवं साहस रखते हैं, उन्होंने असंदिग्ध शब्दों में कहा है कि वहाँ का सामान्य नागरिक अपने को चारों ओर से भयभीत अनुभव करता प्रतीत होता था और वह अपने व्यवहार में स्वतन्त्र नहीं दिखाई देता था। यह सब इस कारण था कि रूसी अधिकारी और उनके तत्रस्थ स्थानीय एजेण्ट प्रत्येक विभाग के गुप्त स्थानों पर बैठे वहाँ के राष्ट्रीय जीवन के थलसेना, जलसेना, वायुसेना, कृषि आदि प्रत्येक क्षेत्र का नियन्त्रण कर रहे थे। वे लोगों के सामने नहीं आते किन्तु अपना सम्पूर्ण वर्चस्व मजबूती से बनाए रखते हैं।

चीन में निःसंदेह ऐसे कुछ लोग थे जो 'नये चीन', 'बड़ी छलाँग' और 'हमारा बड़ा भाई रूस' आदि की प्रशंसा का गान करते रहते थे। अपने भी देश में, जब अंग्रेज शासन करते थे, ऐसे कुछ लोग थे जो दुनिया भर में यह कहते फिरते थे कि अंग्रेजी शासन ईश्वर-प्रदत्त है, एक वरदान है, मानों कि अंग्रेज ईश्वर प्रेरित पैगम्बर थे जो हमारे उद्धार के लिए भेजे गए थे। हमें ऐसे गुलाम सदैव ही दिखाई देंगे जो अपने स्वामियों की प्रशंसा कर उन्हें आसमान पर बैठा देते हैं। यदि स्वामी कोड़े लगाएगा तो वे स्वामी की शक्ति की प्रशंसा करेंगे और कहेंगे, "उसके पास कितना अच्छा कोड़ा है और वह उसके उपयोग में कितना कुशल है।" अब चीन 'मुक्ति' की वही कहानी तिब्बत में दोहरा रहा है।

अमेरिका भी ब्रिटेन के साम्राज्यवादी अत्याचारों के विरोध में खड़ा हुआ था। उसने उसका आधिपत्य समाप्त किया और अपना स्वातन्त्र्य स्थापित

किया। वही अमेरिका, सम्भव है साम्यवाद के बढ़ते हुए संकट की रोक-थाम की दृष्टि से हो, अब अनेकों देशों को आर्थिक सहायता और कभी-कभी सैनिक सहायता भी देकर, अपने प्रभाव के अन्तर्गत ला रहा है। किन्तु जैसा हम जानते हैं, 'अर्थस्य पुरुषो दासः', जहाँ कहीं आर्थिक सहायता आती है, वहाँ किसी न किसी प्रकार की मानसिक दासता भी निर्माण हो जाती है। इस प्रकार अमेरिकी सहायता प्राप्त करने वाले सभी गरीब देशों में हम अमेरिकी संस्कृति की छाप देख सकते हैं जो जीवन के प्रत्येक पक्ष में उनके राष्ट्रीय आदर्शों, परम्पराओं तथा मौलिकता को क्षीण करती जा रही है।

पारस्परिक मित्रता की मृगतृष्णा

तब संघर्षों से भरे इस संसार में अपनी राष्ट्रीय अखंडता तथा गौरव को बनाए रखने का उपाय क्या है? क्या हम अन्य देशों की मित्रता तथा सन्धियों पर निर्भर रह सकते हैं? इस सम्बन्ध में भी विश्व-इतिहास की शिक्षा हमें आशा प्रदान नहीं करती। किन्हीं दो राष्ट्रों के बीच मित्रता अथवा शत्रुता कभी स्थायी नहीं रहती। राष्ट्र अपने स्वार्थों की अनुकूलता के अनुसार अपने मित्रों तथा शत्रुओं को बदलते रहते हैं।

पिछली कुछ शताब्दियों में यूरोप के राष्ट्रों में हुए आपसी सम्बन्धों में परिवर्तन तथा सन्धियाँ एक रोचक इतिहास है। इंग्लैण्ड तथा फ्रांस शताब्दियों तक कट्टर शत्रु बने रहे। जब नैपोलियन के शासनकाल में फ्रांस इंग्लैण्ड के लिए एक चुनौतीस्वरूप खड़ा हो गया, तब इंग्लैण्ड ने जर्मनी के साथ मित्रता के सम्बन्ध निर्माण कर लिए और फ्रांस को कुचल डाला। बाद में जब जर्मनी अधिक शक्तिशाली हो गया, तब इंग्लैण्ड तथा फ्रांस दोनों ही विश्व युद्धों में एक साथ हो गए और जर्मनी को कुचल डाला। दूसरे विश्व युद्ध के प्रारम्भ में रूस तटस्थ बना रहा, किन्तु बाद में लूट में हाथ बँटाने के लिए जर्मनी के साथ मिल गया। परन्तु और बाद में इंग्लैण्ड ने रूस को जर्मनी के विमुख करने की कूटनीति खेली और अमेरिका इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के गुट में रूस जा मिला। अमेरिका भी अपने स्वातन्त्र्य-संघर्ष काल में इंग्लैण्ड का विरोधी, किन्तु फ्रांस का मित्र था। कुछ वर्षों के पश्चात् चित्र बदला और इंग्लैण्ड पुनः उसका मित्र हो गया। इस पृथ्वी पर राष्ट्रों के बीच 'पारस्परिक मित्रता' का इस प्रकार का इतिहास रहा है। और जब तक कि राष्ट्रों के मस्तिष्कों में स्व-वृद्धि तथा प्रभुत्व की भावना प्रधान रहती है, हम इससे भिन्न किसी प्रकार की आशा नहीं कर सकते। अतः अन्य राष्ट्रों के साथ मित्रता के रूप में स्थायी सुरक्षा की खोज एक प्रवंचना मात्र ही होगी।

दानव एवं बौने की मैत्री

आज संसार दो शक्तिगुटों में बँटा हुआ दिखाई देता है। उनके सामर्थ्य एवं वैभव और उनकी तुलना में अपनी दुर्बलता को देखते हुए, कुछ लोग एक या अन्य गुट में मिल जाने का परामर्श देते हैं, जिससे कि उसकी शरणदायी छत्रच्छाया के नीचे मुक्त रूप से श्वास ली जा सके। परन्तु स्वयं दुर्बल बने रहना और शक्तिमान का एक साथी बन जाना भी खतरे से खाली नहीं है।

एक समय एक दानव तथा एक बौना मित्र बन गए। वे एक जंगल में किसी साहसिक कार्य के लिए चले। वहाँ उन्होंने डाकुओं के एक गिरोह को लूट की एक बहुत बड़ी धनराशि आपस में बाँटते हुए देखा। दानव ने डाकुओं को मार भगाया, समस्त धनराशि ली और वापस आ गया। दुर्भाग्य से संघर्ष की मारकाट में बौने का एक हाथ कट गया। कुछ दिनों के पश्चात् वे पुनः एक अन्य साहस के लिये निकले। इस बार उनको एक किले पर हमला करना पड़ा जिसमें किसी अत्याचारी राजा द्वारा बन्दी बनाये हुए तथा पीड़ित लोग थे। दानव ने आततायी को मार डाला और उसके पश्चात् लोगों ने कृतज्ञता की भावना से उसे अपना राजा मान लिया। इस बार बौने की एक टाँग कट गई। दानव को एक विशाल किला तथा अनेक कर्तव्यपरायण प्रजाजन मिले।

बौने ने अपने दुर्भाग्य को कोसते हुए तथा दानव के सौभाग्य से ईर्ष्या करते हुए सोचा कि अपने लिए भी लाभ प्राप्ति के हेतु कुछ करना चाहिए। अतः वह एक बार फिर अपनी बैसाखी के सहारे दानव के साथ फिर से निकल पड़ा। अवसर की बात थी कि उन्हें दुराचारियों द्वारा घोड़े की पीठ पर एक राजकुमारी लादकर ले जाती हुई दिखाई पड़ी। दानव ने उसे बचा लिया और उसे उसके पिता के पास ले गया। कृतज्ञता के वशीभूत राजा ने राजकुमारी का विवाह दानव के साथ कर दिया और उसे अपना राज्य भी दे दिया। इस 'दयालुता' अभियान में बौने की एक आँख भी जाती रही। निष्कर्ष था कि दानव को दो राज्य, पत्नी के रूप में एक राजकुमारी तथा विशाल धनराशि मिली, और उसके मित्र, बौने को एक हाथ, एक टाँग तथा एक आँख गँवाना पड़ी।

इससे प्राप्त बोध अत्यन्त स्पष्ट है। शक्तिमान तथा दुर्बल के बीच मित्रता का एक ही परिणाम होगा कि शक्तिमान दुर्बल को हानि सहन करने के लिए छोड़कर लाभ का स्वयं उपभोग करेगा। अन्ताराष्ट्रीय क्षेत्र में भी हम ऐसा ही देखते हैं। शक्तिशाली राष्ट्र अन्यों की भूमि पर युद्ध चलाते रहने की दृष्टि

से अपनी सामरिक सीमाएँ अपनी स्वयं की राष्ट्रीय सीमाओं से दूर बनाते हैं और इस प्रकार अपने देश की भूमि को युद्ध के विनाशकारी परिणामों से बचाते हैं। हम रूसी सेनाओं को दूर के देशों में फैला हुआ देखते हैं। अमेरिकी सेनाएँ भी कोरिया, वीतनाम में लड़ती हुई हमने देखी हैं। इस प्रकार छोटे राष्ट्र बड़ी शक्तियों की सामर्थ्य की परीक्षा के हेतु युद्ध-क्षेत्र बन जाते हैं, तथा वहाँ के स्थानीय लोगों का उनके द्वारा युद्ध-बलि के रूप में उपयोग किया जाना स्वाभाविक है।

शान्ति के लिए शक्ति

इसलिए जब हम विश्व का सही प्रकार से अध्ययन करते हैं तो हम इस सरल निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बाध्य होते हैं कि हमारे स्वतन्त्र तथा समृद्धिशाली राष्ट्रीय जीवन के लिए एकमात्र आधार अजेय राष्ट्रीय सामर्थ्य ही है—एक ऐसा सामर्थ्य जो आक्रामक शक्तियों के हृदयों में आतंक उत्पन्न करेगा तथा अन्य राष्ट्रों को हमसे मैत्री-सम्बन्ध प्राप्त करने के लिए उत्सुक बनायेगा।

वास्तव में दुर्बल बने रहना अधिक सबल बाहरी शक्तियों को आक्रमण तथा लूट-खसोट के लिए आमंत्रण देना है। इस प्रकार दुर्बल राष्ट्र ही विश्व में शान्ति भंग होने के लिए उत्तरदायी होते हैं। चर्चिल ने द्वितीय विश्वयुद्ध को 'अनावश्यक युद्ध' बताया था, क्योंकि इंग्लैंड तथा फ्रान्स जर्मनी को प्रारम्भिक स्थिति में ही सुगमता से रोके रख सकते थे तथा युद्ध को बचा सकते थे यदि उन्होंने साहस तथा ऐसा करने के लिए आवश्यक शक्ति का परिचय दिया होता। किन्तु वे असिद्ध तथा दुर्बल बने रहे और इस प्रकार उन्होंने जर्मनी की युद्ध-भावना को प्रोत्साहित किया। अस्तु, सबल होना ही शान्ति का यथार्थ मार्ग है।

आज भी हम देखते हैं कि अमेरिका तथा रूस समान रूप से शक्तिशाली होने के कारण उनमें से कोई भी विश्वयुद्ध का खतरा उठाने के लिए तैयार नहीं है, दोनों ही के पास विश्वनाशक मिसाइल हैं तथा दोनों को ही विदित है कि अणु-युद्ध से उनमें से कोई भी जीवित नहीं रह सकेगा। क्यूबा का प्रकरण हमारे लिए अत्यन्त शिक्षाप्रद है। रूस ने क्यूबा को गुप्त रूप से अपने मिसाइलों का अड्डा बनाकर अमेरिका की सुरक्षा को आघात पहुँचाने की चेष्टा की। किन्तु अमेरिका द्वारा तीव्र तथा त्वरित कार्यवाही ने रूस की चेष्टा को रोक दिया तथा संसार को आगामी विश्वव्यापी संघर्ष से बचा लिया।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दुर्बल देश सुरक्षित हैं अथवा युद्ध

अब होंगे ही नहीं । केवल अन्तिम आणविक शक्ति-परीक्षा से बचा जा रहा है और उसे भविष्य के लिए टाला जा रहा है । अन्य सभी बातें पूर्ववत् चल रही हैं । हम बहुधा अपने देश के 'बुद्धिमान व्यक्तियों' को ऐसा आश्वासन देते हुए पाते हैं कि हमें किसी विदेशी शक्ति द्वारा हमारे साथ युद्ध का खतरा मोल लेने के बारे में चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से सम्पूर्ण मानवता एक आणविक संघर्ष के लपेटे में आ जायगी । परन्तु हमारे लिए यह विश्वास करना अत्यन्त बुद्धिहीनता होगी कि अन्य राष्ट्र भी उतने ही युद्ध-भीरु हैं, जितने कि हम । वे युद्ध की नियमानुसार घोषणा किये बिना ही शत्रुप्रदेशों पर आक्रमण कर देते हैं तथा अधिकार कर लेते हैं । युद्ध की घोषणा किए बिना ही पाकिस्तान द्वारा कश्मीर एवं कच्छ में तथा चीन द्वारा लद्दाख एवं नेफा में अपने देश के विशाल भूखण्ड हथिया लेने का ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने है । इसी प्रकार की कहानी आज भी इण्डोचीन तथा अन्य स्थानों में दोहराई जा रही है ।

***

२५ राष्ट्रजीवन का अमृत कुंभ

२. अन्तिम अनुशास्ति

सच्ची तटस्थता के लिये

आज कल हम अपने देश में 'पक्ष-निरपेक्षता' (Non-alignment), 'गतिशील तटस्थता' (Dynamic neutrality) आदि के विषय में बहुत कुछ सुनते हैं मानो यही हमारे विनाश से रक्षा प्रदान करने वाले सिद्धान्त हैं। परन्तु क्या वास्तव में वह दुर्बल के लिए सहायक सिद्ध हो सकेंगे? यदि किसी आक्रमणकारी शक्ति ने हम पर हमला किया तो उस स्थिति में हम अपना संरक्षण कैसे करेंगे? क्या फिर हमको अपनी रक्षा के लिए किसी एक अथवा दूसरे शक्तिशाली गुट का सहारा नहीं लेना पड़ेगा? वास्तव में तब यह एक फुटबाल की 'गतिशील तटस्थता' होगी, जो कि स्वयं केवल 'निष्पक्ष' और 'तटस्थ' ही नहीं है, परन्तु 'गतिशील' भी है, क्योंकि उसे बार-बार पैरों से एक ओर से दूसरी ओर ठोकर मारी जाती है। इसके अतिरिक्त व्यापक संघर्ष की स्थिति में बड़ी शक्तियाँ दुर्बल की तटस्थता की दो कौड़ी भी चिन्ता नहीं करेंगी।

प्रथम महायुद्ध में अपनी सेना फ्रांस में ले जाने के लिए जर्मनी ने जर्मनी और फ्रांस की खतरनाक पर्वतीय सीमा से जाने के बजाय तटस्थ नीदरलैण्ड्स की समतल भूमि का उपयोग किया था। वेल्जियम और हालैण्ड (नीदरलैण्ड्स देश) द्वारा अपनी तटस्थता के आग्रहपूर्ण प्रतिपादन की जर्मनी ने तनिक भी चिन्ता नहीं की। उसने अपनी सेना को प्रयाण का आदेश दे दिया और उनकी तटस्थता को अपने सैनिकों के बूटों से कुचल दिया। यदि ये देश

शस्त्रों से पूरी प्रकार से सज्जित होते तो जर्मनी को उन देशों का कोपभाजन बनने का साहस न होता।

इसका एक सुस्पष्ट विरोधी उदाहरण स्विट्जरलैण्ड का है। पिछले महा-युद्ध में स्विट्जरलैण्ड ने पूर्ण तटस्थता बनाये रखी। यह देश तुलनात्मक रूप में निर्धन है; परन्तु यहाँ के लोगों के हृदय देशभक्ति के प्रबल उत्साह, राष्ट्रीय स्वाभिमान तथा स्वतंत्रता की दुर्दम्य भावना से स्पन्दित हैं। अन्ताराष्ट्रीय नियम यह है कि युद्धों में विदेशी सेनाओं तथा शस्त्रों के आवागमन के लिए तटस्थ देशों का मार्ग के रूप में उपयोग नहीं किया जा सकता। उस युद्ध में एक बार यह देखा गया कि जर्मनी पर बम छोड़ने के लिए जाते हुए अंग्रेजी वायुयान स्विट्जरलैण्ड के ऊपर उड़कर जा रहे हैं। तत्काल ही उन वायुयानों को स्विट्जरलैण्ड की वायुसीमा अविलम्ब छोड़ने की चेतावनी दी गयी। परन्तु अपनी शक्ति की दम्भपूर्ण अनुभूति में अंग्रेजों ने उस चेतावनी की उपेक्षा की। बिना किसी द्विविधा के स्विट्जरलैण्ड ने उन वायुयानों को मार गिराया। बाद में इंग्लैण्ड ने एक लम्बा विरोधपत्र भेजा; परन्तु स्विट्जरलैण्ड ने उत्तर दिया कि वह एक स्वतंत्र राष्ट्र है जो अपनी तटस्थता बनाये रखने के लिए कटिबद्ध है और यदि उसकी संप्रभुता के उल्लंघन का फिर ऐसा ही प्रयत्न हुआ तो उसके फिर वही परिणाम होंगे।

वास्तविकता से दूर भागने का परिणाम

परन्तु आज हमारे देश में यह विचित्र धारणा निर्माण हो गयी है कि हम लोग बिना शक्तिशाली हुए भी सुख और सम्मान के साथ अपना जीवन चला ले जायेंगे तथा यह भी कि मनुष्य की उच्च भावनाओं को अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ को अपील करने से अथवा पंचशील की दुहाई देने से सभी संघर्षों को सुलझाया जा सकेगा। ऐसी सब विकृत धारणाओं को सार्वदेशिक सत्य के रूप में प्रदर्शित किया जा रहा है।

हमारे प्रमुख व्यक्ति जाकर सेना को भी 'अन्ताराष्ट्रीयता' और 'विश्व-बन्धुत्व' का उपदेश देते हैं। एक बार मेरे साथ एक सैनिक अधिकारी तथा तक अन्य सज्जन रेल में यात्रा कर रहे थे। वह उर्दू में बातचीत कर रहे थे। सैनिक अधिकारी ने उनसे कहा, "आप बहुत अच्छी उर्दू बोलते हैं।" उन सज्जन ने उत्तर दिया, "हाँ! मैंने अपने स्कूल-जीवन में उर्दू पढ़ी थी। परन्तु अब, क्योंकि मैं बड़ा हो गया हूँ, मेरा उर्दू का प्रेम समाप्त हो गया है।" सैनिक अधिकारी ने पूछा, "ऐसा क्यों?" उन्होंने उत्तर दिया, "जब

मैं उर्दू अथवा फारसी पढ़ता हूँ तो उनके सम्पूर्ण साहित्य में मेरे सामने किसी बुलबुल का, किसी ईरान का, किसी यूफ्रेटिस अथवा टिगरिस का चित्र आता है परन्तु मेरे देश की किसी बात का नहीं।'' सैनिक अधिकारी ने कहा, "आप कितने संकुचित और मध्ययुगीन हैं। अब ऐसा समय है जब कि हमें देश, राष्ट्र आदि की संकुचित सीमाओं में सोचना छोड़ देना चाहिए। अब तो हमें सम्पूर्ण संसार के रूप में सोचना है।'' अब मान लो यदि ऐसा सैनिक अधिकारी युद्ध के लिए जाये तो क्या वह अपने देश की रक्षा के लिए पूर्ण विश्वास से लड़ सकेगा ? किसी भी क्षण उसके अन्दर की 'विश्वचेतना' विद्रोह कर सकती है और वह अनुभव कर सकता है, "यह क्या वाहियात है ? मैं क्यों लड़ूँ ? यदि विपक्षी विजयी हो जायें तो इसमें क्या आपत्ति है ? आखिर वह भी तो हमारे ही जैसे मनुष्य हैं।'' और तब हमारी क्या दशा होगी ? क्या ऐसी विश्व-चेतना हमें विनाश से बचा सकेगी ?

एक समय एक ज्योतिषी था। जैसा हम जानते हैं, संसार कभी भी समस्याओं से मुक्त नहीं हुआ है। यह ज्योतिषी भी बहुत उद्विग्न था। संसार का भविष्य जानने के विचार से वह पृथ्वी को प्रभावित करने वाले ग्रहों की स्थिति देखने के लिए निकला। जब वह अपने गाँव से बाहर हुआ तो एक ग्रह के पश्चात् दूसरा ग्रह देखता हुआ, अपनी कल्पनाओं और आशंकाओं का तानाबाना बुनता हुआ एक कुएँ में गिर गया। ज्योतिषी के भाग्य से कुआँ बहुत दिन से उपयोग में नहीं आया था तथा सूखा था। ज्योतिषी अपने बचाव के लिए चिल्लाया। कुछ मनुष्य उस ओर से जा रहे थे। जब उन्होंने उस ज्योतिषी को बाहर निकाला तो आश्चर्य से उससे पूछा, "पण्डितजी ! आप मार्ग से अलग इस कुएँ में कैसे गिर पड़े ?'' पण्डितजी ने इस संसार के हित के प्रति अपनी निष्ठा तथा ग्रहों से सम्बन्धित अपना उद्देश्य विस्तार-पूर्वक बताया और अपने कुँए में गिरने का सुबकते हुए वर्णन किया। तब उसके बचाने वालों ने टीका की, "पण्डितजी, संसार की कुण्डली पढ़ने का प्रयत्न करने के पहले यदि आप अपनी कुण्डली पढ़ लेते तो यहाँ गिरने से बच जाते।''

अच्छा हो यदि वे लोग जो आज अपनी दुर्बलता और अज्ञानता को अन्ताराष्ट्रीयता के जोरदार नाम के आवरण में छिपाना चाहते हैं, उक्त ज्योतिषी की दुर्गति से पाठ सीखें तथा वे, उन अन्ताराष्ट्रीय हलचलों को प्रारम्भ करने के पूर्व जिन्हें कार्यान्वित करने की उनके पास कोई शक्ति नहीं है, अपने राष्ट्र को व्यवस्थित कर लें। जब कि संसार सत्ता-राजनीति से ह

संचालित हो रहा है और शक्ति का चारों ओर बोलबाला है वे लोग जो 'विश्वबन्धुत्व' अथवा ऐसी ही अन्य बातें करते रहते हैं ऐसा दिखाई देता है कि सचमुच में नहीं जानते कि वे क्या बोल रहे हैं। विश्व-राजनीति का आज यही एकमेव तथ्य है कि निजी स्वार्थों तथा निजी हित-संरक्षण द्वारा ही विभिन्न राष्ट्र अस्तित्व में हैं। जो इस बात की उपेक्षा करते हैं वे काल्पनिकता के फेर में वास्तविकता को दांव पर चढ़ा रहे हैं।

एक बार मैं कुछ वयोवृद्ध लोगों के मध्य बोल रहा था। मैंने राष्ट्र की स्थिति का विश्लेषण किया तथा अपना मत प्रकट किया कि यदि हम अपना स्वयं का आन्तरिक ह्रास नहीं रोकेंगे और शक्तिशाली नहीं होंगे तो हमारा राष्ट्र के नाते अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। तुरन्त ही एक अति बुद्धिमत्तापूर्ण टीका हुई, "क्या हुआ यदि हम राष्ट्र के नाते जीवित न रहे? हम फिर भी जीवित तो रहेंगे ही और मानवता के नाते जीवित रहेंगे।" मैंने कहा, "क्यों हम लोग तो मृत्यु के बाद भी जीवित रहेंगे। हमारी राख अथवा हमारे समाधिस्थ शव तो रहेंगे ही। क्या विज्ञान ने पदार्थ का अविनाशत्व सिद्ध नहीं किया है?"

आत्म-सम्मोहन का परिणाम

'अन्ताराष्ट्रीयता', 'विश्व-एकता' आदि की वर्तमान प्रिय लगने वाली धुन ने हमारे देश को इस हास्यास्पद और संकटमय स्थिति तक पहुँचा दिया है। हम लोग इन नारों से पूर्णतया इतने सम्मोहित हैं कि हम 'विश्वशान्ति', 'अन्ताराष्ट्रीयता' आदि का मुखौटा धारण करने वाली विदेशी शक्तियों के आक्रमक उद्देश्यों तक को समझने में असमर्थ हो गये हैं। वे यहाँ आकर 'अन्ताराष्ट्रीय शान्ति-सम्मेलनों' का संचालन करते हैं जब कि वे अपने देशों में विश्वसंहारक प्रक्षेपणास्त्रों का निर्माण करते रहते हैं। उनकी सब चालों का यही अर्थ है कि वे हमको अपने गुट में खींच लेना चाहते हैं, जिससे कि वे हमको उन भावी युद्धों में, जिनकी वे योजना कर रहे हैं, युद्ध-बलि के रूप में प्रयोग करें। वे भी सचमुच में 'शान्ति' चाहते हैं। पर कैसी शान्ति? स्वयं को स्वामी और दूसरों को दास बनाकर वे आराम से सोना चाहते हैं और चाहते हैं कि दास आपस में न झगड़ें और स्वामी की निद्रा भंग न करें। और हम, इन विचित्र सिद्धान्तों के शिकार बने हुए, स्वयं धोखा खाते रहते हैं और अपने 'प्रगतिशील' और 'अन्ताराष्ट्रीय' दृष्टिकोण पर अपनी पीठ थपथपाते रहते हैं। क्या हम अपने लोगों को नहीं देखते कि जो यह जानते हुए

भी कि ये साम्यवादी तौर-तरीके पाचर के नुकीले छोर के समान साम्यवादी विस्तारवाद के लिये प्रयुक्त होने वाले हैं, इन तथाकथित अन्ताराष्ट्रीय शान्ति सम्मेलनों में सम्मिलित होते रहते हैं।

'शांतिपूर्ण सहअस्तित्व' और 'पंचशील' जैसे नारे और कागजी समझौते जिनमें हमारे नेता दिन-रात उलझे हुए हैं, हमारे देश के विरुद्ध संसार के स्वार्थी लुटेरे देशों के छिपे गर्हित उद्देश्यों की पूर्ति में केवल छद्मावरण बनाने में प्रयुक्त होते हैं। जैसा हम जानते हैं, पंचशील सिद्धान्त के प्रति विश्वास-प्रदर्शन में चीन सबसे अधिक चिल्लानेवाला था। चीन की यह कहकर अत्यधिक प्रशंसा की जाती रही कि पिछले दो हजार या उससे भी अधिक वर्षों से जब से उसने बौद्ध मत स्वीकार किया है चीन हमारा महान् पड़ोसी और मित्र के रूप में है। हमारे नेताओं ने घोषणा की कि वे 'किसी भी मूल्य पर' चीन के साथ मित्रता बनाये रखने के लिए कृतनिश्चय हैं। एक समय हमने इसी प्रकार से 'किसी भी मूल्य पर' इस देश के मुसलमानों की मित्रता सम्पादित करने का भी निश्चय किया था। राष्ट्र की अखण्डता और सम्मान की दृष्टि से हमें इस विषय में कितना मूल्य चुकाना पड़ा है? यह सर्वज्ञात है। चीन के सम्बन्ध में भी वही इतिहास दुहराया गया।

दुश्चिह्नों की उपेक्षा

हम यह भूल गये कि पिछले कुछ वर्षों से प्राचीन बौद्धमतावलम्बी चीन मर चुका है। रूसी जादूगर ने उसके शव में एक आत्मा का प्रवेश करा कर उसे एक दानव बना दिया है और आज हम उसका दानवी नृत्य अपनी सीमाओं पर देख रहे हैं। जब उसने तिब्बत को हड़पा और पण्डित नेहरू ने उसका हलका-सा विरोध किया तो रुखाई के साथ उनकी भर्त्सना करते हुए उनसे कहा गया कि वह उनके 'आन्तरिक मामले' में अपनी टाँग न अड़ायें। हमारे स्वर्गीय प्रधानमंत्री इस राष्ट्रीय अपमान को चुपचाप पी गये। तब से ही हम दो राष्ट्रों के बीच शाश्वत मित्रता तथा भ्रातृत्व की ऐतिहासिक उस सन्धि के नाम पर की गयी चीन की दोस्ती और पंचशील की गरिमा बनाये रखने के लिये हर बार ऊँची ही ऊँची उठ रही कीमत चुकाते चले आ रहे हैं जिस पर दो देशों के महान् प्रधान मंत्रियों के हस्ताक्षर जब हो रहे थे उसी समय लद्दाख में चीन द्वारा बनाये गये फौजी रास्तों पर उनके सैनिकों से भरे ट्रक भड़भड़ाते बढ़े आ रहे थे और हमारे हिमालय क्षेत्र के बड़े-बड़े भू-भागों पर कब्जा कर रहे थे।

गाँधी जी के शिष्य तथा प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० जे० सी० कुमारप्पा ने अपनी रूस और चीन की यात्रा के पश्चात् उन दिनों में भी स्पष्ट चेतावनी दी थी कि उनकी (चीन और रूस की) दृष्टि में पंचशील की संधि उस कागज के टुकड़ें के बराबर भी मूल्य नहीं रखती जिस पर वह लिखी गई है। परन्तु साम्यवादी चीन के आक्रमण के सर्वग्रासी भय के सुस्पष्ट चिह्नों के प्रति हमारे नेता आँखें बन्द किये रहे और अपने स्वप्नलोक में ही विचरण करते रहे। हमारे देश में साम्यवादियों ने चीन के एक नये मानचित्र की प्रतियाँ बाँटीं जिसमें हिमालय के सभी क्षेत्रों—लद्दाख, नेपाल, सिक्किम, भूटान तथा नेफा (तिब्बत से बाहर निकलती हुई चीन की आक्रामक मुट्ठी की पाँच उँगलियों के पाँच प्रतीक) तथा बर्मा के भाग चीन की सीमा के अन्तर्गत दिखाये गये थे। हमारी सरकार ने इन मानचित्रों का वितरण भी नहीं रोका।

जब क्रुश्चेव हमारे देश में आया और काश्मीर में था, तब उसने घोषणा की, "जब कभी तुम पर विपत्ति आये इन पहाड़ों की चोटियों पर चढ़ जाओ और सहायता के लिए पुकारो। दूसरी ओर से हम सदा तुम्हारी सहायता के लिए दौड़ कर आने को प्रस्तुत रहेंगे।" उस घोषणा का यह रहस्य हम न भूलें कि उनके अनुचर यहाँ हैं जो कभी भी उन्हें सहायता के लिए पुकार लेंगे।

इसके अतिरिक्त जब क्रुश्चेव और बुल्गेनिन का सम्पूर्ण देश में अभूतपूर्व जयजयकार से स्वागत हो रहा था और उन्हें विश्व-शांति के दूत के रूप में अभिनन्दित किया जा रहा था, उस समय हमारे देश में एक रूसी समाचार-चलचित्र प्रदर्शित हो रहा था। वह चलचित्र मास्को के दृश्य से प्रारम्भ होता है तथा व्याख्याकार घोषित करता है, "भावी संसार की राजधानी, मास्को!" यदि मास्को ऐसी राजधानी बने तो क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि सम्पूर्ण संसार को रूस के आधीन होना पड़ेगा?

धोबी का गधा

हम लोग अभी अपने को इस भ्रम से मुक्त करने में समर्थ नहीं हुए कि हमारी अन्तारराष्ट्रीय प्रतिष्ठा इन निःसार सदुक्तियों के कारण बढ़ी है। परन्तु तथ्य क्या हैं? उदाहरण के लिए पाकिस्तान को लें। यह हमारा ही एक अंग हमको धृष्टतापूर्वक अपमानित करने, हमारे सैनिकों और सेनाधिकारियों को अपहृत करने, हमारे वायुयानों को गिराने तथा अभी भी वहाँ रहने वाले हिन्दुओं का नियमित रूप से जातीय विनाश करने का एक भी अवसर हाथ से नहीं जाने देता और अब उसने हमारे देश पर आक्रमण भी

कर दिया है। एक छोटा-सा देश लंका पीढ़ियों से वहाँ रहने वाले हमारे लाखों बन्धुओं को बाहर भगा रहा है। बर्मा ने भी वही मार्ग अपनाया है। हमने आक्रान्ता के नाते कश्मीर का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष उपस्थित किया और वह विश्व-संसद् हमारी 'महती अन्ताराष्ट्रीय प्रतिष्ठा' के कारण हमारे साथ आक्रामक की बराबरी का व्यवहार कर रही है। यह दावा किया जाता है कि चीन में बन्दी बनाये हुये ग्यारह अमरीकी वायुयान-चालकों को मुक्त कराने में हमारे प्रभाव का उपयोग हुआ, कि कोरिया में हमारी एक महत्वपूर्ण भूमिका रही आदि। तब फिर उन सब मामलों में, जहाँ हमारे राष्ट्रीय सम्मान और अखण्डता को गम्भीर संकट उपस्थित है, इस 'महती अन्ताराष्ट्रीय प्रतिष्ठा' का उपयोग क्यों नहीं हुआ? अथवा हमारी यह 'प्रतिष्ठा' धोबी के उस गधे के समान है, जिसे दिन भर तो मालिक के कार्य के लिए बोझा ढोना पड़ता है और शाम को अपनी जरूरतें स्वयं पूरी कर लेने के लिए जिसे खदेड़ दिया जाता है।

हमारे नेता बहुधा दुहराते हैं कि हमारी शांति और पक्ष-निरपेक्षता की नीति के कारण सब बड़े राष्ट्र हमारे मित्र हैं और हमारा आदर करते हैं। वह उस आर्थिक सहायता की ओर इंगित करते हैं जो हमें अमेरिका से और रूस से भी प्राप्त हो रही है। परन्तु वही अमेरिका हमारे शत्रु पाकिस्तान को नवीनतम शस्त्रों से सज्जित कर रहा है। क्या यह मित्रता का चिह्न है कि एक ओर तो हमें बलि के बकरे के समान आर्थिक सहायता से पुष्ट किया जाये और दूसरी ओर हमारे ऊपर आक्रमण करने वालों को शस्त्र दिये जायें? रूस के बारे में, जिसने भारत के साथ 'मित्रता' की तुलना में चीन के साथ 'बन्धुत्व के अटूट बन्धन' की घोषणा की है तथा जो प्राय: चीन की आक्रमक योजनाओं के पीछे संचालक शक्ति के रूप में काम करता रहा है, अधिक कहने की आवश्यकता ही नहीं है।

अपनी सरलता के कारण हम संसार के राज्यों की घोषणाओं और राजनीतिक चालों को सत्य समझते हैं और यह सोच कर स्वयं ही प्रसन्न होते हैं कि हमारा संसार की राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान है। यदि एक उदाहरण ही देना हो तो कुछ वर्ष पूर्व श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित को संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा की अध्यक्षा निर्वाचित किया गया था। परन्तु हमारे देश को यह 'महान् सम्मान' प्रदान करने के पीछे कौन सा हेतु छिपा था? उसी समय शेख अब्दुल्ला का कश्मीर को एक स्वतंत्र राज्य बनाने का देशद्रोहपूर्ण षड्यंत्र प्रकट हुआ था। उसे पद से हटाकर कैद किया गया था। उस घृणित

षड्यंत्र को प्रोत्साहित करने की संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रतिनिधियों की कुमन्त्रणा भी पूरी तरह से प्रकाशित हो गयी थी। संयुक्त राष्ट्र संघ के ये एजेण्ट जिनके इशारों पर कार्य कर रहे थे वह आंग्ल-अमरीकी गुट अपना चेहरा बचाने के लिये उत्सुक थे और काश्मीर में अपना पैर जमाए रखकर बिना किसी बाधा के अपने षड्यन्त्रों को चलाये रखने के लिये हमारे देश को किसी प्रकार समझौते की मनःस्थिति में तैयार करना चाहते थे। और इसके लिये हमारे स्वर्गीय प्रधानमंत्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू की बहिन को संयुक्त राष्ट्रसंघ की अध्यक्षता का महान् सम्मान प्रदान करने के अतिरिक्त और कौन सा अधिक अच्छा साधन हो सकता था ? यह एक चातुर्यपूर्ण खुशामद के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। परन्तु अपनी सरलता में, हमने इसे अपना वास्तविक सम्मान समझा।

वर्तमान के लिए शिक्षा

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमने अपनी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और प्रगति के आलम्ब के रूप में जिन उच्चस्वर से घोषित विविध धारणाओं को स्वीकार किया है, उनका इस संसार की कठोर वास्तविकता में कोई मूल्य नहीं है। दुर्भाग्य से बार-बार अपने हाथ जला लेने पर भी हम इन ईप्सित विचारों के प्रति अपना मोह नहीं छोड़ सकते। यह केवल अभी से नहीं अपितु शताब्दियों से हमारे समाज के ऊपर एक अभिशाप रहा है। जब चंगेज खाँ इस देश पर आक्रमण करने की योजना कर रहा था तो उसे ज्ञात हुआ कि यहाँ के बहुत से लोग बौद्ध हो गये हैं। अतः उसने बौद्ध बनने का ढोंग किया और फिर आक्रमण कर दिया। यहाँ के बहुत-से बौद्ध, यह देखकर कि वह उनका धर्म-बन्धु है, उसका स्वागत करने गये। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म के 'अहिंसा' के आवरण में चंगेज खाँ मानव सिरों के पर्वत-सदृश ऊँचे ढेर खड़े कर सका।

संसार शक्ति का पुजारी

कम-से-कम अब तो हम इस सत्य को स्वीकार कर ल कि वास्तविक राष्ट्रीय सम्मान तथा वास्तविक शान्ति के लिए अजेय राष्ट्रीय शक्ति निर्माण करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। तभी यह सम्भव है कि जिन महान् सिद्धान्तों का हम संसार को उपदेश देते हैं उन्हें महत्व तथा प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। संसार दुर्बल का तत्वज्ञान, चाहे वह कितना ही उदात्त क्यों न

हो, सुनने को तैयार नहीं है। एक पुरानी घटना है जो हमारे कई प्रमुख समाचार पत्रों में प्रकाशित हुई थी। हमारे महान् राष्ट्रीय कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जापान गये थे। वे हिन्दू-दर्शन की श्रेष्ठता पर विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के समक्ष भाषण देने वाले थे। परन्तु सभा-भवन, कुछ अध्यापकों को छोड़ कर, खाली रहा। यह सोचकर कि यह दृश्य प्रतिष्ठित अतिथि के लिए अपमानजनक होगा एक अध्यापक ने कुछ विद्यार्थियों को, जो बहुत दूर खड़े थे, भाषण सुनने के लिए तैयार करने का प्रयत्न किया। विद्यार्थियों ने दृढ़ता के साथ यह कहकर मना कर दिया—"हम गुलाम राष्ट्र का दर्शन नहीं सुनना चाहते।"

संसार केवल शक्तिशालियों की पूजा करता है। पिछले युद्ध के पूर्व जब इंग्लैण्ड शक्तिशाली था, हमारे लोग अंग्रेजों का अनुकरण और उनकी प्रशंसा करते थे। परन्तु जब युद्ध के काल में, कुछ समय, ऐसा लगा कि जर्मनी जीत जायेगा तो वे लोग हिटलर और नाजीवाद की उपासना करने लगे। हम ऐसे व्यक्तियों से परिचित हैं जो कि आजकल हिटलर और नाजीवाद की निन्दा सबसे अधिक जोरशोर से करते हैं, परन्तु जो, उन दिनों में, समादर की भावना से गुप्त रूप से अपने रेडियो से जर्मनी के समाचार सुना करते थे। जर्मन आक्रमण के दो सप्ताह के भीतर फ्रांस का पतन सुनकर वे कितने प्रसन्न हुए थे! अब वही लोग अमेरिका अथवा रूस की उपासना करते हैं, क्योंकि यह वही देश हैं, जिन्होंने जर्मनी की सैनिक शक्ति को चूर-चूर कर दिया तथा जो आज विश्व के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र हैं। आज बहुत-से व्यक्तियों का साम्यवाद के प्रति जो आकर्षण है, वह प्रमुख रीति से साम्यवाद के पृष्ठपोषक रूस और चीन की पाशविक शक्ति के कारण है। यही संसार का ढंग है। दुर्बल के स्वर की कोई तनिक भी चिन्ता नहीं करता। बहुत पूर्व हमारे पूर्वजों ने घोषित किया था कि निर्धनों और दुर्बलों की इच्छाएँ हवा में महल बनाने के समान हैं—

उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः।

सामर्थ्य ही पुण्य और दुर्बलता पाप है

किसी भी स्थिति में दुर्बल को ही कष्ट भोगना पड़ता है। कितना भी ऊपरी तालमेल अथवा हेर-फेर उसे नहीं बचा सकता। दुर्बल रहना संसार का सबसे जघन्य पाप है क्योंकि इससे स्वयं हमारा विनाश होगा और दूसरों की हिंसा की वृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा। हमारे पूर्वजों ने कहा है कि अपने

शरीर की विनाश से रक्षा करना सर्वोच्च धर्म का एक अंग है, और शारीरिक संरक्षण का एकमात्र आधार शक्ति है। विश्वामित्र के विषय में बताया जाता है कि एक बार एक बहुत बड़े अकाल के समय उन्हें कई दिनों तक भोजन नहीं मिला। एक दिन उन्होंने एक चाण्डाल के घर में एक मृत कुत्ते की सड़ती हुई टाँग पड़ी देखी। विश्वामित्र ने झपट कर उसे ले लिया और परमात्मा को पहले भोग लगाकर फिर उसे खाने को सिद्ध हुए। चाण्डाल विस्मय से बोला, "अरे ऋषि ! तुम कुत्ते की टाँग कैसे खा रहे हो ?" विश्वामित्र ने उत्तर दिया, "संसार में तपस्या और सत्कर्म करने के लिए मुझे पहले जीवित रहना और शक्तिशाली होना आवश्यक है।"

परन्तु पिछले कुछ दशकों में हमारे देश में जो विचार रहा है उसमें शक्ति को पापपूर्ण और गर्हित माना जाता रहा है। 'अहिंसा' के गलत अर्थ लगाने के कारण राष्ट्र के मस्तिष्क की विवेचन-शक्ति समाप्त हो गयी है। हम लोग शक्ति को 'हिंसा' मानने लगे हैं तथा अपनी दुर्बलता को गौरवास्पद समझने लगे हैं।

एक बार एक साधु ने कहा, "'अहिंसा' शब्द ही, हिंसा के अस्तिवाचक भाव में 'अ' लगाकर 'हिंसा' से ही निकली हुई एक नकारात्मक अभिव्यक्ति है।" जो हिंसा करने में पर्याप्त समर्थ है, परन्तु जो संयम, विवेक और दया के कारण ऐसा नहीं करता, केवल उसी व्यक्ति के लिए यह कहा जा सकता है कि वह अहिंसा का आचरण करता है। मान लो कोई तगड़ा व्यक्ति सड़क पर जा रहा है और उससे कोई टकरा जाता है। यदि वह बलवान व्यक्ति दया करके कहे, "ठीक है, तुमने मेरे प्रति जो अनुचित कार्य किया है, उसके लिए मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ" तब हम कहते हैं कि उस बलवान व्यक्ति ने अहिंसा का व्यवहार किया है। क्योंकि यद्यपि वह प्रहार करने में और सिर तोड़ने में समर्थ है परन्तु उसने स्वयं को नियंत्रित कर लिया है।

मान लो एक पतला-दुबला व्यक्ति—मच्छर जैसा—जा रहा है और कोई उसके कान खींच लेता है और यह 'मच्छर' सिर से पैर तक काँपता हुआ कहता है, "महाशय ! मैं आपको क्षमा करता हूँ," तो कौन उसका विश्वास करेगा ! कौन कहेगा कि वह अहिंसा का पालन कर रहा है ? वह उस व्यक्ति के समान है जो कि डाकुओं को अपना घर लूटने से रोकने में असमर्थ होने पर जोर-जोर से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की घोषणा करता है। लोग कहेंगे कि वह कायर और ढोंगी है, उसमें कुछ करने का साहस नहीं है तथा बड़ी-बड़ी सद्उक्तियों से केवल अपनी दुर्बलता छिपा रहा है। हमारे देश का वायुमण्डल

इस प्रकार के भ्रमों और आत्मप्रवंचनापूर्ण सद्उक्तियों से भरा पड़ा है। केवल अपनी कायरता को छिपाने के लिए नैतिक अधिकार का दम्भ लेकर 'शान्ति' और 'अहिंसा' जैसे बड़े-बड़े शब्दों का धूल के बादलों जैसा बवण्डर खड़ा किया जाता है।

नपुंसक की अहिंसा

ऐसी विपरीत धारणाओं के कारण ही हम चारों ओर हानि सह रहे हैं। प्रतिदिन हम देखते हैं कि हमारी सीमाएँ संकुचित होती जा रही हैं। कोई भी मातृभूमि की अखण्डता और सम्मान को बचाने की मन:स्थिति में नहीं है। प्रत्येक राष्ट्रीय अपमान को 'शान्ति' के आवरण में ढक दिया जाता है। दिन-प्रतिदिन हमारे ऊपर अपमान लादे जा रहे हैं। शत्रुओं द्वारा हमारे लोगों को गोलियों से मार दिया जाता है और पण्डित नेहरू के जन्मदिन पर चीन ग्यारह सैनिकों के शव भेंट में देता है। हम यह कहकर कि हम 'शान्ति के पुजारी हैं, यह सब निगल जाते हैं। महाभारत में कहा है कि जो व्यक्ति अपमान निगल जाता है, वह न पुरुष है न स्त्री है।

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी।
क्षमावान् निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुन: पुमान्॥

(वही पुरुष (है) जो न सहन करता है (और) न क्षमा करता है। क्षमा करने वाला (तथा) सहन कर लेने वाला न तो स्त्री है और न पुरुष है।)

महान् उदाहरण

हमारा दर्शन हमको बताता है कि मनुष्य को तभी विनम्र होना चाहिए जब कि वह दूसरों को विनीत करने में समर्थ हो। किसी व्यक्ति को कब क्षमाशील होना चाहिए ? तभी जब कि वह इतना शक्तिशाली हो जाये कि वह अपने को अपमानित करने वाले को नष्ट कर सके। व्यक्ति को कब दूसरों की सेवा करनी चाहिए ? तभी जब कि वह इतना योग्य हो जाये कि सारा संसार उसकी स्वयं इच्छा से सेवा करने को प्रस्तुत हो। श्रीकृष्ण हमारे आदर्श हैं, जिन्होंने अपने बचपन से ही एक के पश्चात् एक, अनेकों दुष्ट राक्षसों को समाप्त कर फिर गीता में अहिंसा का उपदेश दिया। उन्होंने ही कंस का वध किया, उग्रसेन को गद्दी पर पुन: प्रतिष्ठापित किया परन्तु स्वयं अतिथि राजाओं का स्वागत करते हुए राजसभा के द्वारपाल रहे। फिर उन्होंने ही युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भोजन के पश्चात् पत्तल हटाने का निम्न प्रकार की सेवा का

कार्य स्वयं स्वीकार किया, जब कि वही व्यक्ति थे, जिन्हें अग्रपूजा का सम्मान प्रदान किया गया था। हमारे दर्शन का ऐसा ही सन्देश है।

हमारे सभी महान् पुरखों ने, जिन्होंने हमारे राष्ट्रीय आचार के मानदण्ड प्रस्थापित किये हैं, आदर्श का व्यावहारिकता के साथ तथा मानव-कल्याण के सर्वोच्च सिद्धान्तों का व्यावहारिक संसार की आवश्यकताओं के साथ सदा मेल बैठाया है। राम और रावण का युद्ध जब बहुत प्रबल रूप में चल रहा था, रामायण में उस समय की एक घटना वर्णित है। रावण के पुत्र मेघनाद को मारने के पश्चात् लक्ष्मण उसका सिर शिविर में ले आये थे। मेघनाद की पत्नी सुलोचना, जो कि अपने पति के शरीर के साथ सती होना चाहती थी, अपने पति का सिर लौटाने की प्रार्थना करने के लिए राम के शिविर की ओर गयी। राम के पक्ष के सैनिकों ने रावण के शिविर से एक सुन्दर स्त्री को अपनी ओर आते देखकर समझा कि आनेवाली नारी स्वयं देवी सीता होगी। प्रसन्नता और हर्षोद्घोष से वे चलितचित्त हो गये तथा अपने हथियार डाल देने को तैयार ही थे। परन्तु जब श्रीराम को इस उत्तेजना का और उसके पीछे के कारण का ज्ञान हुआ तब उन्होंने शान्तिपूर्वक कहा, "मत भूलो कि अपने दसों सिर और बीसों भुजाओं के साथ रावण अभी भी अच्छी प्रकार से जीवित है। रावण के मृत शरीर के ऊपर चलकर ही हम लंका में प्रवेश कर सकते हैं और सीता को मुक्त कर सकते हैं। तब तक सीता-दर्शन का स्वप्न मत देखो। किसी भ्रम में मत रहो।" मनुष्य के मनोविज्ञान की पूर्ण जानकारी होने के कारण उन्होंने रावण के स्वभाव का ठीक प्रकार से आकलन कर लिया था और वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गये थे कि राक्षस की दुष्प्रवृत्ति इतनी गहरी जमी हुई है, जिसके कारण उसमें किसी भी परिस्थिति में परिवर्तन नहीं आ सकता और उनके अचूक रामबाण से ही उसका संकट मिट सकता है। राम द्वारा मानव-जीवन के सर्वोच्च मानदण्डों को बनाये रखना, और उनका शक्ति के अन्तिम प्रामाण्य (Sanction) होने का विश्वास उसी एक चरित्र के ऐसे दो पक्ष थे, जिसने उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम (आदर्श मानव) बना दिया।

फिर, महाभारत में, कुरुक्षेत्र की रणभूमि में "क्लैब्यं मा स्म गमःपार्थ" का उद्घोष कर श्रीकृष्ण ने अर्जुन के पुरुषार्थ का आह्वान किया। यह ठीक है कि अर्जुन कायर नहीं था। वह जन्मजात योद्धा था। परन्तु अपने गुरुजनों और पूज्यों को अपने विरोध में खड़ा देख उसका मन अपने कार्य के औचित्य के विषय में सन्देहों से भर गया था। वह रणक्षेत्र से भागना नहीं चाहता था।

इसके विपरीत अपने शस्त्र अलग कर वह वैराग्य की भावना से अपने शत्रुओं के हाथों मरना चाहता था।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।

(यदि हाथ में शस्त्र धारण किये धृतराष्ट्र के पुत्र मुझ बिना शस्त्रवाले (तथा) प्रतिकार न करनेवाले को रण में मार डालें तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारी होगा।)

हमारे नेताओं के मनों में भी आज उसी प्रकार का सम्भ्रम उत्पन्न हो गया है। 'अप्रतिकार' और 'शान्ति' आदि शब्दों को उच्च स्वर से घोषित किया जा रहा है। वास्तव में दोनों की मानसिक स्थितियों में बड़ा अन्तर है। अर्जुन अपने अन्तरतम से वीर था जब कि आजकल हमको सुनाई देने वाला 'अप्रतिकार' जैसे शब्दों का गम्भीर प्रतिपादन, हमारी कायरता को छिपाने के आवरण के रूप में प्रयोग किया जाता है।

सही दर्शन

आज के संसार में, कोई चाहे अथवा न चाहे, संघर्ष उत्पन्न होना अवश्यंभावी हैं। क्या हमारे धर्मात्मा बने रहने से दूसरों की दुष्प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाएँगी ? क्या इस प्रकार के सुस्पष्ट रीति से विवेकशून्य मूढ़विश्वासों को मानने से बढ़कर कोई दूसरी आत्म-प्रवंचना हो सकती है ? वास्तव में वह बकरा, जिसे बलिवेदी पर शान्तिपूर्वक ले जाया जाता है 'अप्रतिकार की मूर्ति है' ! तनिक-सा भी विरोध प्रकट किये बिना वह कसाई के छुरे के नीचे अपना सिर रख देता है। कसाई एक क्षण भी यह अनुभव नहीं करता कि ऐसे निर्दोष, 'अहिंसक' प्राणी को नहीं मारना चाहिए। परन्तु साथ ही कोई भी व्यक्ति व्याघ्र की यज्ञ में बलि देने का विचार करने का भी साहस नहीं करता। केवल उसी दुर्बल, सीधे, 'अहिंसक' बकरे को बलि के लिऐ पसन्द किया जाता है। मनुष्य भी उसका मांस स्वाद के साथ खाते हैं। कहा गया है :

अश्वं नैव गजं नैव व्याघ्रं नैव च नैव च।
अजापुत्रं बलिं दद्यात् देवो दुर्बलघातकः ।।

(घोड़ा नहीं, हाथी नहीं, व्याघ्र तो कदापि नहीं, बकरा ही बलि दिया जाता है। देवता भी दुर्बल का ही विनाश करते हैं।)

'अप्रतिकार' की प्रवृत्ति का यही परिणाम है। यह ठीक है कि बिना उत्तेजना के हमको हिंसा में प्रवृत्त न होना चाहिए। साथ ही साथ हमें दूसरों

को भी अपने विरोध में हिंसा का व्यवहार न करने देना चाहिए। अपने प्रति हिंसा करने देना भी हिंसा है अत: अधर्म है। एक बार एक श्रेष्ठ जैन साधु ने अहिंसा का महत्व बताते हुए कहा, "यदि तुम्हें नष्ट करने पर तुली हुई किसी पाशविक शक्ति से तुम्हारा सामना हो और अहिंसा के नाम पर तुम अपने संरक्षण का कोई प्रयत्न न करो तो तुमने उस दुष्ट शक्ति को हिंसा में प्रवृत्त होने के लिए प्रोत्साहित ही किया है। इस प्रकार तुम उस अपराध के प्रोत्साहनकर्ता बन गये हो और प्रोत्साहक भी अपराध का उतना ही दोषी है, जितना कि वास्तविक अपराधी।" उन्होंने आगे कहा, "कोई कार्य हिंसात्मक है अथवा अहिंसात्मक, यह निर्णय करने का एकमात्र मापदण्ड उसके पीछे का हेतु है न कि वह कार्य स्वयं।"

जो वास्तव में महान् पुरुष हुए हैं, उनकी शिक्षाओं ने ऐसे सब मामलों में हमारा सदैव सही मार्गदर्शन किया है। तुकाराम जैसे एक बड़े दयालु सन्त ने भी दया की परिभाषा की है :

दया तिचें नांव भूतांचें पालन आणिक निर्दलन कण्टकांचें

(प्राणियों का पालन और कण्टकों, 'दुष्टों' का विनाश ही दया है)।

श्रीकृष्ण ने सुस्पष्ट रीति से तथा सदा के लिए घोषित कर दिया है कि धर्म की स्थापना का अर्थ है, दुष्टों का विनाश--'विनाशाय च दुष्कृताम'। श्रीकृष्ण स्वयं उस सिद्धान्त के मूर्तरूप थे। उन्होंने युद्ध टालने तथा शान्ति प्रस्थापित करने का निसन्देह उपदेश दिया तथा उसके लिए सम्पूर्ण शक्ति लगा दी, परन्तु उन्होंने दूरदृष्टि से स्पष्ट रूप से समझ लिया कि उनकी स्वयं की श्रेष्ठतम शक्ति ही अन्तिम रूप से निर्णायक है। जब वह दुर्योधन के पास समझौते की बात करने के लिए जाने वाले थे उस समय यह सोचकर, कि दुष्ट प्रकृतिवाला दुर्योधन कहीं श्रीकृष्ण को हानि न पहुँचाए, धर्मराज उनकी सुरक्षा के लिए चिन्तित हो गये। श्रीकृष्ण ने उन्हें विश्वास दिलाया कि उस स्थिति में तो धर्मराज बिना युद्ध के ही राज्य प्राप्त कर लेंगे क्योंकि तब दुर्योधन और उसके साथियों के दल को वह स्वयं नष्ट कर देंगे। शत्रुओं का सामना करते समय शक्ति की भूमिका के सम्बन्ध में यही यथार्थ विचार है। आवश्यकता न होने पर अथवा न्याय्य और सम्मानपूर्ण समझौता सम्भव होने पर भी सदैव शक्ति-प्रयोग की बात करना और वैसा ही व्यवहार करना अमानुषिक तथा क्रूरतापूर्ण है, परन्तु सदा समझौते की बात करना और जब अन्याय और अपमानों को दूर करने का और कोइ मार्ग न हो, उस समय भी शक्ति का प्रयोग न करना कायरता और नपुंसकता है।

अतः इस संसार की कठोर वास्तविकताओं में जीवन व्यतीत करते हुए महान् व्यक्तियों ने जैसा सन्देश दिया था उसे हमें ठीक से समझना है। और कठोर वास्तविकता यह है कि आज का जैसा संसार है वह एक ही भाषा—शक्ति की भाषा—समझता है। केवल अपरिमित शक्ति के दृढ़ आधार पर ही राष्ट्र का उत्कर्ष होता है और उसकी यशस्वी स्थिति बनी रह सकती है।

अपराजेय राष्ट्रीय संकल्प-शक्ति की आवश्यकता

यह शक्ति कहाँ से आती है ? राष्ट्रीय शक्ति का वास्तविक तथा अक्षय स्रोत कौन सा है ? वह है सम्पूर्ण जाति का सुगठित, समर्पित तथा अनुशासित जीवन। अन्ततः जीवन के विविध क्षेत्र, समाज की अन्तर्निहित शक्ति की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। राजनीतिक सत्ता इस प्रकार की एक अभिव्यक्ति है। सैनिक शक्ति एक दूसरी अभिव्यक्ति है। परन्तु राष्ट्र की सु-अनुशासित, प्रखर देशभक्तिपूर्ण और शौर्यपूर्ण स्थिति ही शक्ति का अपरिहार्य भण्डार है।

यह सच ही कहा गया है कि बन्दूक नहीं, उसके पीछे जो हृदय है वही लड़ता है। बिना शक्तिशाली देशभक्तिपूर्ण हृदय के कितने भी शस्त्रास्त्र देश को नहीं बचा सकेंगे। जिसे लोग हिन्दू-मुस्लिम दंगा कहते हैं परन्तु जो कि अनिवार्य रूप से एक मुस्लिम दंगा होता है, क्योंकि मुसलमान ही सदैव पहले प्रहार करता है और हिन्दू उसकी चोट सहता है, ऐसे समय की एक घटना है। उस दंगे में एक हिन्दू अपने घर में, ऊपर, एक भरी हुई बन्दूक लेकर बैठ गया। कुछ मुसलमान गुण्डों ने उसके घर पर आक्रमण किया परन्तु क्योंकि दरवाजे मजबूती से बन्द थे अतः वे अन्दर न घुस सके। तब उनमें से एक ने अपने हाथ की एक छोटी कुल्हाड़ी घुमाते हुए ऊपर बैठे व्यक्ति से धमकाकर कहा कि वह बन्दूक फेंक दे अन्यथा उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायेंगे। भयभीत होकर उस सज्जन ने बन्दूक गिरा दी तथा उसी बन्दूक से मार डाले गये। अतः एक निर्भय लौह-हृदय मनुष्य के द्वारा ही शस्त्रों का प्रयोग और स्वयं की रक्षा हो सकती है। यही बात राष्ट्र के सम्बन्ध में है।

राष्ट्रीय व्यवहार के इन्हीं व्यावहारिक और मार्गनिर्देशक सिद्धान्तों के आधार पर ही हमारा समाज पुनः एक महान् राष्ट्र के रूप में खड़ा हो सकता है। अतः हमारे सम्पूर्ण प्रयत्न हमारे लोगों में राष्ट्रीय चेतना जागृत कर तथा उनका सु-अनुशासित, सुसंघटित तथा अजेय शक्तिशाली राष्ट्रनिर्माण कर, अपराजेय राष्ट्रीय शक्ति उत्पन्न करने की दिशा में केन्द्रित होने चाहिए। इस पृथ्वीतल पर स्वतंत्र और तेजस्वी राष्ट्रीय जीवन का यही अन्तिम प्रामाण्य है।

***

२६ विजय के उपासक

पुण्य तिथियाँ

हमारे महापुरुष हमारे राष्ट्रीय जीवन का उद्देश्य तथा राष्ट्रीय गौरव की प्राप्ति के मार्ग पर दीप-स्तम्भ के समान विद्यमान हैं। हमारी भावी पीढ़ियाँ उस मार्ग का सफलतापूर्वक अनुसरण करें, इसके लिए यह आवश्यक है कि उनकी स्मृति तथा उदाहरण राष्ट्र के मस्तिष्क में सदैव जागृत रहें। साथ ही यह भी आवश्यक है कि विचारों और कर्मों में निपुण उन व्यक्तियों के जीवन और कृतियों की शिक्षाएँ अपने वास्तविक स्वरूप में ही प्रस्तुत की जायें। वास्तव में इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर हमारी राष्ट्रीय परम्परा में अति प्राचीन काल से हमारे प्राचीन राष्ट्र सेनानियों के जन्म और मृत्यु की पुण्य तिथियों के मनाने का महत्व रहा है।

महान् व्यक्तियों को देवत्व प्रदान

परन्तु दुर्भाग्य से इन महान् पूर्वजों द्वारा स्थापित आदर्शों के स्मरण की इस परम्परा में एक बड़ी विकृति प्रवेश कर गई है। हमारे समाज के लोग

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्॥

(जो-जो भी जीव ऐश्वर्ययुक्त, श्रीयुक्त अथवा शक्तियुक्त है उन सबको तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न समझ)–गीता के इस श्लोक में पूर्ण विश्वास रखते हुए ऐसी महान् आत्माओं की अलौकिक शक्ति में परमात्मा की अभिव्यक्ति का चिह्न, दैवी तेज की एक झलक, देखते हैं। यहाँ तक तो ठीक है।

परन्तु इसके कारण यह भ्रमपूर्ण विश्वास उत्पन्न हुआ है कि ऐसे सब महापुरुष अतिमानवी हैं, सामान्य मनुष्य की पहुँच के बहुत ऊपर, पहुँच के बाहर। सर्वसाधारण व्यक्ति स्वयं को परिस्थितियों का दास मानकर इन महापुरुषों को देवता की श्रेणी में ढकेल अपने कर्त्तव्यों से पलायन का एक सुरक्षित मार्ग ढूँढने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह अपने व्यावहारिक दिन-प्रतिदिन के जीवन में उनका अनुसरण करने के उत्तरदायित्व से जिसके कारण उसे बहुत सी अग्निपरीक्षाओं और आपत्तियों मे पड़ना पड़ेगा, स्वयं को मुक्त कर लेता है। वह अपनी दुर्बलता और असहायता में परमात्मा की प्रार्थना भी करता है कि परमात्मा आवे, उसका उद्धार करे और इन संकटों का सामना करने के कष्टों से उसे बचा ले। जहाँ तक उसका अपना प्रश्न है चाहता है कि वह घर पर आराम से बैठे और परमात्मा की कृपा से सब ठीक हो जाय।

इसके साथ आजकल जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह पागलपन सवार है कि व्यक्ति को कम से कम उत्तरदायित्व और खतरा उठाते हुए अधिक से अधिक लाभ और आनन्द प्राप्त हो। हमें कहीं भी पौरुष की भावना नहीं दिखाई देती, जिसके कारण व्यक्ति कहे—"हाँ, मैं एक 'मनुष्य' हूँ, चाहे जैसी परिस्थिति आ पड़े, उसकी चिन्ता न करते हुए मैं मनुष्योचित प्रयत्न करूँगा और सम्पूर्ण शक्ति लगाकर अपने कर्तव्यों की पूर्ति करूँगा।" यही कारण है कि धनी परिवार में उत्पन्न व्यक्ति बहुत भाग्यशाली माना जाता है, क्योंकि उसे बिना किसी प्रयत्न के सभी आराम और उपभोग के साधन प्राप्त हो जाते हैं। उसे अपने खाने-पीने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। उसका प्रत्येक छोटा काम करने के लिए उसके इशारे पर चलने वाले नौकर होते हैं, जिसके कारण वह सम्पूर्ण समय निकृष्ट कोटि के भोग-विलास में निमग्न रहने के लिए मुक्त हो जाता है। अतः अपने जीवन में असहायता के कारण अथवा उपभोग के इस प्रकार के उन्माद के कारण सामान्य मनुष्य स्वाभाविक रूप से चाहता है कि उसे स्वयं कुछ भी करने की आवश्यकता उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। वह चाहता है "परमात्मा पृथ्वी पर आ जाय और मुझे विपत्तियों के भँवर से मुक्त कर किनारे पर लगा दे। वह मेरे ऊपर सुख-सुविधाओं की वृष्टि कर दे तथा फिर अपना अवतारी जीवन समाप्त कर अपने स्थान को लौट जाय।"

इस प्रकार की मनोवांछित आशाएँ लेकर सामान्य मनुष्य आपत्ति के समय परमात्मा की प्रार्थना करता है और उसका सहारा लेता है, मानो सर्वशक्तिमान प्रभु उसकी प्रार्थनाओं से दयार्द्र हो जायेगा और इन 'सन्तों' की रक्षा के लिए तथा अपनी इस प्रतिज्ञा की पुनः पूर्ति करेगा कि—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

(सज्जनों की रक्षा के लिए और दुष्टों का विनाश करने के लिए तथा धर्म की संस्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में उत्पन्न होता हूँ)

इस विषय में संघ के संस्थापक हँसी में कहा करते थे—"इसके विपरीत मैं तो परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि वह अभी जन्म न ले। क्योंकि सम्पूर्ण समाज को आलस्य और स्वार्थ में अर्थात् अधर्म में डूबा देख वह अधर्म का विनाश करने की अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इसे पूरी प्रकार से नष्ट कर देंगे। इसलिए पहले हम लोग साधु बन जायें जिसका अर्थ है कि समाज के लिए परिश्रम और त्याग का जीवन बितायें और तब सर्वशक्तिमान परमात्मा को पुकारें। तभी वह हमारी रक्षा और दुष्टों का विनाश करेगा।"

परन्तु साधारण व्यक्ति ऐसा अनुभव करते हैं कि इन महान् 'अवतारों' का स्मरण करने और इन्हें परमात्मा के व्यक्त रूप के नाते पूजने में ही उनका कर्तव्य समाप्त हो जाता है। उन्हें कुछ और करने की इच्छा नहीं है। उदाहरण के लिए हमारे समाज के लोगों ने श्री रामचन्द्र को विष्णु का अवतार माना है और कई शताब्दियों से उनकी पूजा कर रहे हैं। परन्तु हममें से अधिकांश ने ऐसा उनके पुरुषोचित गुणों को स्वीकार करने और अपने अन्दर का 'राम' प्रकट करने के लिए नहीं किया। हमारे संस्थापक इस सम्बन्ध में एक रोचक घटना सुनाते थे। एक बार एक वयोवृद्ध सज्जन से बात करते हुए, जो घर पर प्रतिदिन आध्यात्म रामायण का पाठ किया करते थे, उन्होंने ऐसे ही पूछ लिया कि श्रीराम के कौन से गुण ने उन्हें सबसे अधिक आकर्षित किया है और उसे अपने जीवन में अनुकरण करने की उन्हें प्रेरणा दी है। इन शब्दों को सुनकर वह सज्जन आगबबूला हो गये और बोले—"क्या निरर्थक बात है ? क्या तुम सोचते हो कि हम मनुष्य एक देवता के गुणों का अनुकरण कर सकते है ? पाठ तो इसलिए किया जाता है कि मुक्ति के लिए हमें पुण्य प्राप्त हो। हम और अधिक क्या चाहते हैं।"

यही दृष्टिकोण श्रीकृष्ण के प्रति रहा है। हमने गीता को एक ईश्वरीय धर्मग्रन्थ माना, उसके सब श्लोकों को रटा, उनका पाठ किया, उसकी अतिशय प्रशंसा की परन्तु एक बार भी यह नहीं सोचा कि अपने दिन-प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में पालन करने योग्य मानव कर्तव्यों का यह सबसे महान् ग्रन्थ है। हम देखते हैं कि यह विचित्र धारणा हमारे सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों और श्रेणियों के लोगों के मस्तिष्क में जमी हुई है।

हम एक वर्तमान काल का उदाहरण लें। लोकमान्य तिलक एक बहुत बड़े कर्मयोगी तथा एक प्रमुख राष्ट्रीय नेता थे। परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके महान् जीवन और उनके श्रेष्ठ गुणों के अनुकरण करने की चिन्ता न तो उनके अनुयायियों ने ही की और न जनसाधारण ने। और न उन्होंने उनकी विवेकपूर्ण राजनीतिक परम्पराओं को चालू रखने का कोई प्रयत्न किया। इसके विपरीत उन्होंने उनकी प्रतिमाएं खड़ी कीं, थोड़े से विद्यालय प्रारम्भ किये, उनके नाम से कोष-संग्रह किया, उनकी जन्मतिथियाँ मनायीं और मुक्त भाव से उनके प्रति अपनी शाब्दिक श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं। इतना करने से वे सन्तुष्ट हो गये कि उन्होंने लोकमान्य के प्रति अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। तिलक के कुछ सीधे, सरल-हृदय भक्तों ने तो उन्हें चतुर्भुज भी बना दिया और उनकी पूजा की जिससे उनका अर्थ था कि वह (तिलक) तो परमात्मा के अवतार थे और वे केवल तुच्छ मनुष्य हैं। फिर वे भला ईश्वरत्व की ऊँचाई तक पहुँचने की आशा कैसे कर सकते थे। उनका जीवन तो केवल खाने, पीने, पैसे कमाने, बच्चों का पालन-पोषण करने और अन्त में एक दिन मर जाने के लिए है।

प्रयत्न परमेश्वर

अपनी जान बचाने की इसी प्रवृत्ति के कारण लोग महापुरुषों को परमात्मा की श्रेणी में ढकेल देते हैं। साधारण मनुष्य जब विपत्तियों से घिर जाता है तब वह हतबुद्धि और भयभीत हो जाता है। अन्य क्या करे यह न समझ सकने के कारण वह परमात्मा की शरण लेता है। वह रोता-बिलखता हुआ परमात्मा से पुनः अवतार ग्रहण करने की प्रार्थना करता है। निराशा के उस अन्धकार में उसे परमात्मा को छोड़कर आशा की और कोई किरण नहीं दिखायी देती। कभी-कभी हम महान् सन्तों और विद्वानों को भी इस प्रकार विलाप करते देखते हैं। और यदि इन परिस्थितियों में कोई महापुरुष उपस्थित हो जाता है और अपने पौरुष, धैर्य और बुद्धिमत्ता से घटनाचक्र में परिवर्तन कर देता है तो उसे भी लोग देवता की श्रेणी में डाल देते हैं। परन्तु यह तो कोरी दुर्बलता ही है, जिसके वशीभूत होकर व्यक्ति ऐसे महापुरुषों को मानवों की कोटि से बाहर ढकेल देता है।

हमें अपने समाज के व्यक्तियों की इस विकृत मनोवृत्ति को बदलना है। उसके स्थान पर पौरुष और उद्यम की दृष्टि प्रस्थापित करना है। स्वामी रामदास ने कहा है—"यत्न तो देव जाणावा" (प्रयत्न ही परमात्मा है।)

हमें मानव प्रयत्न के रूप में व्यक्त परमात्मा की शरण लेनी चाहिए। यह कर्मभूमि है, मानव के उद्योग की भूमि। यह असामान्य सामर्थ्यशाली व्यक्तियों के रक्त और पसीने से पवित्र हुई मिट्टी है। यहीं पर हमारी अन्तर्निहित शक्तियां और गुण प्रस्फुटित होते हैं तथा हमारे प्रसुप्त देवत्व का जागरण होता है। इसी यथार्थ विश्वास से मानव-उद्योग के पथ पर बढ़ने की हमें प्रेरणा मिलनी चाहिए। हम उन महान् आत्माओं की पूजा करें और उनके प्रति श्रद्धा का भाव रखें, परन्तु देवता जैसी निरी पूजा के रूप में नहीं अपने सदृश मनुष्यों के रूप में जो कि व्यक्तिगत प्रयत्नों के परिणामस्वरूप इतनी ऊँचाई तक पहुँचे हैं। जब रावण सीता को हर ले गया तब श्री रामचन्द्र जी ने उसी प्रकार विलाप किया था और उसी प्रकार रोये थे जैसा कि हममें से कोई भी अपने पारिवारिक जीवन में विपत्ति आने पर करेगा। ऐसा कर उन्होंने संसार के सम्मुख घोषित कर दिया कि वे भी अन्य किसी के समान ही मनुष्य हैं। यद्यपि वह हममें से ही किसी के भी समान खाते-पीते थे, सोते और चलते थे और एक मनुष्य की सामान्य भावनाओं का अनुभव करते थे, परन्तु उनके जीवन का प्रत्येक क्षण महान् व्यक्तिगत परिश्रम द्वारा सम्पादित मानवता के उच्चतम आदर्श की ओर बढ़ने का हमें संकेत करता है।

हमारे महान् सन्तों और भक्तों ने निस्सन्देह भगवान् की प्रार्थना पर बहुत बल दिया है। परन्तु उन्होंने जीवन में अकर्मण्यता का कभी उपदेश नहीं किया। जो अकर्मण्य रहकर परमात्मा के नाम पर रोते रहते हैं, ऐसे भक्तों की सदैव बहुत खिल्ली उड़ायी गयी है। हमारे सभी महापुरुषों ने हमारे समाज में पौरुष और कर्तव्य की भावना भरने का निरन्तर प्रयत्न किया है। हमारे समक्ष वे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, मानव प्रयत्न और उपलब्धि के श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में उपस्थित हैं। हम इन सब कर्मवीरों की सन्तान हैं। उनका रक्त हमारी नसों में बहता है। वे आकाश से बने-बनाये महापुरुष के रूप में नहीं टपक पड़े थे। उन्होंने अपने परिश्रम, बुद्धिमत्ता, धैर्य, त्याग और ऐसे ही अन्य पुरुषोचित गुणों के बल पर महानता सम्पादित की थी। हम ऐसा विश्वास क्यों न रखें कि हम भी कम से कम कुछ मात्रा में अपने जीवन में उन्हीं गुणों को प्रकट कर सकते हैं। यदि हमें एक महान् राष्ट्र के नाते खड़े होना है तो यह सबसे अधिक आवश्यक है कि जब भी हम पूर्व के महान् व्यक्तियों के जीवन और कार्यों की ओर देखें तो हम इसी सही दृष्टिकोण को अपनायें।

विजयशाली की पूजा

अब हम यह देखें कि अपनी इस भूमि में किस प्रकार के श्रेष्ठ जीवनों की पूजा की गयी है। क्या कभी हमने ऐसे व्यक्तियों को आदर्श माना है जो कि जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने में असफल रहे हैं? कभी नहीं। हमारी परम्परा ने उन्हीं की पूजा और आराधना करना सिखाया है जो अपने जीवन-उद्देश्य में पूरी तरह सफल सिद्ध हुए हैं। जो व्यक्ति परिस्थितियों का दास है वह हमारा आदर्श कभी नहीं रहा। हमारा आदर्श वह वीर रहा है जो कि परिस्थिति का स्वामी बन जाता है, केवल मात्र अपनी योग्यता और चरित्र के आधार पर परिस्थिति में परिवर्तन ला देता है और अपने जीवन की आकांक्षाओं को प्राप्त करने में पूर्ण सफल हो जाता है। ऐसी ही महान् आत्माओं की पूजा करने का आदेश हमें हमारी संस्कृति देती है जिन्होंने अपने आत्मतेज से अपने चारों ओर के घोर अन्धकार को नष्ट कर प्रकाश भर दिया, निराश हृदयों में विश्वास उत्पन्न कर दिया, मृतप्राय लोगों तक में प्राण फूँक दिया और सफलता एवं प्रेरणा के जीवन्त लक्ष्य के प्रति श्रद्धा को बनाये रखा।

श्रीरामचन्द्र जी हमारे आदर्श हैं, जिन्होंने अपने शौर्य, बुद्धिमत्ता और इच्छा-शक्ति के आधार पर रावण जैसे बलवान अत्याचारी का, जिसने सारे संसार को दास बना लिया था तथा तैंतीस करोड़ देवताओं को कैद कर लिया था, विनाश कर दिया। और फिर उन श्रीकृष्ण के पूर्ण सफल जीवन के रूप में एक और महान् आदर्श हमारे सामने आता है जो चाहते तो अपनी शरीर और बुद्धि की अतुलित शक्तियों के आधार पर एक अजेय सम्राट् के रूप में अपना अभिषेक करा सकते थे परन्तु जिन्होंने वैसा करना अस्वीकार कर दिया। ऐसे ही सफल जीवन सदैव हमारी पूजा के केन्द्र रहे हैं। यह स्पष्ट है कि जो जीवन में असफल रहे हैं, उनमें अवश्य कोई बहुत बड़ी कमी रही होगी। जो पराजित हो चुका है, वह दूसरों को प्रकाश कैसे दे सकता है और उन्हें सफलता की ओर कैसे ले जा सकता है? हवा के प्रत्येक झोंके से कम्पित ज्योति हमारा पथ कैसे प्रकाशित कर सकती है? केवल ऐसा ही जीवन, जो कि चारों ओर प्रचण्ड तूफानों और वर्षा के बीच में एक ऊँचे प्रकाशस्तम्भ के रूप में सीधा, बिना मन्द पड़े खड़ा रहता है और अन्धकार को निरन्तर दूर करता रहता है, हमारी जीवन-नौका को सफलता के किनारे पर पहुँचा सकता है।

बलिदानी, महान् पर आदर्श नहीं

जब कि कोई समाज सभी प्रकार की विपत्तियों से निरन्तर आक्रान्त रहता है और उसे पूर्ण निराशा का सामना करना पड़ता है तब उसमें विभिन्न प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो कि संकटों के बोझ दे दब जाते हैं और असहायतापूर्वक दैवी सहायता की प्रतीक्षा करते हैं। परन्तु परमात्मा जब उनकी प्रार्थनाएं सुनता नहीं दिखायी देता और विपत्तियाँ उन्हें अधिकाधिक घेरती जाती हैं तब कुछ लोग क्रुद्ध हो जाते हैं और उस निराशापूर्ण परिस्थिति को बदलने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु इच्छित परिवर्तन करने की उनके पास पर्याप्त शक्ति नहीं होती। यह अवश्य है कि वे असन्तोष से जलते रहते हैं परन्तु वे अनुभव करते हैं कि परिस्थिति का सामना करने की दृष्टि से वे बहुत दुर्बल हैं।

परन्तु उनके हृदयों की प्रज्ज्वलित अग्नि उन्हें केवल अपने भाग्य पर विलाप करने वाले शान्त और असहाय द्रष्टा के रूप में नहीं बैठने देती। इस असहनीय दारुण परिस्थिति में आक्रोश करते रहने की तुलना में वे शूरतापूर्वक मृत्यु का वरण करना अधिक अच्छा समझते हैं। उनके चारों ओर अन्धकार और निराशा, अज्ञान और निन्दा का नग्न नृत्य होता रहता है, और उन्हें किसी आशा की किरण का, किसी एक भी व्यक्ति का, जो उनके आह्वान का प्रत्युत्तर दे, सहारा नहीं होता। दुर्बल हृदय वाले हिम्मत हार जाते हैं और केवल प्रतीक्षा करते रहते हैं। परन्तु जिनके अन्दर अग्नि है वे यह स्वीकार नहीं करते और बलिदान की चमक प्रकट करते हुए अपने आपको नष्ट करना अधिक पसन्द करते हैं। साधारण व्यक्ति ऐसी मृत्यु की चमक से चकाचौंध हो जाता है और कहता है—"कैसा जोशीला व्यक्ति था। टूट गया पर झुका नहीं।" लोग उसे शहीद कहते हैं और उसके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

हमारी भारतीय संस्कृति को छोड़कर अन्य सब संस्कृतियों ने ऐसे बलिदान की उपासना की है तथा उसे आदर्श माना है और ऐसे सब बलिदानियों को राष्ट्रनायक के रूप में स्वीकार किया है। ईसामसीह को वे एक महान् आत्मा क्यों कहते हैं ? क्योंकि वह एक शहीद थे और उन्होंने अपना जीवन बलिदान कर दिया। परन्तु हमने भारतीय परम्परा में इस प्रकार के बलिदान को सर्वोच्च आदर्श नहीं माना। निस्सन्देह ऐसे व्यक्ति जो अपने आपको बलिदान कर देते हैं श्रेष्ठ व्यक्ति हैं और उनका जीवन-दर्शन प्रमुखतया पौरुषपूर्ण है। वे सर्वसाधारण व्यक्तियों से, जो कि चुपचाप भाग्य के

आगे समर्पण कर देते हैं और भयभीत एवं अकर्मण्य बने रहते हैं, बहुत ऊँचे हैं। फिर भी हमने ऐसे व्यक्तियों को समाज के सामने आदर्श के रूप में नहीं रखा है। हमने ऐसे बलिदान को महानता का सर्वोच्च बिन्दु, जिसकी मनुष्य आकांक्षा करें, नहीं माना है। क्योंकि, अन्ततः वे अपना उद्देश्य प्राप्त करने में असफल हुए और असफलता का अर्थ है कि उनमें कोई गम्भीर त्रुटि थी।

'अवतारों' का सन्देश

जिस प्रकार हम व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में निराशा के परिणामस्वरूप आत्म-विनाश को आदर्श नहीं मानते उसी प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर आत्म-बलिदान की भी प्रशंसा नहीं करते। वास्तविक महानता तो जीवन में पूर्ण सफलता प्राप्त करने में है। हमारी संस्कृति में केवल ऐसे ही व्यक्तियों की पूजा की गयी है, जिन्होंने अपनी असामान्य योग्यता और साहस के द्वारा गरजते हुए समुद्री तूफान और बवण्डरों की छाती पर चढ़कर विजय प्राप्त की, और अन्त में परिस्थितियों के प्रतिकूल प्रवाह को अपने पक्ष में करने में समर्थ हो गये। वे अपने समय के निर्माता थे, उसकी निर्मिति-मात्र नहीं। यह उन सभी महापुरुषों के विषय में है, जिन्हें हमारी राष्ट्रीय परम्परा में अवतार समझा गया है। उदाहरण के लिए 'दशावतारों' की कथा लो। जब भी हमारा समाज संकटों और भीषण दुर्घटनाओं की पकड़ में पड़ा हुआ था, व्यामोह में था और परमात्मा का नाम लेता हुआ केवल अशक्त बना रोता था, उस समय एक अति विशाल व्यक्तित्व प्रकट हुआ जिसने अपने असीम त्याग की भावना, तपस्या, बुद्धि और कार्य-शक्ति से सभी शत्रुओं का दमन कर दिया और विजय का प्रतीक बन गया। उन्होंने कोई भी रूप अपनाया हो—मत्स्य, बाराह अथवा भिक्षु के वेश में छात्र का—वे अपना पवित्र जीवन-कार्य पूरा करने में सफल हो गये।

ऐसे हैं हमारे राष्ट्र-पुरुष, विजय के मूर्तिमन्त प्रतीक। हमारी दिव्य वीर-पूजा का प्राण यह 'विजय की संकल्प-शक्ति' है। यही वे आत्मायें हैं जो अपने जीवन में एक क्षण के लिये भी अन्तिम विजय को अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देंगी, और न ही संकटों का सामना पड़ने पर डगमगायेंगी अपितु आगे और आगे निरन्तर बढ़ती जावेंगी, अपने साधनों को इस ढंग से योजित करेंगी कि कार्यपूर्ति के लिये आवश्यक ऊँचाई तक खड़े हो सकें और अन्त में अपनी आंखों से गौरवशाली सफलता के दर्शन करें।

राजपूतों के हौतात्म्य से शिक्षा

तथापि, हमें अपने इतिहास में यह दृष्टिगत होता है कि राष्ट्रीय पुनरुत्थान की प्रक्रिया में हुतात्मा वीरों को भी अनिवार्य तथा सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ है। कोई यह नहीं कह सकता कि उनका बलिदान व्यर्थ गया। हमारे देश में स्वतन्त्रता के लिए बलिदान होने वाले वीरों की संख्या कम नहीं है। यह हो सकता है कि उनमें विजयशाली होने की योग्यता न हो परन्तु यह सत्य है कि उनमें त्याग की आवश्यक भावना थी तथा स्वधर्म और स्वसमाज के लिए हँसते हुए मृत्यु का आलिंगन करने की शूरता थी। इस व्यक्तिगत बलिदान के अतिरिक्त हम देखते हैं कि हमारे समाज में वीरों के पूरे के पूरे समूहों ने अपने आपका, जिसे वे योद्धा का कर्तव्य समझते थे—उस क्षात्रधर्म की मर्यादा बनाये रखने के लिए, सामूहिक बलिदान भी कर दिया।

राजपूतों का इतिहास इस प्रकार की रोमांचकारी घटनाओं के स्फुलिंग के प्रकाश से प्रकाशमान है। चारों ओर क्रूर शत्रुओं से घिरे होने पर और आशा की कोई किरण न रहने पर हिन्दू वीरता और पराक्रम के इन उत्कृष्ट उदाहरणों ने अपनी माताओं और बहिनों, पत्नियों और पुत्रियों को जौहर की ज्वाला में कूदते देखा, और फिर केशरिया बाना धारण कर अपनी चमकती तलवारों के साथ शत्रुसेना में घुस पड़े—कभी न लौटने के लिए। उन्होंने पराजय और अपमान के घृणित जीवन की तुलना में सम्मानपूर्ण बलिदान को अधिक अच्छा समझा। राजपूतों ने पराक्रम और आत्म-बलिदान के इन महान् कार्यों के द्वारा हमारे इतिहास में चकाचौंध तथा विस्मयपूर्ण श्रद्धा उत्पन्न करने वाला एक पृष्ठ लिख दिया है। अनुपम वीरता के ऐसे ज्वलन्त क्षण, मृत्यु से खिलवाड़ करने की ऐसी उल्लासपूर्ण वृत्ति, विश्व के इतिहास में दुर्लभ है। यह ठीक ही है कि हम ऐसी आत्माओं के विषय में अभिमान और आदर की भावना रखें। परन्तु यह सत्य है कि ये वीर रणक्षेत्र में मृत्यु का एकमात्र विचार लेकर घुसे थे, विजय की इच्छा लेकर नहीं। वे केवल वीरतापूर्ण मृत्यु प्राप्त करने के विचार से प्रेरित थे।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड्‌ योगयुक्तश्च रणेचाभिमुखो हतः॥

(योगयुक्त सन्यासी और रण में सामना करते हुए मरने वाला (वीर), संसार में ये दो पुरुष सूर्यमण्डल को भेद देते हैं और एक-सी आध्यात्मिक परमगति को प्राप्त होते हैं।)

जब युद्ध के लिए आह्वान होता था राजपूत योद्धा इसी विश्वास से अनुप्राणित हो प्रसन्नतापूर्वक और मृत्यु की तनिक भी चिन्ता न करते हुए शत्रु-दल पर धावा बोल देते थे।

जैसी इच्छा, वैसा ही परिणाम। यदि विजय की इच्छा सर्वोपरि है तो विजय प्राप्त होती है, परन्तु जो केवल मृत्यु की कामना करता है, उसे अवश्य मृत्यु मिलती है। जो केवल मृत्यु की आकांक्षा करता है उसे यदि हम अमृत-कुण्ड में भी डाल दें तो वह अवश्य ही उसमें डूब कर मर जायेगा। उसे कोई बचा नहीं सकता। कामनाओं को पूर्ण करने वाले वृक्ष–कल्पवृक्ष के नीचे बैठने वाला व्यक्ति जो इच्छा करता है, वह पाता है। और इसी प्रकार योद्धा के नाते अपना कर्त्तव्य पूर्ण करने वाला वीर जो भी प्रबल कामना करता है, भगवान् उसे वही वरदान देते हैं। राजपूतों का बलिदान निस्सन्देह रीति से असाधारण पराक्रम और स्वाभिमानी तथा निडर वृत्ति का परिचायक है, परन्तु, साथ-ही-साथ, वह एक गलत और आत्मघाती आकांक्षा का प्रतीक है। वह हमारे भारतीय शौर्य की गाथाओं का एक स्मरणीय, परन्तु फिर भी दु:खद अध्याय है।

प्रतिक्रिया नहीं, क्रिया

क्षात्रधर्म की एक गलत धारणा के ही कारण इन वीरों ने बलिदान की आकांक्षा लेकर स्वयं को नष्ट कर दिया। यह भी एक प्रकार की दुर्बलता है। परिस्थितियों की मार न सह सकने के कारण सामूहिक रूप से क्रोधावेश में भर जाना और उसके बोझ से नष्ट हो जाना हमारा आदर्श नहीं हो सकता। इस प्रकार के भावुकतापूर्ण स्वाभिमान धारण करने वाले वर्ग में वैसी शान्त और स्थिर संकल्प-शक्ति नहीं हो सकती जो कि परिस्थितियों की किंकर्त्तव्यविमूढ़ करने वाली कशमकश में भी अनुद्विग्न बनी रहे। और केवल ऐसी संकल्प-शक्ति ही अन्तिम विजय की ओर ले जा सकती है। एक प्रतिक्रियात्मक मस्तिष्क, जो कि छोटा-सा आघात होने पर भी सन्तुलन खो बैठता है, निकृष्ट कोटि का होता है। एक पशु, जिसमें तर्क करने की शक्ति नहीं है, केवल प्रतिक्रियात्मक जीवन व्यतीत करता है। उसमें शान्तिपूर्वक सोचने और कार्य करने की शक्ति नहीं होती, जिसके द्वारा वह प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजयी हो सके। परन्तु बुद्धिमान और परिपक्व व्यक्ति केवल मात्र परिस्थितियों से प्राप्त प्रतिक्रिया से प्रभावित होकर कार्य नहीं करते, वे परिस्थितियों को अपना दास बनाने की दृढ़ इच्छा-शक्ति लेकर साहसपूर्वक कार्य

करते हैं । मनुष्य बोल कर अपनी स्वयं की इच्छा व्यक्त करता है, जब कि एक निष्प्राण पहाड़ी से केवल प्रतिध्वनि निकलती है । कुत्तों के भूँकने की बच्चे नकल करते हैं, प्रौढ़ व्यक्ति नहीं । एक निर्बुद्धि प्राणी दुर्बल प्रतिक्रिया व्यक्त कर स्वयं को ही नष्ट कर लेता है । समझदार व्यक्ति के लिए मरना या मारना कभी भी आदर्श नहीं हो सकता । उसका दृष्टिकोण रचनात्मक होता है । वह अपने सुविचारित मार्ग पर, जो कि उसे अन्तिम विजय की ओर ले जाता है, चुपचाप बढ़ता चला जाता है और ऐसे ही हमारे आदर्श हैं, जिन्होंने विजय की आराधना की तथा जीवन का अपना उद्देश्य सफलतापूर्वक प्राप्त किया ।

वास्तविक धर्म

हमारे एक सर्वोच्च आदर्श श्रीराम विजय के इस दर्शन के एक जीवित उदाहरण हैं । स्त्रियों का वध करना क्षात्रधर्म के विपरीत माना जाता है । उसमें शत्रु के साथ खुले लड़ने का आदेश भी है । फिर भी श्रीराम ने ताड़का राक्षसी का वध किया और बालि के ऊपर पेड़ के पीछे से प्रहार किया । क्योंकि श्रीराम को दुष्टों का नाश कर धर्मराज्य की प्रस्थापना करने के अपने परम कर्तव्य का ज्ञान था । एक निरपराध स्त्री का वध करना पापपूर्ण है परन्तु वह सिद्धान्त राक्षसी के लिए लागू नहीं किया जा सकता । युद्ध करने की विधि भी, शत्रु की प्रकृति के अनुसार, परिर्वातत हो जाती है । यही क्षात्रधर्म की सही कल्पना है और श्रीराम ने इसका अनुसरण किया । उस काल में श्रेष्ठ गुरु थे, जो सही धारणाएँ सिखाते थे और ऐसे पराक्रमी शिष्य थे जो उनका अनुसरण करते थे ।

यही स्थिति श्रीकृष्ण और अर्जुन के विषय में है । महाभारत का महायुद्ध प्रारम्भ होने के ठीक पूर्व अपने विरोध में भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनों और गुरुओं को खड़ा देख अर्जुन का उत्साह ठण्डा पड़ गया । उसने अपना धनुष फेंक दिया । उसे भ्रमित होते देख श्रीकृष्ण ने यह कह कर उसे जागृत किया "क्या तुम्हारा नाम ही 'विजय' नहीं है ? तुम्हारा कर्तव्य रणक्षेत्र में विजय प्राप्त करना है । फिर स्वयं को तुम इस प्रकार क्यों भ्रमित करते हो ? तुम्हारा सर्वप्रमुख कर्तव्य अधर्म तथा उसके समर्थकों को, फिर वे कोई भी क्यों न हों, नष्ट करना है, और साधु तथा न्यायी पुरुषों का वर्चस्व प्रस्थापित करना है ।

और फिर युद्ध के बीच जब कर्ण कीचड़ में फँसे हुए अपने रथ के पहिये

को निकालने के लिए उतरा तो श्रीकृष्ण ने उस पर अपने बाण छोड़ने का अर्जुन को आदेश दिया। कर्ण ने अर्जुन से यह कहकर धर्म की दुहाई दी कि निःशस्त्र और बिना रथवाले प्रतिपक्षी के ऊपर प्रहार करना अधर्म है। तब योगिराज श्रीकृष्ण गरज कर बोले, "अरे कर्ण ! तुमने आज तक धर्म के कौन से आदेशों का पालन किया है जो तुम आज हमें धर्म की शिक्षा देने चले हो ? तुम्हारा धर्म कहाँ गया था जब कि तुम सबने निःशस्त्र बालक अभिमन्यु को घेर लिया और उसकी निर्लज्जतापूर्वक हत्या कर दी थी ? तुम्हारा धर्म कहाँ अदृश्य हो गया था जब कि तुमने एक निस्सहाय स्त्री द्रौपदी का खुली सभा में अपमान किया था ? मैं एक ही धर्म की रक्षा करना जानता हूँ और वह है धर्मराज !" क्योंकि श्रीकृष्ण ने यह सही दृष्टिकोण रखा था और इससे अर्जुन की संकल्प-शक्ति को दृढ़ बनाया था इसीलिए वह युद्ध में लड़ सका और धर्म के पक्ष को विजयी बना सका।

'विजय की इच्छा-शक्ति' का तत्त्वज्ञान

यह हमारा तत्वज्ञान रहा है—अधर्म की शक्तियों के ऊपर धर्म की शक्तियों की विजय का तत्वज्ञान--जिसकी सहस्राब्दियों से शिक्षा दी गयी है और जिसके अनुसार आचरण किया गया है। आज भी पाप की दानवी शक्तियां, विश्व-संहारक शस्त्रास्त्र लेकर, विश्व के रंगमंच पर शान के साथ चलती दिखायी देती हैं और मानवता के भविष्य के लिये संकट उत्पन्न कर रही हैं। हम, केवल अपने तत्वज्ञान के ही बल पर, जो हमारी विजय की इच्छा-शक्ति को दृढ़ीभूत करता है, समस्त संसार को, अधर्म की इस नयी चुनौती का सामना करने की प्रेरणा दे सकते हैं। कई बार पश्चिम के सुविख्यात विचारक भी भविष्य के सम्बन्ध में निराश हो जाते हैं। उदाहरण के लिए बर्ट्रेण्ड रसैल ने, जो पश्चिम के एक बड़े भारी दार्शनिक माने जाते हैं, साम्यवादी शक्तियों से संघर्ष की अवस्था में आणविक महाविध्वंस की संभावना उपस्थित देखकर कहा, "मरने की अपेक्षा हम लाल (साम्यवादी) हो जायें।" यह कैसा दार्शनिक है जो पौरुष का नहीं, निराशा का उपदेश देता है। वास्तव में साम्यवादी यही चाहते हैं–अपने आक्रमण के प्रति मानसिक विरोध समाप्त करना। हमारे तत्वज्ञान ने और हमारे विचारकों ने तो अधर्म की शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष में निराशा का कभी उपदेश नहीं दिया। अधर्म की शक्तियों के ऊपर धर्म की शक्तियों की अन्तिम विजय का विश्वास हमारे रक्त में दृढ़मूल है। राक्षसों का नाश करना और मानवधर्म का साम्राज्म स्थापित

करना हमारी अति प्राचीन काल से परम्परा रही है। वस्तुतः मनुष्य का वास्तविक पुरुषत्व राक्षस के ऊपर अपनी श्रेष्ठता प्रस्थापित करने में है। क्या हम नहीं जानते कि अपने प्रारम्भिक दिनों में ही मनुष्य जंगली शिकारी जानवरों से, यद्यपि वे शारीरिक दृष्टि से कहीं अधिक भयानक और शक्तिशाली थे, परास्त नहीं हुआ ? उसने उन्हें जीत लिया और अपनी श्रेष्ठता प्रस्थापित कर दी। साम्यवादी भी आज विनाश की भीषण शक्तियों से सम्पन्न दिखायी दे सकते हैं। परन्तु मनुष्य में अन्तर्जात अच्छाई की शक्ति कहीं अधिक प्रबल है और दुष्ट शक्तियों को अवश्य एक दिन पराजित कर देगी। मानव इतिहास का सही अध्ययन यही बताता है और दर्शन के हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी हमें यही शिक्षा दी है।

अतः हम अपना सम्पूर्ण ध्यान और शक्ति अधर्म की शक्तियों पर विजय प्राप्त करने के अन्तिम लक्ष्य पर केन्द्रित कर उस मार्ग पर चलने का निश्चय करें। धर्म की शक्तियों की अन्तिम विजय की कसौटी पर, हमको प्रत्येक, बाह्यतः अच्छे या बुरे लगने वाले कार्य की परीक्षा करनी चाहिये। केवल वही अच्छा और सराहनीय है, जिसके द्वारा पुण्यात्माओं और धर्मात्माओं को विजय प्राप्त होती है। और विजयी व्यक्तियों और महापुरुषों के उदाहरण तथा शिक्षाएँ अपने सही स्वरूप में विजय की आवश्यक संकल्प-शक्ति की हमें प्रेरणा दे सकती हैं तथा धर्मस्थापना के अर्थात् सारे संसार में धर्म की प्रतिष्ठापना के मार्ग में, जो युगों से हमारे राष्ट्रीय जीवन का उद्देश्य रहा है, वे हममें सही विवेक जागृत कर सकती हैं।

***

२७ विजय के लिए संघर्ष*

१. समुचित उपाय

विश्वासघात ?

लोगों का कहना है कि चीन द्वारा हमारे देश पर आक्रमण २० अक्टूबर १९६२ से ही हुआ है। यद्यपि हमारी सरकार तो चीन के इस आक्रमण पर अकस्मात सहसा जागी-सी प्रतीत होती है फिर भी चीन का यह ताजा अतिक्रमण अनपेक्षित कदापि नहीं है। जब चीन ने तिब्बत पर आक्रमण किया और वहाँ बलात् कब्जा कर लिया तब ही यह स्पष्ट हो चुका था कि हमारे प्रति चीन के इरादे सद्भावनापूर्ण नहीं हैं। एक ओर रूस और दूसरी ओर समुद्र से घिरे चीन को अपनी विस्तारवादी भूख के लिये निर्बल स्थान जो दिखाई दिया वह तिब्बत ही था। अंग्रेजों ने भारत और चीन के बीच एक 'संघात-सह' राज्य (बफर स्टेट) के नाते तिब्बत का स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखा था। किन्तु अंग्रेजों द्वारा सम्पादित इस कार्य को नष्ट करने के उत्साह में हमारे वर्तमान सत्ताधारियों ने तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली। और फिर चीन हमारे भू-प्रदेश में घुस पड़ा, अवैध रूप से उसने हमारे क्षेत्र की १२००० वर्गमील भूमि हथिया ली। यह तथ्य हमारे नेताओं ने ही स्वीकार किया है। इन घटनाओं और तथ्यों के प्रकाश में हम चीन पर विश्वासघात करने का दोष लगावें, यह कठिन है। वर्षों से हमारे देश की ओर चीन की कार्यवाहियाँ खुले रूप से शत्रुता की रही हैं।

इस वर्तमान संकट का मुकाबला करने के लिये प्रभावी उपाय योजना

---

* अक्तूबर, १९६२ के चीनी आक्रमण के पश्चात्।

सोच सकने के पूर्व हमें हमारे मस्तिष्कों को पूर्व निर्धारित विचारों के जालों से साफ कर लेना होगा और शत्रु के वास्तविक स्वभाव तथा उसकी तैयारियों की व्यापकता का ठीक-ठीक निर्धारण कर लेना होगा।

पूर्व चेतावनी की उपेक्षा की गई

सबसे पहले हमें यह ध्यान में रखना होगा कि चीन सदा से विस्तारवादी देश रहा है। यह उसके रक्त में है। डेढ़ सौ वर्ष से अधिक काल पूर्व नेपोलियन ने सावधान करते हुए कहा था कि 'इस पीले दैत्य को न उठने दो अन्यथा यह मानवता के लिए एक गम्भीर संकट सिद्ध होगा।' सत्तर वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने विशेष रूप से सावधान किया था कि 'अंग्रेजों के भारत छोड़ने के पश्चात् शीघ्र ही चीन भारत पर आक्रमण करेगा।'

हम संघ के लोग भी आठ वर्ष से स्पष्ट शब्दों में सावधान करते आ रहे थे कि चीन ने हमारे देश के सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कितने ही स्थानों पर अतिक्रमण किया है। उस समय कोई हम पर विश्वास करने को तैयार नहीं था। एक प्रमुख अंग्रेजी दैनिक पत्र के सम्पादक ने तो यहाँ तक कहा था कि 'हम एक पागल की तरह बात करते हैं।' और अब हमारे नेता कहते हैं कि उन पर यह आकस्मिक आघात हुआ है।

अब तो चीन के विस्तारवादी रक्त के साथ-साथ साम्यवाद का नशा भी आ लगा है, जिसकी विचारधारा अत्यन्त आक्रामक, विस्तारवादी और साम्राज्यवादी होती है। इस प्रकार साम्यवादी चीन दो आक्रामक प्रवृत्तियों का विस्फोटक सम्मिश्रण है, जो इस कहावत को चरितार्थ करता है—

अपि च कपिः कापिशायन मदमत्तः।

(एक तो वानर दूसरे मदिरा पिये हुए।) अतः यदि हम कम्युनिस्ट चीन की इस आक्रामक वृत्ति को केवल उसकी जातीय प्रकृति का लक्षण ही मानते रहेंगे और उसकी वर्तमान साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव भी उसका कारण है, ऐसा नहीं मानेंगे तो हम अपने को भ्रम में रखते हुए उसका सामना करने की अपनी तैयारी में गलत पग उठायेंगे।

पीले संकट का स्वरूप

कुछ लोग कहते हैं कि चीन का यह आक्रमण 'ईश्वरीय वरदान' है,'आवरण से ढँका आशीष' है, जिसने हमारे लोगों को एक राष्ट्रीय एकता में आबद्ध कर दिया है। निःसन्देह लोगों ने समय की पुकार का उत्तर अत्यन्त उत्तमता से दिया है और शत्रु को खदेड़ने के लिए अविचल निश्चय के साथ एक पुरुष के समान खड़े हो गये हैं। किन्तु वे नहीं जानते कि अपने इस निश्चय को किस

प्रकार व्यक्त करें और उन्हें करना क्या है। जैसा वे अंग्रेजों से संघर्ष करते हुए किया करते थे, उसी प्रकार उन्होंने जलूस निकाले, प्रदर्शन किये, पुतले जलाये और प्रस्ताव पास किये। किन्तु हमें यह बात भली प्रकार समझना चाहिए कि यह शत्रु जिसका सामना हम इस समय कर रहे हैं, नितान्त भिन्न प्रकार का है। अंग्रेज सभ्य लोग थे जो सामान्यतया कानून का पालन करते थे। किन्तु चीनी जाति एक भिन्न प्रकार की ही समस्या है। उनमें तो सौजन्य, दया अथवा मानव जीवन के प्रति सम्मान जैसे सामान्य मानवोचित गुणों तक का अभाव है। तथ्य यह है कि एक बार माओत्सेतुंग ने स्पष्ट रूप से अपनी यह इच्छा व्यक्त की थी कि वह संसार में एक ऐसा युद्ध देखना चाहता है, जिसमें सभी आधुनिक आणविक अस्त्रों का पूर्ण और खुलकर प्रयोग हो। उसका तर्क था कि अमेरिका, रूस तथा योरोप के अन्य सभी देशों के अधिकतर जनों का पूर्ण विनाश हो जायगा। यदि उस उपद्रव में चालीस करोड़ चीनी भी समाप्त हो गये तो भी संसार पर शासन करने के लिए उनके पास पचीस करोड़ बच रहेंगे। उनके लिए यह अत्यन्त साधारण तर्क है। उन्हें मानव जीवन की हानि की कोई चिन्ता नहीं। उनके लिये यह घास के समान है जो काटी जाती है और पुनः लगाई जाती है। कोरिया में भी यही अनुभव हुआ था। जब वे आक्रमण करते हैं तो एक के बाद दूसरे रेले की तरह आते हैं। जब एक सैन्य टुकड़ी समाप्त कर दी जाती है तो उसके स्थान पर दूसरी लगा दी जाती है।

कहा है कि मनुष्य जैसा भोजन करता है वैसा ही हो जाता है। चीनियों के लिए कहा जाता है कि वे द्विपादों में मनुष्य को नहीं खाते हैं तथा चतुष्पादों में केवल मेज को ही छोड़ते हैं। वे चूहे, बिल्ली, सुअर, कुत्ते, साँप, तेलचट्टा तथा सब कुछ खा लेते हैं। ऐसे लोगों से यह आशा नहीं की जा सकती कि उनमें मानवोचित गुण होंगे। अतः जो कला सुसभ्य अंग्रेजों के विरुद्ध प्रयोग में लाई गई थी, उसे चीनियों के साथ व्यवहार में लाने से कोई लाभ नहीं। उन्हें धोखेबाज और अधम आदि कहकर उनको दोष देने से भी कोई लाभ नहीं। इस प्रकार की गालियाँ दुर्बलों द्वारा व्यक्त अभिशाप मात्र होती हैं। वे घूंसे के बदले में घूंसा नहीं मार पाते अतः अपने शत्रु को गाली देकर अपने मन को समझा लेते हैं। हमें ऐसे निम्नकोटि के विचारों के वशीभूत नहीं होना चाहिए।

और भी, हमें यह स्मरण रहे कि आज सम्पूर्ण चीन एक सशस्त्र शिविर है। प्रत्येक वयस्क शस्त्रास्त्र चलाने में प्रशिक्षित है। उनके शस्त्रास्त्र हम से

श्रेष्ठतर हैं। उनके नेता भी गत कई दशाब्दों से भी अधिक काल से लगातार खूनी युद्ध के वातावरण में पैदा हुए और पले हैं।

फिर भी, हम इन प्रतिकूल तत्वों को ठीक कर सकते हैं यदि हम जी लगाकर दृढ़तापूर्वक सही दिशा में प्रयास करने के लिए आगे बढ़ें।

इच्छाशक्ति दृढ़ बनायें

एक राष्ट्रव्यापी सुनिश्चित एवं सुगठित प्रयास के लिए सबसे पहली आवश्यकता है, फौलादी आकाँक्षा की। एक लम्बे और कटु संघर्ष की सम्भावना है। कष्टों एवं बलिदानों के लिए हम सभी का आह्वान होगा। हम सभी इन कठिनाइयों का सामना दृढ़ता एवं प्रसन्नता के साथ करें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपनी मातृभूमि के लिए उपासना की भावना जो हमारे हृदयों में इतने समय से सुप्त रूप से पड़ी हुई है, अब उद्दीप्त होगी तथा स्वार्थ एवं ईर्ष्या के घने अन्धकार को बहिष्कृत करेगी। राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में दान देने के लिए इतने लोग आगे आ रहे हैं कि उन्हें देखकर प्रोत्साहन मिलता है। मैं आशा करता हूँ कि अधिकाधिक लोग इससे भी अधिक देंगे। शारीरिक दृष्टि से योग्य सभी व्यक्तियों को सेना में सेवा करने के लिए उद्यत रहना चाहिए तथा उनकी माताओं को इस परीक्षाकाल में उन्हें आशीर्वाद देकर बिदा करना चाहिए। जब महाभारत युद्ध के पूर्व पांचों पाण्डव अपनी माता कुन्ती से मिलने गये तो उसने यह कहते हुए उन्हें आशीर्वाद दिया कि "तुम सब युद्ध में जाओ और अपनी सम्पूर्ण शक्ति इस धर्मयुद्ध में लगा दो, इसी अवसर के लिये क्षत्राणी पुत्रों को जन्म देती है।" इस समय भी प्रत्येक माता को इसी प्रकार के पराक्रम को जाग्रत करने वाले ओजस्वी भाव व्यक्त करना चाहिए।

यह स्मरण रहे कि आधुनिक युद्धों में एक सम्पूर्ण राष्ट्र दूसरे सम्पूर्ण राष्ट्र से युद्ध करता है। उसमें सभी का योगदान होना चाहिए। ये युद्ध केवल सेनाओं में ही जमकर नहीं हुआ करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, वैज्ञानिक एवं उद्योगपति से लेकर श्रमिक एवं कृषक पर्यन्त सभी को राष्ट्र के प्रति समर्पण की भावना से परिश्रमपूर्वक अधिकाधिक कार्य करना होगा तथा वैयक्तिक एवं दलीय झगड़ों और अधिकारों के अन्य सभी विचारों को इस काल के लिए अलग रखना होगा।

नेतृत्व परीक्षा पर

दूसरी आवश्यकता है एक ऐसे नेतृत्व की जिसके संकल्प में वज्र के समान

दृढ़ता हो, जो वर्तमान संकट में भीति के कारण शान्तिवार्ता के लिए न झुक जाये। किन्तु हमारे कुछ चोटी के नेता शान्ति की भावनाओं से इतने विवेक भ्रष्ट हो गए हैं कि युद्धबन्दी के लिए चीनियों की घोषणा मात्र से ही उनके पैर उखड़ गये हैं। वे सोचते हैं कि 'किसी भी मूल्य पर शान्ति मोल ले लेनी चाहिए।' 'किसी भी मूल्य पर शान्ति को मोल लेने' की इस प्रवृत्ति के कारण १५ वर्ष पूर्व हमारे देश का विभाजन हो गया। उसके पश्चात् भी इसी प्रवृत्ति के कारण हमने एक तिहाई कश्मीर भी खो दिया। अब बेरूबाड़ी जा रहा है। वर्तमान संकट में कम से कम अतीत के इन दुःखद प्रसंगों की शिक्षाओं से हमारी आंखें खुल जानी चाहिए।

अतएव जनमत को शिक्षित और संचालित कर समाज की सामूहिक इच्छा को जागृत करना हमारा कर्तव्य है, जिससे कि हमारे नेतागण आक्रान्ताओं से कोई अपमानजनक समझौता न कर सकें। शत्रु को तिब्बत से बिना निकाल बाहर किये युद्धबन्दी स्वीकार करना सामरिक दृष्टि से भयंकर भूल होगी। काश्मीर में युद्धबन्दी का जो अनुभव हुआ है, वह हमारे लिए पर्याप्त चेतावनी होना चाहिए। समय से पूर्व युद्धबन्दी हमारी सेना एवं जनता का केवल उत्साह भंग करेगी। वास्तव में इससे उनके महान् बलिदान व्यर्थ हो जायेंगे। यदि हमारे नेता राष्ट्र के संघर्ष को आवश्यकतानुसार उत्कटता से नहीं चला सकते तो उन्हें चाहिए कि दृढ़तर तत्व से निर्मित लोगों के लिए स्थान खाली करें। प्रतिभा और मेधा शक्ति पर कुछ व्यक्तियों का ही एकाधिकार नहीं होता, चाहे वे व्यक्ति वर्तमान काल के कितने ही प्रभावशाली तथा लोकप्रिय क्यों न हों। योद्धाओं की अमर जाति की माता—भारत में पराक्रमी एवं सामर्थ्यवान् नेताओं का अभाव नहीं रहा।

हम अपनी ओर से पीछे हटना और प्रयत्नों का शैथिल्य कभी सहन नहीं कर सकते। यदि हम चीनियों को अपने भू-प्रदेश पर जमे रहने देते हैं तो हम उन्हें स्वस्थ होने का समय तथा और अधिक विस्तार के लिए एक आधार प्रदान करते हैं। इससे भविष्य के लिए हमारे राष्ट्र की सुरक्षा संकट में पड़ जायगी। इसलिए हम सबका यह कर्तव्य है कि इस निर्णायक समय पर यह देखते रहें कि हमारे नेता फिसल न जायें। हम उन्हें सावधान करते हुए साहस देते रहें जिससे कि वे अपने महान् देश के सम्मान एवं प्रभुसत्ता की रक्षा के लिए पराक्रमी पुरुष की भाँति कार्य करें।

शत्रु की घातनीति से सावधान

चीनियों द्वारा युद्धबन्दी की घोषणा से हमारे देश की जनता पर हुए

उत्साह भंग के परिणाम को दृष्टि में रखते हुए इस प्रकार सावधान करना और भी अधिक आवश्यक हो गया है। शत्रु की यह चाल है कि हममें झूठी सुरक्षा की भावना निर्माण कर उत्साह को ठण्डा करते हुए हमारे युद्ध प्रयत्नों को शिथिल कर दे और तब हमें असावधान पाकर और भी अधिक शक्ति से पुन: आक्रमण कर सम्पूर्ण देश पर अधिकार कर ले।

एक अन्य बात भी है, जिसका प्रभाव हमारे लोगों के मनोधैर्य पर विपरीत होता है। अब तक सुरक्षा प्रयत्नों के लिए हम जो कुछ कर रहे हैं, वह केवल धन-संग्रह मात्र है। आरम्भ में लोगों ने स्वयंस्फूर्ति व स्वेच्छा से ही धन दिया। यह अच्छा था क्योंकि इससे देशप्रेम की इच्छा-शक्ति को जगाने एवं मूर्तरूप प्राप्त कराने में सहायता ही हुई। किन्तु बाद में सरकार ने यह धन एकत्र करने का कार्य अपने हाथ में ले लिया। जन–उत्साह का प्रथम आवेश ठण्डा भी हो रहा है। सम्पूर्ण देश से निश्चित और विश्वसनीय सूचनायें प्राप्त हो रही हैं कि जनता से धन प्राप्त करने के लिए प्रशासनिक यत्र द्वारा सभी प्रकार के दबाव डाले जा रहे हैं। यह एक प्रकार से अवैध धनापहरण से कम नहीं है। जब सरकार इस प्रकार से दबाव डालने की युक्तियों पर उतर आती है तो जनता के यह भी सोचने की सम्भावना है कि "यदि हमें इस प्रकार धमकाया जा रहा है तो हमारे अपने शासन और विदेशी शासन में अन्तर ही क्या रहा ?" इससे लोगों की स्वयंस्फूर्तता नष्ट होकर उनका उत्साह भंग हो जायगा।

ध्येयवचन-मितव्ययता

यदि हम वास्तव में अपने आर्थिक साधनों को जुटाने का गम्भीरता से विचार कर रहे हैं तो उसके लिए अन्य स्वस्थ उपाय हैं। प्रथम बात तो यह है कि संकट काल घोषित हो जाने से अब हमें कुछ काल के लिए राज्य विधान मण्डलों को भंग कर देना चाहिये। इससे करोड़ों रुपये वार्षिक की बचत हो जायगी। केन्द्र में एक दृढ़ निर्वाचित संसद् जनतन्त्र की माँगों की भलीभाँति पूर्ति कर सकती है। दूसरे, मद्य निषेध समाप्त करो। इसका अर्थ मद्य की बुराइयों को न्यून समझना कदापि नहीं है। इसके विपरीत मदिरा के दैत्य को गहरा गाड़ देना चाहिये। इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। किन्तु मद्य-निषेध की इस वर्तमान नीति ने अन्य अनेक सामाजिक बुराइयों को जन्म दिया है जो अब तक हमारे देश में नहीं थीं। मद्यासक्त लोगों को मद्य विपुल मात्रा में प्राप्त होता है किन्तु उसके लिए उन्हें अवैध उपाय अपनाने पड़ते हैं। फिर

ऐसे लोग भी हैं जो यह अवैध व्यापार चलाते हैं और उसमें सहायक होता है भ्रष्टाचारी अधिकारियों का सम्पूर्ण वर्ग जो इस निषेध के द्वारा लाभान्वित होता है। वास्तविकता यह है कि यही निहित स्वार्थों वाले व्यक्ति मद्य-निषेध को चालू रखना चाहते हैं। यह जनता की नैतिकता को नष्ट करता है। यही वह नैतिक पक्ष है, जिसके कारण हम कहते हैं कि 'निषेध समाप्त करो।' शिक्षा एवं मनोरंजन की स्वस्थ आदतों तथा संस्कारों द्वारा हम इस मद्यपान की बुराई को दूर कर सकते हैं, कानून बनाने से नहीं। इसके द्वारा सरकार को राजस्व की अच्छी आय भी होगी।

और, इस आपत्कालीन अवस्था का सामना करने के लिए जिन विशाल साधनों की आवश्यकता है, वह भी प्रत्येक क्षेत्र में जितना भी अधिक से अधिक सम्भव हो, मितव्ययता करके ही जुटाये जा सकते हैं। किन्तु दुर्भाग्य से आज हमारे देश के उत्तरदायी व्यक्तियों को मितव्ययता सबसे छोटा गुण प्रतीत होता है। हाँ, निःसन्देह सामान्यजन को वे मितव्ययता का उपदेश देते हैं। किन्तु वे स्वयं जिस प्रकार से फिजूलखर्ची करते हैं, उससे कोई भी यह समझेगा कि वास्तव में वे इस बात को अल्प मात्रा में भी अनुभव नहीं करते कि देश के सामने कोई भयंकर संकट भी है। वे तो अपनी वर्तमान सत्ता की कुर्सियों को मजबूत करने में, आन्तरिक स्पर्द्धाओं में, अपने ही अनचाहे साथियों को निकालने में तथा इसी प्रकार की अन्य क्षुद्रताओं में इतने व्यस्त हैं कि अपने देश की सुरक्षा के अपरिहार्य महत्व की सुदृढ़ तैयारी जैसी बातों पर विचार करने के लिए उनके पास समय ही नहीं है।

आलोचना का स्वागत करो

जब हम यह सब बातें कहते हैं तो हमारे बड़े नेता हमें सावधान करते हैं कि इस संकटकाल में हमें उनकी आलोचना करने से विरत होना चाहिये। हम यह समझने में असमर्थ हैं कि प्रामाणिक देशभक्ति की भावना से की गई आलोचना से उन्हें घबड़ाना क्यों चाहिए? क्या वे हमसे केवल यही आशा करते हैं कि उनके सभी कार्यों को शतप्रतिशत ठीक मान लिया करें? क्या ऐसी चापलूसी देशहित में होगी? यदि उनकी सभी नीतियाँ और कार्य ठीक हैं तो दूसरों को उनकी आलोचना का अवसर ही नहीं मिलेगा। और यदि इसके विपरीत वे गलत हैं तो हम उनकी आलोचना करने और उनका सुधार करने के लिए कर्तव्यबद्ध हैं। उन्हें भी जनता की आवाज को नम्रतापूर्वक सुनना और उसका सम्मान करना चाहिए। हमारे नेताओं का आलोचना से

शीघ्र कुपित हो जाना ही यह संकेत देता है कि आलोचना के लिए बहुत बड़ी गुंजाइश होने की सम्भावना हैं।

प्रामाणिक आलोचना का दमन जनता की आवाज का गला घोंटने से कम नहीं होगा जो कि हिटलर और स्टालिन के अत्याचारी शासन का स्मरण कराने वाला होगा। किन्तु यह स्मरण रहे कि इस प्रकार का अनियंत्रित शासन अल्पकालीन था। उनके बिदा होते ही इतिहास ने उन्हें क्षमा नहीं किया और विश्वमत ने उनकी पूर्णरूपेण भर्त्सना की। एक और बात है, जैसे ही व्यक्ति सत्ता के उच्च स्थान पर पहुँच जाते हैं वे जनता की दृष्टि में और भी आने लगते हैं तथा उनकी छोटी से छोटी असफलता एवं स्खलन भी जनता की आलोचना के विषय बन जाते हैं। हमारे नेताओं को इंगलैंड से शिक्षा लेनी चाहिए जो दो विश्वयुद्धों की अग्निपरीक्षा में से गुजरा किन्तु जिसने जनता की आवाज को एक बार भी नहीं दबाया और नागरिक स्वाधीनताओं को बराबर अक्षुण्ण रखा।

अभी हाल में हमारे सुयोग्य गृहमंत्री ने राजनीतिक दलों के विरुद्ध राज्य सभा में बहुत बातें कहीं तथा उसके बाद ही कांग्रेस द्वारा इस आशय का एक 'गुप्त' परिपत्र प्रसारित किया गया कि जो लोग सरकार और पंडित नेहरू की आलोचना करते हैं, उन्हें देशद्रोही मानकर उनसे व्यवहार करना चाहिए। निःसंदेह आचार्य रंगा के आपत्तिसूचक पत्र के उत्तर में नेहरू ने कहा था कि यह शब्दावली अनुचित थी। किन्तु ध्यान दीजिए, उन्होंने केवल 'अनुचित' कहा 'असत्य' नहीं। क्या यही ढंग है देश में जनता की समेकित इच्छा-शक्ति के निर्माण का? क्या इसके प्रभाव से जनता में पक्षभेद उत्पन्न नहीं होंगे—एक ओर कांग्रेस तथा दूसरी ओर शेष सभी। और इतने पर भी वही कहते हैं कि दूसरे लोगों को आलोचना नहीं करनी चाहिए वरन् एकता के लिए कार्य करना चाहिए। अभी हाल में एक बड़े कांग्रेसी नेता ने कहा है, सभी दूसरे राजनीतिक दलों को कठोर नियंत्रण में रखना चाहिये अन्यथा वे लोकप्रियता प्राप्त कर सकते हैं और अगले निर्वाचनों में कांग्रेस की विजय को दुरूह बना सकते हैं। इस पर एक स्थानीय कांग्रेसजन इस विचार को सहन न कर सका और उसने खुले रूप से प्रत्युत्तर दिया—"यदि चीनी आ गये तो अगला निर्वाचन होने की सम्भावना ही कहाँ है?"

जो व्यक्ति देश के कर्णधार हैं, उन्हें इस प्रकार की अप्रजातान्त्रिक बातें बन्द करवाना चाहिये। युद्ध में रत नेतृत्व के लिये यह अयोग्य होगा। वे अपने को राष्ट्रीय नेता समझें, एक ही दल का नेता नहीं। हम अपने को यह बात

पुनः स्मरण दिलायें कि हमारा सबका एकमात्र शत्रु चीन है तथा पारस्परिक विरोध, सन्देह एवं स्पर्द्धा के वशीभूत हो जाना हमें शोभा नहीं देता। हम आशा करें कि हमारे सभी नेता जनता के मनोधैर्य का निर्माण करने वाले सभी मामलों में अपना उदाहरण प्रस्तुत कर अवसर के अनुरूप सिद्ध होंगे।

व्यक्तिपूजा का संकट

कुछ लोग हमारे सुयोग्य प्रधानमंत्री के प्रति इस प्रकार की स्पष्ट एवं मैत्रीपूर्ण चेतावनियों को उनके प्रति प्रेम और सम्मान के अभाव का सूचक मानने की भूल करते हैं। वे पूर्णतया भ्रम में हैं। वे चापलूसी को ही सम्मान मान बैठे हैं। हम प्रधानमंत्री का सम्मान करते हैं और उन्हें विश्व का एक महान् व्यक्तित्व मानते हैं, किन्तु हम उनकी चापलूसी नहीं कर सकते, हम उन्हें भूलों से परे नहीं मान सकते। यह उनके लिए भी भला नहीं होगा। कम्युनिस्ट तथा इसी प्रकार के अन्य लोग उच्च स्वर से कहते रहते हैं कि 'हमें नेहरू के हाथ मजबूत करना चाहिये।' स्पष्ट है कि यह केवल उनकी चापलूसी करके अपने प्रच्छन्न लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये है। किन्तु हम कहते हैं कि हम नेहरू के हृदय को मजबूत बनायें। यदि हम यह करते हैं तो आपसे आप उनके हाथों को मजबूत बनाते हैं।

इस प्रकार की 'व्यक्तिपूजा' हमारी संस्कृति और परम्पराओं के लिये पराई ही नहीं वरन् हमारे राष्ट्रीय हितों को भी अति हानिकारक होगी। पानीपत के तृतीय युद्ध में हिन्दू सेनाओं के मुख्य सेनापति सदाशिवराव भाऊ किसी कारण से हाथी से उतरकर घोड़े पर सवार हो गये। सैनिकों ने उन्हें देख न सकने के कारण मरा हुआ समझ लिया और धैर्य छोड़कर भाग खड़े हुए। यह इसलिए हुआ कि सदाशिवराव का व्यक्तित्व ही एक मात्र ऐसा केन्द्र था, जिससे सम्पूर्ण सेना प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्राप्त करती थी। दूसरी ओर, शिवाजी के पश्चात् बीस वर्ष तक महाराष्ट्र में कोई एक सर्वमान्य नेता नहीं था। सम्भा जी पकड़ा गया, यातना देकर उसकी हत्या कर दी गई। शाहू मुगलों का बन्दी था। राजाराम को पृथक् करके जिंजी में घेर लिया गया था। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार युद्ध करता रहा मानो स्वराज्य तथा शिवाजी की आत्मा ने उसमें जन्म ग्रहण कर लिया हो। उनसे लड़ते-लड़ते बीस वर्ष के पश्चात् पराजित एवं भग्नहृदय औरंगजेब मर गया। इस प्रकार का है महत् अन्तर व्यक्ति पूजा और आदर्श के प्रति समर्पण में।

लाल प्रवंचना

तृतीय बात यह है कि हमें अपने देश के आन्तरिक संकट से अत्यन्त सावधान रहना चाहिये। जैसा कि हमें ज्ञात है अपने बीच में पर्याप्त संख्या में ऐसे लोग हैं जो चीनी आक्रमण का स्वागत करते हैं। उनके लिये चीनी धर्मपिता हैं और चीनी सेना 'मुक्तिसेना' है। उनके कुछ चोटी के लोगों ने तो यहाँ तक खुलकर कहा है कि आक्रान्ता चीन नहीं वरन् भारत है। आज भी सीमा-क्षेत्रों में कम्युनिस्ट यह जोरदार प्रचार कर रहे हैं कि धर्म-राज्य की स्थापना के लिए चाऊ-एन-लाई के रूप में पृथ्वी पर श्रीकृष्ण का अवतार हुआ है। उन्होंने चन्दा भी किया है और जनता से कहा है कि इन रसीदों को सुरक्षित रखें तथा चीनियों के आने पर उन्हें दिखायें जिससे कि वे मित्र के रूप में पहचाने जायेंगे। इस प्रकार के दल को हमारे प्रधानमंत्री के द्वारा शतप्रतिशत राष्ट्रीय होने का शुद्ध प्रमाणपत्र दिया जा चुका है।

एक सूचना के अनुसार कम्युनिस्टों ने आसाम में भी तोड़फोड़ करने का प्रयत्न किया है। देश के अन्य भागों में भी वे ऐसा ही करने का प्रयास कर सकते हैं। किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि उन पर न तो निगाह ही रखी जाती है और न नियंत्रण। उल्टे प्रतीत यह होता है कि हमारी सरकार और जनता उनकी चालबाजियों में फँस जाती है। कहा जाता है कि उनका दल पेकिंगवादी तथा मास्कोवादी दो गुटों में विभक्त हो गया है, उसमें फूट पड़ गई है और दोनों ही एक दूसरे के कटु विरोधी हैं। स्मरण रखिये कि उनमें भारतवादी गुट एक भी नहीं है। जिसे कम्युनिस्ट कला का स्वल्प भी ज्ञान है, वह इस कल्पित कथा में कभी विश्वास नहीं करेगा। यह तथाकथित फूट जनता को छलने के लिए एक चाल मात्र है। उनकी योजना यह है कि एक गुट तो प्रधानमंत्री तथा उनकी नीतियों का साथ देता रहे जिससे कि वे अपने को सामान्य जनता के विश्वास में स्थान प्राप्त करा सकें और उस आवरण के पीछे दूसरा गुट गुप्त रूप से शस्त्रास्त्रों का संचय करके गुरिल्ला युद्ध में प्रशिक्षित हो जाय, जिससे कि कुछ ही महीनों में वे सम्पूर्ण देश में, विशेष रूप से आसाम और बंगाल में विद्रोह करने के लिए सुसज्ज हो सकें तथा प्रशासन को भंग कर सम्पूर्ण देश पर चीनियों के आक्रमण को सुलभ बना दें। वास्तव में यही हो रहा है। गुरिल्ला युद्ध की शिक्षा दी जा रही है।

चीनी पहेली

हमें इससे चीनियों की आकस्मिक एवं अनपेक्षित युद्धबन्दी के पीछे जो

कारण है उसका संकेत प्राप्त होता है। वे जिस समय वास्तविक रूप से विजेता थे उसी समय उन्होंने युद्धबन्दी की घोषणा करके समस्त विश्व को आश्चर्य में डाल दिया। यह एक महान् और अद्भुत कृत्य था कि विजयी स्वेच्छा से युद्ध रोक दे तथा शान्ति का अति उदार संकेत करे। इस रहस्य को समझाने के लिए विविध सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। एक सिद्धान्त है कि चीनियों ने यह अनुमान लगाया था कि इस देश के लोगों को एक दूसरे से कलह करना इतना रुचता है कि उनके झगड़े तथा विभेद इसी प्रकार चलते रहेंगे और उनसे लाभ उठाकर वे सरलता से देश को जीत सकेंगे। किन्तु उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आक्रान्ता को निकाल बाहर करने के लिये सम्पूर्ण देश एक व्यक्ति के समान खड़ा हो गया। चीनियों के लिए यह अनपेक्षित था। अतएव उन्होंने अपने आक्रमण को रोक देना ही अच्छा समझा।

दूसरा सिद्धान्त है कि चीनियों को यह आशा नहीं थी, भारत के लिए अमेरिका आदि मित्र देशों से शस्त्रास्त्र तथा अन्य प्रकार की सैन्य सहायता इतने कम समय में प्राप्त हो सकेगी। वास्तव में जिस क्षिप्रता और क्षमता से अमेरिकी सहायता हमारे लिए आई उसकी हृदय से प्रशंसा करनी ही चाहिए। इससे चीनी विस्मयाभिभूत हो गये और एक भीषण प्रत्याक्रमण के भय से वे और आगे बढ़ने से विरत हो गये।

कुछ लोग जो चीन तथा रूस की प्रत्येक बात की प्रशंसा करते रहते हैं, कहते हैं कि चीनी केवल उसी भूभाग पर अपना अधिकार जमाने आये थे जिसे वे अपना बताते थे। उन्होंने मैक्मोहन सीमा रेखा को स्वीकार नहीं किया था। वे कहते हैं कि वास्तविक सीमा कहीं और भी दक्षिण में है। वे उस सीमा तक आये जिसे वे ठीक समझते थे। एक प्रकार से उन्होंने अपने अधिकार को व्यक्त किया और वे लौट गये। यह कहना चीनियों को पर्याप्त प्रशंसा देना है।

गहरी चाल

तथापि एक और तथ्य उपेक्षित ही रह गया है। चीनियों के आक्रमण के समकाल में बंगाल के कम्युनिस्ट दल के द्वारा विप्लव करने की एक योजना थी जिसके अनुसार वे इतने व्यापक परिमाण में व्यवस्था भंग कर देना चाहते थे कि प्रशासन ही भंग हो जाता, अराजकता छा जाती और इस अवस्था का लाभ उठाकर चीनी हिमालय से लेकर कलकत्ता तक सरलतापूर्वक अपने को सुस्थिर बना लेते। किसी कारणवश यह योजना विफल हो गई। या तो यह हो सकता है कि कम्युनिस्ट तैयार नहीं थे, अथवा उनके हृदय की शक्ति ने

अन्तिम क्षण पर उन्हें धोखा दिया अथवा जनता अत्यन्त सावधान होकर उनके विरुद्ध हो गई जिससे कि उनमें उस योजना को आगे बढ़कर क्रियान्वित करने का साहस नहीं रहा । कारण कुछ भी हो, तथ्य यह है कि वे आक्रान्ता चीनियों की अपेक्षा के अनुसार कार्य न कर सके । उनकी योजना विफल हो जाने से चीनियों ने सोचा कि उन्हें और अधिक उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिए, इसीलिये उन्होंने कुछ काल के लिये आक्रमण बन्द कर दिया । जब हम इस तथ्य के अंशों को यहाँ कम्युनिस्टों की वर्तमान चाल के साथ देखते हैं तो हमारे सामने एक ज्वालामुखी की विभीषिका का पर्याप्त सही और स्पष्ट चित्र उभरता है जो चीनियों की वर्तमान युद्धबन्दी की दृश्यरूप ऊपरी शान्ति के नीचे शनैः-शनैः उबल रहा है ।

हरा संकट

हमारी आन्तरिक व्यवस्था में एक अन्य संकट का स्थान, सशस्त्र पाकिस्तानी पंचमाँगी हैं, जो सम्पूर्ण देश में सामरिक महत्व के स्थानों पर मोर्चाबन्दी किये हुए हैं । विविध प्रकार के घातक शस्त्र सीमान्त क्षेत्रों में बसे हुए मुसलमानों को बांटे जा रहे हैं । सम्भवतः वे अनुभव करते हैं कि उनके लिये विद्रोह करने का यह स्वर्ण अवसर है, जिससे कि वे हमारे नेताओं को घुटने टिका कर पहले की भांति एक और भूखण्ड दे डालने के लिए बाध्य कर दें । सच बात तो यह है कि चीनी उर्वशीयम् क्षेत्र में चौकी के बाद चौकी पर अधिकार करते जा रहे थे तब सम्पूर्ण देश में इस प्रकार के पाकिस्तानी तत्व बहुत हर्षित हुये थे । वे कहा करते थे—"तुम्हारे प्रति ठीक ही हो रहा है ।" अभी हाल में ही हुई पाक-चीन की अपवित्र मैत्री के कारण वे और भी ढीठ हो गये हैं । जिस समय जनता और सरकारी अधिकारी भी तेजपुर को तथा अन्य क्षेत्रों को खाली कर रहे थे, उस समय केवल मुसलमान ही वहाँ रुके थे । वे कहते थे कि पाकिस्तान और चीन में गुप्त समझौता हो गया है कि आसाम को दोनों ही परस्पर बाँट लेंगे—उत्तरी भाग चीन का और दक्षिणी भाग पाकिस्तान का होगा, अतः वे सुरक्षित हैं । वे लोग १९४६-४७ की भांति पूर्णरूप से उन्मत्त हो गये थे और "पाकिस्तान-जिंदाबाद" तथा "हँस के लिया है पाकिस्तान लड़ के लेंगे हिन्दुस्तान" के नारे लगाया करते थे । उन्होंने खाली किए हुए हिन्दू घरों और दूकानों को लूटा । इसलिए सभी नागरिकों का जिनमें विचारवान मुसलमान भी सम्मिलित हैं, यह कर्तव्य है कि इस प्रकार के पंचमांगी मुसलमानों से विशेष रूप से सावधान रहें तथा आरम्भ से ही उन पर दृष्टि रखें । ताकि

उन्हें आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था भंग करने का अवसर ही न मिले। हमारी सुरक्षा सिद्धता के लिए यह सबसे बड़ी और पहली आवश्यकता है।

इस प्रकार के विध्वंशकारी तत्वों के साथ व्यवहार करते समय एक मार्गदर्शक सिद्धान्त है, कि उन्हें भी शत्रु जैसा ही मानकर कठोरतापूर्वक उनका दमन करना। महाभारत में एक अत्यन्त बोधप्रद घटना है। जब राजा जनमेजय ने तक्षक के द्वारा अपने पिता परीक्षित के मारे जाने का बदला लेने के लिए सर्प-यज्ञ किया तो तक्षक ने भाग कर इन्द्र की शरण ली। तब जनमेजय तक्षक के साथ इन्द्र को भी उस सर्वग्रासी अग्नि में आहुत करने के लिए उद्यत हो गया तथा यह उच्चारण करके आहुति देने लगा—

"सेन्द्राय तक्षकाय स्वाहा।"

इस प्रकार के कठोर उपाय ही शत्रु के सम्भाव्य हस्तकों के हृदयों में भीति उत्पन्न कर सकते हैं और उनसे निष्ठावान् नागरिकों के समान व्यवहार करा सकते हैं।

तुष्टीकरण से भूख बढ़ती है

इसके बाद हमें अपने पड़ोसी देशों के साथ अपने सम्बन्धों पर विचार करना होगा, विशेषतया वे विचार वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में होने चाहिए। जब हम इस प्रकार की कठिन स्थिति में हैं तो हमारा पड़ोसी पाकिस्तान हमें सता सकता है, क्योंकि नेहरू के शब्दों में पाकिस्तान का जन्म घृणा और रक्तपात में हुआ है। और यह भी सम्भावना है कि हमारे नेता उसे सन्तुष्ट करने के लिए और अधिक देते जायें तथा कश्मीर के मामले में समझौता कर लें। राजाजी और जयप्रकाशनारायण ने तो यह प्रार्थना ही की है कि किसी भी मूल्य पर पाकिस्तान के साथ शान्ति बनाये रखना ही चाहिये, यदि आवश्यक हो तो कश्मीर देकर भी, जिससे कि चीन के विरुद्ध सम्मिलित मोर्चा बनाया जा सके। किन्तु क्या इससे समस्या का समाधान होगा? इन तत्वों से सम्बन्धित पूर्व इतिहास क्या बताता है? उनके हृदयों को जीतने के लिये अगणित प्रयोग किये गये थे। उनकी पीठें थपथपाई गयीं और उन पर सुविधाओं की वर्षा की गई। अन्त में हमने उन्हें अपनी मातृ भू के भाग भी दे दिये। इतने पर भी वे सन्तुष्ट न हुए। उन्होंने काश्मीर पर आक्रमण किया। उन्हें प्रसन्न करने के लिये हमने एक तिहाई काश्मीर दे दिया। हमने उन्हें अपनी लागत से बनाई हुई नहरों का पानी दिया। और इस सबके सिवाय हमने उन्हें लगभग ८५ करोड़ रुपया भी दिया।

किन्तु बदले में उन्होंने हमें क्या दिया ? विभाजन की शर्तों के अनुसार हिन्दुओं द्वारा पाकिस्तान में छोड़ी हुई सम्पत्ति के लिए उनकी ओर से मुआवजा दिया जाना चाहिए था । वह सम्पत्ति अरबों रुपये की थी । किन्तु अब तक हमें एक पाई भी नहीं मिली है । प्रत्येक वस्तु जिसकी वे मांग करते हैं, हम देते चले आ रहें हैं । किन्तु क्या हमें उनसे कोई चीज लेने में सफलता मिली है ? यदि हम उन्हें अधिकाधिक देते हुए चुप रहने को कहेंगे तो क्या वे और कुछ मांगने से रुकेंगे ? यदि हम उन्हें कश्मीर दे देते हैं तो वे आसाम और तत्पश्चात् बंगाल मांग सकते हैं। हम उन्हें जितना ही देते हैं, उतनी ही उनकी भूख बढ़ती है । इसलिये यह इकतरफा व्यवहार रुकना ही चाहिए । पाकिस्तान के साथ वार्ता के लिए एक ही आधार है—"चीन, भारत और पाकिस्तान दोनों के लिए समान संकट है । अतएव दोनों ही कन्धे से कन्धा लगाकर इस शक्तिशाली समान शत्रु का सामना करने के लिए खड़े हों ।" वार्ता के लिए केवल यही आधार होना चाहिए । यदि हम उन्हें तुष्ट करना आरम्भ करते हैं तो इसका अन्त नहीं होगा ।

मित्रों को पहचानो

इससे हम अपने पाश्चात्य देशों के साथ हमारे सम्बन्धों के विषय पर आते हैं। तटस्थ नीति में वैसे कोई दोष नहीं है । इसके विपरीत, हमारी मूर्खता रही है कि हम वास्तव में पूर्ण तटस्थ नहीं रहे हैं । हमारा झुकाव कम्युनिस्ट गुट की ओर अधिक रहा है । जब इंग्लैण्ड और फ्रांस ने स्वेज नहर के प्रश्न को लेकर मिस्र पर आक्रमण किया था तो हम प्रथम थे जिन्होंने उनकी कठोरतम शब्दों में भर्त्सना की थी । किन्तु जब चीन ने तिब्बत की हत्या कर डाली तब हमने विरोध का एक शब्द भी नहीं कहा । और जब रूसी टैंक हंगरी में घूम-घूम कर उनका स्वातंत्र्य विद्रोह कुचलने लगे तो हमने उसे न्याय्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया । यदि हम सच्चाई से निष्पक्ष रहे होते और जनतन्त्र के प्रति अपना समान प्रेम प्रकट किया होता तो पश्चिम हमें विश्वसनीय मित्र के रूप में देखता । तथापि, जब हमने कष्ट पड़ने पर उनकी ओर देखा तो वे हमारी सहायता के लिए दौड़े आये । हमारे प्रति मित्रता की सभी स्पष्ट प्रतिज्ञाओं के होते हुए भी रूस ने हमारे लिए चार मिग हवाई जहाज, जो हमें बहुत पहले प्राप्त होने चाहिये थे, निश्चित समय के इतने पश्चात् भेजे कि हमारा संकटकाल व्यतीत हुए कई मास हो चुके थे । इससे भी विचित्र बात यह है कि वे हवाई जहाज पानी-जहाज के द्वारा भेजे गये, आकाशमार्ग से नहीं।

उनके उड़ान के विषय में हमने अब तक भी नहीं सुना है। मुझे नहीं मालूम कि सरकार इन घटनाओं को तटस्थता कहती है या किसी गुट के साथ सम्बद्धता।

हम केवल आशा ही कर सकते हैं कि सरकार समस्या को वास्तविक दृष्टिकोण से देखेगी और हमारे राष्ट्र को पूर्णरूपेण शस्त्रसज्जित बनाने के मार्ग में आडम्बरपूर्ण घोषों तथा रूढ़ सिद्धान्तों की बाधा नहीं आने देगी। हमें जहाँ से भी मिले शस्त्रास्त्र लेना चाहिए। यदि जर्मनी प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व दिवस तक इंग्लैण्ड से बन्दूकें मोल ले सकता था और फ्रांस द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व दिवस तक जर्मनी को टैंक बेंच सकता था तथा जर्मनी के विरुद्ध सभी देश, जिनमें रूस भी सम्मिलित है, उस युद्ध के मध्य अमेरिका से सैनिक सहायता प्राप्त कर सकते थे, तो हमें उन देशों से शस्त्रास्त्र लेने में क्यों लज्जा आती है जो हमें शस्त्र देने के लिये इच्छुक हैं, फिर वे देश कोई भी क्यों न हों?

विश्वसनीय प्रहरी को दृढ़ करो

हमारी उत्तरी सीमा पर एक महत्वपूर्ण कड़ी है जिसे हमें सशक्त करना चाहिए। और वह नेपाल है। अनन्त काल से नेपाल हमारी राष्ट्रीय जीवन-पद्धति से एकात्म रहा है। वह एक सर्वसत्ताधारी राज्य है, और हमारे लिए यह विषय प्रसन्नता का है। आकार में यह छोटा है और यह देखना हमारा कर्तव्य है कि उसे कुचल कर उसका अस्तित्व न मिटा दिया जाय। चीन जैसे बड़े और शक्तिशाली सत्ता के दबाव में नेपाल ने अपने दुर्बल क्षणों में ल्हासा काठमाण्डू मार्ग का प्रस्ताव मान लिया है। हमारा यह कर्तव्य है कि इस बात पर दृष्टि रखें कि नेपाल की स्वतन्त्रता एवं प्रभुसत्ता सुरक्षित बनी रहे। हम दोनों ही के सामने समान संकट है। हमें नेपाल की प्रभुसत्ता का सम्मान करना चाहिए और अपने निष्कपट भावों के प्रति उसके मन में विश्वास उत्पन्न करना चाहिए। उसके विद्रोहियों ने हमारे देश में शरण प्राप्त की है। यह नेपाल के हृदय में अत्यन्त चुभने वाली बात है। इसके कारण उस देश में एक जोरदार भारत विरोधी प्रचार उत्पन्न हो गया है। हमें उन विद्रोहियों को नियंत्रित करना चाहिए और परम्परागत मैत्री के बन्धों की पुनः स्थापना करना चाहिए।

हमारी पावन मातृभूमि की रक्षा हमारी आन्तरिक एवं बाह्य सभी नीतियों की प्रथम कसौटी हो। यदि इसके लिए हमें अपनी सीमाओं को पार करना भी आवश्यक हो जाय तो उसमें भी हम जरा सा भी संकोच न करें। आज

दलाई लामा हमारे बीच हैं। तिब्बती जन अपने देश में चीनी सेनाओं से अभी तक लोहा ले रहे हैं। तिब्बत की मुक्ति के लिए यह तथ्य हमारे पक्ष में है। दलाई लामा को हम उसकी अपनी 'देशान्तर सरकार' की स्थापना करके तिब्बत की स्वतन्त्रता की घोषणा करने दें। हम उसे अपने देश की स्वाधीनता के लिए संघर्ष चलाने के लिए सभी आवश्यक सहायता दें। बिना स्वाधीन एवं मैत्रीपूर्ण तिब्बत के हमारी सम्पूर्ण उत्तरी सुरक्षा केवल उपहास मात्र है। किन्तु हमारे प्रधानमन्त्री कहते हैं कि यह पग "स्पष्ट मूर्खता" है। यह समझने में हम असमर्थ हैं कि वे इस प्रकार के उदात्त कार्य का विरोध क्यों करते हैं, जिससे दलित जनों की स्वाधीनता प्राप्ति में सहायता प्राप्त होती है और जो हमारे राष्ट्र की सुरक्षा की दृष्टि से भी सर्वाधिक अपरिहार्य है। वास्तव में हमारे स्वर्गीय सम्मान्य राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने ठीक ही कहा था कि शत्रु के प्रदेश में युद्ध को बिना ले गये हम अपनी सीमाओं की रक्षा की आशा नहीं कर सकते और इसके लिए तिब्बत को मुक्त करना प्रथम सैनिक पग है।

***

२७

विजय के लिए संघर्ष

२. समुचित तत्वज्ञान

विशुद्ध राष्ट्रीय चारित्र्य

अपने सम्पूर्ण आन्तरिक साधनों को संचालित करने, सब प्रकार की आन्तरिक विरोधी शक्तियों को समाप्त करने, शत्रु का पूर्णतया विनाश तक युद्ध करने तथा इस पीली आपदा को पृथ्वी पर से मिटाने के लिए शक्ति का जो महान् और अक्षय भण्डार हमें निर्माण करना है, वह है हमारे समाज के विशुद्ध राष्ट्रीय चारित्र्य का। उसके अभाव से कितनी ही बाह्य सहायता एवं सज्जा व्यर्थ हो जायगी।

वास्तविक विभीषिका

हम जानते हैं कि चीन में जनतान्त्रिक शक्तियों में चारित्र्य का अभाव ही कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों द्वारा उनके पराभव का एक प्रमुख निर्णायक कारण था। अमेरिका ने उस जनतन्त्र की रक्षा करने के लिए अपनी पूरी शक्ति से प्रयत्न किया। अमेरिका ने उसे करोड़ों डालर की सहायता दी; विपुल नवीनतम शस्त्रास्त्रों तथा युद्ध-सामग्री से वहाँ की सेना को सुसज्जित किया, जिससे कि वह कम्युनिस्ट विद्रोह का सफलतापूर्वक दमन कर सके। किन्तु इतिहास हमें बताता है कि सेना के अधिकारी तक कुछ क्षुद्र धन-लाभ के लिए अमेरिका से प्राप्त हुए शस्त्रास्त्रों को विद्रोहियों के हाथों बेंच देते थे। परिणाम यह हुआ कि विद्रोही अच्छी तरह से शस्त्रसज्जित हो गए और राष्ट्रीय सेना पराजित हुई।

अपने यहाँ भी चरित्रहीनता के इस प्रकार के अगणित उदाहरण हैं।

जैसे यह सर्वविदित है कि आसाम में पाकिस्तानी षड्यंत्र चल रहा है। अनेक पाकिस्तानियों ने पूर्वी बंगाल से आसाम में घुसपैठ की है और अब भी कर रहे हैं। वे वहां बस गये हैं। आसाम को मुस्लिम बहुल क्षेत्र बनाकर बाद में उसे पाकिस्तान में मिला लेने का यह एक षड्यंत्र है। किन्तु हमारी सरकार इस तथ्य का सामना करना नहीं चाहती। हम सन् १९५० से सावधान करते आ रहे हैं तो भी उसने अपनी आंखें नहीं खोली हैं। अब वह पूछती है कि "उन पाकिस्तानियों को पहचाना कैसे जाय ?" आसाम में कुछ लोग आगे आये और उन सभी पाकिस्तानियों के नाम तथा पते आदि के साथ एक सूची तैयार की जो हाल के वर्षों में अवैध रूप से घुस आये थे। वह सूची सरकार को भेज दी गई, सरकार ने उस सूची पर विचार करने के लिए एक अधिकारी नियुक्त कर दिया। उस अधिकारी ने जांच कर जो वृत्त प्रस्तुत किया उसमें लिखा, "यह सम्पूर्ण सूची मिथ्या है। बहुत थोड़े ही पाकिस्तानी आये हैं।" उसने इस प्रकार की सूचना क्यों दी ? बाद में यह ज्ञात हुआ कि उसने बहुत बड़ी घूस लेकर इस प्रकार का वृत्त दिया था।

भारत के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध मजदूर नेता लार्ड एटली ने एक लेख में लिखा है कि हमारे देश का शासन यंत्र बिलकुल अन्दर तक भ्रष्ट हो चुका है। वे कहते हैं कि ऐसे ही देशों का उन्मूलन करने में कम्युनिस्ट सफल हो जाते हैं। एशिया के एक देश के एक प्रमुख व्यक्ति से उन्होंने प्रश्न किया था कि क्या उसके देश में कम्युनिस्टों द्वारा उन्मूलन का भय तो नहीं, इस पर उस व्यक्ति ने अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्तर दिया था—"हमारा शासन भ्रष्ट नहीं है अतः हमें ऐसा कोई भय नहीं।" इंग्लैण्ड जैसे परिपक्व राष्ट्र के एक प्रख्यात राज्यमर्मज्ञ की इस चेतावनी पर हमें अपने देश के घातक आन्तरिक ह्रास पर गंभीरता से विचार करने के लिए प्रवृत्त होना चाहिये।

मूल व्याधि

इसलिये चरित्रहीनता का यह संकट अतीव गंभीर विषय है। हमें उससे जूझना है, केवल शब्दों के द्वारा अथवा दूसरों की आलोचना मात्र से नहीं वरन् उसके मूल तक पहुँच कर। केवल आलोचना से कुछ नहीं होगा। यदि हम क, ख अथवा ग को गालियाँ देते हैं तो इससे हमारे व्यवहार में कैसे सुधार होगा ? इसके विपरीत यह हममें दूसरों को गालियाँ देने का एक और दुर्गुण उत्पन्न कर देगा। तब हम इस अनैतिकता के दैत्य से स्वयं को किस प्रकार मुक्त कर सकेंगे ?

यह सर्वविदित है कि व्यक्ति के जीवन में जिस मात्रा में स्वार्थ का प्रभाव होता है, वह उसी मात्रा में दुश्चरित्र और भ्रष्ट हो जाता है। जितना ही स्वार्थ अधिक होगा, उसकी पूर्ति के लिए उतने ही अधिक निकृष्ट उपाय काम में लाने की ओर व्यक्ति का झुकाव भी बढ़ता जाता है। यदि कोई आदमी निःस्वार्थ है तो वह बुरे कार्य नहीं करेगा और उसके चरित्र में विकृति उत्पन्न नहीं होगी। वह एक प्रामाणिक पुरुष बनेगा।

आज स्वार्थ बढ़ गया है। प्रत्येक व्यक्ति के पास जो कुछ है, उससे वह अधिक की आकांक्षा करता है। उसे इस बात की चिंता नहीं होती कि जिन उपायों से उसे पैसा प्राप्त होता है वे उपाय भले हैं या बुरे। प्रायः वे बुरे ही रहते हैं, इसीलिए चरित्र के अभाव का संकट है। अतः हमें मनुष्य के स्वार्थ को नियन्त्रित करना है। यह अतीव कठिन कार्य है। हम जैसे कुछ हैं–उसमें कुछ स्वार्थ रहना स्वाभाविक ही है। हम साधु तो हैं नहीं, हमने केवल कौपीन धारण करके अपने परिवारों को त्यागा नहीं है। हमारे लिए यह संभव नहीं है। जहाँ तक सम्पूर्ण समाज का सम्बन्ध है, यह उसके लिए हितावह भी नहीं होगा। अपने शरीर एवं अपने परिवार की धारणा के लिए तथा उन्हें आधुनिक युग के अनुरूप कम से कम कुछ आनन्द देने के लिए थोड़ा स्वार्थ बना रहेगा। अतः हमें उस व्यक्ति को बुरा नहीं समझना चाहिए जो सामान्य सुख-सुविधा का जीवन यापन करना चाहता है। किन्तु उसकी यही सीमा है। यदि कोई व्यक्ति इस सीमा का उल्लंघन करता है और इतना अधिक स्वार्थपरता में लिप्त हो जाता है कि उससे सम्पूर्ण समाज के हितों को हानि पहुँचती है तो वह निश्चित रूप से निन्दनीय है।

नैतिकता ऊपर से नीचे की ओर

इस स्वार्थ को रक्त पिपासु बनने से कैसे रोका जाय ? मान लीजिए कि हम सब लोगों को उपदेश और भाषण दें तो क्या इससे लाभ होगा ? क्या सदाचार समितियाँ और जनता में सामूहिक प्रतिज्ञायें यह चमत्कार कर सकेंगी सदाचार पर इस प्रकार के भाषणों और प्रतिज्ञाओं से कभी किसी व्यक्ति के चरित्र में सुधार नहीं हुआ है। इतना ही नहीं, सदाचार पर भाषण देने वाले और प्रतिज्ञायें कराने वाले अनेक व्यक्ति ऐसे हैं कि हमें उनके जीवन की ओर देखना तक नहीं चाहिए।

एक बार मैं एक साधु से मिला, उसने मुझसे कहा कि वह सरकारी कार्यालयों के लिपिकों तथा निम्न श्रेणी के कर्मचारियों को चरित्र सम्बन्धित व्या-

ध्यान दिया करता है कि किस प्रकार वे भ्रष्टता आदि से बचें। मैंने कहा कि "आप अपने उद्देयय में किस प्रकार सफल होंगे ? आप एक चपरासी को उपदेश देते हैं जो घूस में केवल कुछ पैसे ले रहा होगा। क्या आप यह अनुभव नहीं कर सकते कि चपरासी एक दरिद्र आदमी है जो अपने परिवार के सदस्यों को दो बार भोजन भी देने में असमर्थ है। यदि ऐसी दशा में वह थोड़ी सी घूस लेने के लिये बाध्य हो जाता है तो हमें उस पर दया आ सकती है यद्यपि उसके कृत्य को हम न्यायसंगत नहीं कह सकते। इसलिये आप ऊपर को जाइये और उच्च पदस्थ लोगों को यह उपदेश दीजिए। देखिये कि क्या उनमें सुधार हो सकता है ?" तब उस साधु ने कहा—"वे ऊपर के लोग तो भले हैं।"

मैंने कहा—मैं आपको एक उदाहरण दूंगा। एक सज्जन हमारे राजनीतिक नेताओं की आकाशगंगा के एक उज्ज्वल नक्षत्र हैं। देश उनकी पूजा करता है और उनसे प्रेम करता है। एक बार गत निर्वाचनों के पूर्व निर्वाचन के लिए एक थैली भेंट करने के लिए उन्हें एक नगर में आमन्त्रित किया गया। बहुत से बड़े-बड़े व्यापारियों तथा उद्योगपतियों ने एक समिति गठित की और विशाल धन-राशि एकत्रित की गई। एक बहुत बड़े समारोह में उन सभी व्याख्यानों के बीच जिनमें उस व्यक्ति और दल की अत्यन्त प्रशंसा की गई थी, वह थैली उन्हें भेंट की गई। उत्तर देने के लिए वे उठे और उन्होंने कहा "मैं जानता हूँ कि ये सभी लोग जो यहाँ एकत्र हुए हैं, खूब कालाबाजार करते हैं और जो धन मुझे दिया गया है वह पाप से पैदा हुआ है। इसको छूना भी पाप है। मुझे लगता है कि इस प्रकार के सभी कालाबाजार करने वालों को सार्वजनिक रूप से कोड़े लगाना चाहिए और उन्हें फाँसी पर भी लटका देना चाहिए।" यह सब वे अत्यन्त उच्च नैतिकता के स्वर में बोल गये और चुपचाप थैली को जेब में रखकर चले गये। सौभाग्य से वह साधु भी इस घटना को जानता था। और तब मैंने उससे कहा —"तो पहले इस प्रकार के उच्चपदस्थजनों के पास जाइये और उनका सुधार कीजिये।"

यदि ऊपर के नेता नैतिक दृष्टि से उन्नत हों तो नैतिकता समाज के निम्नतम स्तर तक शनैः-शनैः पहुँच जायगी और इसका परिणाम सामान्य जन के उत्तम चरित्र की निर्मिति के रूप में होगा। आप यह निर्माण नीचे से ऊपर की ओर नहीं ले जा सकते। चरित्र-निर्माण का प्रारम्भ सदैव ऊपर से ही होना चाहिए। इसी प्रकार दूसरी ओर भौतिक सुख प्रदान करने का प्रारम्भ नीचे से ही होना चाहिए : जो लोग हमारे समाज-जीवन में निम्न

स्तर पर हैं और रातदिन शारीरिक परिश्रम करते हुए भी एक ऐसा जीवन-यापन कर रहे हैं जो हमारे समाज की प्रतिष्ठा के लिए अपमान जनक है, उन्हें हम भोजन दें। जो लोग उच्च स्थानों पर हैं यदि वे बिना भोजन के रहते हैं तो मैं चिन्ता नहीं करता। समाज की रचना एवं उसका शक्ति सम्पादन इस प्रकार करना चाहिए कि शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति नीचे से ऊपर की ओर हो तथा नैतिकता समाज में ऊपर से नीचे की ओर अवतीर्ण हो।

जीवन्त आदर्श

यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि हमारे राष्ट्रजीवन के अति उच्च स्तर पर भी चरित्र और नैतिकता का अभाव है। जीवन के उच्चस्तर पर प्रतिष्ठित जन मेधावान् एवं शिक्षित हैं। वे नैतिकता और अनैतिकता के भेद को भी जानते हैं। वे नैतिकता पर अति उत्तम उपदेश दे सकते हैं। ऐसी दशा में हम शब्दों के द्वारा भला उन्हें क्या सिखा सकते हैं? ऐसे लोगों को केवल उपदेश देने से हमें कोई लाभ नहीं हो सकता।

क्या कानून बनाकर हम अपने लोगों का नैतिक मानदण्ड उन्नत कर सकते हैं? नशाबन्दी को ही लीजिए। बहुत से राज्यों में यह कानून लागू है। किन्तु उन सभी राज्यों में अवैध शराब बनाना एक फलता-फूलता घरेलू उद्योग हो गया है। अत: सदाचार की वृद्धि के लिए केवल कानून बनाने का साधन भी व्यर्थ है।

वास्तव में स्वार्थपरता पर नियन्त्रण के लिए केवल एक ही मार्ग है। मानव को एक आदर्श प्रदान करो, जिसके लिए वह कार्य करे, जिये और मरे। उसे अपने आदर्शों पर जो श्रद्धा है, उसके आधार पर वह व्यक्ति अपने स्वार्थों के मोह पर नियंत्रण करने में सक्षम होगा और श्रेष्ठतर चरित्र का निर्माण करेगा। अन्य कोई मार्ग नहीं है। लोगों को एक उच्च एवं पवित्र आदर्श दो, ऐसा आदर्श जो स्वाभाविकत: उनके हृदयों के तारों को झंकृत करता हो, उनके रक्त को स्फुरित करता हो और जो उनमें पीढ़ियों से विद्यमान हो। तब एक सामान्य मनुष्य भी स्वयं में श्रद्धा एवं चरित्र के उदय की अनुभूति करने में समर्थ होगा। अपने पवित्र हिन्दू राष्ट्र के वैभव एवं उसकी महानता की अनुभूति ही इस प्रकार का आदर्श है।

"मैं इस महान् हिन्दू राष्ट्र की संतति हूँ। अनेक पीढ़ियों से मेरे महान् पूर्वजों ने इसे महानतम एवं उदात्ततम राष्ट्र बनाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इसे पृथ्वी पर आदर्श मनुष्यों का आदर्श राष्ट्र बनाने के स्वप्न देखे हैं

मैं भी उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जिऊँगा और परिश्रम करूँगा।'' यही है वह स्वाभाविक प्रेरणा जो हमने अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में प्राप्त की है। हम इसे अपने रक्त में अनुभव करते हैं। यदि यह स्वाभाविक एवं उदात्त लगन जाग्रत हो जाय तो हमारे देश के लोग स्वार्थों के आकर्षणों से परे हो सकेंगे तथा दैनिक जीवन में विशुद्ध राष्ट्रीय चारित्र्य को व्यक्त करने में समर्थ होंगे।

प्रेरणादायी कल्पना

राष्ट्रीय संकट के वर्तमान समय में भी हम आदर्श के इस तत्व की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमें यह विस्मरण नहीं करना चाहिए कि कुरुक्षेत्र के युद्ध क्षेत्र में जब युद्ध के नगाड़े बज रहे थे, तूर्यों की ध्वनि हो रही थी और अर्जुन दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा था, उस समय श्रीकृष्ण ने उसे धर्म के लिये निष्काम कर्म करने का शाश्वत एवं प्रेरणादायी सन्देश व शिक्षा दी थी तथा उसे अद्वितीय पराक्रम और विजय के लिए प्रवृत्त किया था। जब कोई वीर आदर्श की कल्पना से प्रेरित होता है, तभी वह अपने जीवन की श्रेष्ठतम योग्यताओं को उस लक्ष्य के लिए आगे बढ़कर प्रकट कर देता है। उसके मस्तिष्क में उन जीवन-मूल्यों की स्पष्ट कल्पना होनी चाहिए जिनके लिए उसे लड़ना है और आवश्यक होने पर मृत्यु को भी वरण करना है। आर्थिक योजनाओं एवं व्यापारिक वैभव की बातें कष्ट सहन करने तथा बलिदान के लिए आत्मा को उत्साहित नहीं कर सकतीं। मातृभूमि के प्रति 'बर्फीला' 'जहाँ कोई आदमी तक नहीं रह सकते' 'घास का तिनका भी जहाँ नहीं उगता' आदि प्रकार के रुक्ष और असम्मानजनक उद्गार नागरिकों के उत्साह का हनन ही करेंगे और तब यदि ऐसे भू-भाग पर शत्रु कब्जा कर लेगा तो वे इस बात पर परिस्थिति का कोई अन्तर भी नहीं आँक सकेंगे। इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि अपनी पवित्र मातृभूमि के लिए भक्ति का शाश्वत और प्रेरणादायी आह्वान तथा हमारे राष्ट्रीय आदर्श इस भूमि के प्रत्येक पुत्र के हृदय पर उत्कीर्ण हों।

अतीत एवं आधुनिक काल के हमारे सभी पराक्रमी स्वातन्त्र्य-सेनानी हिन्दू राष्ट्र की जीवन्त कल्पना से प्रेरित थे। देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक हमारे जन समुदाय को कर्तव्य का आह्वान देने के लिए यही थी एक मात्र प्रभावी एवं एकत्रित करने वाली पुकार। और जब-जब वह कल्पना धुंधली या ओझल हो गई, हमारे देशवासी निष्क्रियता एवं दासता में पुनः वापिस जा पड़े।

सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य संग्राम का पाठ हमारे सामने है। उस क्रान्ति के महान् नेताओं ने पहली ही चोट में दिल्ली पर अधिकार कर मुगल बादशाह को, जो अंग्रेजों के हाथ का एक उपकरण मात्र हो गया था, मुक्त कर दिया था। उन्होंने उसे स्वतन्त्र सम्राट् के रूप में पुनः सिंहासनासीन कर स्वतन्त्रता संग्राम का नेता घोषित कर दिया। और यह इसलिए किया गया कि उस वर्ग की भी सहायता प्राप्त हो जाय जो वर्ग उस समय तक दिल्ली के तख्त के प्रति वफादार था। किन्तु इस पग ने हिन्दू जनता के हृदय में सन्देह उत्पन्न कर दिया कि वही अत्याचारी मुगल शासन जो गुरुगोविन्द सिंह, छत्रसाल, शिवाजी तथा इसी प्रकार के अन्य देशभक्तों के पराक्रमी यत्नों के द्वारा नष्ट हो चुका था, एक बार पुनः पुनरुज्जीवित होकर उन पर छल-पूर्वक लाद दिया जायगा और वह अंग्रेजी शासन से भी बहुत बड़ी दुःखद घटना होगी। हिन्दू मस्तिष्क में जो नाना साहब पेशवा, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई तथा कुंवरसिंह जैसे सेनानायकों को ओर देखकर हिन्दू-स्वराज की आशा से स्फूर्त था, युद्ध करने की प्रेरणा समाप्त हो गई। इतिहास वेत्ताओं का कथन है कि उस क्रान्ति की अन्तिम असफलता के निर्णायक कारणों में से यह भी एक कारण था।

जब जनसमुदाय उस पुरातन राष्ट्रीय आदर्श से स्फूर्त होता है: तभी उन्हें इतना उन्नत करना सम्भव है कि वे निःस्वार्थता, बलिदान एवं पराक्रम के लिए उठ खड़े हों तथा उनमें देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक सजीव राष्ट्रीय एकात्म भावना का उदय होकर एक अपराजेय राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण हो जाय। जब हम यह कर लेंगे तो एक नहीं दस चीन हमारे सामने नत होंगे।

स्वप्न द्रष्टाओ ! जागो

राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण से सम्बन्धित हमारी वैचारिक धारणाओं में एक और भी गम्भीर प्रतिरोध है, जिसे हमें साफ करना है। इस सम्पूर्ण काल में हमारे नेताओं के लिये शक्ति का विचार करना भी निन्दनीय और अवांछनीय बात रही है। हमारे नेतृत्व की मानसिक दशा शक्ति के विचार के प्रति एक प्रकार से प्रतिकूल ही थी। उन्हें पुण्यशील सद्उक्तियों में पूर्ण विश्वास था। अभी हाल में भी हमारे कुछ उत्तरदायित्वपूर्ण नेताओं ने एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण की बातें की थीं, जो एकपक्षीय आत्मघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। कम से कम १९५४ से हमारे नेता स्वयं की ही स्वीकारोक्ति

के अनुसार, चीन के नग्न आक्रमण के तथ्य से परिचित रहे हैं। किन्तु वे पंचशील के स्वप्नलोक में विचरण करते रहे। इन आठ वर्षों में हम अपने देश को बहुत अच्छे प्रकार से शस्त्र सज्जित और अपनी सुरक्षा को अभेद्य बना सकते थे। किन्तु आज हमारे पास एक छोटी-सी सेना है, उसकी भी अपेक्षा कम शस्त्रास्त्र तथा उनसे भी कम कारतूस। बमवर्षक, युद्ध के हवाई जहाज, टैंक, सैन्य परिवहन आदि का उत्पादन नितान्त उपेक्षित रहा है। हमारे पास पर्याप्त दूरी तक मारने वाली एक भी विमान-मार-तोप नहीं है। और हम नि:शस्त्रीकरण की बातें कर रहे हैं। जब हमारे पास हथियार ही नहीं हैं तो हम नि:शस्त्र कैसे हो सकते हैं ?

हमने पत्रों में अवश्य पढ़ा होगा कि हमारी आर्डनेन्स फैक्टरियों में काफी क्रशर तथा प्लास्टिक के थैले बनते रहे। उन्होंने एक ट्रक भी बनाया, जिसमें सामान्य ट्रक के समान भी सामर्थ्य नहीं था और उसका नाम 'शक्तिमान' रखा। उस 'शक्तिमान' का पहला नमूना उसकी प्रथम परीक्षा में ही जवाब दे गया। किन्तु अब प्रतीत होता है कि हमारे जवानों के इतने मूल्यवान् प्राणों की कीमत पर हमारे नेताओं ने शिक्षा ग्रहण कर ली है। हमारे प्रधान मंत्री ने स्पष्टत: स्वीकार किया कि चीन ने हमें अपने ही निर्मित स्वप्न संसार से जगा कर वास्तविकता के संसार में लाकर खड़ा कर दिया है। "हम बिना शक्ति के जीवित नहीं रह सकते। यदि अवसर आयेगा तो हम लाठियों से भी लड़ेंगे।" और हमारे गृहमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने भी कहा—"अब हम और अधिक असावधान नहीं रहेंगे।" इसका अर्थ तो यही होता है कि अब तक हम ऊँघे रहे थे। यह कुछ सन्तोष का विषय है। देर में ही क्यों न हों, उन्हें इस सत्य का अनुभव तो हुआ कि इस संघर्षमय संसार में शक्ति को ही मान्यता प्राप्त होती है। और संसार शक्ति की ही भाषा समझता है। हम ईश्वर से प्रार्थना करें कि उनकी इस वर्तमान अनुभूति का जीवन स्वल्पकालीन न हों।

सत्य तो यह है कि यह जीवन का एक प्राथमिक सिद्धान्त है, जिसे हमारे पूर्वजों ने बहुत काल पूर्व ही अनुभव किया था। मनुस्मृति कहती है :—

दण्डस्य हि भयात् सर्वं जगत् भोगाय कल्पते।

(समाज की धारणा, शक्ति के भय से ही होती है।) और वे इसी सत्य के प्रकाश में जीवित भी रहे। यद्यपि उन्होंने मानव भ्रातृत्व के उच्चतम दर्शन का उपदेश दिया और उसे व्यवहार में लाया, फिर भी इस संसार के कठोर सत्यों की उन्होंने कभी उपेक्षा नहीं की, जिसमें उन्हें रहना और काम

करना था । कभी-कभी हम अपने नेताओं को यह कहते सुनते हैं कि हम सदैव परम्परा से शान्तिप्रिय और अहिंसक रहे हैं । यह सत्य है किन्तु वह शान्ति सम्मान का मूल्य चुका कर नहीं ली गई थी, वह श्मशान की शान्ति नहीं थी । सच यह है कि अपमानित होने पर मूक समर्पण करना पौरुषहीनता का हीन कृत्य माना जाता था । हमने भूतकाल में पराक्रम और शूरता के श्रेष्ठतम मापदण्ड स्थापित किये हैं और विश्व जिनकी कल्पना तक नहीं कर सकता ऐसे कुछ सर्वश्रेष्ठ सेनापति तथा विजेता उत्पन्न किए हैं जिन्होंने धर्माधिष्ठित शांन्ति की स्थापना के लिये संघर्ष किया, संहार किया और अविराम भीषण संग्राम चलाते रहे ।

आत्मघात का दर्शन

हम सचमुच ही यह देखकर आश्चर्यचकित हैं कि आज की संकटग्रस्त अवस्था में भी कुछ ऐसे महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं जो उसी पुराने ढंग पर विचार करते और उपदेश देते हैं । अब भी वे तर्क देते हैं, "हम शान्ति और अहिंसा को मानने वाले हैं । यदि चीनी आते हैं तो हम उनके सामने केवल शान्ति सेना के रूप में खड़े हो जायेंगे । वे क्या करेंगे ? आखिर लड़ने के लिए भी तो दो की आवश्यकता होती है । यदि हम नहीं लड़ते तो वे किसके साथ लड़ेंगे ?" सचमुच यह एक मजेदार तर्क है, विशेषतया जिनमें लड़ने की हिम्मत ही नहीं है, उन्हें जँचने वाला है ।

यह सत्य है कि लड़ने के लिए दो की आवश्यकता होती है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि दोनों ही लड़ने वाले होने चाहिए । यह पर्याप्त है कि एक चोट करता हो और दूसरा उन चोटों को सहन करता हो । और फिर यदि हम शान्तिपूर्ण बने रहे और दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करते रहें तो क्या यह आवश्यक सिद्धान्त है कि दूसरे भी हमारे साथ उसी प्रकार का व्यवहार करेंगे ? क्या संसार का हमारा यही अनुभव है ।

एकपक्षीय सौजन्य की भवितव्यता

हम अपना ही एक उदाहरण देखें । जब पहले-पहल इस्लाम का जन्म हुआ तो गुजरात के राजा को व्यापारियों से ज्ञात हुआ कि अरब देश में एक नवीन मत का उदय हुआ है । उसे उसके विषय में जानने की उत्कण्ठा हुई और उसने अपने व्यापारियों से उस धर्म के किसी विद्वान् को लाने के लिए कहा जिससे कि उसके विषय में और अधिक ज्ञान प्राप्त हो सके। कुछ मौलवी

गुजरात आये । हमारे पण्डितों ने उनसे शास्त्रार्थ किये। उन्हें ज्ञात हुआ कि यह एक ऐसा मत है जो मनुष्य को ईश्वर की प्रार्थना करने के लिए प्रेरित करता है, यद्यपि उसमें दर्शन जैसी कोई वस्तु नहीं है। अतएव पण्डितों और राजा ने कहा—"कोई चिन्ता नहीं कि तुम्हारा कोई दर्शन नहीं है। यदि तुम मनुष्य को ईश्वर की प्रार्थना का मार्ग दिखा सकते हो तो तुम्हारा मत अच्छा है। हम उसके शुभचिन्तक हैं। इस महान् नवीन मत के द्वारा जिसका प्रचार तुम्हारे संस्थापक पैगम्बर ने किया है, अरब के लोग ईश्वराभिमुख हों।" अर्थात् हमने उस धर्म, उन मौलवियों तथा उस संस्थापक का सम्मान किया। हमने यह नहीं कहा कि वह बेकार की चीज है, जिसे नष्ट कर देना चाहिए। कोई हिन्दू यह कभी नहीं कहेगा।

एक दूसरा उदाहरण है। दक्षिण में मदुराई राज्य में एक अरब देश का मुसलमान व्यापारी था। वह एक अच्छा चरित्रवान् और सद्गुण-सम्पन्न व्यक्ति था। अत: राजा ने उसे अपना मंत्री बना लिया। आज भी कुछ मुसलमान मंत्री बनाये गये हैं। किन्तु आज वे मुसलमानों के वोट प्राप्त करने के लिए बनाये गये हैं। राजा के सामने यह विचार नहीं था, क्योंकि वह सहारे के लिए मुसलमानों के वोटों पर निर्भर नहीं था। उस व्यक्ति के गुणों का सम्मान करने के लिए ही उसे मंत्री बनाया गया था। हमने मुसलमानों के प्रति इस प्रकार से सम्मान, प्रेम तथा भ्रातृ-भावना के साथ व्यवहार किया है।

किन्तु उन्होंने हमारी इस भावना का प्रतिदान कैसे किया? विनाश, अपहरण तथा सब प्रकार के बर्बर अत्याचारों की घटनाओं से भरा हुआ, उनका १२०० वर्षों का इतिहास हमारे सामने है। आज हमारे देश में मुसलमानों की इतनी बड़ी जनसंख्या, उनके द्वारा सम्पूर्ण देश में किए गए घातक विनाश के परिणामों में से एक है। केवल भग्न पड़े खँडहर ही नहीं वरन् टूटे हुए समाज के ये टुकड़े भी उनके द्वारा किए गए विध्वंस के उसी प्रकार साक्षी हैं। मुसलमान मत तथा मुसलमानों के प्रति अच्छे व्यवहार से हमें क्या मिला? कुछ नहीं, केवल हमारे पवित्र स्थानों का अपवित्रीकरण एवं हमारे समाज के कई लोगों पर उनकी गुलामी।

वास्तविकता का सामना करो

चीन का ही मामला लीजिए। दो सहस्र वर्षों से अधिक काल से, जब से बौद्ध प्रभाव ने चीन में प्रवेश किया था, इन दो देशों के विद्वानों के बीच नियमित साहचर्य एवं एक प्रकार से भ्रातृभाव रहा है। हमारे वर्तमान नेताओं ने

मानों उसी सूत्र को पकड़कर 'हिन्दी-चीनी, भाई-भाई' का उद्घोष किया। उन्होंने इस नीति का पालन तिब्बत के प्रति अपने नैतिक उत्तरदायित्व का परित्याग करने तक किया। केवल इतना ही नहीं तो एक प्रकार से हमने सर्वभक्षी चीन के सामने थाली में रखकर तिब्बत भेंट कर दिया। वास्तव में हमने तिब्बत के साथ विश्वासघात किया। सत्य तो यह है कि चीन ने हमारे साथ विश्वासघात नहीं किया, क्योंकि उनमें हमारे विश्वास का कभी प्रश्न ही नहीं था। इसके विपरीत वह तो हम हैं,जिन्होंने तिब्बत के उस विश्वास के साथ धोखा किया जो उसने हमारे ऊपर किया था। हमने एक बड़ा पाप किया है। ईश्वर ही जाने हमें इसका किस प्रकार से प्रायश्चित करना होगा। हमने यह पाप केवल चीन को 'भाई' कहकर पुकारने के लिए ही किया। इस सीमा तक हमने चीन के साथ भ्रातृभाव की स्थापना की। हमारे इस भ्रातृभाव का उत्तर उसकी ओर से कैसे दिया गया? हमारी सीमाओं पर आक्रमण के द्वारा! अस्तु, इस वास्तविक संसार में इस प्रकार के एकपक्षीय भले व्यवहार से कोई फल निकलता प्रतीत नहीं होता।

अब हम चीनियों के चरित्र की ओर दृष्टिपात करें और सोचें कि जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, हमारे चुप रहने पर क्या यह सच है कि वे हमें घास की तरह नहीं काट डालेंगे? जब वर्तमान कम्युनिस्ट सरकार ने चीन में सत्ता ग्रहण की तो उन्होंने अपने शासन के प्रति विरोध को समाप्त करने के लिए अनेक लोगों का संहार कर डाला। उन दिनों के समाचार के अनुसार उन्होंने लगभग ९६ लाख लोगों को समाप्त कर दिया था। कोई समझदार व्यक्ति क्या विश्वास करेगा कि जो लोग अपनी सत्ता की प्यास बुझाने के लिए अपने ही देशवासियों का, एक ही रक्त-मांस से बने हुए लोगों की, लगभग एक करोड़ की संख्या में हत्या कर सकते हैं, उनकी सेनायें हमारे देश में आकर बिना हमारी हत्या किए इसलिए लौट जायेंगी कि हम लड़ने से इनकार करते हैं?

अतएव हमें इस बात को भलिभाँति समझ लेना चाहिए कि इस संसार की ऐसी निर्दय चुनौतियों का सामना करने के लिए तथा विजय प्राप्त करने के लिए शक्ति चाहिए, एक ठोस अजेय राष्ट्रीय शक्ति ही हमारी सहायता कर सकती है।

सैनिकों की शक्ति का उद्गम

इस प्रकार के सभी गम्भीर संकटों के अवसर पर आघात को प्रसन्नता-

पूर्वक और साहस के साथ सहन करने के लिए हमारी सेनाओं को अगले मोर्चे पर रहना होगा। विशेषतया युद्ध-क्षेत्र में हमारे सैनिकों का अतुलनीय पराक्रम एवं वीरता हमारे हृदय को विश्वास, गर्व और आनन्द से भर देते हैं। किन्तु जब ऐसा सैनिक घूमकर पीछे देखता है तो उसे क्या दिखाई देना चाहिए। क्या अपने स्वार्थों और सत्ता के आपसी झगड़ों में उलझा हुआ विघटित एवं देशभक्तिशून्य समाज उसे देखने को मिलना चाहिए। यदि सैनिक को यह देखने के लिए मिलता है तो क्या उसे युद्ध करने के लिए तथा अपना जीवन अर्पण करने के लिए प्रेरणा मिलेगी? उसे सुसंगठित, देशभक्त समाज अपने पीछे खड़ा देखने के लिये मिलना चाहिये। वह ऐसा विश्वास अनुभव करे कि जो कुछ भी सेना की आवश्यकता होगी, यह काश्मीर से कन्याकुमारी तक फैला हुआ लौह इच्छाशक्ति से सम्पन्न सुसंगठित समाज उसे पूर्ण करने के लिए सदैव उद्यत है। यदि मनुष्यों की आवश्यकता है, मनुष्य आगे आयेंगे। यदि अन्य विविध आवश्यक वस्तुओं की आवश्यकता होगी तो उन सभी की पूर्ति की जायगी, चाहे समाज के अन्य लोगों को कितनी ही कठिनाई क्यों न उठानी पड़े। सम्पूर्ण समाज हमारे पीछे है यह विश्वास प्रत्येक सैनिक को यह अनुभूति देगा कि उसकी शक्ति, उसका धैर्य तथा उसकी युद्ध करने की योग्यता सौ गुनी बढ़ गई है और वह विजयी होकर आयेगा।

सामर्थ्य से मित्रों की प्राप्ति

जब विरोध के सामने हम अविचल भाव से खड़े होने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं, तभी मित्र भी हमारी सहायता के लिए दौड़ कर आते हैं। यदि हम स्वयं ही सामना करने के लिये अयोग्य और पर्याप्त दृढ़ नहीं हैं तो वे क्यों सहायता करेंगे? यदि वे सहायता करने के इच्छुक भी हों तो किसकी और कैसे सहायता करेंगे? इस समय भी जब हमने अपने सहारे खड़े होने का अत्यल्प ही प्रयास किया तो हमें कई ओर से सहायता प्राप्त हुई। उस अमेरिका से भी सहायता आई जिसके लिए हमारे नेताओं ने कभी अच्छा शब्द भी उच्चारण नहीं किया था। जिस इंग्लैण्ड की स्वेज के मामले में हमने कटु आलोचना की थी, उससे भी सहायता आई। पश्चिमी जर्मनी तथा अन्य बहुत से देशों से सहायता प्राप्त हुई। अब हम उनके प्रति कम से कम कृतज्ञता का एक-आध शब्द तो उच्चारण करें।

वरदान, किन्तु कब ?

चीनी आक्रमण के कारण हमारे राष्ट्रजीवन की जो अनेक स्वस्थ प्रवृत्तियाँ गतिशील हो गई, उन्हें दृष्टि में रखते हुए हम प्रायः सुनते है कि यह

आक्रमण के रूप में एक वरदान है । यह सत्य है कि विदेशी आक्रमण एक राष्ट्र को इस बात के लिए स्वर्ण अवसर प्रदान करता है कि वह अपने को स्वार्थ-परता, आन्तरिक कलह, विघटनात्मक खिचाव आदि विनाशकारी प्रवृत्तियों से मुक्त करे तथा स्वयं को एक संगठित एवं शुद्ध एकात्म रूप में पुन: प्रस्तुत करे । आसन्न संकट की भावना राष्ट्र में व्यक्तियों को अन्य क्षुद्र भावों से ऊपर उठने के लिए प्रोत्साहित करती है और अति विशाल राष्ट्रीय व्यक्तित्व के सजीव अंगों के रूप में सर्वोपरि राष्ट्रहित में अपने हितों को विलीन करने की प्रेरणा प्रदान करती है । किन्तु इस सबकी उपलब्धि एवं स्थायित्व तभी हो सकता है, जब उस महान् अवसर को, जो हमें मिला है, ग्रहण करने की इच्छा और बुद्धिमत्ता तथा उससे लाभान्वित होने की भी योग्यता हममें हो । अपनी इस सिद्धता के बिना वरदान भी केवल एक झटका एवं व्यर्थता से अधिक कुछ नहीं सिद्ध हो सकता ।

एक बार धन की देवी लक्ष्मी एक भिखारी के सामने प्रकट हुई; उसे वरदान दिया और सोने की वर्षा को ग्रहण करने के लिए उससे कहा । किन्तु उसने उससे यह भी कहा कि यदि सोना भूमि पर गिरेगा तो मिट्टी हो जायगा। भिखारी ने अत्यन्त उत्कण्ठा से थैले को अपने दोनों हाथों से पकड़ कर फैला दिया । लक्ष्मी ने उसके थैले को इतने सोने से भर दिया कि कई पीढ़ियों तक उसका परिवार पर्याप्त वैभव से सम्पन्न रहे । किन्तु वह भिखारी लालची था, उसने लक्ष्मी जी से मुट्ठी भर सोना और देने की प्रार्थना की । लक्ष्मी ने एक मुट्ठी और डाल दी तथा अन्तर्ध्यान हो गईं । किन्तु बोझ के कारण थैला फट गया और सम्पूर्ण सोना भूमि पर गिर कर मिट्टी हो गया । सर्व-शक्तिमान के वरदान का उपभोग करने के लिए भी योग्यता एवं शक्ति की आवश्यकता होती है ।

जड़ों का पोषण

यही बात उन राष्ट्रों के विषय में भी है, जिन्हें विदेशी आक्रमणों का 'वरदान' मिलता है । इस कार्य के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जन्म हुआ है कि वह हमारे समाज में इस प्रकार की इच्छा एवं योग्यता उत्पन्न करने के कार्य का निर्वाह करे जो इस कठिनाई को एक 'अवसर' में परिवर्तित कर दे । संघ अपनी पूरी शक्ति के साथ जनशक्ति को जागृत एवं संचलित करने में जुटा हुआ है । जीवनदायी आदर्श, सद्गुण एवं चरित्र के संस्कार देते हुए संघ यह कार्य कर रहा है, क्योंकि सशक्त, भावात्मक एवं अमर राष्ट्रजीवन

के लिए इनकी अनिवार्यता होती है । हमें विश्वास है कि अपने संगठन का प्रत्येक स्वयंसेवक उस समय अग्र पंक्ति में खड़ा होगा जब जनसाधारण के कार्य एवं बलिदान करने का समय आता है । साथ ही हम एक गुट के रूप में आगे नहीं आना चाहते, क्योंकि युद्ध-काल में किसी गुट या दल के पौरोहित्य की आवश्यकता नहीं होती । अपने बलिदानों और कष्टों का प्रचार करना भी अत्यन्त अनुचित होगा । क्योंकि माता की वेदिका पर अपना सर्वस्व यहां तक कि अपने स्वामित्व की अत्यन्त प्रिय वस्तुएँ भी समर्पण कर देना भूमि के प्रत्येक पुत्र का प्रथम एवं सर्वोपरि कर्तव्य होता है । और यही है वह जीवनी शक्ति जिसे हम संघ के द्वारा उसके आरम्भ से ही समाज में निविष्ट करते आ रहे हैं ।

***

२८

युद्धरत राष्ट्र*

१. नवीन युग का आह्वान

स्वाभिमान, राष्ट्र का जीवन-प्राण

पाकिस्तान के साथ हुए अभी हाल के युद्ध ने मानो बिजली की तरह इधर से उधर तक हमारे सम्पूर्ण देश में एक लहर उत्पन्न कर दी है तथा हमारे लक्षावधि देशवासियों के हृदयों एवं मस्तिष्कों को एक नवीन उद्देश्य और नवीन विश्वास के साथ ऐसा स्फूर्त कर दिया है जैसा कि अंग्रेजों के भारत छोड़ने के पश्चात् गत अठारह वर्षों में किसी वस्तु ने नहीं किया था।

जब से अंग्रेजों ने इस देश को छोड़ा है तब से हम एक ओर तो पाकिस्तान और दूसरी ओर चीन के बढ़ते हुए लूट तथा आक्रमणों के शिकार बन गये थे। अनेकों बार उनके हाथों किए गए अपमानों एवं तिरस्कारों को हमें पी जाना पड़ा और विशेष रूप से १९६२ में चीन के हाथों हमें जो अपकीर्तिकर पराजय मिली वह हमारे लोगों के उत्साह के लिए ह्रासकारी थी। लोगों के मस्तिष्क में गम्भीर संदेह और आशंकाएं प्रविष्ट होना प्रारम्भ हो गया था कि क्या हमारा देश आक्रमणकारी के भीषण आक्रमण से अपनी अखण्डता एवं प्रभुसत्ता की रक्षा करने में समर्थ भी है? अपने महान् राष्ट्र को इस प्रकार सम्पूर्ण संसार की दृष्टि में दया एवं उपहास का विषय बनते हुए देखकर लोगों के हृदयों में अत्यन्त वेदना थी।

कोई आश्चर्य नहीं कि आक्रमणकारी को ध्वंसक आघात देने, विजयी होने एवं सफल प्रत्याक्रमण भी करने की क्षमता के इस वर्तमान अनुभव ने राष्ट्र की

---

* पाकिस्तानी आक्रमण के संदर्भ में, अगस्त, ६५ में

म्लान भावनाओं को एक नवीन जीवन प्रदान किया है। देशभक्तिपूर्ण गर्व एवं स्वाभिमान के अभूतपूर्व उद्वेलन से राष्ट्र की नाड़ी की गति में तीव्रता आ गई है। निश्चय ही यह पहला और सबसे अधिक महत्व का पाठ है जो इस युद्ध ने हमें पढ़ाया है। राष्ट्र के सम्मान की भावना तथा स्वाभिमान राष्ट्र के स्वातन्त्र्य के जीवन-प्राण होते हैं। यही वह उद्‌गम है, जिससे हमें अपने राष्ट्र के अक्षय सामर्थ्य की उपलब्धि हो सकती है। आज हम जो चारों ओर पुनरुत्थान देखते हैं वह इसलिए है कि हमने अपनी पवित्र मातृभूमि की स्वाधीनता और सम्मान के लिये कमर कसकर खड़े होने का निर्णय ले लिया है। उसने हमारे राष्ट्रीय जीवन के अन्तरतम तारों को स्पर्श कर लिया है एवं इस देश के मनुष्योचित श्रेष्ठत्व को उसके अतीत गौरव में उपस्थित कर दिया है।

प्रतापी पुरुष बनाम पैटन टैंक

हमारी महान् मातृभूमि के अंचल में उत्पन्न एवं पोषित हुई संतानों का अदम्य शौर्य और पुरुषार्थ एक बार पुनः सिद्ध हो गया। अभेद्य समझे जाने वाले पैटन टैंकों को जिस प्रकार हमारे जवानों ने दियासलाई की खाली डिबियों की भाँति चूर-चूर कर दिया तथा शत्रु के बहुप्रशंसित कवचधारी सैन्य दलों को संहार का दृश्य बना दिया, उसे देखकर बहुतों को, यहां तक कि उसके पाश्चात्य स्वामियों तक को आश्चर्यचकित हो गम्भीरता से विचार करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। उन्होंने विशेषज्ञों की एक समिति इस विध्वंस के कारणों को जानने के लिए नियुक्त की है, क्योंकि इस घटना से उनके शस्त्रास्त्रों तथा उनकी स्वयं की भी प्रतिष्ठा को आघात पहुंचा है। किन्तु उन्होंने इस सामान्य तथ्य पर ध्यान नहीं दिया कि अन्तिम विश्लेषण में महत्व मनुष्य का होता है, यंत्र का नहीं। हमारे श्रेष्ठ मनुष्य शत्रु के श्रेष्ठ यंत्रों से अति श्रेष्ठ सिद्ध हुए हैं। हमारे मनुष्यों के अति श्रेष्ठ गुणों और श्रेष्ठत्व में मुझे कभी कोई सन्देह नहीं था। वे इससे भिन्न हो भी कैसे सकते हैं। वे तो उन माताओं के पुत्र हैं जो अत्यन्त पवित्र एवं मृत्यु को भी ललकारनेवाली हैं, जो शत्रु का स्पर्श सहन करने की अपेक्षा अपने को जौहर की ज्वालाओं में स्वेच्छापूर्वक भस्म कर लेना श्रेयस्कर समझती हैं।

कल्पना चूर-चूर हो गई

केवल शारीरिक वीरता में ही नहीं वरन् युक्ति एवं रणनीति में भी हमारी सेना ने अपनी परम्परागत श्रेष्ठता प्रकट की तथा शत्रु की सभी आक्रामक

योजनाओं को विफल कर दिया। बहुतों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि हमारी सेनायें युद्धबन्दी और तथाकथित अन्ताराष्ट्रीय सीमा को पार करती हुई शत्रु के अधिकार में रहे लाहौर तथा अन्य क्षेत्रों में बढ़ती चली गईं। उन्हें आशा थी कि हमारी सेनायें अपनी ही सीमाओं के भीतर रहते हुए रक्षात्मक युद्ध करेंगी। किन्तु कोई भी व्यक्ति जो युद्ध-नीति का प्रथम सिद्धान्त भी जानता है, अपने प्रदेश को युद्ध-क्षेत्र बनाकर कभी बर्बादी को निमंत्रण नहीं देगा। देश की स्वतंत्रता एवं समग्रता के लिए लड़ा जानेवाला युद्ध सदैव आक्रान्ता के शिविर के बहुत अन्दर ही लड़ा जाना चाहिए। सफल युद्ध-नीति का यही सार है। यह कथन सत्य ही है कि "रक्षा का सर्वोत्तम उपाय आक्रमण होता है।" हमारी सेनायें हमारे देश के लिए विजयश्री एवं अपने लिए जो अमर कीर्ति प्राप्त कर सकी हैं, उसका कारण यही है कि उन्होंने इस सर्वकालिक प्रतिष्ठा प्राप्त सिद्धान्त का अनुसरण किया।

अंग्रेजों ने हमारे सम्बन्ध में बड़े प्रयासपूर्वक एक कपोल-कल्पना की रचना की थी, जिसमें दुनिया का तथा अपने भी अनेक देशवासियों का विश्वास था, कि हम लोग दब्बू और दुर्बल हैं और सदैव किसी न किसी आक्रान्ता और लुटेरे की दया पर ही जीवित रहे हैं, जिसने भी हमें कुचलना चाहा कुचला। इस उपर्युक्त कल्पना को इन थोड़े से दिनों में ही हमारे जवानों ने चूर-चूर कर दिया है। इसी कल्पना ने गांधी जी से भी यह कहलाया था कि "सामान्य हिन्दू कायर और सामान्य मुसलमान उद्दण्ड है।" वास्तव में वह समाज जो राम, कृष्ण, प्रताप, शिवाजी और रणजीत सिंह को जन्म दे सकता है, वीर्यवान् एवं पराक्रमी होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जा सकता। हमारे राष्ट्रीय इतिहास को विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के सभी महान् राष्ट्रीय वीरों को या तो पौराणिक बता दिया गया है अथवा स्थानीय सामन्त। तथा हमारे समाज के कुछ अंशों को लड़ाकू जातियों की संज्ञा देकर अब तक हमारे राष्ट्रीय चारित्र्य की वास्तविक पराक्रमी प्रकृति को भ्रामक रूप में प्रस्तुत किया गया है। हमारे पराक्रमी जवानों ने इस दुष्ट प्रचार की असत्यता को प्रकट कर दिया है और यह सिद्ध कर दिया है कि इस भूमि के प्रत्येक पुत्र की धमनियों में उन्हीं अप्रतिम पूर्वजों का रक्त प्रवाहित है। उन्होंने संसार के समक्ष भारतमाता की वह शक्तिमयी मूर्ति उपस्थित कर दी है जो संसार की समस्त दुष्ट शक्तियों के विनाश के लिए अपनी लाखों भुजायें उठाये हुए है।

हम अपनी महान् सेना के सभी पदों पर प्रतिष्ठित उन सभी महान् हुता-

त्माओं को साभार श्रद्धांजलि समर्पित करें, जिनके शौर्य एवं बलिदान के द्वारा यह महान् दिवस हमारे देश को प्राप्त हुआ है। उनकी मृत्यु के कारण यह दिन हमारे लिए शोक का न हो। जिन्होंने युद्ध करते हुए युद्ध-क्षेत्र में अपने जीवन का बलिदान किया है, वे इसके पश्चात् निश्चय ही परम सुख की अवस्था को प्राप्त होंगे। इस प्रकार की श्रेष्ठ आत्माहुति के लिए भला किसी को शोक क्यों करना चाहिए। इसके विपरीत उनकी पावन स्मृति हमारे लिए सतत प्रेरणादायी होना चाहिए जिससे कि हम सब उनके अतिश्रेष्ठ बलिदान की भावना एवं अपनी पवित्र मातृभूमि की स्वाधीनता की सुरक्षा के ज्वलन्त संकल्प को दृढ़तापूर्वक मनसा ग्रहण करें।

अनिनादित वीरगाथा

उन सीमा क्षेत्रों में शत्रु की चुनौती की जैसी प्रतिक्रिया सामान्य मनुष्य ने व्यक्त की है वह भी कम प्रेरणादायी नहीं है। लोग वहां अपने स्थानों पर डटे रहे। सुरक्षा की द्वितीय पंक्ति के रूप में दिन-रात अथक रूप से काम करते हुए हमारे वीर युवकों की कहानी, अपने प्राणों के ऊपर आए हुए संकट की चिंता न करते हुए हमारे जवानों के लिए आवश्यक चीजें सीधे मोर्चे तक तुरन्त पहुंचाने वाले सैंकड़ों ट्रकचालकों का सतत परिश्रम जिनकी सेवा-भावना, कष्ट सहिष्णुता, त्याग-बलिदान तथा मृत्यु पर न गीत बने, न दुःख व्यक्त किया गया और न उन्हें इसके लिए कोई सम्मान ही मिला—एक ऐसी वीरगाथा है जो किसी भी युद्ध-साहित्य के उत्कृष्टतम पृष्ठ का भूषण बन सकती है। उनके सम्बन्ध में एक सेना अधिकारी ने अत्यन्त भावना-पूर्ण शब्दों में कहा था—"हम सैनिकों को कम से कम यह तो सन्तोष है कि यदि हमारी मृत्यु हो जायगी तो हुतात्मा के रूप में हमारा नाम होगा और सरकार हमारे परिवारों को पेंशन देगी। किन्तु इन नागरिकों को, जो हमारे कन्धे से कन्धा भिड़ाये हुए शत्रु की गोलियों का सामना कर रहे हैं, इनमें से किसी वस्तु की आशा नहीं है। वास्तव में उनकी आत्म-बलिदान की भावना हम लोगों की भावना से कहीं बढ़कर है।"

नेतृत्व का नया स्वरूप

हमारी सरकार राष्ट्र के मनोधैर्य को इतनी प्रेरणादायक ऊँचाई तक कैसे पहुँचा सकी ? इसका कारण है आक्रमणकारी के प्रति उनकी नीतियों में आया हुआ एक स्वस्थ परिवर्तन। आक्रमणकारी के सामने आत्म-समर्पण न

कर आत्मसम्मान की रक्षा की नीति ग्रहण की गई। उनके साहस एवं पौरुष से सम्पूर्ण राष्ट्र में गर्व और प्रसन्नता छा गई। राष्ट्रसंघ तथा अन्य शक्तिशाली देशों के भाँति-भाँति के दबाव पड़ने पर भी हमारे प्रधानमन्त्री का यह दृढ़ भाव कि राष्ट्र की स्वाधीनता और सम्मान से समझौता नहीं करेंगे तथा चीन के तीन दिन के 'अल्टीमेटम' के उत्तर में उनका यह दृढ़निश्चयी कथन कि इस प्रकार की धमकियों से हम भयभीत नहीं होंगे वरन् अपनी सम्पूर्ण शक्ति से युद्ध करेंगे—ऐसी बातें हैं जिनसे राष्ट्र का हृदय फौलाद के समान दृढ़ हो गया।

राष्ट्र का स्वहित, मार्गदर्शक दिशा

दूसरी शिक्षा हमें यह प्राप्त हुई कि अपने राष्ट्रकी स्वतंत्रता और सम्मान को सुरक्षित रखने के लिए हमारी आन्तरिक अथवा वाह्य सभी राष्ट्रीय नीतियों में प्रबुद्ध राष्ट्रीय स्वहित, एक सर्वाधिक महत्व की मार्गदर्शक दिशा मानी जानी चाहिए। वर्तमान अनुभव ने इस बात को पूर्ण रूप से सिद्ध कर दिया है कि हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा न तो ऊँचे-ऊँचे उद्घोष से संभव है और न विश्व संस्थाओं की 'सद्भावना' अथवा अन्य देशों की मैत्री से। इनमें से समय पड़ने पर हमारी रक्षा के लिए कोई नहीं आयेगा। अपनी स्वतन्त्रता के लिए केवल हमें ही पूर्ण उत्तरदायित्व वहन करना पड़ेगा। अब से इस नये दृष्टिकोण के अनुसार हमें अपनी सभी नीतियों की पुनर्रचना करनी चाहिये।

इस दृष्टिकोण से हम पाकिस्तान के साथ अपने सम्बन्धों पर विचार करें। हमारी सरकार ने अब इस पूर्वाशा से युद्धबन्दी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है कि उस अविनेय आक्रमणकारी पड़ोसी के साथ कोई सम्मानपूर्ण स्थायी समझौता हो जायगा। जहाँ तक हमारे शूरवीर सैनिक इतने बलिदानों के साथ पहुँच चुके हैं उस रेखा पर दृढ़तापूर्वक बने रहने का हमारी सरकार का निश्चय एक ऐसी बात है जिसे सुरक्षित और विश्वसनीय होना चाहिये। जो क्षेत्र हमारे प्रत्यक्ष अधिकार में आ चुका है उस सीमा को युद्धबन्दी की सीमा घोषित कर देना चाहिये। इसी पद्धति से राष्ट्रसघ ने भी युद्धबन्दी रेखा का उस समय निर्णय किया था जब १९४७ में पाकिस्तान ने कश्मीर पर आक्रमण किया था। हमें राष्ट्रसंघ को स्पष्ट कह देना चाहिये था कि वह उसी मापदण्ड को इस समय भी उपयोग में लाये जिसका उपयोग उस समय किया था। हमें अपनी वर्तमान स्थिति से एक इञ्च भी पीछे हटने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यद्यपि मैं अनुभव करता हूँ कि ऊ-थांत के दिल्ली आने तथा युद्धबन्दी समझौता स्वीकार करने के पूर्व हमें अपनी सेना को विजय अभियान में आगे बढ़ते हुये लाहौर, रावलपिंडी तथा कराची पर अधिकार कर लेने और सम्पूर्ण कश्मीर को विमुक्त कर लेने की अनुमति प्रदान करनी चाहिये थी। तब हमारी स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ होती और जैसा कि होना चाहिये सभी मामले सुलझ जाते। हमारी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा भी बहुत उच्च हो जाती।

उद्देश्यों में स्पष्टता

वर्तमान संघर्ष में हम प्रायः अपने केन्द्रीय शासन के नीति-निर्धारकों को यह घोषणा करते हुए पाते हैं कि उनका उद्देश्य केवल शत्रु के युद्ध साधनों को नष्ट कर देने का है, उसके प्रदेश पर अधिकार करने का नहीं। आज निस्सन्देह हमारी सेनाओं ने पाकिस्तान के युद्ध-यंत्र पर ध्वस्त कर देने वाला आघात किया है। शत्रु के टैंक, जेट विमान तथा रडार पर ध्वंसकारी भारी मार की गई है। किंतु पाकिस्तान निश्चय ही अपनी हानि की पूर्ति करेगा और अपने को पुनः शस्त्रसज्जित करेगा क्योंकि युद्ध साधनों का अर्थ जहाँ तक युद्ध सामग्री संग्रह से है, वह एक ऐसी वस्तु है कि कितने ही बार पुनः निर्माण की जा सकती है।

उदाहरण के लिये प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जर्मनी के युद्ध स्थानों को पूर्णतया नष्ट कर दिया गया। किन्तु दो दशाब्दों में ही जर्मनी ने एक भीषण युद्ध-यंत्र निर्माण कर लिया और दुनिया को द्वितीय विश्वयुद्ध में झोंक दिया।

इस मामले में पाकिस्तान की युद्ध-साधन-शक्ति अमेरिका तथा इंग्लैंड जैसे देशों द्वारा दिया गया उपहार मात्र ही है जो अपनी भौगोलिक, सामरिक नीति के अन्तर्गत पाकिस्तान को अनुकूल प्यादा समझते हैं। हम वृत्तपत्रों में पढ़ते भी हैं कि पाकिस्तान के लिये युद्ध की सामग्री टर्की, ईरान तथा इसी प्रकार के अन्य देशों से शीघ्र पहुँचाई जा रही है। यह स्पष्ट है कि ये देश अमेरिकन शस्त्रास्त्रों को पाकिस्तान पहुँचाने के केवल परोक्ष मार्ग हैं। ऐसी परिस्थिति में पाकिस्तान के युद्ध साधनों के विनाश का अर्थ है, अमेरिका और इंग्लैण्ड दोनों ही के सम्मिलित युद्ध साधनों का विनाश। इस प्रकार के लक्ष्य की अव्यावहारिकता नितान्त स्पष्ट है।

मूल पर आघात करो

युद्ध-साधनों को नष्ट करने की नीति मानव प्रकृति के मूल तथ्य की

उपेक्षा करती है। कोई व्यक्ति हिंसा अथवा अतिक्रमण केवल इसलिए नहीं करता कि उसके पास शस्त्रास्त्र हैं वरन् इसलिए करता है कि वह अपनी दुष्ट प्रवृत्ति के द्वारा प्रेरित होता है और जब तक वह दुष्ट प्रवृत्ति बनी हुई है, वह बार-बार अपने को शस्त्रसज्जित करेगा ही तथा दूसरों के लिए एक विभीषिका सिद्ध होगा। संसार भर के आक्रामक राष्ट्रों का इतिहास इसी तथ्य का समर्थन करता है।

अब, इस दुष्ट प्रवृत्ति का उच्छेद कैसे किया जाय? हम अपने वर्तमान नेताओं को प्रायः यह कहते हुए सुनते हैं कि उनका दुष्ट मनुष्यो से कोई झगड़ा नहीं है वरन् केवल उनकी दुष्ट मनोवृत्ति से झगड़ा है। किन्तु दुष्ट मनोवृत्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो स्थूल हो और पकड़ कर नष्ट की जा सके। दुष्ट वृत्तियाँ निश्चित रूप से दुष्ट व्यक्ति अथवा ऐसे व्यक्तियों के गुट के रूप में प्रकट होती हैं और उन्हें मिटाने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि दुष्ट लोगों को, जो उनके आधार हैं, हम मिटा दें। यदि मनुष्य से उसकी दुष्ट प्रकृति को अलग कर देना सम्भव होता तो राम ने, जिसके अन्य गुणों के लिए उन्हें बड़ा सम्मान था, उस रावण की दुष्ट वृत्ति का ही नाश किया होता और उसे भला जीवन व्यतीत करने के लिये बचा लिया होता। और फिर श्रीकृष्ण को भी कंस को मारने तथा पाण्डवों के द्वारा कौरवों का संहार कराने की आवश्यकता न होती। किन्तु यह नहीं हुआ।

जैसी कि कथा है, जब श्रीराम दशशीष रावण के शीष काटते थे और उसके धनुषों को भी बार-बार तोड़ते थे, अर्थात् उसके युद्ध-साधनों को नष्ट करते थे तो उसके एक दूसरा शीष उत्पन्न हो जाता था और वह दूसरे धनुष को लेकर पूर्ववत् युद्ध करना आरम्भ कर देता था। जब राम ने रावण के हृदय में जो उसकी दुष्ट प्रकृति का स्थान था, आघात किया तभी वह राक्षस गिरा और उसके आतंककारी शासन का अन्त हुआ। यह कथा इस तथ्य का स्मरण दिलाने वाली है कि यदि हम बुराई से छुटकारा चाहते हैं तो हमें उसका आधार दुष्ट व्यक्तियों का इस संसार से अनिवार्यतः उच्छेद करना होगा।

पूर्ण स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा सार्थक करो

तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि हम दूसरे के देश को लेने के लालच में पड़ रहे हैं; क्योंकि पाकिस्तान निश्चय ही हम लोगों के लिए विदेश नहीं है। पाकिस्तान अभी हाल में ही राजनीतिक चालबाजियों द्वारा गढ़ा गया

है। अनन्तकाल से वे क्षेत्र हमारी मातृभूमि के अविभाज्य अंग थे। लाहौर में ही पवित्र रावी के तट पर पंडित जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में कांग्रेस ने देश की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए प्रतिज्ञा की थी। ऐसी दशा में लाहौर तथा पाकिस्तान के अन्य भागों में हमारे ध्वज का फहराना दूसरों के भू-भाग हड़पना कैसे कहा जा सकता है ? वास्तव में हमारे स्वतन्त्रता युद्ध का सफल अन्त तभी माना जा सकता है जब हम उन क्षेत्रों को विमुक्त कर लेंगे जो अभी तक शत्रु के अधिकार में हैं।

जैसे ही हम यह कहते हैं, बहुत से लोग भयाभिभूत से होकर कह उठते है कि "वहां रहने वाले मुसलमानों का क्या होगा।" किन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि यह हिन्दू और मुसलमानों के बीच कोई धार्मिक युद्ध नहीं है। वास्तव में पाकिस्तान का तानाशाह अपने ही सहधर्मियों पर अत्याचार कर रहा है, विशेषतया उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, बलूचिस्तान तथा पूर्व बंगाल में उसने उन्हें द्वितीय श्रेणी का नागरिक बना दिया है। उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त के लोग तथा उनके नेता खान अब्दुल गफ्फार खाँ सदैव भारत के साथ रहे हैं। उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध बलात् पाकिस्तान के साथ मिलाया गया है। पूर्वी बंगाल के बंगाली मुसलमान पंजाबी मुसलमानों के, जो पाकिस्तान में सम्पूर्ण राजतन्त्र पर अधिकार किए हुए हैं, पैरों के नीचे कराहते हुए पहले ही से विद्रोह में उठ खड़े हुए हैं।

अत: भारत के द्वारा उन भागों का पुन: एकीकरण एक स्वागतार्ह बात होगी और उन लोगों की मुक्ति का एक कार्य। धर्म से वे मुसलमान हुआ करें किन्तु इस एकीभूत जनतान्त्रिक भारत में वे उसी प्रकार सुखी और सम्मानित नागरिक के नाते रह सकेंगे जैसे कि अन्य मुसलमान पहले से ही यहाँ रह रहे हैं और सभी प्रकार के नागरिकता के अधिकारों एवं सुविधाओं का उपभोग कर रहे हैं। इतिहास साक्षी है इस तथ्य का कि धार्मिक उदारता के पालन में भारत ने सदैव सभी धार्मिक गुटों का स्वागत किया है और उन्हें स्वाधीन, सम्मानित एवं सुरक्षित जीवनयापन के लिए आश्वस्त किया है। विजयनगर और मराठा साम्राज्य में भी जो मुसलमानों द्वारा ध्वंस से हमारे राष्ट्र की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए उदित हुए थे, मुसलमान विश्वास एवं उत्तरदायित्व के उच्चतम पदों पर रहे थे।

राष्ट्रसंघ अपने सही रूप में

राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए तथाकथित विश्व-

संस्थाओं के कथनों को आवश्यकता से अधिक महत्व देने के धोखे से हमें बचना चाहिए। आज इस प्रकार की सभी 'विश्वसंस्थाएँ' और 'विश्वमतों' की पूर्णरूप से कलई खुल चुकी है। राष्ट्रसंघ तथा कामनवेल्थ पाकिस्तान के स्पष्ट पक्षपाती सिद्ध हो चुके हैं। उन्होंने उसी घृणित भूमिका की पुनरावृत्ति की है जैसी कि १९४८ में आक्रान्ता और आक्रान्त को समान बताकर की थी। राष्ट्रसंघ बड़ी शक्तियों की सत्तार्थक राजनीति का अखाड़ा है, यह एक बार पुनः सिद्ध हो चुका है। जब पाकिस्तान ने अपने सशस्त्र विध्वंसकों को कश्मीर में सहस्रों की संख्या में भेजा अथवा जब पाकिस्तानी सेनायें छम्ब, जौरियन क्षेत्र में अन्तार्राष्ट्रीय सीमा को पार करती हुई भारत में घुस आईं तब तक राष्ट्रसंघ ने कुछ कहने के लिए अपना मुँह तक नहीं खोला किन्तु जैसे ही हमारी सेनाओं ने अपनी सुरक्षा कार्यवाही के लिए पाकिस्तान के लाहौर क्षेत्र में प्रवेश किया कि वही राष्ट्रसंघ विश्वशान्ति के लिए संकट का भय जताता सचेत हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि पाकिस्तान अपने आक्रामक मन्तव्यों में सफल हो जाता तो राष्ट्रसंघ अथवा अन्य शक्तियाँ जो अब विश्व-शान्ति के नाम पर चीख रही हैं, उस सब मामले पर अत्यन्त शान्ति के साथ सोती रहतीं। सम्भवतः अमेरिका और इंग्लैण्ड ने बड़े प्रेम से यह आशा भी की होगी कि उनके प्रतिनिधि पाकिस्तान को सहज सफलता प्राप्त होगी और कुछ दिनों में वह टहलता हुआ दिल्ली पहुँच कर उस पर भी अधिकार कर लेगा।

भविष्य में भी, पाकिस्तान घुसपैठियों को भेजने का प्रयत्न पुनः कर सकता है तथा राष्ट्रसंघ से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह इससे कुछ अधिक अच्छा व्यवहार करेगा। अपने देश के नीतिनिर्धारणकर्त्ताओं की कौन कहे कोई साधारण बुद्धिमान मनुष्य भी उस राष्ट्रसंघ पर लेशमात्र विश्वास नहीं करेगा जिसने अपने को उस गरिमायुक्त नाम के नितान्त अयोग्य सिद्ध कर दिया है, जिसे कि वह धारण किए है। सत्य तथा न्याय की नितान्त उपेक्षा ही नहीं वरन् आक्रान्ता के साथ जो सक्रिय अव्यक्त अनुज्ञा इस संस्था ने प्रदर्शित की है, वह अत्यन्त अशोभनीय है। पाकिस्तान द्वारा किए गए अठारह वर्ष पुराने आक्रमण के स्पष्ट तथ्य के प्रति अपनी आँखें बन्द कर राष्ट्रसंघ ने शान्ति और न्याय के नाम पर कुछ कहने का अपना अधिकार निश्चित रूप से खो दिया है।

मैत्री का नियम

संसार के सबसे बड़े धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र तथा सर्वाधिक शान्तिप्रिय

देश के विरुद्ध मजहबपरस्त बर्बर सैनिक अधिनायकवाद को बढ़ावा देने की अमेरिका की नीति अत्यन्त शोचनीय है। सामान्यतया हमारे पाश्चात्य 'मित्रों' ने जिस ढंग से हमारे प्रति व्यवहार किया है और वैसे ही रूस भी है जो अब तक पाकिस्तान को आक्रान्ता कहकर निन्दा करने के विषय में मौन है, इस सबसे यही सिद्ध होता है कि संसार में अब तक दुर्बल बने रहने के कारण ही आज हम मित्रविहीन हैं। क्योंकि दुर्बल अपने मित्रों के लिए सदैव एक दायिता तथा भार के समान होता है, उपयोगी नहीं। स्वाभाविक है कि अपने स्वार्थों के लिये दुर्वल का अनुचित उपयोग कर लेने के हेतु को छोड़कर अन्य किसी भी कारण से सबल दुर्बल की मित्रता करने की इच्छा नहीं करता। एक बार हम शक्तिसम्पन्न हो लें और पचास करोड़ के शक्तिशाली दृढ़ इच्छा-सम्पन्न राष्ट्र के बल पर सभी नीतियों का निर्धारण हमारे प्रबुद्ध राष्ट्रीय हितों के अनुकूल करने का निश्चय कर लें तो वे सभी राष्ट्र जो पाकिस्तान की मदद से भारत को नीचा दिखाने की और दोनों कमजोर देशों में अपना प्रभुत्व बनाये रखने की आशा लिये पाकिस्तान की सहायता कर रहे हैं स्वतः अपने ही हितों के लिये भारत के साथ मित्रता के सम्बन्ध प्रस्थापित करने के लिये बाध्य हो जावेंगे।

तथ्य को प्रमाणित करना

अभी हमने राष्ट्रीय हित के पथ को न छोड़ने की इच्छा और दृढ़ता का जो थोड़ा-सा प्रदर्शन किया है, उसी से विश्व के शंकालु तथा साम्राज्यवादी, षड्यंत्रकारी काश्मीर के मामले में फिर से सोचने के लिये प्रवृत्त हुए हैं। हमारी ओर से जहाँ तक वैधानिक आवश्यकताओं की पूर्ति का सम्बन्ध है भारत के साथ काश्मीर को सम्बद्ध करने के लिए वे सब उसी समय पूर्ण हो चुकी थीं जब काश्मीर के महाराज ने विलय-पत्र पर हस्ताक्षर किए थे और जनता की प्रतिनिधि संस्था नेशनल कान्फ्रेंस ने उसका पूर्णतया समर्थन किया था। यह तर्क प्रायः दिया जाता है कि भारत के साथ हैदराबाद और जूनागढ़ को सम्बद्ध करने में शासक की स्वीकृति के वैधानिक औचित्य की हमने चिन्ता नहीं की थी। यद्यपि यह सही है कि इन रियासतों के नवाब भारत में विलयन के विरुद्ध थे, किन्तु वहाँ की जनता इसके पूर्णतया पक्ष में थी। सच तो यह है कि उसने शासकों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। किन्तु काश्मीर के मामले में जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि केवल महाराजा ही नहीं वरन् जनता ने भी अपनी प्रतिनिधि संस्था के माध्यम से असंदिग्ध रूप से

भारत में सम्मिलित होने की अपनी इच्छा को घोषित कर दिया था। इसलिये किसी भी पहलू से देखा जाय, भारत के साथ काश्मीर का विलय अपरिवर्तनीय है और इस विषय पर अब कोई वार्ता नहीं हो सकती।

इसलिये हमें मध्यस्थ शक्तियों से दृढ़तापूर्वक कह देना चाहिए कि अब तो १९४७ में पाकिस्तान ने काश्मीर का जो भाग अन्याय और बलपूर्वक अधिकार में कर लिया है केवल उसे मुक्त कराने का प्रश्न ही शेष रहता है। अन्य किसी विवाद में हमें नहीं पड़ना चाहिए। राष्ट्रसंघ से इस आश्वासन की भी हमें आवश्यकता नहीं है कि पाकिस्तान अब आगे से आक्रमण नहीं करेगा। अतीत में इस प्रकार के सभी आश्वासन व्यर्थ सिद्ध हो चुके हैं। इस समय भी उसके सभी बड़े-बड़े आश्वासनों के रहते हुए भी राष्ट्रसंघ सशस्त्र घुसपैठियों को अथवा नियमित पाकिस्तानी सेना का काश्मीर में प्रवेश रोकने में असफल रहा है। और यदि भविष्य में ऐसे आश्वासन की पूर्ति में विदेशी सैन्य टुकड़ियों को यहाँ तैनात करने की बात जुड़ी हो तो अपने जैसे महान् देश के लिये इससे बढ़कर दूसरी अपमान की बात क्या हो सकती है कि हम अपनी सीमाओं की रक्षा के लिये अपनी भूमि पर विदेशी सैन्य टुकड़ियों को खेमे गाड़ने दें। इस समय संकल्प में शैथिल्य का कोई भी लक्षण प्रदर्शित करना और विदेशी शक्तियों को एक बार पुनः सत्ता-राजनीति की चालबाजियों के लिए अवसर देना हमारी जनता के अतिश्रेष्ठ मनोधैर्य पर बहुत बुरा प्रभाव डालेगा तथा युद्ध-क्षेत्र में हमारे जवानों के असीम कष्टों एवं बलिदानों से जो लाभकारी परिणाम प्राप्त हुए हैं, उन्हें नष्ट करना होगा। हमने जो कुछ सेना के मोर्चे पर पाया है, उसे कूटनीति के मोर्चे पर नहीं गँवा देना चाहिए।

इस सम्बन्ध में मेरे विचार से हमारे प्रधानमंत्री को वार्ता के लिए ताशकन्द जाना स्वीकार नहीं करना चाहिए था। क्योंकि रूस ने भारत और पाकिस्तान को एक साथ बुलाकर आक्रान्ता और आक्रान्त दोनों को एक स्तर प्रदान किया है। आखिर वहाँ वार्ता के लिए है भी क्या ? पाकिस्तान के साथ जिसका कि युद्ध का रुख बराबर बना हुआ है, और जो बलपूर्वक एक समझौता थोपना चाहता है, वार्ता करने से कौन-सा लाभदायक उद्देश्य सिद्ध होगा ? जब तक पाकिस्तान यह सत्य स्वीकार नहीं कर लेता कि काश्मीर भारत का अविभाज्य अंग है, तब तक इस प्रकार की वार्ताओं से कुछ नहीं निकलेगा। और यदि कुछ निकला भी तो वह हमारे हितों के विरुद्ध ही होगा।

एक बार सदा के लिए निर्णय कर डालो

पाकिस्तान द्वारा नवीन आक्रमण का भय अब भी है। वह वर्तमान युद्ध-

बंदी को छद्मावरण में बदलकर अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाने के प्रयत्न में लगा है। यद्यपि भारी कीमत चुकाकर ही तथापि पाकिस्तान ने हमारे शस्त्रास्त्र, हमारी रणनीति, हमारी शक्ति और हमारी कमजोरियों का भी गहरा अनुभव प्राप्त कर लिया है। इस अनुभव से वह अवश्य शिक्षा ग्रहण करेगा, अपनी सभी त्रुटियों की पूर्ति करेगा तथा अधिक सशक्त और अधिक योजनाबद्ध आक्रमण के लिए सज्जित होगा। युद्ध-प्रिय राष्ट्र सदैव युद्ध के पश्चात् के मध्यान्तर समय को और भी बड़े भावी युद्ध के लिए तैयारी करने में लगाते हैं। वास्तव में पाकिस्तान पहले ही से अपने शस्त्रास्त्रों की हानि की पूर्ति बड़ी तीव्र गति से कर रहा है। वह अपनी आक्रामक स्थिति में बना हुआ है और निर्भीकता से युद्धबन्दी का उल्लंघन कर रहा है। युद्धबन्दी के पश्चात् उसने हमारी सैकड़ों वर्गमील भूमि पर अधिकार कर लिया है। हमारे लोगों का संहार, पशुओं का अपहरण, फसलों का काटना, हत्याएँ तथा गोलाबारी बराबर चालू हैं। यह स्थिति हमारे लिए अत्यन्त अपमानकारक है। यह असह्य है। इसे अधिक समय तक ऐसा ही नहीं चलने देना चाहिए। इस विषय में कुछ अन्तिम निर्णय हो जाना चाहिए। इस मामले का सदा-सदा के लिए निपटारा हो जाना चाहिये।

पूर्व की अपेक्षा बड़े युद्ध का स्वागत करो

चीन और पाकिस्तान के दुष्ट सम्मिलन से हमें अनावश्यक रूप से भयभीत नहीं होना चाहिए। हम निश्चय ही दोनों आक्रान्ताओं को परास्त कर सकते हैं। हमारी सेना युद्ध की दृष्टि से उत्कृष्ट स्थिति में है। उनका मनोधैर्य उच्च कोटि का है। वास्तव में यह अत्यन्त इष्ट होता यदि चीन अपनी अन्तिम चेतावनी के अनुसार हमारे देश पर आक्रमण कर देता। इससे हमारी युद्धरत सेनाओं को चीन को धूल चटाने का तथा उस पराजय के कलंक एवं अपमान को धो डालने का स्वर्ण अवसर मिल जाता जो चीन से हुए गत युद्ध के समय हमारे नाम के साथ जुड़ गया था। हमारे भारतीय पराक्रम की अतिश्रेष्ठ उच्चता को संसार ने एक बार पुनः देखा होता। आखिर पाकिस्तान के समान क्षुद्र शक्ति मात्र से ही युद्ध करने में क्या कौतुक है।

अन्ताराष्ट्रीय मोर्चे पर भी चीन के साथ ऐसा कठोर युद्ध अत्यन्त लाभकारी प्रभाव डालने वाला हुआ होता। उसके अपने ही हित की दृष्टि से रूस भारत जैसे बड़े देश को चीन के अधिकार में चले जाने का अवसर कभी नहीं देता। इस विचार ने रूस को उकसाया होता कि वह भारत द्वारा चीनी

आक्रमण का प्रतिरोध करने के कार्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायक हो। अमरीका भी उसकी भारत पाकिस्तान सम्बन्धी वर्तमान नीति में विचार करने के लिये बाध्य होता। कारण स्पष्ट है कि पूर्ण रीति से चीन के शिविर में गये हुए पाकिस्तान की स्वयं सहायता करके एशिया में सबसे बड़ी शक्ति के रूप में चीन के उदय होने की सम्भावना का संकट अमेरिका स्वीकार नहीं करता। वह अन्त में कदाचित् इसी निष्कर्ष पर पहुँचता कि आगे चलकर पाकिस्तान की अपेक्षा, जो केवल फूला हुआ सैनिक अधिनायकवाद ही है, भारत जैसा सबसे बड़ा लोकतन्त्री देश उसके लिए अधिक सहायक सिद्ध हो सकता है। इससे उसे अब तक की अपनी त्रुटिपूर्ण विदेश नीति में सुधार करने का अवसर भी मिला होता। वर्तमान युद्ध से मिली हुई यह शिक्षा कि पाकिस्तान जैसा कठपुतली देश, कितना ही शस्त्रसज्जित क्यों न हो, भारत जैसे बड़े एवं वीर्यवान् राष्ट्र को धमका नहीं सकता, उसे अपनी नीतियों की पुन: रचना के लिए प्रवृत्त करने में एक बड़ा कारण होती। सशक्त एवं स्वातन्त्र्य प्रेमी भारत इस प्रकार से चीन के विरुद्ध दो विशाल आणविक शक्तियों की मिलन भूमि बन जाता। सम्पूर्ण मानवता के लिए चीन की समान विभीषिका के विरुद्ध उन दोनों का खड़ा हो जाना विश्वशान्ति के हित में एक सर्वाधिक वांछनीय घटना होती।

इस प्रकार का पूर्ण युद्ध (Total war) वर्तमान युद्ध के समान सीमित नहीं रहता। इसमें हमारे देश के प्रत्येक व्यक्ति को समान भाव से युद्ध प्रयासों में सक्रिय भाग लेना पड़ता और यह अवस्था राष्ट्रीय मस्तिष्क के लिए महान् शोधक सिद्ध होती। अंग्रेजों की गुलामी के लम्बे कालखण्ड ने एवं परवशता के जीवन ने हममें आलस्य, स्वार्थपरता, संकीर्णता आदि अनेक दुर्गुणों को उत्पन्न कर दिया है। दीर्घकालीन युद्ध की अग्नि में ये सभी दुर्गुण और दुर्बलताएँ भस्म हो गई होतीं तथा एकात्म एवं पराक्रमी राष्ट्रभाव का शुद्ध स्वर्ण और भी अधिक देदीप्यमान कान्ति के साथ प्रकट हो जाता। युद्ध के कारण उपस्थित होने वाली अस्थायी कठिनाइयाँ हम पर आ सकती हैं, फिर भी उपर्युक्त कारणों से हमें पूर्ण और इससे भी बड़े युद्ध का स्वागत करना चाहिए। यद्यपि परम्परा से हम युद्धप्रेमी नहीं बरन् अपरिहार्य शान्तिप्रेमी रहे हैं फिर भी हमें इस प्रकार के युद्ध के लिए वास्तव में प्रार्थना करनी चाहिए क्योंकि स्वतन्त्रता और सम्मानयुक्त शान्ति के लिए यही मूल्य हमें चुकाना है और यह मूल्य हम जितने ही शीघ्र चुका देते हैं, उतना ही अच्छा है।

***

२८

युद्ध-रत राष्ट्र

१. चुनौती का सामना

स्वतन्त्रता का मेरुदण्ड स्वावलम्बन

किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाय वर्तमान परिस्थिति हमारे लोगों के लिए एक चुनौती भी है और अवसर भी। अपने राष्ट्रजीवन के सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में आत्मनिर्भरता की उपलब्धि प्राप्त करना एक बहुत बड़ी चुनौती है, जिसका सामना करने के लिए हमें आह्वान मिला है।

राष्ट्रीय जीवन का यह महान् सत्य कि प्रत्येक स्वाधीन एवं उन्नतिशील राष्ट्र का मेरुदण्ड स्वावलम्बन होता है, जितने प्रबल रूप से आज हमारे सामने आया है, वैसा कभी नहीं आया था। सुरक्षा सम्बन्धी हमारी आत्मनिर्भरता इसका प्रथम एवं सर्वाधिक महत्व का क्षेत्र है। इसके लिए हमें अपने निजी युद्ध-साधनों का निर्माण करना चाहिए और विदेशी सहायता पर निर्भरता से स्वयं को मुक्त करना चाहिए। सरकार को चाहिए कि सभी उद्योगपतियों, वैज्ञानिकों और तकनीकी विशेषज्ञों का आह्वान करे तथा उनके सहयोग से यथाशीघ्र ऐसे आयुधों का निर्माण करे जो शत्रु को प्राप्त होने वाले आयुधों से श्रेष्ठतर हों। कम्युनिस्ट चीन के पास अणुबम होने से उसका बनाना हमारे लिए भी अत्यावश्यक हो गया है। यह हमारी अन्तिम विजय की प्राप्ति की क्षमता के सम्बन्ध में जनता तथा सेना के मस्तिष्क में विश्वास उत्पन्न करेगा। सिद्धांत एवं तात्विक निषेधों को बाधास्वरूप इसके मार्ग में नहीं आने देना चाहिए।

प्रत्येक श्रमिक और वैज्ञानिक

और भी, हम सभी कृषक, श्रमिक, उद्योगपति तथा वे लोग जो जीवन के

अन्य सभी क्षेत्रों में कार्य करते हैं, आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि के लिए तथा अपने देश को प्रतिदिन रोटी के लिए भी प्राप्त अन्य देशों की अधम निर्भरता से देश को मुक्त करने के लिएदृढ़ संकल्प प्रयत्न करें। प्रत्येक कारखाना और क्षेत्र अधिकतम उत्पादन करके दिखाये । हम आवश्यक वस्तुओं की कमी अथवा अपर्याप्तता को सहन नहीं कर सकते।

विशेषतया वैज्ञानिकों के लिए युद्ध एक बड़ी चुनौती उपस्थित करता है। प्रख्यात आविष्कारों में से अधिकतर युद्ध की गम्भीर एवं तनावपूर्ण स्थिति में ही वैज्ञानिकों द्वारा उपलब्ध किए गए हैं। कहा है कि आवश्यकता आविष्कारों की जननी है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय इंग्लैण्ड ने रडार का आविष्कार किया और उसी समय अणुबम का भी विस्फोट हुआ है। हमारे वैज्ञानिक किसी अन्य देश के बड़े से बड़े वैंज्ञानिक की तुलना में मेधा-शक्ति और मौलिकता में किसी प्रकार कम नहीं हैं। वे समय की चुनौती स्वीकार करें और इस प्रकार के अनुसंधान एवं आविष्कारों को सामने लायें कि जिनकी सूचना मात्र से शत्रुओं के छक्के छूट जायें तथा जो शान्तिकाल में राष्ट्रीय सम्पन्नता के साधनों में परिवर्तित हो सकें।

पेट की चुनौती

इसके पश्चात् आता है अन्न का क्षेत्र जिस पर हमें सर्वाधिक और शीघ्रातिशीघ्र ध्यान देना चाहिए । जैसा कि सर्वविदित है, हमारे देश के सामने अन्न की कमी की बढ़ती हुई समस्या है। अनाज की आपूर्ति की समुचित और शीघ्र व्यवस्था की माँग करते हुए आन्दोलन तथा प्रदर्शन आये दिन होते रहते हैं। प्रायः यह विक्षोभ हिंसात्मक रूप धारण कर लेते है। यह सत्य है कि आज विक्षोभ जनता के असन्तोष को प्रकट करने का एक माना हुआ ढंग हो गया है। यदि जनता चुपचाप बैठी रहे और मौन रहकर कष्ट सहन करती रहे तो सरकार भी सोती रहती है और जनता के कष्टों के प्रति निर्दय हो जाती है। अशोभनीय विक्षोभों को टालने के लिए हमारी सरकार समय रहते चेतती ही नहीं। कोल्हापुर का सुस्पष्ट उदाहरण हमारे सामने है। उस नगर में अन्न के लिए आन्दोलन हुए। भूखी भीड़ ने लूट और दंगे किये। कहा जाता है कि यदि अनाज एक सप्ताह पूर्व कोल्हापुर पहुंच जाता तो ये दंगे नहीं होते। किन्तु दंगा और लूट के बाद ही वहां अनाज शीघ्रता से पहुंचाया गया।

प्रश्न है कि क्या स्थायी समाधान प्राप्त करने के लिये केवल आन्दोलन सहायक होंगे ? उत्पादन और वितरण खाद्य समस्या के दो पक्ष हैं। कुछ

सीमा तक ये आन्दोलन दूसरे पक्ष अर्थात् वितरण पर ध्यान देने के लिए सरकार पर दबाव डाल सकते हैं। किन्तु क्या किसी ने उत्पादन की मूल समस्या के विषय में गम्भीरता से विचार कर उसके लिए स्थायी हल प्राप्त करने का प्रयत्न किया है ?

रुपये का आत्मघाती सम्मोहन भंग करो

उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि लाखों एकड़ हमारी उर्वरा भूमि में धनार्जन करने वाली फसलें की जाती हैं। उत्तर प्रदेश और बिहार को लीजिए—उत्तम गेहूँ तथा चावल उत्पन्न करने वाली भूमि का पर्याप्त भाग आज गन्ने की खेती के काम में आता है। परिणाम यह है कि जो उत्तर प्रदेश गेहूँ का निर्यात करता था, अब पंजाब या अन्य किसी स्थान से बिना गेहूँ मँगाये जीवन धारण नहीं कर सकता। महाराष्ट्र में अंगूर उगाने की स्पर्द्धा चल रही है। उसका अधिकतर भाग मदिरा बनाने के काम में आता है। आन्ध्र में तम्बाकू की खेती को प्रोत्साहन देने और उसके विकास के लिए अलग विभाग खोला गया है। मूँगफली इस प्रकार की एक धनोत्पादक फसल है। हमें इस प्रवृत्ति को रोकना चाहिए और उन भूमियों को अन्नोत्पादन के लिए पुनः काम में लाना चाहिए। यदि हमें बाहर से कुछ आयात करना ही पड़े तो करें, किन्तु गेहूँ के स्थान पर शकर का आयात करें। यदि आकस्मिक घटनावश जैसा कि इस समय है, आयात बन्द हो जाय तो अधिक से अधिक शकर का आयात बन्द होगा। हम बिना शकर के नहीं मरेंगे किन्तु गेहूँ और चावल के अभाव में निश्चय ही मर जायेंगे। आज, हमें ज्ञात है कि हमारे नेता पी०एल० ४८० के अनुसार अमेरिका के गेहूं का आयात करने के लिए कितनी दौड़धूप कर रहे हैं। वे अनुभव करते हैं कि उस ऋण के बिना—वह ऋण ही है, सहायता नहीं—हम जीवित नहीं रहेंगे।

लोग धनोत्पादक फसलों के लिए क्यों उत्सुक रहते हैं ? यह इसीलिए है कि हमने दैनंदिन जीवन में रुपये को अनुचित महत्व दे रखा है। रुपया तो केवल विनिमय का माध्यम और साधन है। दुर्भाग्यवश उसी साधन को हमने अपना स्वामी बन जाने दिया है। यदि यह मुद्रासंग्रह अभिमुख दृष्टि हमारे जीवन पर अधिकार किये रहती है तो हम ग्रामवासियों से किस प्रकार यह आशा कर सकते हैं कि वे अपने को तथा नगर निवासियों को भी खिलाने के लिए पर्याप्त अन्न का उत्पादन करें। बिना अनाज के हम जीवित कैसे रह सकते हैं ? निश्चय ही हम रुपयों को खाकर नहीं जी सकते।

सम्पूर्ण देश के कृषकों के मस्तिष्क में यह विचार भलीभाँति स्थापित कर देना चाहिये कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये 'अन्न' में आत्मनिर्भरता अत्यावश्यक है। उन्हें अपनी देशवासी जनता को भोजन उपलब्ध कराने के लिये पर्याप्त अन्नोत्पादन करने के पवित्र कर्त्तव्य का अनुभव करा देना चाहिये। उसके बाद अगर वे चाहें तो दूसरी धन अर्जन करने वाली फसलें भी उगा सकते हैं। सरकार तथा जनता को इस प्रकार के सभी उपाय काम में लाना चाहिए जिससे हमारा देश इस सबसे बड़ी आवश्यकता में आत्मनिर्भर हो जाय।

विदेशों पर निर्भरता का मूल्य

ज्यों-ज्यों समय बीतता है, हमारे सामने अविलम्ब स्वालम्बन की आवश्यकता दुःखदायक रीति से अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही है। जब पानी के अभाव में अपने देश की फसलें कुम्हला रही हों, उस समय पाकिस्तान के लिए पर्याप्त मात्रा में नहरी पानी छोड़ते रहने का सरकारी निर्णय और जब एक-एक पैसा हमें अपनी सुरक्षा में लगाना हो तब करोड़ों रुपया इस प्रकार देते जाना, इस विषय के आश्चर्यजनक उदाहरण हैं। यह स्पष्ट है कि हम विश्व बैंक के दबाव के समक्ष झुक गये हैं, क्योंकि आर्थिक सहायता के लिए हम उस पर निर्भर हैं। यह कहावत कि 'भिखारी अपनी आवश्यकताओं पर चयनकर्ता नहीं होते' और वही बात ऋणी लोगों पर भी लागू होती है, हम पर पूरी तरह से घटित हो रही है। इतने वर्षों तक अपनी आर्थिक व्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाने की ओर ध्यान न देने की यही कीमत है जो हम चुकाते जा रहे हैं। विगत अठारह वर्षों से सतत खाद्यान्न की, धन की और लगभग सभी वस्तुओं की भीख मांगने की इस आदत ने हमारे स्वावलम्बन और मनुष्यत्व के भाव को चाट लिया है और हमें निरीह दास की कोटि में ला उपस्थित किया है। इस समय हमारे नेताओं के लिए सभी बाहरी दबावों के प्रतिरोध करने का तथा पाकिस्तान को एक पाई अथवा एक बूंद पानी भी देने से इनकार करने का अवसर उपलब्ध था, क्योंकि यह सब उसकी आक्रमण की भूख को ही बढ़ाने में सहायक होगा। तथाकथित नहरी पानी के अन्तर्गत दिया हुआ हमारा वचन उसी समय स्वतः निरस्त हो चुका जिस समय पाकिस्तान ने हमारे देश पर आक्रमण कर दिया। वास्तव में हमारे नेताओं को पाकिस्तान से हमारे सभी नुकसानों की पूरी-पूरी भरपायी की माँग करना चाहिए थी जो उसके स्वेच्छाचारी आक्रमण से हमें हुए हैं और उस सब देय धन को भी माँगना चाहिए था जो विभाजन के बाद के गत १८ वर्षों में विविध समझौतों

के अन्तर्गत हमें मिलना चाहिए था। यद्यपि इस प्रकार के कठोर निर्णय से हमारे लिए कुछ तात्कालिक कठिनाइयों के उत्पन्न होने की सम्भावना थी किन्तु उसके बाद अपनी आर्थिक व्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाने के नवीन निश्चय से राष्ट्र में सुदृढ़ता आ जाती।

हम इस तथ्य को भलीभाँति समझ लें कि राष्ट्रीय सम्मान और स्वतन्त्रता की रक्षा का लक्ष्य 'मोहक सरल छोटे रास्तों' से प्राप्त होने वाला नहीं है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रत्येक राष्ट्र को आत्मविश्वास और बलिदान के कठोर मार्ग से ही जाना पड़ा है।

उज्ज्वल उदाहरण

हमारे देशवासियों को देशभक्ति के इस व्यावहारिक पहलू की शिक्षा देने की आवश्यकता है। देश-हित की केवल इच्छा ही पर्याप्त नहीं है। हमें यह भी जानना चाहिए कि राष्ट्रीय कल्याण की अपनी आकांक्षाओं को किस प्रकार अच्छे से अच्छे ढंग से अपने व्यवहार एवं तदनुसार क्रिया में व्यक्त करें।

इंग्लैंड एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है कि जब परिस्थिति की माँग हुई तो किस प्रकार उन्होंने देशभक्ति की अपनी जन्मजात भावना को व्यावहारिक कार्य स्वरूप प्रदान किया। जब प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया तो इंग्लैण्ड को भारत जैसे देशों से भोजन सामग्री का आयात कठिन हो गया। खाद्य सामग्री लाते हुए जहाज जर्मनी द्वारा टारपीडो किये जाने लगे। इंग्लैण्ड को उस समय पेट भरने की चुनौती का सामना करना पड़ा, जिससे कि उनकी सभी युद्ध योजनाओं को छिन्न-भिन्न करने वाला संकट उत्पन्न हो गया। उन्होंने कृषि-योग्य भूमि का छोटे से छोटा टुकड़ा भी जोत डालने की एक सर्वंकष योजना बनाई। उन्होंने किस प्रकार की फसल किस परिमाण में उत्पन्न की जा सकती है, इसका अनुमान लगाया और अपने को खाद्य उत्पादन के कार्य में जुटा दिया। एक वर्ष तक इस खाद्य मोर्चे पर नियमित तथा व्यवस्थित रूप से कार्य करते हुए वे इतने आत्मनिर्भर तो हो ही गये कि अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। इस प्रकार युद्ध की एक बड़ी चुनौती का सामना उन्होंने सफलतापूर्वक किया। कृषि-योग्य भूमि की कमी होते हुए भी इंग्लैण्ड ने यह चमत्कार किया था। इसके विपरीत हमारा देश कितना विशाल और उर्वर है। सच में हमारा देश भूमि की उर्वरता के लिए प्रसिद्ध है। तो भी हम इस महत्वपूर्ण क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने में असमर्थ हैं। इस चुनौती का सामना करने के लिए अपने राष्ट्र की इच्छाशक्ति को

रचनात्मक कार्यों के लिए प्रेरित करने और उपयोग में लाने की आवश्यकता है।

राष्ट्र के मनोबल का निर्माण

और तब हम आते हैं, राष्ट्र के मनोधैर्य को उच्चतम स्थिति में बनाये रखने के सर्वाधिक महत्व के प्रश्न पर। सुरक्षा, खाद्य तथा औद्योगिक उत्पादनों आदि में आत्मनिर्भरता एवं स्वावलम्बन की उपलब्धि के हेतु तात्कालिक और दूरगामी योजनाओं के अनुसार कार्य करने के लिए हमारे प्रत्येक देशवासी की इस प्रकार की तैयारी अपेक्षित है कि वह वर्षों तक अपना 'खून-पसीना और आँसू' देने के लिए उद्यत रहे। राष्ट्रीय चेतना का उत्कट आविर्भाव ही देशवासियों में ऐसी स्वार्थ-त्याग की स्वयंस्फूर्त एवं आनन्दमयी भावना का नित्य स्रोत खोल सकता है। इसलिये आज दिखाई पड़ने वाले इस ओजस्वी राष्ट्रीय मनोबल को स्थायी बनाये रखने के लिये इस क्षण की अत्यधिक महत्ता इसी में है कि हरएक क्षेत्र में हमारे राष्ट्रीय प्रयत्नों में जागरूकता भर उठे।

प्रत्येक व्यापारी

इस विषय में व्यापारी वर्ग को भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाना है। युद्धकाल में वस्तुओं की कमी हो जाती है, माँगें बढ़ जाती हैं तथा अधिक लाभ प्राप्त करने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। विशेष रूप से उन क्षेत्रों में जहाँ शत्रु से सीधा संघर्ष होता है, जीवन और सम्पत्ति का विनाश उपस्थित होने पर समाज-विरोधी तथा बेईमान व्यापारियों को लोगों के प्राणों से व्यापार करने का अवसर मिल जाता है। १९६२ में चीनी आक्रमण की छाया में जब लोग ब्रह्मपुत्र को पार कर तेजपुर से भागने लगे तो रिक्शाचालकों और मल्लाहों तक ने एक व्यक्ति को ले जाने का ५० रु० से १०० रु० तक भाड़ा लिया। इस प्रकार की घटनायें अभी हाल में जामनगर में भी हुईं। प्राणहारी संकटकाल में अपने भाइयों की सहायता के लिए दौड़ने के स्थान पर उनकी कठिनाइयों से अनुचित लाभ उठाना और उन्हें अधिकाधिक निचोड़ना मानव दुःख से सौदा करने एवं नर-भक्षण से किसी तरह भी कम नहीं है। आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ाना भी इससे कम गर्हित नहीं है। व्यापारी वर्ग इस प्रवृत्ति से सावधान रहे और ध्यान रखे कि इस भीषण काल में ऐसा महत्वपूर्ण क्षेत्र लोगों के मनोबल को कमजोर करने वाला संकट न बन जाय।

प्रत्येक ग्राम

प्रत्येक ग्राम और नगर चतुर्दिक मनोधैर्य बनाये रखें तथा शैथिल्य का अल्पतम लक्षण भी प्रदर्शित न होने दें। कहीं ऐसी एक भी घटना घटित नहीं होनी चाहिए, जिसका घातक परिणाम युद्ध के मोर्चे पर लड़ रहे हमारे जवानों के मन पर पड़े। आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था को भंग करने वाले तथा युद्ध-प्रयत्नों को नष्ट करने वाले तत्वों पर कठोर दृष्टि और नियन्त्रण रखना चाहिए। कोई कारण नहीं है कि हम आत्मसंतोषी विश्राम भावना की गोद में जा पड़ें। स्वातन्त्र्य का मूल्य सतत जागरूकता है। नागरिक सुरक्षा से सम्बन्धित सभी कार्य साथ ही समाज-विरोधी तत्वों के सम्बन्ध में सावधानी व जागरूकता पूर्णरूप से लगातार बनी रहनी चाहिए जिससे कि घुसपैठियों की सहायता से पंचमाँगियों को ऐसा अवसर ही न मिले कि वे अन्दर से देश की सुरक्षा में गड़बड़ी पैदा कर सकें।

प्रशासन

इस विषय में सरकार का विशेष दायित्व है। प्रशासन को न केवल आन्तरिक विध्वंसकारी तत्वों पर कठोरता बरतने के लिये अत्यधिक सतर्क और दृढ़ रहना चाहिये वरन् जब जहाँ ऐसी घटनायें हों तब उनके प्रति की गई कठोर कार्यवाहियों को जनता की जानकारी के लिये प्रकाशित भी करे।

गुजरात के मुख्यमंत्री बलवन्तराय मेहता जिस विमान से यात्रा कर रहे थे उसे पाकिस्तान द्वारा गोली मार कर गिराना और उनको मार डालना इस सम्बन्ध में एक उदाहरण है। जनता के मस्तिष्क में इस प्रकार के गम्भीर सन्देह उत्पन्न हो गये हैं कि क्या हमारी सीमाओं के अन्दर से ही पाकिस्तानी भेदियों ने ट्रान्समीटर के द्वारा इसकी सूचना पहले ही नहीं दे दी थी? लोग निश्चित रूप से यह जानते हैं कि हमारे सम्पूर्ण देश में इस प्रकार के ट्रान्समीटर कार्य कर रहे हैं। आज तक सरकार ने लोगों की इस शंका का समाधान नहीं किया है कि क्या ऐसी घटनाओं में शत्रु-चरों का हाथ है, और क्या वे पकड़े गये तथा दण्डित हुए हैं? आन्तरिक शत्रुओं को दण्डित करने से सम्बन्धित किसी आधिकारिक सूचना के अभाव में अपने सुरक्षा संयोजनों की अमोघता के विषय में लोगों के मन में गम्भीर सन्देह बने रहना स्वाभाविक है। इससे प्रशासन में जनता का विश्वास गम्भीर रूप से हिल जायगा जो इस समय गम्भीर और दुःखद स्थिति होगी। यदि सरकार ने उन अपराधियों का

पता लगा लिया है तो उसे जनता को सूचित करना चाहिए जिससे उन्हें हमारे आन्तरिक सुरक्षा संयोजनों की शक्ति का विश्वास होगा और सरकार के साथ सहयोग करने के उनके उत्साह में और भी वृद्धि होगी।

धन नहीं राष्ट्र को प्राथमिकता

सरकार जो कुछ भी करे उसमें बिना भूले सर्वोपरि विचार इस बात का रहना चाहिए कि उसके प्रत्येक कार्यकलाप से लोगों का दृष्टिकोण राष्ट्रोन्मुख बने। पाकिस्तानी छतरीधारी को पकड़वाने वाले को सरकार द्वारा पाँच सौ रुपये का पुरस्कार देने का निर्णय घोषित करना उस भावना को समझने की नितान्त असमर्थता प्रकट करता है जो ऐसे संकटकाल में राष्ट्र को कर्तव्य करने की प्रेरणा देती है। धन का प्रलोभन देने के स्थान पर उन्हें लोगों में देशभक्ति की सहज चेतना को जागृत करना चाहिए था और अपने राष्ट्र को अन्दर से विध्वंस करने वाले धोखेबाज शत्रु का पता लगाने के लिए उनका आह्वान करना चाहिए था। यदि धन ही प्रेरक होता तो विध्वंसक की सहायता करने वाले को पाकिस्तान द्वारा एक हजार रुपये प्रदान करना हमारे प्रशासन के पाँच सौ रुपये के दान को निरर्थक कर देगा और उसे देशद्रोही बना देगा। वास्तव में शत्रु के छतरीधारी सैनिक, अपने दुष्ट प्रयोजनों में सहभागी के रूप में हमारे लोगों को मोल लेने के लिए, बहुत-सा धन अपने साथ लाते रहे हैं। इसलिए धन पर आधारित प्रेरणा हमारे लोगों में राष्ट्र के बजाय धन की लालसा जगायेगी तथा इसका परिणाम जो कुछ प्रशासन चाहता है, उससे नितान्त विपरीत होगा।

आतमसात करने का मार्ग

जैसा कि इस अवसर पर देखा गया है, उत्कट राष्ट्रीय चेतना एवं पराक्रम के जागरण ने सम्पूर्ण देश में फैले हुए पाकिस्तान समर्थक शक्तिशाली तत्वों को नियंत्रित रखा था और एक सीमा तक प्रभावहीन भी कर दिया था। अतीत में उन्होंने देश को पर्याप्त कष्ट दिया है। विगत दिनों में उन्होंने देश में बहुत उपद्रव किये हैं। अब भी समय-समय पर जो दंगे भड़क उठते हैं, हिंसा-लूटपाट की घटनायें होती हैं तथा इस वर्तमान संकटकाल में भी उनमें से कुछ की संदेहास्पद कार्यवाहियाँ हमें यह कहने के लिये बाध्य करती हैं कि आजतक उन्होंने राष्ट्रजीवन की मुख्यधारा से साथ समरस होने से इंकार किया है।

इस सम्बन्ध में यहाँ के मुसलमानों के लिए यह लाभदायक होगा कि ईरान, टर्की आदि देशों के अपने सहधर्मियों के उदाहरण का अनुसरण करें। जब उन पड़ोस के देशों में अरब से आकर इस्लाम फैला तो वहाँ के लोगों ने इस्लाम पंथ को स्वीकार कर लिया किन्तु अपनी भाषा, संस्कृति और जीवन-रचना को बनाये रखा। हिन्देशिया में, जो मुख्यत: एक मुस्लिम देश है, बच्चे अपनी शिक्षा राम और सीता के पाठ से आरम्भ करते हैं। परन्तु इस देश में यहाँ के मुसलमानों ने अपने पूर्वजों, अपनी भाषा, रीति-रिवाज तथा इस प्रकार के सभी राष्ट्रीय परम्पराओं से प्राप्त तत्वों को अमान्य कर दिया और कुल-परम्परा का उनका यही विस्मरण देश के विभाजन का कारण बना।

आज जो परिवर्तन उनमें दृष्टिगत हो रहा है, वह इस परिस्थिति से भी उत्पन्न हो सकता है, जिसमें भारत ने अपने शौर्य और धैर्य को प्रकट करके प्रमाणित कर दिया है कि वह दुष्टता करने वालों को कितनी अच्छी प्रकार से दण्डित कर सकता है। फिर भी हम यही आशा करें कि यह परिवर्तन उनके सच्चे हृदय-परिवर्तन के कारण हुआ है और समय बीतते वे अनुभव करेंगे कि कभी वह भी हिन्दू ही थे और इस देश के प्रति निष्ठावान रहना, प्रामाणिकतापूर्वक इसकी सेवा करना, अपने देशवासियों के सुख-दु:ख में भागीदार होना तथा इस देश की परम्पराओं का समादर करना उनका कर्तव्य है। हम अपनी ओर से सजग और दृढ़ इच्छा-शक्तिसम्पन्न बने रहें, जिससे कि इस प्रकार के सभी अस्थिर तत्व राष्ट्रीयता की मुख्य धारा में मिलना ही अपने स्वयं के हित में मानने लगेंगे।

महान् शोधक

राष्ट्रीय चेतना एवं मनोधैर्य को उद्दीप्त रखने के लिए अत्यन्त सजग रहने की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इसे हम चिरकालिक राष्ट्रीय एकता के प्रश्न के द्वारा भलीभाँति समझ सकते हैं। आज नि:सन्देह हम अपने राष्ट्रीय मानस को सामूहिक प्रयत्न एवं स्वार्थ-त्याग की अति श्रेष्ठ भावना से युक्त देख रहे हैं। कल तक स्वार्थपरता, दलीय विवाद, सत्ता के लिए कलह और आन्तरिक झगड़े हमारे राष्ट्रीय जीवन को खण्ड-खण्ड किए हुए थे। सैकड़ों बहाने लेकर पृथकता की भावना अपना कुत्सित सिर उठा रही थी। आज हमारे पराक्रमी जवानों की यज्ञीय चिताओं की पवित्र ज्वालाओं में वह सब भस्म हो रहा है। केरल और मद्रास से लेकर पंजाब और बंगाल तक से आये हुए युद्ध क्षेत्र में कन्धे से कन्धा भिड़ाकर खड़े हुए, अपने सुखों और दु:खों को साथ-साथ अनुभव करते हुए अपने देश की रक्षा के लिए साथ-साथ युद्ध

करते और मरते हुए हमारे जवानों के प्रेरणादायी दृश्य ने एक अविभाज्य मातृभूमि की प्रतिमा को—महान् भारतमाता को—आँखों के सामने खड़ा कर दिया है। हमारी अन्तर्निहित राष्ट्रीय एकता के शाश्वत स्रोत एक बार पुनः खुल गये हैं और सम्पूर्ण देश अपनी सभी विविधताओं के साथ एकीभूत एक महाकाय सामूहिक व्यक्तित्व—विराट् पुरुष की भाँति उठकर खड़ा हो गया है। यह दृश्य उन लोगों की दृष्टि को विस्मयापन्न करके चकाचौंध करने वाला है जो हमारे समाज-जीवन की रचना विशेष को नहीं समझ सकते।

एकता—प्रासंगिक और स्थायी

किन्तु क्या हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि यह स्थिति चिरकालिक होगी। क्या सभी विघटनकारी प्रवृत्तियाँ और बुराइयाँ जो हमारे समाज के मर्मस्थानों को कुरेद रही थीं, अब अतीत की वस्तुएँ हो गई हैं ?

अक्टूबर १९६२ के चीनी आक्रमण के पश्चात् का हमारा अनुभव इस सम्बन्ध में हमारे लिए एक शिक्षा है। उस आक्रमण के साथ हमारा देश एक पुरुष के रूप में उठकर खड़ा हो गया था और उसने उद्देश्य एवं क्रिया का अद्वितीय ऐक्य प्रकट किया था। किन्तु चीनियों की एकपक्षीय युद्धबन्दी की घोषणा करने और वापस लौट जाने के पश्चात् वह राष्ट्रीय भावना कितने समय तक टिकी रही ? यह दिखाने के लिए कि वह कितनी अल्पकालिक थी, केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा। अभी हाल में ही (जनवरी, १९६५) मद्रास में एक आन्दोलन छेड़ा गया था जो अपनी ही भाषाओं में से एक भाषा हिन्दी के प्रति घृणा और एक विदेशी भाषा अंग्रेज़ी के प्रति व्यामोह से प्रेरित था। करोड़ों की राष्ट्रीय सम्पत्ति नष्ट कर दी गई। अंग्रेजी भाषा प्रेमी समुदाय के एक प्रमुख नेता ने तो यहाँ तक घोषित कर दिया कि अब से उत्तर और दक्षिण के लोगों का एक साथ रहना असम्भव है, तथा एक ही मार्ग है कि उत्तर और दक्षिण में देश का विभाजन कर दिया जाय। चीनी आक्रमण के समय राष्ट्रीय एकता के लिए दिए गए भाषण और लोगों से कराई गई प्रतिज्ञायें दो वर्ष में ही कहाँ लुप्त हो गये ?

वर्तमान आपत्कालीन अवस्था में भी जो भाषा हम सुन रहे हैं, वह हमारी पुरानी आदतों के पुनः प्रगट होने की द्योतक है। पंजाबी सूबे का विवाद जिसका विस्फोट सन्त फतेहसिंह के अनशन और आत्मदाह के अन्तिम चेतावनी के रूप में हुआ था, अभी पाकिस्तानी आक्रमण के कारण उनके उसे वापस ले लेने से कुछ काल के लिए दब गया था। किन्तु जैसे ही युद्धबन्दी घोषित हुई, पुराना झगड़ा पुनः सजीव हो उठा और पंजाब जो मातृभूमि की

रक्षा के लिए आत्माहुति करने वालों के रक्त से अब तक गीला है, परस्पर कलह के संघर्ष में कूद चुका है।

वास्तव में इस प्रकार पुरानी दुःस्थिति में जा पड़ने की यह प्रवृत्ति हमारे भूतकालीन इतिहास में भी हमारी सफलता को असफलता में बदलने वाला गम्भीर कारण रही है। हमारा समाज कुम्भकर्ण के समान है जो थोड़ी देर के लिए जागता था, खूब भोजन करता था और पश्चात् पुनः गहरी नींद में सो जाता था। विजय के पश्चात् आराम, तुष्टि एवं शैथिल्य का भाव, और वही पुराने कलह तथा विघटन की बार-बार पुनरावृत्ति शत्रु को पुनः पूर्व की अपेक्षा बड़ा आघात करने और हमें पराजित करने का अवसर देगी। १८५७ में हमारी पराजय के मुख्य कारणों में से एक यह भी था कि हमारे स्वातन्त्र्य युद्ध के योद्धाओं को आरम्भिक सफलताओं ने सन्तुष्ट कर प्रयत्नों के प्रति शिथिल कर दिया था। नाना साहब, तात्या टोपे आदि कुछ चोटी के नेताओं को छोड़कर शेष स्थानीय नेता तथा क्रान्ति के सामान्य सैनिक शिथिल हो गये थे और उन्हें जो अनुकूल स्थिति मिल गई थी उससे लाभ उठाकर उन्होंने पूर्ण विजय प्राप्त करने के लिए आगे बढ़कर प्रबल प्रयास नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों को विद्रोह के पहले धक्के को सहकर साँस लेने का समय मिल गया, और उन्होंने स्वतन्त्रता की शक्तियों को ध्वस्त करने वाला प्रहार करने के लिए अपनी सेनाओं को संचलित किया।

इसलिये शत्रु आ चढ़ने के क्षणों में उमड़ पड़े जोशीले भावावेश के बजाय कहीं अधिक गहरी और भावात्मक भूमि में राष्ट्रीय चेतना तथा एकता की जड़ें जमानी होती हैं। इस प्रकार की चिरस्थायी राष्ट्रीय एकता एवं भक्ति की जड़ों के लिए हमारी खोज कहां होनी चाहिए ?

सभी 'वाद' अपने उदात्ततम रूप में

वर्तमान संकटकाल से समाज में त्याग एवं कष्टसहिष्णुता की भावना का आह्वान करने तथा आक्रान्ता को निकाल बाहर करने के सम्मिलित प्रयत्न के लिए हमारे नेताओं द्वारा भाँति-भाँति से अपीलें की गई हैं। वे लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता तथा समाजवाद के नाम पर की गई हैं। लोकतन्त्र की सर्वोत्तम भावना को जो व्यक्ति को वाणी, विचार एवं कर्म करने की स्वतन्त्रता का अधिकार देती है, अति प्राचीन हिन्दू परम्पराओं में जितनी मान्यता प्राप्त हुई है और व्यावहारिक जीवन में उसका जितना पालन हुआ है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है। यदि धर्म-निरपेक्षता का अर्थ है कि राज्य किसी विशिष्ट सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं होना चाहिए और सभी पंथों का समानरूपेण सम्मान होना चाहिए

तो यह भी हिन्दू-परम्परा का ही दूसरा नाम होगा। वास्तव में हिन्दू-परम्परा तो निरी सहिष्णुता की पाश्चात्य कल्पना से कहीं बढ़-चढ़कर है। वह तो सभी पंथों को समानभावेन पवित्र मानकर उनका सम्मान करती है। यदि समाजवाद का अर्थ है आर्थिक विषमताओं को दूर करना तो फिर भी यह केवल हिन्दू दर्शन तथा व्यवहारशास्त्र ही है जो सामाजिक तथा आर्थिक न्याय प्राप्तकरा देने की अचूक गारंटी प्रदान करता है। मनु की घोषणा है कि सम्पत्तिपर मनुष्य का अधिकार प्रतिदिन के भोजन की आवश्यकता की पूर्ति तक सीमित है। जो इससे अधिक संग्रहीत करता है, वह चोर है और उसे दण्डित करना चाहिये।

सारांश यह है कि ये सब विचारधारायें हमारे देशवासियों को युगों से उनके रक्त में भिदी हुई हिन्दू परम्परा और राष्ट्रीयता के नाम से दी जा सकती हैं और कहीं अधिक अच्छे ढंग से दी जा सकती है। और इसी में निहित है प्रेरणा का वास्तविक स्रोत, जो हमारे लोगों में स्वार्थ-त्याग एवं पराक्रम के सभी परम्परागत गुणों को प्रेरित कर सकता है तथा राष्ट्र के वर्तमान परीक्षा-काल में जो कुछ अपेक्षा की जाय, उसे उनसे प्रसन्नतापूर्वक और स्वयं स्फूर्ति से पूरा करा सकता है।

जितने शीघ्र राष्ट्रजीवन के इस मूल तथ्य को हम अनुभव कर लेंगे, उतना ही हमारे लिए अच्छा है। प्रेरणा का वास्तविक एवं चिरकालिक स्रोत राष्ट्रीयता की विशुद्ध भावना में ही प्राप्त हो सकता है। हम सबकी महान् और पवित्र जननी भारतमाता के लिए जाज्ज्वल्यमान प्रेम की भावना, एक ही माता के पुत्र होने के नाते एक एवं अविभाज्य भ्रातृत्व की चेतना और अपने राष्ट्र के वैभवशाली अतीत में, अपने अनुपम सांस्कृतिक उत्तराधिकार में गर्व तथा अपनी भारतमाता को विश्व के राष्ट्रों के मध्य उसके पुरातन वैभव एवं सम्मान के साथ देखने की आकांक्षा ही सतत एवं सशक्त प्रेरणा के रूप में कार्य कर सकती है। इस प्रेरणा से इस देश के बड़े से बड़े और छोटे से छोटे व्यक्ति भी एक साथ खड़े होकर उनमें जो कुछ श्रेष्ठतम है, देश-हित में प्रस्तुत कर सकते हैं। केवल यही हमारे लोगों की अजेय शक्ति को, जो इतनी विपुल मात्रा में प्रदर्शित हुई है, वर्तमान संकटकाल में पूर्णतया क्रियाशील बनायेगी तथा अजेय एवं एकात्म भारतमाता के प्रेरणादायी उस स्वरूप की उन्हें अनुभूति करायेगी जिसके एक हाथ में कमल अर्थात् उत्तम जनों को वरदान देने की शक्ति तथा दूसरे हाथ में वज्र अर्थात् दुष्टों का संहार करने की शक्ति होगी और जो होगी साक्षात् ब्रह्म तेज एवं क्षात्र तेज की मूर्ति।

***

चतुर्थ भाग

व्यक्ति निर्माण

२६

सफल कार्यपद्धति

१. राष्ट्र के वास्तविक पुनःसंगठन के लिये

सादा अप्रदर्शनप्रिय संगठन

किसी आदर्श को प्रत्यक्ष साकार करने के लिए एक विशिष्ट कार्यपद्धति की, एक विशिष्ट प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। विभिन्न संगठनों द्वारा अंगीकृत विविध पद्धतियाँ आज हमको चारों ओर दृष्टिगत होती हैं। अपने संघ की स्थापना के समय भी ये विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलित थीं और यह बात नहीं थी कि संघ के संस्थापक डा० हेडगेवार ने जब हमारे संगठन के लिए विशिष्ट पद्धति विकसित की उस समय वे उन विभिन्न पद्धतियों से अनभिज्ञ थे। इसके विपरीत, संघ कार्य को प्रारम्भ करने के बहुत पहिले से ही वे उन विभिन्न संगठनों की गतिविधियों में अत्यन्त सक्रिय रहे। वे उन पद्धतियों से पूर्णतः परिचित थे।

यहाँ प्रश्न उठता है कि तब उन्होंने एक भिन्न पद्धति के साथ एक पृथक् संगठन को क्यों प्रारम्भ किया? क्या उन्होंने यह इसलिए किया कि वे एक स्वतंत्र संगठन के संस्थापक और नेता के रूप में अपने लिए प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा के इच्छुक थे? वस्तुतः इससे अधिक सत्य से दूर और कोई बात नहीं हो सकती। डाक्टर जी को अन्यान्य मञ्च पर्याप्त प्रशंसा दे चुके थे। यदि वे इस देश के सर्वोच्च राजनीतिक सम्मान को प्राप्त करना ही चाहते तो अपने असीम त्याग, असाधारण कार्यशक्ति और प्रतिभा की दीप्ति के कारण उनके लिए यह सब एक साधारण-सा खेल मात्र था। परन्तु उन्होंने इस सब का त्याग किया और एक शान्त एवं अत्यन्त सादा अप्रदर्शनप्रिय संगठन-कार्य प्रारंभ किया।

सही मार्ग की खोज में

फिर वह कौन-सा कारण है, जिसने उनको इस राष्ट्रीय कार्यक्षेत्र में एक नवीन कार्य-पद्धति को प्रारम्भ करने के लिए प्रेरित किया ? बाल्यकाल से ही उनकी प्रवृत्ति जाज्वल्य देशभक्ति की होने के कारण वे स्वाभाविक रूप से उस समय के क्रान्तिकारी आन्दोलनों की ओर आकृष्ट हुए । अतः क्रान्तिकारी आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेने के उद्देश्य से ही डाक्टर जी ने अकथनीय पारिवारिक कठिनाइयाँ होते हुए भी कलकत्ता को डाक्टरी के अध्ययन के लिए चुना, क्योंकि उन दिनों कलकत्ता क्रान्तिकारी आन्दोलनों का उबलता हुआ ज्वालामुखी था । उस ज्वालामुखी के अन्तर की संकटों से भरी आग्नेय धारा में वे अत्यन्त गहराई तक प्रविष्ट हुए और रहे, किन्तु उनकी विवेकी दृष्टि सदैव जागृत रही । यद्यपि उनका हृदय उन क्रान्तिकारी साथियों के ज्वलन्त हृदयों के साथ-साथ स्पन्दित होता था फिर भी पूर्ण राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिए उनकी पद्धति डाक्टर जी को यशस्वी साधन प्रतीत नहीं हुई । क्रांतिकारी साथियों के गुप्त एवं विद्युत् के समान तेजस्वी परन्तु क्षणिक प्रकाश करने वाले आन्दोलन, उनके साहसिक पराक्रम तथा गौरवशाली बलिदान, उनके ज्वलन्त हृदय में उच्चतर श्रद्धा का जागरण करते थे, किन्तु उनका शान्त मस्तिष्क इस प्रकार की क्रान्तिकारी उल्काओं के अचिर प्रकाश से चकाचौंध हो जाने से इनकार करता था ।

वे जानते थे कि समाज के साथ सीधे सम्बन्धों से वंचित, ये मुट्ठी भर भूमिगत कार्यकर्त्ता सम्पूर्ण राष्ट्र को जागृत एवं संगठित करने का कार्य एक अत्यन्त सीमित मर्यादा तक ही निभा सकते हैं । उन्होंने यह भी देखा कि उस रचना की उच्चतम पंक्ति में से भी अपने दल के रहस्यों की सूचना दे देने वाले विश्वासघाती प्रायः उत्पन्न हो जाते थे, जिससे उनकी अधिकतर क्रान्तिकारी योजनायें बुरी तरह नष्ट हो जाया करती थीं और इस प्रकार कितने ही क्रान्तिकारियों के भव्य पराक्रम एवं बलिदानों पर एक बार में ही पानी फिर जाता था । अंग्रेजों ने जिस प्रकार का सशक्त और सुगठित शासन हमारे देश में निर्माण किया था, उसे उड़ा देने के लिये अनुशासित, दृढ़ इच्छाशक्ति और राष्ट्रभक्ति से पूर्ण प्रशिक्षित लोगों के मुख्याधार के बिना किसी भी क्रांति के सफल होने की आशा नहीं की जा सकती ।

नागपुर लौटने पर वे कांग्रेस के स्वतन्त्रता-आन्दोलन में कूद पड़े । लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में कांग्रेस तीव्र गति से एक जन-आन्दोलन का रूप ले रही थी । आरामकुर्सी में बैठे-बैठे राजनीतिक कार्य चलाने वाले उदारमत-

वादी राजनीतिज्ञों का युग समाप्त हो चुका था। अंग्रेजों के प्रति सामूहिक विरोध का एक नया युग प्रारम्भ हो चुका था। वातावरण स्वराज्य की भावना से व्याप्त था। तिलकजी के पश्चात् गांधीजी ने उस अग्नि को दूर-दूर तक फैलाया तथा प्रत्येक नगर और ग्राम में विरोध की इस ज्वाला को प्रदीप्त किया। गांधीजी ने अपने निष्कलंक चरित्र, पूर्ण निःस्वार्थ भावना, निर्भीकता और एक सरल एवं प्रभावी किन्तु सर्वसाधारण के हृदय को स्पर्श करने वाली पद्धति के द्वारा देश को संघर्ष और त्याग की नवीन ऊँचाइयों तक पहुँचा दिया। पं० नेहरू, जो कि उस समय अपने ज्वलन्त आदर्शवाद एवं गतिवान व्यक्तित्व के साथ उदित हो रहे थे, उठती हुई पीढ़ी की स्वाभिमानी एवं स्वतंत्र भावना के एक प्रेरणादायी प्रतीक और अग्रणी थे। ऐसे प्रबल पुरुषों के प्रयत्नों से देश में अंग्रेज-विरोधी संघर्ष की एक लहर फैल गई। डाक्टर जी भी हर प्रकार के आघातों को सहते हुए अग्रिम पंक्ति में डटे हुए थे। उन्होंने विदेशी शासकों को ललकारा और कठोर कारावास का दण्ड भी भोगा। साथ ही साथ उन्होंने उस आन्दोलन का सूक्ष्म परीक्षण भी जारी रखा। उन्हें उसमें कुछ ऐसी बड़ी त्रुटियाँ दिखाई दीं, जिससे उन्हें अत्यन्त निराशा हुई और भय हुआ कि ये भयंकर दोष आगे चलकर इस आन्दोलन की पोषित आकांक्षाओं को नष्ट कर देंगे।

उन्होंने देखा कि दोनों ही आन्दोलनों में मुख्य प्रेरक शक्ति अंग्रेज-विरोधी भावना है और उनमें राष्ट्रीय-स्वातंत्र्य की स्पष्ट और भावात्मक दृष्टि का अभाव है। यह केवल सर्वसाधारण जनता पर ही नहीं अपितु अधिकतर सभी नेताओं पर घटित होता था। हमारे राष्ट्रजीवन की भावात्मक निष्ठा के अभाव में कुछ समय के अनन्तर उन आन्दोलनों का प्रतिक्रियात्मक दिशाओं में भटक जाना अनिवार्य था।

दूसरे वे आन्दोलन उस प्रश्न का समाधान करने में असमर्थ थे जो डाक्टरजी के मस्तिष्क में बाल्यावस्था से ही बराबर उठ रहा था। वह प्रश्न था कि किस प्रकार मुट्ठी भर विदेशी मुसलमानों अथवा अंग्रेजों ने हमें दास बना लिया और इतने दीर्घकाल तक हम पर राज्य करते रहे? अंग्रेजों को यहाँ से निकाल बाहर करने की बात तो ठीक थी परन्तु मुख्य प्रश्न था कि वह कौनसी मूल व्याधि है, जिसका परिणाम विदेशी आधिपत्य में हुआ? यदि, जैसा कि स्पष्ट था, हमारी विघटित अवस्था ही हमारी दासता के लिए उत्तरदायी थी तो क्या ये आतंकवादी आन्दोलनात्मक पद्धतियाँ उस मूल रोग का उपचार थीं? क्या जन-आन्दोलनों और क्रान्तिकारी कार्य के झटकों द्वारा स्थायी एकता

निर्माण करना सम्भव था ? सभी दुष्ट प्रवृत्तियाँ, जैसे स्वार्थपरता, अनुशासनहीनता तथा राष्ट्रीय चेतना का अभाव जो अनेक शताब्दियों से राष्ट्रीय जीवन को कमजोर करती रही हैं और जिनका परिणाम विदेशी आधिपत्य में हुआ था, क्या एक ही चोट में समाप्त हो सकती थीं ?

यह विचारणीय प्रश्न है कि संगठित राष्ट्रजीवन के भावात्मक और राष्ट्रजीवन की धारणा करने वाले सद्‌गुणों में समाज के लोगों को दृढ़ किये बिना, केवल विरोधात्मक आधार पर जन-आवेश को उभाड़ना क्या उचित होगा? शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'जूलियस सीजर' में सीजर का उसके मित्रों द्वारा ही वध किये जाने के पश्चात् जब ब्रूटस तथा कैसिअस लोकप्रियता की भावनाओं के शिखर पर आरूढ़ थे, उस समय सीजर का एक मित्र एण्टोनी अत्यन्त चतुरता से भीड़ के कोप को ऐसा मोड़ दे देता है कि उसका प्रवाह स्वयं जनरोष के तूफान को हत्यारों के ही विरुद्ध कर देता है। जैसे ही उत्तेजित भीड़ उनका पीछा करती है, एण्टोनी यह प्रसिद्ध वाक्य कहता है—"दुष्टते ! तू चल पड़ी है, जो मार्ग तेरी इच्छा हो, ग्रहण कर।" स्मरणीय है कि इस वाक्य में 'तेरी इच्छा' ही कहा है 'हमारी इच्छा' नहीं; यही तो ऐसे सभी जन-आंदोलनों का विनाशकारी दोष रहता है। जहाँ भावात्मक राष्ट्रीय जीवन-मूल्यों पर आधारित आन्दोलन का नियन्त्रण और मार्गदर्शन करने की क्षमता रखने वाले तदनुरूप देशव्यापी संगठन का अभाव होता है।

मानसिक क्रान्ति के लिये

इस दिशा में गम्भीर चिन्तन करने के पश्चात् डाक्टर जी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि लोगों की मानसिक अवस्था में पूर्ण क्रांति ही आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। परकीय स्वामित्व सहित सभी बुराइयों एवं कमजोरियों को दूर करने का रामबाण उपाय बाह्य ढाँचा बदलने की क्रान्ति नहीं, अपितु मानसिक क्रान्ति ही है। उन्हें यह भली प्रकार अवगत था कि सम्पूर्ण समाज की वृत्तियों, वैचारिक प्रक्रियाओं तथा आचरण में आमूल परिवर्तन लाने के लिए एक-एक व्यक्ति को लेना होगा तथा उसे संगठित राष्ट्रीय जीवन के उपयुक्त ढालने के लिए अध्यवसाय के साथ प्रसिद्धि और प्रचार से दूर रहकर शान्ति एवं एकाग्रभाव से संस्कारित करना होगा।

राष्ट्र के पुनर्गठन का अर्थ उन विशेषताओं का पोषण करना है, जिनके द्वारा राष्ट्रीय चारित्र्य एवं राष्ट्रीय ऐक्य सम्पादित होता है। इसका लक्ष्य मातृभूमि के लिए सर्वस्व-समर्पण की तीव्र भावना, बन्धुत्व-भाव, राष्ट्रकार्य में

अपना योग देने की भावना, राष्ट्रीय आदर्शों के प्रति सम्मान का उत्कट भाव, अनुशासन, पराक्रम, पौरुष और अन्य उदात्त सद्‌गुणों के प्रति गहरी श्रद्धा का भाव जागृत करना है। चरित्र-निर्माण और मन को ढालने का यह कार्य केवल शपथ लेने और उपदेश देने से संपन्न नहीं किया जा सकता। राष्ट्र के प्रति समर्पण की यह भावना, वर्षानुवर्ष और दिन-प्रतिदिन स्थिर ज्योति के समान जलती रहे, इसलिए एक ऐसे वातावरण में, जो इन गुणों के विकास में सहायक हो सके, लोगों का नियमित और प्रतिदिन एकत्रित होना आवश्यक है। इस बात को मस्तिष्क में रखते हुये ही अन्ततः संघ के संस्थापक ने संगठन के वर्तमान ढाँचे को विकसित किया।

प्रेरणादायक दृश्य

हमारी पद्धति में मुख्य बात जो लोगों का ध्यान आकर्षित करती है, वह है हमारा दैनंदिन कार्यक्रम। एक खुला मैदान होता है, जहाँ भगवा ध्वज की छत्रछाया में युवकों और बालकों के समूह विभिन्न भारतीय खेलों के वातावरण में मग्न रहते हैं। वहां का वातावरण आनन्दोल्लास की ध्वनि-प्रतिध्वनियों से निनादित रहता है। साहसी युवकों के 'कबड्डी', 'कबड्डी कहते हुए पाले में आगे बढ़ने का वह दृश्य हृदय को पुलकित कर देता है। नेता की सीटी या आदेश की आवाज उन पर एक जादू-सा असर करती है; तुरन्त ही वहाँ पूर्ण व्यवस्था और शान्ति स्थापित हो जाती है। इसके बाद दण्ड, सूर्यनमस्कार, पथ-सञ्चलन आदि कार्यक्रम होते हैं। सामूहिक प्रयत्नों की भावना तथा स्वयंस्फूर्ति अनुशासन प्रत्येक कार्यक्रम में व्याप्त रहता है। फिर वे बैठकर सामूहिक रूपसे देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत सांघिक गीत गाते हैं। तत्पश्चात् चर्चा का कार्यक्रम होता है। राष्ट्रीयजीवन को प्रवाहित करने वाली समस्याओं पर वे गहराई से विचार-विमर्श करते हैं और अन्त में ध्वज के सम्मुख पंक्तिबद्ध खड़े होकर वे प्रार्थना करते हैं।

नमस्ते सदावत्सले मातृभूमे

(हे स्नेहमयी मातृभूमि, तुझे बारम्बार प्रणाम) जिसकी गूंज वातावरण को प्रभावित करते हुए आत्मा को आन्दोलित करती है। हृदय से उद्‌घोषित 'भारतमाता की जय' सम्पूर्ण कार्यक्रम को पूर्णता एवं प्रेरणा देती हुई समारोप करती है।

इस संपूर्ण विशाल भारतवर्ष में, केवल नगरों और कस्बों में ही नहीं, अपितु दूर-दूर तक फैले हुए ग्रामों, पहाड़ियों तथा घाटियों में भी ये प्रेरक दृश्य

और आत्मा को आंदोलित करने वाले गीत सूर्योदय, सूर्यास्त अथवा रात्रि में प्रतिदिन नियमित रूप से हमें मिलते हैं। हम इसे 'शाखा' कहते हैं।

हमारे कार्य की वास्तविक भावना उस समय समझ में आयेगी, जब कोई संघ-शाखा के सम्पर्क में आयेगा। एक बार एक सम्भ्रान्त नागरिक नागपुर में हमारे एक उत्सव की अध्यक्षता करने आये। उन्होंने स्पष्टत: स्वीकार किया कि "अभी तक इतने वर्षों से मैं संघ के कार्य के प्रति काफी शंकालु था। मैं संघ के कार्यकताओं से अनेक प्रश्न पूछा करता था, पर आज जब मैंने स्वयं संघ को देखा, मेरी सभी शंकाएं और संदेह दूर हो गये हैं।" प्राय: जहाँ भी शाखा है, वहाँ इसी प्रकार की कहानी सुनने को मिलेगी।

इसका कारण स्पष्ट है। शाखा शाब्दिक शुष्क उपदेशों का पुलिंदा मात्र नहीं है, अपितु सिद्धान्तों का सजीव व्यवहार है। इस प्रकार की दैनिक साधना में लगे तरुण और वृद्ध सभी निष्ठावान और तत्पर मनुष्यों का यह दृश्य कार्य का एक ऐसा उत्कृष्ट किन्तु मौन संदेश देता है, जिसे कोई भी लिखकर अथवा व्याख्यान के रूप में कभी भी पर्याप्त मात्रा में व्यक्त नहीं कर सकता।

आयोजकों की प्रचुरता

संघ के शान्त एवं अत्यन्त व्यावहारिक पक्ष की और उसके द्वारा एकाग्रता के साथ राष्ट्रीय जीवन के सजीव अवयव के रूप में हृदयों को संस्कारित करने के वैशिष्ट्य की अपरिहार्य आवश्यकता उस समय स्पष्ट हो जाती है जब हम बाहर समाज में व्याप्त वातावरण के साथ उसकी तुलना करते हैं।

एक बार मेरी भेंट एक वृद्ध सज्जन से हुई। उन्होंने कहा कि वे हमारे संगठन के सम्बध में सब कुछ जानते हैं, यहाँ तक कि उनका कहना था कि उन्होंने ही डाक्टर हेडगेवार को संघ की यह रूपरेखा दी थी। उन्होंने मुझे कुछ लिखित टिप्पणियाँ दिखलाई जिनमें संगठन के लिए आवश्यक एक आदर्श कार्यपद्धति की रूपरेखा थी। मैंने उनसे पूछा कि—"आपने अपना सारा क्रियाशील जीवन इसी नगरी में व्यतीत किया है, किन्तु आप मुझे यह बता सकते हैं कि हर परिस्थिति में आपका साथ देने वाले कितने मित्र यहाँ हैं ? "उन्होंने स्पष्टत: उपेक्षा के साथ उत्तर दिया—"मेरी मित्रता के योग्य एक भी व्यक्ति यहाँ पर नहीं है। ये सब पापी दुष्ट हैं।" तब मैंने उनके साथ विनोद करते हुए कहा कि "क्या अन्तिम दिन आपकी अर्थी ले जाने के लिये भी आपके पास आपके स्वयं के चार आदमी नहीं होने चाहिये ?"

आज अपने देश में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे 'कुशल आयोजक',

'उपदेशक' और 'परामर्शदाता' तथा उनकी विद्वत्तापूर्ण वार्तायें एवं उपदेश प्रचुर मात्रा में प्राप्त हैं। यह सर्वविदित है कि आकांक्षित ध्येय को प्राप्त करने के लिए एक व्यावहारिक पद्धति के साथ, दृढ़ता एवं निरंतर लगाव के साथ कार्य किये बिना लोग उच्च बातें तो करेंगे पर उनके कार्य गिरे हुए रहेंगे।

उपास्य प्रतिमा

अपने कार्य के व्यावहारिक स्वरूप पर पूरा बल देने के साथ ही, अपने आदर्श को प्राप्त करने में यशस्वी, ऐसी कार्यपद्धति का तदनुकूल ढाँचा विकसित करने की दिशा में संघ ने गम्भीर चिन्तन किया। आदर्श कितना भी महान् क्यों न हो, तदनुरूप पद्धति के बिना उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। हमारे विभिन्न सम्प्रदायों में भी प्रत्येक व्यक्ति का अपने सम्प्रदाय के अनुरूप एक निश्चित प्रतीक रहता है। वह स्वयं उस विशिष्ट पद्धति के अनुरूप परिधान और आभूषण धारण करता है, विशिष्ट मन्त्रों का उच्चारण करता है तथा विशिष्ट अनुशासन-संहिता का अवलम्बन करता है। शैव, शाक्त और वैष्णव सभी के उपासना के तरीके हैं; अपनी कर्मकाण्ड सम्पादन पद्धति है, एवं उनके जीवन को विनियमित करने वाली विशिष्ट संहिता एवं परम्परायें हैं।

संगठित एवं अनुशासित राष्ट्रजीवन के आदर्श के अनुरूप हमने भी एक विशेष कार्यपद्धति, प्रतीक, मंत्र एवं आचार संहिता विकसित की है। एक महान् और प्रेरणादायी प्रतीक के रूप में हमने चिरन्तन भगवा ध्वज को चुना है। यह हमारी आंखों के सम्मुख प्रान्त, पंथ, जाति, भाषा, पद्धति आदि के बाह्य बन्धनों से परे एक प्राचीन, पवित्र एवं एकात्म राष्ट्रजीवन की पूर्वकालीन विशुद्ध जीवन्त प्रतिमा प्रस्तुत करता है। अनादिकाल से यह हमारी धर्म, संस्कृति, परम्पराओं और आदर्शों का प्रतीक रहा है। यह, यज्ञ की पवित्र अग्नि के रंग को, जो आदर्शवाद की अग्नि-शिखा में आत्मबलिदान करने का संदेश देती है तथा विश्व में सभी ओर अंधकार दूर कर प्रकाश फैलाने वाले उदयोन्मुख तेजस्वी सूर्य के नारंगी रंग को, अपने में मूर्तिमान करता है। यह हमारे भौतिक और आध्यात्मिक सभी प्रयत्नों का मार्गदर्शक ध्रुवतारा है,और इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ की अचूक साक्षी है। इसने साम्राज्यों का उत्थान और पतन, योगियों की तपस्या और वीरों के बलिदानों को देखा है, और युगों से इस विशाल भूमि के अगणित लक्ष-लक्ष लोगों के स्वप्नों का यह प्रतीक रहा है। संक्षेप में, यह हमारे राष्ट्रत्व का महानतम उदात्ततम, तथा एक सत्य प्रतीक रहा है।

एक ग्रंथ और व्यक्ति-विशेष के पूजक नहीं

संघ ने इस जीवन्त प्रतीक को अपने मार्गदर्शक प्रकाश—'गुरु' के रूप में स्वीकार किया है। जब डाक्टरजी ने इस ध्वज को हमारे सामने गुरु के रूप में, हमारे आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया तो उनके कुछ सहकारियों ने इसकी ओर असम्मतिपूर्ण दृष्टि से देखा। स्वयं डाक्टरजी के रूप में जीते-जागते आदर्श को सामने देखने के कारण उन्होंने पूछा—"डाक्टर जी को ही हम अपना आदर्श क्यों न माने ?" परन्तु संगठन की भावना के अनुरूप हमारे संस्थापक ने, शाश्वत भगवाध्वज को ही हमारे आदर्श के रूप में रखा। कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, राष्ट्र के लिए आदर्श नहीं बन सकता। राष्ट्रजीवन की अनन्तता की तुलना में व्यक्ति का जीवन आखिर क्षणभंगुर ही है। महान् से महान् व्यक्ति भी राष्ट्र के शताब्दियों के जीवन के सौन्दर्य एवं सौरभ के सम्पूर्ण विकास का एक अंशमात्र ही प्रतिबिम्बित कर सकता है। साथ ही यह अपेक्षा भी निरर्थक है कि सभी किसी एक ही व्यक्ति के प्रति समान श्रद्धा रखें। फिर वह कितना ही महान् एवं सम्माननीय क्यों न हो। कितने ही लोग श्रीराम की अपने इष्ट देवता के रूप में उपासना करते हैं, तो अनेक लोग श्रीकृष्ण को ईश्वर के रूप में पूजते हैं। ऐसा ही अन्य देवताओं के सम्बंध में भी है। इसी कारण संघ ने एक ऐसे सार्वभौम प्रतीक को अपने सामने रखा जो अपनी प्रेरणा में सबको समाहित किये हुये है।

आदर्श एवं प्रेरणा के लिए व्यक्ति-विशेष पर निर्भर आन्दोलनों के दुर्भाग्य-पूर्ण अन्त की घटनाएँ संसार के अनेक राष्ट्रों के इतिहास में बिखरी पड़ी हैं। व्यक्तिपूजा के अभिशाप एवं तानाशाहों के उदय ने मानवता के चेहरे को विकृत कर दिया। यह विकृति आदर्शों की अवहेलना करने तथा व्यक्ति-पूजा में लग जाने से ही पैदा हुई। हमारी संस्कृति का हमें सदैव आदेश रहा है कि किसी व्यक्ति को हम उतनी ही मात्रा में महान् और श्रद्धेय समझें कि जितनी मात्रा में वह आदर्श को अपने जीवन में प्रकट करता है। सम्पूर्ण विश्व में हमारा ही धर्म केवल ऐसा है जो किसी व्यक्ति-विशेष की ऐतिहासिकता अथवा 'व्यक्ति-प्रामाण्य' पर आधारित नहीं है।

हमारी सांस्कृतिक परम्परा का दूसरा विशिष्ट पहलू यह है कि हमने किसी भी ग्रन्थ को अपने धर्म और संस्कृति की एकमेव सर्वोच्च सत्ता नहीं माना है। हमारे सभी धर्मग्रन्थ मानव-जीवन के एकमेव लक्ष्य के विभिन्न पहलुओं एवं मार्गों का स्पष्टीकरण मात्र हैं। संघ ने भी अपने विचारों को प्रकट करने के लिये किसी एक पुस्तक को अधिकृत रूप से न स्वीकृत किया है, न तैयार

किया है। एक बार एक प्रमुख धार्मिक नेता ने मुझसे पूछा—"वह कौन-सी पुस्तक है, जिसका आप अनुसरण करते हैं ?" मैंने उत्तर दिया—"यदि हम अपने आपको एक पुस्तक के शब्दों तक ही सीमित रखेंगे तो हम किसी भी प्रकार उन मुस्लिम और ईसाइयों से अच्छे नहीं होंगे, जिनका धर्म केवल एक पुस्तक पर ही टिका है। और इसलिए हमारी निष्ठा आदर्श के प्रति है, उससे कम के लिए अथवा अन्य किसी के लिए नहीं।"

इस उत्कृष्ट सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप संघ ने न तो किसी व्यक्ति-विशेष को और न ही किसी ग्रन्थ-विशेष को अपितु भगवा ध्वज को परम सम्मान के अधिकार स्थान पर अपने सामने रखा है। यह तेजस्वी प्रतीक हमारे राष्ट्रीय जीवन की महानता एवं श्रेष्ठता व्यक्त करता है एवं इस प्रकार सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रति विशुद्ध भक्तिजागृत कराने का प्रयत्न करता है।

राष्ट्र पुनर्गठन का केन्द्र

इस ध्वज की पावन उपस्थिति में शाखा के दैनन्दिन कार्यक्रम चलते हैं। हमारे समाज के सभी वर्गों के लोग वहां एकत्र होते हैं। भाषा, प्रान्त, जाति, सम्प्रदाय, दल अथवा पंथ की बाह्य विभिन्नताएँ भूलकर वे एक ही मातृभूमि के पुत्रों के रूप में एकत्र होते हैं और उसकी पवित्र धूलि में खेलते हैं। वे अत्यन्त भक्तिपूर्ण अन्तःकरण से मातृभूमि की प्रार्थना करते हैं। माता के गौरव के लिए वे अपने प्राणों को निछावर करने का संकल्प करते हैं। एक साथ खेलते और गाते हुए एकता की भावना उन्हें एक सूत्र में पिरोती है। जब वे साथ-साथ व्यायाम करते हैं, तथा सञ्चलन करते हैं तो उनके हृदय एक साथ स्पंदित होने लगते हैं।

शाखा-स्थल के कार्यक्रम से भी अधिक महत्व वातावरण का है। वातावरण में माधुर्य एवं पवित्रता व्याप्त हो जाती है। अल्पकाल में ही एकत्रित आनेवाले व्यक्तियों के अनेक विभिन्नत्व एवं विविधता के मध्य एक स्वस्थ ऐक्य की भावना उदित होती है। सौहार्द एवं सामंजस्य की भावना उनके मानस में बद्धमूल हो जाती है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा इस प्रकार के अन्य विभेदों को निमज्जित करने वाला तथा राष्ट्र की एकता का प्रेरणादायी स्वप्न उनके लिये एक जीवन्त सत्य बन जाता है। इस प्रकार शाखा हमारे लोगों में राष्ट्र-सेवा के लिए सर्वस्व-समर्पण के भावों को जाग्रत करती है और उनको परस्पर अमर बन्धुत्व के भावों से बाँधती है। यह विशुद्ध राष्ट्रीय चारित्र्य एवं स्थायी राष्ट्रीय ऐक्य की भावना के निर्माण का सृजनात्मक केन्द्र है।

जन-जागृति का माध्यम

इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय त्योहारों को मनाने की परम्परा, जिसको संघ ने विकसित किया है, वास्तविक और सम्पूर्ण राष्ट्रजीवन के प्रति भाव जगाने की दृष्टि से एक प्रभावी माध्यम है।

वर्ष प्रतिपदा अर्थात् भारतीयों के नववर्ष का प्रथम दिन। यह हमारे महान् युगप्रवर्तकों की स्मृतियों तथा उनकी अमर उपलब्धियों का स्मरण कराता है। यह एक सुखद संयोग है कि यह हमारे संघ संस्थापक का भी जन्मदिन है।

हिन्दू साम्राज्य दिनोत्सव [ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी] आठ सौ वर्ष पुराने उत्पीड़नकारी मुस्लिम शासकों पर शिवाजी के पराक्रमी नेतृत्व में १६७४ में हिन्दुत्व की पुनरुत्थानशील शक्ति के विजय का सूचक, सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राष्ट्रीय सिंहासन की स्थापना का दिन है। **गुरुपूजा** [आषाढ़ पूर्णिमा] एक परम्परागत दिन है, जब कि शिष्य अपने गुरु के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता है। संघ ने इसे राष्ट्रीय स्वरूप दिया है। इसी दिन संघ के स्वयंसेवक अपने गुरु भगवा-ध्वज की पूजा करते हैं जो हमारे धर्म और राष्ट्रत्व का प्रतीक है। **रक्षाबन्धन** [श्रावण पूर्णिमा] इस बात का स्मरण कराता है कि हम सभी एक मातृभूमि के पुत्र हैं। हम इस दिन बन्धुत्व की प्रतीक राखी को परस्पर बाँधते हैं। **विजयादशमी** [आश्विन शुक्ल दशमी] दुष्ट शक्तियों पर हमारे विजय की गौरवमयी परम्पराओं का स्मरण कराती है। यह संघ का स्थापना-दिवस भी है। **मकर संक्रमण** जो कि प्रकृति के अन्धकार से प्रकाश की ओर होने वाले संक्रमण को सूचित करता है, हमारे लिए एक संदेश देता है कि हम स्वार्थ रूपी अंधकार से राष्ट्रीय चेतना रूपी प्रकाश की ओर संक्रमण करें।

इस प्रकार एक ओर जहाँ-शाखा में नित्य-प्रति के प्रशिक्षण से राष्ट्रीय चेतना, चारित्र्य एवं एकता के सद्गुणों को व्यक्तियों में लाया जाता है, वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रीय जागृति की ज्योति को विभिन्न राष्ट्रीय त्योहारों के द्वारा सतत प्रज्ज्वलित रखा जाता है।

संस्थावाद का अभिशाप

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि संघ में अनन्य निष्ठा के भाव किसी व्यक्ति अथवा संस्था के प्रति नहीं वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रति निविष्ट कराये जाते हैं। इस प्रकार की जीवनदायिनी भावना के अभाव में, किसी संस्था के केवल बाहरी रूप से लगाव या उसके प्रति गौरव-भाव राष्ट्रीय विघटन का एक और कारण बन जायेगा।

हमने अपने अतीत के इतिहास में और वर्तमान समय में भी राष्ट्रीय पुनः संगठन के इस मूलभूत सिद्धान्त को भुलाकर काफी हानि उठाई है। अतीत में अपने लोगों को जागृत और संगठित करने के लिए देश के अनेक भागों में कई प्रयत्न किये जा चुके हैं। उन आंदोलनों के महान् प्रवर्तकों ने सम्पूर्ण समाज को संगठित और शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से ही आन्दोलन प्रारम्भ किए किन्तु जैसे ही परिस्थितियाँ बदलीं और उन आन्दोलनों के अस्तित्व में आने के तात्कालिक कारण दूर हुए, वैसे ही उन भावों के प्रति जो प्रेम था—वह उसके बाहरी स्वरूप के लगाव में बदल गया। परिणामस्वरूप आज के स्वार्थ से भरे वातावरण में ऐसे शुष्क पंथों को विरोधी एवं अलगाव रखने वाले अनेक सम्प्रदायों में विकसित होते हुए हम देखते हैं।

उदाहरणार्थ, मुसलमानों के भीषण आक्रमण और हत्याकांड के दिनों में पंजाब में गुरु नानक नाम के एक महान् सन्त का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने लोगों में अपने प्राचीन धर्म के प्रति धूमिल होने वाली आस्थाओं के बुझते अंगारों को फिर से प्रज्ज्वलित किया। उनका अनुसरण नौ गुरुओं की उज्ज्वल और पवित्र परम्परा ने किया। वे धर्म के प्रति भक्ति और त्याग के ज्वलन्त उदाहरण के रूप में जिए और मरे। दसवें गुरु, गोविन्दसिंह ने यह अनुभव किया कि पौरुषपूर्ण कार्यों के बिना केवल धार्मिक श्रद्धा का अभ्युदय अधार्मिक और क्रूर शक्तियों के सम्मुख किसी उपयोग का न होगा। उन्होंने अपने अनुयायियों को अदम्य शौर्य की भावनाओं से भर दिया और उनको पराक्रमी सैनिकों की विजयी सेना के रूप में संगठित किया। किन्तु कैसी विडम्बना है कि आज वह जीवन-लक्ष्य, जिसने उस गौरवपूर्ण आन्दोलन को जन्म दिया था, भुला दिया गया है और संस्था के बाहरी स्वरूप के प्रति लगाव में इतनी कट्टरता आ गई कि उससे पृथकतावादी विकृत भावनाओं को जन्म मिला जो कि इसको अस्तित्व में लाने वाली मूल जीवनशक्ति पर ही कुठाराघात कर रही हैं।

वर्तमान समय का एक और उदाहरण लें। सन् १९४७ में जब अंग्रेजों ने कांग्रेस के हाथों में सत्ता हस्तान्तरित की, तब गांधीजी ने कांग्रेसजनों को कांग्रेस भंग करने की सलाह दी। परन्तु कांग्रेस की पुरानी साख एवं उसके प्रति सद्भावना का लाभ उठाकर स्वयं को सरकार के रूप में स्थायी बनाये रखने के लिए कांग्रेस के नेता गांधीजी की सलाह की अवज्ञा की गई तथा कांग्रेस के नाम और कीर्ति से चिपके रहकर कांग्रेस को बनाये रखा। इसी का आज यह परिणाम है कि कांग्रेसी लोग अपनी गद्दियों को बनाये रखने के लिए पतित से पतित कार्य करते समय अंतःकरण में थोड़ी-सी भी चुभन अनुभव नहीं करते। जनता

को अपने पक्ष में लाने और रखने के लिए वे जनता के स्वार्थों को उकसाते हैं, तथा उन्हें अत्यन्त निम्न और अनैतिक परितुष्टि द्वारा प्रलोभित करते हैं, अथवा अपने विरोधियों को धमकाते हैं, यहाँ तक कि उन्हें मार भी डालते हैं।

हमारे स्वयं के अनुभव की घटना है। जब संघ पर प्रतिबन्ध लगा था, और मुझे जेल में बन्द किया गया था, उस समय एक दिन सुबह मैंने अपने कमरे में अनेक छपे हुए क्षमा-याचना-पत्र देखे। ये उन स्वयंसेवकों के लिए तैयार किये गये थे जो सत्याग्रह कर कारावास भोग रहे थे। कुछ देर बाद जब जेल सुपरिण्टेण्डेण्ट मेरे पास आये, तो उन्होंने मुझसे कहा कि यह फार्म उन स्वयंसेवकों को वितरित किये गये हैं जो क्षमा-याचना कर बाहर जाना चाहते हैं। मैंने उनसे कहा—"यह एकदम स्पष्ट है कि हमारे लोगों में से कोई भी क्षमा-याचना की बात स्वप्न में भी नहीं सोचेगा क्योंकि वे सब अपनी स्वयं की इच्छा से, उस कार्य के लिए यहाँ आये हैं जो कि उन्हें अपने प्राणों से भी प्रिय है। पर इस सबसे अलग मैं एक बात पूछता हूं कि आप यह बताइये कि इन निम्न स्तर के तरीकों को अपनाकर आप क्या प्राप्त करना चाहते हैं? जब किसी व्यक्ति को उसकी प्रतिज्ञा किसी कारण से तोड़ने के लिए बाध्य किया जाता है तब क्या यह कार्य उसके शेष जीवन के लिए उसे अकर्मण्य और अनैतिक नहीं बनाएगा? क्या इस प्रकार का ध्वस्त चारित्र्य राष्ट्रीय जीवन के लिये लाभदायक होगा? अंग्रेजों के द्वारा इस प्रकार क्षमा-याचना करवाने के तरीकों को अपनाये जाने की बात कोई भी समझ सकता है, क्योंकि उनके लिये हमारे देश के युवकों के भावों को कुचलना विदेशी शासन यहाँ बनाये रखने के लिए आवश्यक था। किन्तु आज हमारे नेता कहते हैं कि यह स्वराज्य है, तब अपने ही लोगों की इच्छाशक्ति और मनोधैर्य को इस प्रकार तोड़कर उन्हें किस बात की उपलब्धि होती है?

अहिन्दू धारणाओं से बचाव

यही कारण है कि संघ ने समाज के अन्दर एक पृथक् संगठन की बात कभी सोची ही नहीं। संघ ने अपने अस्तित्व में आने के समय से ही समाज के किसी एक वर्ग को अलग एक इकाई के रूप में संगठित करने का नहीं, अपितु सम्पूर्ण समाज को संस्कारित करने का लक्ष्य स्पष्ट रूप से निर्धारित किया। यही कारण है कि संघ के कार्यकर्ता कभी भी लोगों के सामने अपने आपको 'संघी गुट' के रूप में प्रस्तुत नहीं करते, यद्यपि उनमें से हजारों अकाल, बाढ़, पाकिस्तान से आये शरणार्थियों का प्रवाह इत्यादि राष्ट्रीय दुर्घटनाओं

के समय अपने सर्वस्व का दाँव लगाकर कार्य करते हैं। वे समाज में एक सामान्य नागरिक के रूप में रहना पसन्द करते हैं, और इस प्रकार वे उदाहरण उपस्थित करते हैं कि सामान्य मनुष्य को एक संगठित सजग सामाजिक जीवन में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार का सुगठित राष्ट्रप्रेमी और आत्मनिर्भर राष्ट्रजीवन ही अनन्त और अपार शक्ति से अपने राष्ट्र को सुदृढ़ बना सकता है।

समाज के अन्दर ही एक शक्तिशाली वर्ग के निर्माण का विचार—जो कभी-कभी गैर-सरकारी सेना का रूप लेता है—स्वतंत्र और समृद्ध राष्ट्रीय विकास के मार्ग को भयानक आपदाओं से परिपूर्ण बनाता है। हमने जर्मनी, इटली, रूस और चीन इत्यादि देशों के राजनीतिक क्षितिज पर इस प्रकार के संगठनों को धूमकेतु के समान उदित होते हुये और उन देशों में सर्वाधिकार-शासनतंत्रों को प्रस्थापित करते हुए प्रत्यक्ष देखा है। अधिनायकवादी संस्थाएं समाज पर अपने आधिपत्य को स्थिर बनाये रखने के लिये प्रयत्नशील रहती हैं और नागरिकों को राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा अन्य सभी दृष्टियों से दास बनाने के लिये स्वभावतः प्रवृत्त रहती हैं। चीन और सोवियत रूस जैसे देशों में आज भी होने वाले जनशुद्धिकरण [Mass purges], मस्तिष्क परिमार्जन [Brain washing] शिविर आदि के सम्बन्ध में रोंगटे खड़े कर देने वाले समाचार इन देशों के अन्दर की स्थिति का एक चित्र प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार की परिस्थितियों में राष्ट्र के स्वतंत्र विचार के प्रकटीकरण का दमन हो जाता है। व्यक्ति विनष्ट हो जाता है और स्वातंत्र्य एवं व्यक्तिगत स्व-प्रेरणा से विरहित समाज अवनत होने लगता है।

पाशविक शक्ति के द्वारा आधिपत्य बनाये रखने का यह विचार हमारी संस्कृति और परम्परा के लिए एकदम परकीय है। हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व ही इन अहिन्दू मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह कर उठता है। अति प्राचीन समय से ही हमारे यहाँ अनेकों मत और पंथ विकसित हुए हैं। हमारे यहाँ विविध प्रकार की राजनीतिक पद्धतियाँ विकसित हुईं। हमारे यहाँ गणतंत्रात्मक सरकारें थीं और वंशानुगत राजतंत्र भी थे। परन्तु प्रत्येक स्थिति में व्यक्ति इस बात के लिए स्वतंत्र थे कि वे अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने स्वस्थ धार्मिक विश्वासों का अनुसरण करें। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत वैशिष्ट्य, प्रकृति और रुचि के अनुरूप अपना विकास करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। इस भावना के अनुरूप समाज के जागरण और संगठन के लिये हिन्दू धर्मप्रचारकों का कार्य सदैव प्रेम, सेवा, चारित्र्य-निर्माण और

त्याग के द्वारा हुआ, कभी भी पाशविक शक्ति और राजनीतिक बल के द्वारा नहीं।

संगठन के इसी तरीके के लचीले और आत्माभिव्यक्तिपूर्ण प्रतिमान ने समाज को अनेकों अतुलनीय अत्याचार और आक्रमणों के बावजूद भी अपनी एकता की भावना जीवित रखने में मदद दी। यदि हमारा प्रतिमान कठोर और ऊपर से थोपा हुआ होता तो आज हमारा यह समाज उसी प्रकार एकमात्र शिलीभूत पदार्थ रह जाता, जिस प्रकार कुछ विशालकाय जानवर जड़वत् होकर धीरे-धीरे संरक्षण के कवच के कठोर जानलेवा आवरण के भार से ही समाप्त हो गये। इसीलिये संघ ने विदेशी संगठनों के उन सब आत्मघातक प्रकारों से अपने को बचाया है और समाज के पुन: संगठन के लिये शुद्ध और स्वस्थ राष्ट्रीय परम्पराओं का दृढ़ आधार लिया है।

* * *

२९

सफल कार्य पद्धति

२. यथार्थ दृष्टिकोण

अराजनीतिक संगठन

पूर्णरूपेण राष्ट्रीय पुन: संगठन की कल्पना में, जिसे साकार रूप प्रदान करने के लिए संघ प्रयत्नशील रहा है, निहित अर्थ है इस कार्य का अराजनीतिक रूप। एक राजनीतिक दल लोगों के एक बहुत छोटे अंश का ही प्रतिनिधित्व कर सकता है। राष्ट्रीय एकता की उपलब्धि निर्वाचनों तथा राजनीतिक प्रचार से नहीं हो सकती। राजनीतिक पद्धतियों द्वारा यहाँ तक कि राजनीतिक सत्ता द्वारा भी लोगों में निष्ठा, वीरत्व, चारित्र्य, सौहार्द तथा त्याग-भाव का जागरण कठिन ही है। वास्तव में राष्ट्रीय जीवन रचना की सुग्रथित जड़ों के अभाव में राजनीतिक दल पारस्परिक विरोध को जन्म देते हैं तथा राष्ट्रीय रचना का विध्वंस कर डालते हैं।

ढाँचे का प्रेम, भाव की उपेक्षा

सचमुच यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि राष्ट्रीय अस्तित्व की एकता के प्रति जीवित जागृत निष्ठा तथा राष्ट्रीय हितों के प्रति सर्वाधिक चेतना के अभाव में अधिकांश राजनीतिक दल विघटनकारी शक्तियों एवं बिलगाव वादी मनोवृत्तियों के जनन-केन्द्र मात्र ही बन गये हैं। संकीर्ण दलगत स्वार्थो की पूर्ति के लिए देश के जाने-माने राष्ट्रविरोधी तत्वों अथवा कभी-कभी विदेशी शत्रु-राज्यों के साथ प्राय: गठबन्धन करते हुए हम उन्हें पाते हैं।

कोई व्यक्ति पूछ सकता है कि क्या स्वस्थ प्रतिस्पर्धा की भावना से काम करने वाले दो दलों का होना वांछनीय नहीं है, जिससे कि उनमें से प्रत्येक

दूसरे के लिए शोधक के रूप में काम कर सके तथा इस विधि से हम राष्ट्र-शरीर को किसी एक व्यक्ति अथवा दल की तानाशाही के विष से मुक्त रख सकें ? प्रजातान्त्रिक संस्था में निःसन्देह रूप से यह सुरक्षात्मक वैशिष्ट्य होता है, परन्तु उसका भी क्रियान्वयन उसी समय सम्भव है, जब लोगों में 'दल के परे राष्ट्र' का भाव सुदृढ़ रूप से विद्यमान हो। उन पाश्चात्य देशों में भी जहाँ लोग गत कई शताब्दियों से उस विशिष्ट परम्परा में सराबोर हो चुके हैं, पारस्परिक विरोध एवं ईर्ष्या से दल पूर्णतः मुक्त नहीं हैं। फिर भी वे राजनीतिक खींचातानी को सदैव एक सीमा में नियंत्रित तथा राष्ट्रीय हित-साधना के महान् आह्वान के अधीन रखते हैं। उनके लिए ऐसी संस्थाएँ उनके जीवन के लिये हितकारक हैं तथा शक्ति प्रदान करती हैं। यदि एक स्वस्थ एवं शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति बहुत अच्छी मलमल की कमीज पहिन ले तो वह उसे बड़ी अच्छी लगेगी। परन्तु यदि एक ऐसा व्यक्ति जिसके हाथ पैर दुबले पतले हैं, जिसका सीना अन्दर की ओर धँसा हुआ है, जो सीधा खड़ा भी नहीं हो सकता, उसी को पहिन कर इधर उधर घूमने का प्रयत्न करता है तो वह स्वयं को दूसरों के लिए विनोद की वस्तु बना देता है।

अनुकरणीय

उदाहरण के लिए अपने देश की परिस्थितियों की तुलना इंग्लैण्ड की परिस्थितियों से करिये। कुछ वर्ष पूर्व जब पण्डित नेहरू अमेरिका जाते हुए लन्दन में रुके थे तो लन्दन में रहने वाले अपने ही कुछ स्वदेशबन्धु केवल इसी हेतु हवाई अड्डे पर काले झण्डों का प्रदर्शन करने गये थे, क्योंकि वे एक दूसरे दल के व्यक्ति थे। वे विस्मरण कर बैठे कि विदेश में अपने प्रधानमंत्री के विरुद्ध किया गया कार्य अपने राष्ट्र का अपमान था।

अब इंग्लैण्ड का उदाहरण लें। जब ब्रिटेन के तत्कालीन विरोधी दल के नेता विन्स्टन चर्चिल अमेरिका का प्रवास कर रहे थे तब कुछ लोगों ने ब्रिटेन में सत्तारूढ़ मजदूर सरकार के प्रति उनके दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछे थे। चर्चिल महोदय ने रूखेपन से उत्तर दिया था—"बाहर हम सब एक हैं, घर में हमारे चाहे जितने भी मतभेद क्यों न हों।" दोनों महायुद्धों के समय भी वहाँ के लोगों ने भयंकर दुःख और कष्ट सहन किये, किन्तु वहाँ के किसी राजनीतिक दल ने उक्त परिस्थिति से किसी दलगत स्वार्थ की पूर्ति करने का प्रयास नहीं किया। उस देश में निर्वाचन के समय, कम्युनिस्टों द्वारा अपनी जमानतें बचाने के बारम्बार विफल प्रयत्न भी उनकी राष्ट्रभाव की गहरी जड़ों का ही परिचय देते हैं।

भयानक विपरीतता

विभिन्न देशों की इन संस्थाओं की अन्तरंग कार्यशक्ति की ओर ध्यान न देकर केवल उनकी बाह्य व्यवस्था के सतही दृश्य का अवलोकन करने के कारण ही कुछ लोग हमसे पूछते हैं कि "आपकी भांति विशेष प्रयत्न न करते हुए भी, इंग्लैण्ड जैसे देश संकटों और कठिनाइयों पर विजय पाते हैं तथा प्रगति कर रहे हैं। वहाँ पर लोग अपने सामान्य दैनन्दिन जीवन में व्यस्त हैं। राजनीतिक दल देश के कार्य सफलतापूर्वक चला रहे हैं। फिर आपके जैसे स्वतंत्र संगठन की और जैसा कि आप कर रहे हैं इस दैनन्दिन प्रशिक्षण की क्या आवश्यकता है।"

परन्तु वहां प्रत्येक व्यक्ति जन्मजात देशभक्त है। वहाँ किसी व्यक्ति का उल्लेख करते समय 'वह देशभक्त है' ऐसा कहने की आवश्यकता उसी तरह नहीं पड़ती जिस प्रकार किसी व्यक्ति का उल्लेख करते समय 'मनुष्य' शब्द उसके साथ जोड़ने की जरूरत नहीं पड़ती। वह एक मनुष्य है, यह पहले से ही स्वीकृत है। परन्तु अपने देश में हम कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए 'देशभक्त' शब्द का प्रयोग प्राय: सुनते हैं। इंग्लैण्ड में उनकी प्रत्येक संस्था में, चाहे एक स्कूल हो अथवा कालेज, साहित्यिक क्लब हो अथवा युवक संघ, सामाजिक संस्था हो अथवा सांस्कृतिक, यहाँ तक कि घर पर भी बालक जो प्रथम पाठ सीखता है, वह है—"हे इंग्लैण्ड! तेरे तमाम दोषों के पश्चात् भी मैं तुझसे प्रेम करता हूँ," और यहाँ हमारे महान् नेतागण गौरवशाली हिमालय को एक ऐसा स्थान कहकर पुकारते हैं, जहाँ उनके शब्दों के अनुसार 'घास का तिनका तक पैदा नहीं होता।'

पुन: देशभक्ति की उस प्रेरणादायी परम्परा को देखिए जिसका निर्माण इंग्लैण्ड ने शताब्दियों से किया है। गत कई शताब्दियों के सम्पूर्ण काल में उनमें कठिनाई से ही कोई देशद्रोही मिलेगा। द्वितीय महायुद्ध में विश्वासघात का केवल एक ही उल्लेखनीय उदाहरण था। तत्कालीन भारत सचिव लार्ड ऐमरी के पुत्र ने जर्मन लोगों के लिए काम किया था। युद्ध के पश्चात् उसके ऊपर मुकदमा चलाया गया तथा उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया। दण्ड कम करवाने के लिए उसके पिता ने अपने उच्च पद के प्रभाव को उपयोग में लाने का विचार तक नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने दया-याचिका प्रस्तुत करना तक अमान्य कर दिया। मृत्यु-दण्ड के दिन उन्होंने उससे यह कहकर मिलना तक अस्वीकार कर दिया कि ऐसे व्यक्ति की शक्ल देखना भी पाप है जो

उनके परिवार की देशभक्ति की गौरवशाली परम्परा पर एक कलंक था। और यहाँ, दाहिर तथा पृथ्वीराज के काल से लेकर अंग्रेजों के शासन-काल तक देशद्रोहियों की एक पूर्ण जाति की जाति ने ही जन्म लिया है और वही आज तक अबाधित गति से हो रहा है। आजकल अपने देश में उच्च पदों की प्राप्ति के लिए विश्वासघात करना मानों एक पारपात्र ही बन गया है। जिस व्यक्ति ने जबकि वह एक राजदूत था, भारत आने वाले शस्त्रों से भरे हुए जहाज को चालाकी से पाकिस्तान के लिए मुड़वा देने की चाल चली थी उसे बाद में एक राज्य का राज्यपाल बना दिया गया।

इंग्लैण्ड में राजनीति उनके लिए एक स्वस्थ खेल है। जब मजदूर दल के हाथ में सत्ता थी तो उसने अमेरिका व चीन में अपने राजदूतों के स्थान पर क्रमश: विरोधी दल के नेता व उपनेता को नियुक्त कर दिया। क्या अपने देश में सत्ताधारी दल द्वारा ऐसी स्वस्थ परम्परा की कल्पना भी की जा सकती है ? यहाँ सत्ताधारी दल के तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणी तक के लोग अन्य दलों के सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्तियों से श्रेष्ठ माने जाते हैं। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण प्रशासन पर सत्ताधारी दल का एकाधिकार है। वे इतने पर ही रुके नहीं हैं। अपने दलगत स्वार्थों के साधन हेतु राज्य के साधनों का स्वतन्त्रतापूर्वक लाभ उठाया जाता है। विरोधी दलों द्वारा आयोजित आन्दोलन एवं प्रदर्शनों को क्रूर राजकीय साधनों से कुचलने की बात सोची जाती है।

नवीन अस्पृश्यता

नये प्रकार की अछूत भावना भी एक नूतन निर्मिति नहीं है। यह विकृति १९३७ से ही आना प्रारम्भ हो गई थी; जब कांग्रेस ने राजसत्ता का स्वाद चखना प्रारम्भ कर दिया था। हमें अपने स्वत: के अनुभव से ज्ञात है कि प्रारम्भिक अवस्था में कांग्रेस के नेतागण संघ कार्य से स्वतन्त्रतापूर्वक सम्बन्ध रखा करते थे। हमारे संघ के जन्मदाता ने संघ की स्थापना के पश्चात् भी कांग्रेस के आन्दोलनों में भाग लिया था। परन्तु १९३७ में कुछ प्रदेशों में सरकार बनाने के पश्चात् कांग्रेस ने स्वयं को एक राजनीतिक खोल में बन्द कर लिया। तथा अपने सदस्यों के संघ की गतिविधियों में भाग लेने पर प्रतिबन्ध लगा दिया और इस तरह राजनीतिक जीवन में 'राजनीतिक अस्पृश्यता' का एक नवीन विष उत्पन्न कर दिया।

एक बार १९३७ में कांग्रेसी शासन वाले एक प्रदेश में एक राजनीतिक आन्दोलन को कुचलने के लिए गोली चलाने का आदेश दिया गया था। एक

व्यक्ति ने कांग्रेस-अध्यक्ष को लिखा था कि अहिंसा के लिए वचनबद्ध कांग्रेस द्वारा बनाई गई सरकार गोली का मार्ग कैसे अपना सकती है ? कांग्रेस अध्यक्ष ने उत्तर दिया—"अहिंसा की हमारी नीति केवल अंग्रेजों के विरुद्ध लागू होती है, स्वजनों के लिए नहीं।" और उन सज्जन ने उस पत्र-व्यवहार को समाचार-पत्रों में प्रकाशित करवा दिया।

मूलगत उपचार

हमारी राष्ट्रशक्ति का ह्रास करने वाले राष्ट्रीय विघटन के कीटाणुओं के रहते हुए यह कल्पना ही गलत है कि अन्य देशों की राजनीतिक व अन्य संस्थाओं की केवल नकल करने मात्र से ही हमारी समस्याएँ हल हो जावेंगी तथा सर्वांगीण राष्ट्रीय कायाकल्प हो जायेगा। हमारी व्याधि अधिक गहराई तक व्याप्त है तथा उसके मूलगत उपचार की आवश्यकता है। उस मूलगत रोग का समूलोच्चाटन करने हेतु ही संघ ने दैनन्दिन प्रशिक्षण, त्याग, अनुशासन व राष्ट्रभक्ति जैसे गुणों को दिन-प्रतिदिन निविष्ट करने की पद्धति का विकास किया है, जिससे एक संगठित व उत्थानशील राष्ट्रीय जीवन की निर्मिति होती है।

अत: हम कहते हैं कि हमें प्रतिदिन नियमित रूप से शाखा में एक साथ आना चाहिए। यह सामान्य अनुभव की बात है कि यदि एक विशिष्ट विचार, एक निश्चित समय पर, नियमित रूप से दोहराया जाता है तो वह हमारे व्यक्तित्व की गहराई में प्रवेश कर हमारे चरित्र का अभिन्न अंग बन जाता है। अतः नियमितता एवं समय-पालन पर संघ में अथक बल दिया जाता है।

इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए एक छोटी-सी कहानी है। एक धनी व्यक्ति अपराह्न में अपने सुन्दर उद्यान में ठण्डी छाया में बैठने आया करता था। एक दिन एक मोर आ गया तथा अपने मनमोहक पंख फैलाकर पेड़ पर बैठ गया। स्वामी ने सोचा, "यदि इस समय यह प्रतिदिन आया करे तो कितना सुन्दर रहेगा।" उसने अफीम के एक अंश को मिलाकर कुछ खाद्य-पदार्थ बनवाया तथा उसे मोर के सामने डाल दिया। मोर ने उसे खा लिया। वह बहुत उल्लसित हुआ। दूसरे दिन उस सुख के भाव का स्मरण कर वह पुनः आया। मनुष्य ने अफीम की दूसरी खुराक उसको दे दी। अन्ततोगत्वा उस पक्षी को इतना अभ्यास पड़ गया कि वह बिना उस अफीम के भी उक्त समय पर आया करता था।

यह मन का स्वभाव है। विचार, वाणी एवं कृति में पुन: पुन: एक विचार

के दोहराने से आदत बनती है। इसमें नियमितता का बड़ा महत्व है। अनियमितता अच्छे चरित्र की निर्मिति को नष्ट कर देती है। अनेक व्यक्ति हैं जो कठोर परिश्रम कर रहे हैं जैसे निहाई पर जुटे लुहार, पेड़ों को काटने वाले अथवा पत्थर तोड़ने वाले। परन्तु उनमें से कोई सैण्डो नहीं बन जाता, यद्यपि वे अथक शारीरिक परिश्रम कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि उनका परिश्रम अनियमित एवं अव्यवस्थित है। परन्तु एक व्यक्ति जो कम थकान का परन्तु नियमित व्यायाम करता है, अपना स्वास्थ्य बनाकर खिलाड़ी बन सकता है। प्रसिद्ध जर्मन सेनापति हिण्डेनबर्ग जिसे प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी का राष्ट्रपति बनाया गया था, अस्सी वर्ष की आयु में भी शक्तिशाली और चपल था। उसकी आश्चर्यकारी कार्यशक्ति के विषय में पूछे जाने पर उसने कहा कि वह नियमित रूप से प्रतिदिन एक घण्टा लकड़ी काटा करता था तथा इस आयु तक उस आदत को उसने जारी रखा था।

क्षणिक आवेग का परिणाम

इसमें कोई संशय नहीं है कि कोई प्रेरणादायी विचार सुनने तथा किसी विशिष्ट वस्तु का परिपालन करने का पक्का निर्णय लेने से हमारे अन्दर उल्लासपूर्ण भावों का जागरण होता है। परन्तु वह भावना तथा निर्णय कितनी देर तक टिकता है ? क्या यह अपना सामान्य अनुभव नहीं है कि हम अपने नवयुवकों को किसी पवित्र दिवस पर नित्य दैनन्दिनी लिखने अथवा व्यायाम करने तथा इसी प्रकार की अन्य बातों का संकल्प कर दूसरे ही दिन उन्हें भूल जाते हुए देखते हैं ?

हम प्रायः ऐसे लोगों के सम्बन्ध में आते हैं जो उमंग आने पर कार्य करते हैं। कुछ अवसरों पर हम लोगों की भावनाओं और संवेगों की बहुलता भी देखते हैं। परन्तु लोगों के मन पर अमिट संस्कार डालने के लिए ऐसे अस्थायी उफान सहायक सिद्ध न होंगे। आजकल लोग कहते हैं कि देश में धार्मिक जागरण की एक लहर आई हुई है। ध्वनिवर्द्धक यन्त्रों द्वारा धर्मोपदेश प्रसारित किये जाते हैं। प्रति वर्ष गंगा में एक डुबकी लेने के लिए लाखों लोग इकट्ठा होते हैं। पुराण, हरि-कथा, प्रवचन सुनने, रामनवमी, सत्यनारायण पूजा तथा गणेशोत्सव आदि के लिए विशाल संख्या में लोग जमा होते हैं, परन्तु क्या इन कार्यक्रमों का इच्छित परिणाम निकल रहा है ? क्या वे आज के आत्मकेन्द्रित जीवन को समाप्त करने तथा चारित्र्य, सेवा एवं त्याग के पवित्र उपदेशों के अनुकूल जीवन व्यतीत करने के पवित्र संकल्प को लोगों के मन में जगा पाये हैं ?

श्री रामकृष्ण परमहंस गंगा-स्नान के लिए जाने वाले लोगों के विषय में विनोद से कहा करते थे—"जैसे ही ये गंगा के तट के निकट पहुँचते हैं, उनके पाप उनके शरीर से उड़कर दूर के पेड़ों पर जाकर बैठ जाते हैं। परन्तु स्नान करने के पश्चात् जैसे ही वे वापस आते हैं उनके पाप उनके ऊपर झपट पड़ते हैं।" निष्कर्ष यही निकलता है कि मनुष्य का चारित्र्य संवेगों के क्षणिक उफानों से नहीं बदला जा सकता। लाखों लोगों में एक ही ऐसा होता है, जिसमें क्षणिक भावोद्रेक को चरित्र का अभिन्न अंग बना लेने की बौद्धिक क्षमता हो। यही कारण है कि मानसिक अनुशासन के विषय में अपनी अधिकृत विभूतियों ने हमें भावावेश के वशीभूत न होने तथा भगवान् के नाम पर आँसू न बहाकर दैनन्दिन तपस्या करने के अनुशासन को स्वयं पर लागू करने का विधान दिया है। संवेगों का बिखरना नाड़ियों को ध्वस्त कर देगा तथा उसे पहले से भी दुर्बल बनाकर नैतिक दृष्टि से समाप्तप्राय कर देगा। यह मदिरा के उस व्यसनी की भाँति है जो मदिरा का प्रभाव समाप्त हो जाने पर अशक्त होकर गिर पड़ता है।

एक बार एक वयोवृद्ध सज्जन ने हमारी एक बैठक के उपरान्त अत्यधिक उत्साहित होकर अपने परिवार के लोगों को बतला दिया कि उनके व उनके परिवार के सम्बन्ध-विच्छेद हो गये हैं तथा इसके आगे वे संघ-कार्य के हेतु स्वयं को समर्पित कर देंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जोश ठण्डा हो जाने के पश्चात् 'सर्वस्व त्याग के व्रत' का रंचमात्र भी स्मरण तक न रखते हुए वे पुनरपि अपने आत्मकेन्द्रित जीवन में लीन हो गये।

कालमान्य पद्धति

फिर वह कौन-सी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा स्थायी संस्कारों को अंकित किया जाय? मनोवैज्ञानिक हमें बताते हैं कि किसी आदर्श के अनुसार व्यक्ति के चरित्र को निर्माण करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है। प्रथम, जिस आदर्श का संस्कार करना है उसका सतत ध्यान, दूसरे उसी आदर्श के प्रति निष्ठा रखने वाले व्यक्तियों का सतत साहचर्य, और अन्तिम, शरीर को ऐसी गतिविधियों में लगाये रखना जो उस आदर्श के अनुकूल हों। किन्तु सभी सामान्य लोगों के लिए जिन्हें दिन के अधिकतर समय को अपने व्यक्तिगत एवं पारिवारिक कार्यों में लगाना पड़ता है, जैसे धनोपार्जन, बच्चों का पालन-पोषण आदि, यह दिन के २४ घंटे वाला नियम अव्यावहारिक है। सर्वस्व-त्यागी योगी भी पूर्ण समाधि की स्थिति में तीन दिन से अधिक नहीं रह सकता, उसके पश्चात् उसका शरीरपात हो जायगा।

अतएव हमारे महान् समाज-निर्माताओं ने सामान्य मनुष्य के लिए एक ऐसी पद्धति बनाई जिसमें उन संस्कारों के सिद्धान्तों का सार समाविष्ट था और वह पद्धति यह है कि दिन की एक निश्चित कालावधि प्रातः, सायं अथवा रात्रि में अलग निकाल ली जाय तथा अपने शरीर, मन एवं बुद्धि की सभी शक्तियाँ और क्रियाएं, उस चुने हुए आदर्श पर नियत समय पर नियमित रूप से यथासमय, केन्द्रित की जायें, तथा दिन का कम से कम कुछ समय समान निष्ठा वाले लोगों के साथ व्यतीत किया जाय।

संघ ने भी अपनी शाखा द्वारा संस्कार देने की वर्तमान पद्धति को उसी कालमान्य प्रतिमान के आधार पर विकसित किया है। राष्ट्रीय पुनर्गठन के आदर्श के अनुरूप 'राष्ट्र देवो भव' की भावना से स्फूर्त दैनिक संस्कारों की प्रक्रिया शाखा में चलाई जाती है। उसमें इसी भावना से ओतप्रोत सभी छोटी-छोटी दिखने वाली हर तरह की चीजें जैसे खेल, लाठी चलाने का शिक्षण, गीत, प्रचलन आदि कार्यक्रम एक संगठित एवं सशक्त राष्ट्र जीवन के लिए गहरे संस्कारों को प्रदान करने की शक्ति प्राप्त करते हैं।

एक योजनाबद्ध रूप में छोटी-छोटी चीजों का एकत्र लाया जाना ही सदैव एक बड़ी चीज का निर्माण कर देता है। "पैसे को सुरक्षित रखो। रुपया स्वयं सुरक्षित हो जायगा—" यह कहावत महान् चरित्रों के निर्माण में अक्षरशः सत्य उतरती है। महान् चरित्र बनी-बनाई वस्तुओं के समान कहीं से एक दिन में ही नहीं आ जाते। उनका निर्माण शान्तिपूर्वक सतत कार्यशीलता से होता है। महानता एवं श्रेष्ठता की उपलब्धि क्रमबद्ध इञ्च-इञ्च करके आती है तथा एक-एक पग की प्रगति के लिए प्रबल प्रयास करने पड़ते हैं।

बुराई का उपचार कैसे हो ?

बुरे चरित्र भी कहीं पर लघु स्खलन से ही बनने आरम्भ हो जाते हैं। एक युवक का यही हुआ। उसे हत्या के अपराध में मृत्यु-दण्ड मिला था। उसकी माँ अपने पुत्र की अन्तिम अभिलाषा पूर्ण करने के लिए मिलने आई ? किन्तु जैसे ही उसने अपनी माँ को देखा वह उस पर झपट पड़ा और उसके कान अपने दाँतों से काट लिए। वह खींच कर हटाया गया। मृत्यु समय भी अपनी माँ के प्रति ऐसे दुष्ट व्यवहार के लिए उसकी निन्दा की गई। तब उसने कहा कि "मेरे इस दुःखद अन्त का कारण मेरी मां ही है।" पूछा गया 'यह कैसे ?' उसने बताया "बाल्यावस्था में मैं एक बार कुछ धन चुराकर अपनी माँ के पास ले आया था। उस समय इसने मेरे कान खींच कर मुझे ठीक नहीं

किया। उस दिन से मेरा यह दुष्ट स्वभाव बढ़ता ही गया और आज मैं उसी के दारुण परिणाम भोग रहा हूँ।''

बुरी आदतें और प्रवृत्तियां जो विगत कतिपय शताब्दियों से हम में बढ़ रही हैं, एक दिन में धुल कर साफ नहीं हो सकतीं। इसलिए नित्य के संस्कार अत्यन्त आवश्यक हैं। शरीर को भी नित्य धोने की आवश्यकता होती है। तो मस्तिष्क को जो दूषणों के लिए शरीर से अधिक ग्रहणशील है, बहुत अधिक परिश्रम एवं नियमितता से शुद्ध करने की आवश्यकता है। विशेष रूप से इस बात की आवश्यकता इसलिए और भी है कि वह उन दुष्ट प्रवृत्तियों के सम्पर्क में सतत रहता है जो हमारे चारों ओर के वातावरण में हैं। जब श्री रामकृष्ण के अद्वैतवादी गुरु तोतापुरी से प्रश्न किया गया कि 'वह एक सिद्ध पुरुष होकर भी संस्कारों की नित्य क्रियाएँ क्यों किया करते हैं ?' तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'मस्तिष्क जब तक इस संसार में रहता है, उसके नित्य शोधन की आवश्यकता ठीक उसी प्रकार से है जैसे किसी पानी पीने के लिए उपयोग में आने वाले पात्र को नित्य माँजना पड़ता है।'

मनुष्य-निर्माण की प्रक्रिया

इसलिए संघ ने संस्कारों के एक क्रम का विकास किया है, जिसके द्वारा व्यक्ति का मन, मेधा एवं शरीर इस प्रकार से प्रशिक्षित होता है कि वह हमारे महान् समाज के संघटित कलेवर का एक सजीव अंग बन जाता है। उदाहरण के लिए, मानव-शरीर में कितने ही अंग हैं और प्रत्येक अंग में लाखों कोषिकाएँ हैं। प्रत्येक कोष सम्पूर्ण शरीर के साथ अपना ऐक्य अनुभव करता है और शरीर के स्वास्थ्य एवं वृद्धि के लिए अपने को बलिदान कर देने को सदैव प्रस्तुत रहता है। वास्तव में यह ऐसे लाखों कोषों का आत्मबलिदान ही है जो प्रत्येक शारीरिक क्रिया के लिए शक्ति को उन्मुक्त उपलब्ध कराता है।

शाखा पर नित्य नियमित रूप से जो प्रशिक्षण दिया जाता है, उसके द्वारा तादात्म्य एवं सामूहिक कर्मों को अच्छी प्रकार से करने की भावना का उदय होता है। इससे व्यक्ति को अपने-व्यक्तित्व के आड़े-तिरछे कोणों को घिसकर मिटा देने की प्रेरणा मिलती है तथा समाज में अपने शेष बन्धुओं के साथ ऐक्य भावना का व्यवहार एवं अन्य मस्तिष्कों के विविध दृष्टिकोणों से अपना मेल बैठाते हुए संगठित और अनुशासित जीवन-पद्धति में खड़े होने की योग्यता प्राप्त होती है। वहाँ पर एकत्रित व्यक्ति एक ही आज्ञा का साथ-साथ पालन करना सीखते हैं। अनुशासन उनके रक्त में प्रविष्ट होता है। शरीर के अनु-

शासन से मन का अनुशासन अधिक महत्वपूर्ण होता है। वे अपने व्यक्तिगत आवेगों एवं संवेगों को महान् राष्ट्रीय लक्ष्य की ओर उन्मुख करना सीखते हैं। इस प्रकार शाखा पर निर्माण होने वाला आदर्श अनुशासन स्वेच्छा से ग्रहीत होता है, क्योंकि वह राष्ट्र के लिए उत्कट समर्पण की भावना से उत्पन्न होता है। इस प्रकार का अनुशासन व्यक्ति में छिपी सुप्त शक्तियों को, राष्ट्रहित के साथ स्वरैक्य स्थापित कर, समृद्ध और प्रस्फुटित करता है। पूर्ण विकसित पुरुषोचित सद्गुणों के साथ, पारस्परिक स्नेह तथा सहयोग की भावना से ओतप्रोत एवं स्वतःस्फूर्त अनुशासन के बन्धन से बद्ध, एक साथ कार्य करने के लिए पूर्ण एवं नित्य सिद्ध मनुष्य ही राष्ट्रीय शक्ति के अक्षय भंडार का निर्माण करते हैं।

हमारा विनाश—एक कारण

इस प्रकार राष्ट्रीय जीवन में अनुशासन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व होता है। समान लक्ष्य वाले किन्तु अनुशासन से रहित लोगों के एकत्रीकरण में सामूहिक शक्ति का अभाव होता है। ऐसा एकत्रीकरण अपने ध्येय को प्राप्त करने में असफल होता है। पुरी में प्रतिवर्ष लाखों मनुष्य जगन्नाथ जी के दर्शनों के लिए एकत्रित होते हैं। उस भीड़ में अनेकों गिर पड़ते हैं, अंग-भंग हो जाते हैं अथवा दूसरों के पैरों से कुचल जाते हैं। इस प्रकार की दुर्घटनाएँ सामान्य रूप से हुआ करती हैं। निःसन्देह सभी का लक्ष्य एक ही रहता है—जगन्नाथ स्वामी का दर्शन। किन्तु वहाँ कोई व्यवस्था, कोई अनुशासन न होने से जगन्नाथ जी के दर्शन के स्थान पर गड़बड़ी और अनर्थ ही होता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का यही अनुभव है। कार्य करने के लिये क्षमता की दृष्टि से मुट्ठी भर अनुशासित मनुष्यों की तुलना सैकड़ों लोगों की अव्यवस्थित भीड़ से किसी प्रकार नहीं की जा सकती। हमने अपने ही इतिहास में देखा है कि संख्या में कई गुना अधिक हमारी सेनाओं को अंग्रेजी सेनायें सर्वथा पराभूत करने में सफल हो सकीं। इसका स्पष्ट कारण था उनका उत्तम कोटि का अनुशासन।

भूतकालीन इतिहास में अनुशासनहीनता हमारे विनाश का एक प्रमुख कारण रही है। १७६१ में पानीपत का तृतीय युद्ध उदीयमान हिन्दू स्वराज्य के लिए एक निर्णायक क्षण था। विशाल हिन्दू सेना का सेनापति सदाशिवराव पेशवा था; और आक्रान्ताओं की सेना का अहमदशाह अब्दाली। जब हिन्दू सेना के अधिकारी युद्धनीति का निर्णय करने के लिए मन्त्रणा करने बैठे तो मल्हारराव

होल्कर तथा कुछ अन्य लोगों ने शत्रु को परास्त करने के लिए गुरिल्ला-युद्ध का समर्थन किया। किन्तु सदाशिवराव ने शत्रु को एक ही आघात में चूर-चूर कर देने के लिए सामने जमकर युद्ध करना अधिक यशस्वी बताया तथा वैसा ही निर्णय लिया, कारण कि वह इस प्रकार के युद्धों में अद्वितीय सेनानायक के रूप में कई बार विजयश्री का वरण कर चुका था। इस पर मल्हारराव सहमत नहीं हुए और क्रोध में उन्होंने स्वयं को युद्ध से विरत कर लिया। शेष सेना सदाशिवराव के नेतृत्व में युद्ध-क्षेत्र में उतरी। एक ऐसा निर्णायक क्षण उपस्थित हुआ जब कि मल्हारराव होल्कर की, जो कि युद्ध क्षेत्र से अधिक दूरी पर नहीं था, थोड़ी सी सहायता उस अन्तिम विनाशकारी पराजय को महान् विजय में परिवर्तित कर देती और वह विजय सम्भवत: हमारे इतिहास के सम्पूर्ण क्रम को ही बदल देती। किन्तु उसकी सेना केवल खड़ी देखती रही। परिणामत: पानीपत में हमारी हिन्दू सेनाओं का सम्पूर्ण उच्छेद एवं हिन्दू जाति के उत्कृष्ट वीरों का विनाश हुआ। इसका कारण था कि यद्यपि दोनों का लक्ष्य एक ही था अर्थात् शत्रु को खदेड़ कर बाहर करना किन्तु वे कार्य की एक समान पद्धति पर सहमत नहीं हो सके।

समय की मांग

अनुशासन की भावना, जो कि संघ की कल्पना के अनुसार राष्ट्र पुनर्गठन के लिए आवश्यक है, केवल शरीर तक सीमित नहीं है। वह पुलिस अथवा फौज से नितान्त भिन्न प्रकार की है। एक बार एक मित्र ने मुझसे पूछा कि 'आपका संगठन विक्रमादित्य के द्वारा बनाये हुये संगठन जैसा है अथवा शंकराचार्य की पद्धति का?' मैंने उत्तर दिया—'वर्तमान काल में उनमें से किसी के द्वारा भी लाभ नहीं होगा। विक्रमादित्य के सैनिक संगठन ने कुछ काल के लिए शत्रु को निकाल बाहर करने का एक सीमित लक्ष्य सिद्ध किया और एक शती से कुछ अधिक काल तक रहा। किन्तु इस प्रकार की पद्धति न तो हमारे लोगों को सदा के लिए एक कर सकती है और न उनमें चिरकालिक राष्ट्रीय सद्‌गुणों को ही अनुप्राणित कर सकती है। बौद्धिक वादविवाद एवं नैतिक शास्त्रार्थ की दूसरी पद्धति का जहाँ तक सम्बन्ध है, जिसे श्री शंकराचार्य ने ग्रहण किया था, वह भी आज सफल नहीं हो सकती, कारण कि उस काल में संप्राप्त बौद्धिक प्रामाणिकता तथा सच्चरित्रता का आज स्पष्ट अभाव है। मण्डन मिश्र की पत्नी अपने पति और शंकराचार्य के मध्य हुए प्रख्यात शास्त्रार्थ में निर्णायक बन कर बैठ सकी और उसने अपना निर्णय

शंकराचार्य के पक्ष में दिया। शर्त के अनुसार मण्डन मिश्र तथा उनकी पत्नी दोनों ही संन्यास लेकर उनके उत्तम शिष्य बने।

वर्तमान काल में इस प्रकार की अवस्था नहीं है। आज ऐसे लोग अत्यन्त अल्प हैं जो बौद्धिक दृष्टि से इतने उन्नत और प्रामाणिक हों कि जिस बात को ठीक मानें, उसे स्वीकार कर तदनुसार कर्म करें। यह हमारा एक सामान्य अनुभव है कि अधिकतर बड़े-बड़े नेता जो सार्वजनिक रूप से संघ के विचारों का कठोरतापूर्वक विरोध करते हैं, अकेले में उसके प्रति अपनी पूर्ण सहमति प्रकट करते हैं। इसलिए हमने इस अनोखी पद्धति को विकसित किया है जिससे कि हमारे सभी लोग एक स्वप्रेरित, पूर्ण अनुशासित एवं राष्ट्रभक्ति से पूर्ण शक्ति का रूप ग्रहण करें तथा उन्हें इस प्रकार शिक्षित किया जाय कि उनमें अपने विश्वासों के अनुसार कर्म करने का सामर्थ्य उदित हो।

सामान्य भ्रान्तियाँ

हम संघ में जिस अनुशासन का पालन करते हैं उसके वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में बहुत सी भ्रान्तियाँ हैं। वे ही लोग जो दण्ड के भय अथवा धन और पद के लोभ से निर्माण हुए फौज व पुलिस के अनुशासन को सदैव देखते रहने के अभ्यस्त हैं जब संघ के कार्यक्रमों में व्याप्त और कार्यकर्ताओं के व्यवहार में पालन किये गये कठोर अनुशासन को देखते हैं तो वे कहने लगते हैं कि संघ एक अर्ध-सैनिक संगठन, निजी-सेना अथवा ऐसी ही कोई चीज है। यह उनके बहुत बड़े अज्ञान को छिपाने तथा आत्म संयम व स्व-स्वीकृत अनुशासन द्वारा निर्मित संगठन के घटकों के व्यवहार में व्याप्त एकता की भावना, परस्पर सहकार्य, कार्योद्देश्य के लिये सम्पूर्ण समर्पण आदि की भावना को समझने में उनकी असमर्थता है।

इसी अज्ञान के कारण लोग हमसे पूछा करते हैं कि "अणु और मिसाइल के इस युग में लाठी तथा इसी प्रकार के पुराने शस्त्रों की आपकी शिक्षा से क्या लाभ?" वे इस बात को भूल जाते हैं कि अणुबम और मिसाइल जैसे शस्त्रास्त्रों का उपयोग करने की शिक्षा प्राप्त करना तो सेना का कार्य है। किसी भी देश में यहाँ तक कि अमेरिका और रूस में भी सामान्य लोगों के हाथों में इस प्रकार की वस्तुएँ देने की अनुमति नहीं है। उन देशों में भी, जहाँ तक सामान्यजन का सम्बन्ध है, उन्हें प्रारम्भिक शारीरिक व्यायामों और साधारण उपकरणों से ही शिक्षा दी जाती है। लोगों के हृदय में अपने शरीर एवं मस्तिष्क को अनुशासित रखने के संस्कार जगाने के लिए ऐसी शिक्षा आवश्यक है।

कुछ और भी हैं, जिन्हें सम्भवतः हमारे संगठन के नियमित कार्यक्रमों को करना कष्टकर प्रतीत होता है, जो कहते हैं कि वे किसी अनुबन्ध से अपने को आबद्ध नहीं रखना चाहते और इसलिए भाँति-भाँति की बातें करते हुए कहते हैं कि यह तो व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का युग है। इसी प्रकार के एक सज्जन ने संघ पर 'फासिस्ट' होने का आरोप मढ़ा क्योंकि उनके कथनानुसार संघ के सभी लोग काश्मीर से कन्याकुमारी तक चाहे वे प्रौढ़ हों अथवा किशोर, किसी प्रश्न का एक ही प्रकार का उत्तर देते हैं। इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि संघ में विचारों की स्वतन्त्रता नहीं है। मैंने उनसे पूछा—"मैं कहता हूँ दो और दो चार होते हैं, आप क्या कहते हैं ?" उन्होंने उत्तर दिया—"हाँ, चार ही होते हैं।" मैंने कहा—"तो आप बिलकुल जनतान्त्रिक नहीं हैं। आपने तो वही उत्तर दिया है जो मैंने दिया था और इसलिए आप भी फासिस्ट हैं।" किसी प्रश्न के लिए शुद्ध उत्तर तो एक ही हो सकता है, यह साधारण-सा तथ्य उन सज्जन की समझ में नहीं आया।

यह स्वाभाविक ही है कि संघ के स्वयंसेवक के मस्तिष्क में राष्ट्र सम्बन्धी सही दृष्टिकोण होने के कारण समय-समय पर उत्पन्न होने वाली विभिन्न राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति उसकी प्रतिक्रिया स्वयंस्फूर्त रूप से एक ही प्रकार की हुआ करती है, इसे मानसिक सैनिकीकरण (Regimentation) समझने की भूल करना राष्ट्रवाद की भावना को ही सैनिकीकरण का उपकरण कहने के समान होगा। 'विचार स्वातन्त्र्य', 'वाणी स्वातन्त्र्य' आदि के आधुनिक एवं अपच विचार हमारे उन युवकों के मस्तिष्क में एक भयकर उत्पात मचाये हुए हैं जो स्वतन्त्रता को स्वच्छन्दता का अनुज्ञापत्र और आत्मसंयम को मानसिक सैनिकीकरण मानते हैं।

स्वयसेवक एक ध्येय-सेवी व्यक्ति

संघ में परिपोषित अनुशासन सुसंस्कृत लोगों का स्वाभाविक आत्मसंयम होता है। यह एक ऐसा अनुशासन होता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि राष्ट्र के प्रति उसका कर्तव्य महत्तर है तथा उसकी व्यक्तिगत और पारिवारिक आवश्यकताएँ रुकी रह सकती हैं। वह अपने को सुव्यवस्थित अंगांगिभाव से उस उच्चतर आह्वान के अनुरूप आचरण करने के लिए सिद्ध करता है। यह इस प्रकार का अनुशासन है कि जिसमें सब अपनी प्रतिभा, भावना, कायिक शक्तियाँ एवं भौतिक सम्पत्ति को राष्ट्रीय कल्याण के महत्तर लक्ष्य की सेवा में संग्रहीत और संग्रथित करते हैं।

यही है वह स्वतःस्फूर्त, स्वेच्छया आत्मसंयम और स्वार्थत्याग की भावना जो शाखा पर प्रशिक्षित व्यक्ति को अन्यों से अलग प्रकट कर देती है। वह एक 'स्वयंसेवक' कहा जाता है। स्वयंसेवक केवल एक वालंटियर ही नहीं होता, जैसा कि इन दिनों सामान्यतया समझा जाता है, जो किसी सार्वजनिक अवसर पर गणवेश धारण किए हुए इधर से उधर घूमता है और शारीरिक प्रदर्शनों में भाग लेता है। वह कोई निष्क्रिय सत्ता नहीं है जो दूसरों की आज्ञानुसार बिना कुछ पारिश्रमिक लिए शारीरिक कार्य किया करे। स्वयंसेवक एक ध्येयसेवी व्यक्ति है, जिसकी एक राष्ट्रीय दृष्टि होती है, उसे यह अनुभूति तीव्रता से होती है कि उसे एक ऐसे राष्ट्र को संगठित करने की महती योजना को कार्यान्वित करना है जो गत सहस्र वर्षों से अनेक कारणों से छिन्न-विच्छिन्न पड़ा हुआ है। वह इस ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह करने की तैयारी का दृढ़ निश्चय करता है। वह अपने स्वाभाविक आवेगों, संवेगों एवं प्रवृत्तियों में साम्य स्थापित कर उनका निर्देश करना सीखता है, जिससे कि वह राष्ट्रीय पुनर्रचना के कार्य के लिए एक प्रभावी उपकरण बन सके। राष्ट्र की सेवा करते समय वह अपने मस्तिष्क से अपने लिए लाभ, सम्पत्ति, सत्ता, नाम और यश प्राप्त करने के सभी विचारों को मिटा देता है।

पारिवारिक भाव

यह पारिवारिक भाव संघ-पद्धति के सभी विविध पहलुओं में व्यक्त होता है। जो स्वयंसेवक संघ के विभिन्न शिक्षण-शिविरों और सम्मेलनों में भाग लेते हैं वे कितने ही निर्धन क्यों न हों, सभी व्यय अपने ही पास से करते हैं। वे शिविर-शुल्क देते हैं, अपना गणवेश मोल लेते हैं, अपने आने-जाने का किराया देते हैं और यह प्रत्येक कार्य वे स्वावलम्बन एवं स्वार्थत्याग की भावना से स्फूर्त होकर करते हैं।

गुरुदक्षिणा की प्राचीन परम्परा भी जिसका संघ अनुसरण करता है, इसी भावना से युक्त है। वर्ष में एक बार गुरु पूर्णिमा के शुभ पर्व पर प्रत्येक स्वयंसेवक पवित्र गुरु भगवाध्वज का पूजन करता है और अपनी दक्षिणा समर्पित करता है। धन-संग्रह की प्रथा अथवा मासिक और वार्षिक चन्दे के लिए संघ में कोई स्थान नहीं है। दक्षिणा-अर्पण पूजन के भाव से किया जाता है। स्वयंसेवक अपने नाम व दक्षिणा को जनता में प्रकाशित भी नहीं करना चाहता। स्वयंसेवक वास्तव में इसे त्याग नहीं समझता, वरन् इसे एक ऐसा स्वाभाविक कर्तव्य मानता है, जिसके प्रतिदान में किसी चीज की—नाम

अथवा ख्याति की भी-आशा करने का उसका अधिकार नहीं है। उन्हें तुकाराम के इस वचन की भावना के अनुसार प्रशिक्षित किया जाता है—

आता उरलो उपकारा पुरता

(अब मेरा अस्तित्व केवल दूसरों की सेवा के लिए है।) एक उत्स्फूर्त कवि के शब्द—

तेरा वैभव अमर रहे मां हम दिन चार रहें न रहें

—सदैव स्वयंसेवक की आत्मा को उत्साहित करते रहते हैं।

किन्तु दुर्भाग्य से आज अपने देश का सामान्य वातावरण एक आश्चर्यजनक विपरीतता उपस्थित कर रहा है। अपने त्याग की हुण्डियाँ भुनाने का तथा अपनी सेवाओं के प्रतिदान स्वरूप कुछ माँगने की भावना का सभी जगह जोर है। ईश्वर की पूजा में भी नाम और यश की लालसा दिखाई देती है। हम मन्दिरों में दानदाताओं के नामांकित पत्थरों और पट्टियों को देखते हैं। एक बार मेरी यात्रा में एक स्वामी जी मेरे साथ थे, उनके पात्र पर मैंने नाम खुदा हुआ देखा। नाम न तो उनका था और न उस आश्रम का ही था जहाँ के वह थे। जब मैंने इसका कारण पूछा तो स्वामी जी ने कहा कि यह उस व्यक्ति का नाम है, जिसने बहुत बड़ी संख्या में इस प्रकार के पात्र आश्रम को भेंट किए थे। क्या हम इसको दान कह सकते हैं? कुछ प्रतिदान—नाम भी प्राप्त करने के उद्देश्य से किया हुआ कोई दान, दान नहीं वरन् सौदा होता है। संघ में इस प्रकार का लाभपरायण भाव कभी विकसित नहीं होने दिया जाता। हम वास्तविक भक्ति से की गई दक्षिणा को वैसे ही उदात्ततम एवं उच्चतम मानते हैं, जैसा कि ईसा ने असीम सम्पत्तिवान व्यक्तियों द्वारा मन्दिर को दान दिए गए कोषों की अपेक्षा निर्धन वृद्धा के छोटे से सिक्के को उदारतर दान माना था।

सफलता की आधारशिला

विभिन्न पद्धतियाँ एवं परिपाटियाँ जो संघ में विकसित हुई हैं वे सभी इसी आत्मसमर्पण की भावना से स्फूर्त हैं तथा एक घंटे की शाखा उस भावना का उद्गम स्रोत है।

एक बार एक प्रौढ़ महिला अपनी गृहस्थी के विविध कार्यों को अपने बायें हाथ से ही कर रही थी। मैंने उससे इसका कारण पूछा। उसने कहा कि वह अपने दाहिने हाथ को एक वर्ष के लिए परमात्मा को दे चुकी है इसलिए उसका उपयोग उसी की पूजा में होगा। यद्यपि यह एक साधारण सी प्रतिज्ञा है किन्तु इसके द्वारा दिन के विविध विभ्रान्तकर क्रियाकलापों के बीच कितनी

सुन्दरता से ईश्वर-भक्ति की भावना प्रतीकात्मक रूप से निरूपित हुई है। वस्तुत: शाखा की मनुष्य निर्माण की प्रक्रिया के पीछे, जिसके अन्तर्गत 'एक घंटा समर्पण' आवश्यक होता है, यही भाव है। इसके द्वारा उसमें भाग लेने वाले मनुष्य संस्कारित होकर जीवनपर्यन्त समर्पित भाव से उद्यम के लिये तैयार होते हैं।

लोग प्राय: इस बात पर आश्चर्य करते हैं कि क्या यह एक घंटे का छोटा सा कार्यक्रम समाज में एक ऐसा अति श्रेष्ठ एवं सशक्त परिवर्तन लाने में समर्थ होगा जिसकी कि संघ ने कल्पना की है ? यह एक अचूक अनुभव की बात है कि लोग जीवन्त उदाहरणों का अनुसरण किया करते हैं, शुष्क आदर्शों का नहीं। और यह एक घंटे का प्रशिक्षण राष्ट्रीय चारित्र्य की ऐसी जीवन्त प्रतिमाओं को आकार देता है कि जिनमें से एक अबाध शक्ति विकीर्ण होती है जो कि लोगों को उनके मार्ग पर खींच लाती है।

श्री रामकृष्ण के जीवन की एक बोधकारी घटना का उदाहरण लीजिये। एक बार एक महिला अपने बच्चे को उनके पास लाई और उनसे प्रार्थना की कि इसे मिठाई खाने की आदत पड़ गई है जिससे कि इसका स्वास्थ्य बिगड़ रहा है, अत: आप ऐसा कुछ उपाय कर दें कि यह मिठाई खाना छोड़ दे। श्री रामकृष्ण ने उससे एक सप्ताह के बाद आने को कहा। वह आई किन्तु उन्होंने पुन: कुछ दिनों के पश्चात् आने को कहा। जब वह फिर आई तो श्री रामकृष्ण ने बच्चे को अपने निकट बुलाया और उससे कहा कि "प्यारे बच्चे, अधिक मिठाई खाना अच्छा नहीं, इसे छोड़ दो।" बच्चे ने तुरन्त उसे छोड़ने का वचन दिया। उस दिन से बच्चे ने मिठाई का परित्याग कर दिया। एक शिष्य ने जो इस बात को ध्यानपूर्वक देख रहा था, श्री रामकृष्ण से पूछा—"महाराज ! आपने उस बच्चे से मिठाई न खाने के लिए पहले ही दिन क्यों नहीं कह दिया ! उस महिला को इतनी दूर से तीन बार बुलाने की क्या आवश्यकता थी ?" श्री रामकृष्ण ने उत्तर दिया कि "मुझमें भी मिठाई अधिक खाने की दुर्बलता है, फिर मैं किस प्रकार उस बच्चे को उस दुर्बलता के त्यागने के लिए कह सकता था ? यदि मैं उसे उपदेश भी देता तो मेरे शब्दों का उस बच्चे पर कोई प्रभाव नहीं होता। इसलिए मैंने उस महिला को पुन: आने के लिए कहा। किन्तु उस कालावधि में मैं इस बात पर ध्यान नहीं दे पाया, अत: मुझे उसे एक बार पुन: बुलाना पड़ा। पश्चात् मैंने मिठाई की अनुरक्ति पूर्ण रूप से त्याग दी और बच्चे को उपदेश देने की योग्यता अपने में अनुभव करने लगा।"

मानवीय अनुभव का एक और भी तथ्य है कि शक्ति की सभी ओजस्वी अभिव्यक्तियाँ एवं प्रयास अपरिहार्यतः अनेक छोटे-छोटे प्रयासों से मिलकर बनते हैं।

हमारे एक मित्र ने तीर्थयात्रा से लौटने पर अपना एक अनुभव बताया था। वह एक मुसलमान पीर की दरगाह पर भी गये थे। मौलवी वहाँ जाने वालों से एक निकट पड़े हुए बड़े पत्थर को उठाने के लिए कहता था। जब वे प्रयत्न करके असफल हो जाते थे, तो वह सबको एक साथ अपने हाथ उस पत्थर में लगाने को कहता था और 'पीर साहब की फतेह' की ध्वनि के साथ उसे उठाने की आज्ञा देता था। पत्थर उठ जाता था। यह उस पीर का चमत्कार माना जाता था। उस चमत्कार को सुनने के बाद मैंने कुछ स्वयंसेवकों को बुलाया और उनसे एक उससे भी बड़े पत्थर में एक-एक उँगली लगाने के लिए कहा, और 'जय' की ध्वनि के साथ उसे उठाने को कहा। कितना आश्चर्य कि वह पत्थर उस पीर के पत्थर से भी अधिक ऊँचाई तक उठ गया। और पीर साहब की चमत्कारिक शक्ति का भेद खुल गया। उस शक्ति का रहस्य यही है कि छोटे-छोटे प्रयासों के टुकड़े एक समन्वित रूप में प्रयुक्त हो गये और तब 'जय' की ध्वनि भी उसके लिये एक सहायता बन गई। इस प्रकार लाखों मनुष्य समर्पण एवं अनुशासित कर्म की भावना से एक-एक घंटा प्रतिदिन देते हुए कठिनतम कार्यों को पूर्ण कर सकते हैं तथा हमारे राष्ट्र-जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन ला सकते हैं।

सम्पूर्ण ऐक्य के लिए बीज-केन्द्र

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या करोड़ों व्यक्तियों को संघ-स्थान पर लाकर खड़ा करना और उनसे शाखा के प्रतिदिन के कार्यक्रमों को कराना सम्भव है? और संघ तो केवल पुरुषों तक ही सीमित है, आधा समाज अर्थात् स्त्रियाँ दैनिक शाखा पर नहीं आ सकतीं। फिर वृद्ध और बच्चों का भी एक बहुत बड़ा वर्ग निकल जाता है तथा ऐसे भी बहुत से लोग हैं जो भाँति-भाँति के अपरिहार्य कारणों से शाखा की शिक्षा के नियमित कार्यक्रमों में भाग नहीं ले पाते। तो हम व्यक्ति-निर्माण की इस दैनिक प्रक्रिया के द्वारा सम्पूर्ण समाज को पुनः संगठित करने में कैसे सफल होंगे?

एक घंटे की शाखा से अलग, कार्य के इस प्रमुख अंग को भी पूरा करने के लिए स्वयंसेवक अपने समाज-बन्धुओं से मिलते हैं, उनके सुख-दुःख में हिस्सा बंटाते हैं और अपने निर्मल चरित्र, सर्वव्यापी प्रेम की भावना एवं अनुशासित

और समर्पित सेवा के द्वारा उनके हृदयों में विश्वास जागृत करते हैं। इस प्रकार स्वयंसेवकों, उनसे सहानुभूति रखने वालों तथा मित्रों के घरों में सभी आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष संघ-भावना से आपूर्ण हो जाते हैं। शाखा उस क्षेत्र के लोगों के सामूहिक प्रेम एवं इच्छा-शक्ति की प्रतीक और अग्रणी हो जाती है। इस प्रकार सतत एवं शान्तिपूर्वक ये प्रतिदिन के और शेष दिन भर के हृदय से हृदय के सम्पर्क, समाज के सभी वर्गों को आवेष्टित कर लेते हैं। वे लोग भी जो शाखा के प्रशिक्षण में प्रतिदिन भाग नहीं ले पाते, राष्ट्र के लक्ष्य के प्रति पारस्परिक प्रेम और श्रद्धा के अटूट बन्धन में बँध जाते हैं।

गंगा का समुद्र में विलीन होना

इस प्रकार असीम धैर्य एवं सतत उद्योग के साथ स्वयंसेवक छोटे-छोटे ग्रामों और नगरों में पहुँचते हैं, और प्रत्येक हृदय को स्पर्श करते हैं। सभी स्थानों पर राष्ट्रीय एकता का वही पवित्र वातावरण वे अपने साथ ले जाते हैं। भाषा, प्रान्त, भोजन और वस्त्र के भासमान भेद से उत्पन्न विघटन उनकी प्रभावी उपस्थिति के सामने लुप्त हो जाते हैं। ग्रामों में और सुदूर वनों के निवासियों में भी वे उसी भाषा में बात करते हैं, जिसे वे लोग समझते हैं। वे राम और सीता की कहानियाँ तथा हमारे महान् सन्तों एवं वीरों के आख्यान सुनाते हैं। सम्पूर्ण देश में फैले हुए पवित्र स्थानों का वर्णन करके उनके मस्तिष्कों में अपनी मातृभूमि की पवित्र प्रतिमा को अंकित करते हैं धार्मिक और सामाजिक उत्सवों के द्वारा एक व्यापक राष्ट्रीय भ्रातृत्व भावना का उन्हें बोध कराते हैं और इस प्रकार उन्हें राष्ट्रीय शक्ति के एक अक्षय प्रवाह के रूप में परिणत कर देते हैं।

स्वयंसेवक, मण्डल, जिला, प्रान्त और अखिल भारतीय स्तरों पर भी मिला करते हैं। शिक्षण-शिविर चलाये जाते हैं, जो राष्ट्रीय एकता की व्यावहारिक प्रक्रिया है। इस कल्पना से स्फूर्त एवं संघ-कार्य की पद्धति में प्रशिक्षित स्वयंसेवक इस राष्ट्रधर्म की ज्योति को देश के कोने-कोने में ले जाते हैं। इस प्रकार के जीवनों को देखकर सामान्य लोग भी राष्ट्र के हित में त्याग करने और कष्ट सहने के लिए प्रेरणा प्राप्त करते हैं। वैभवशाली और निर्धन सभी लोग स्वेच्छा से उनके पदचिह्नों पर चलने के लिए खिंचे चले आते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय पुनर्गठन के लिए सम्पूर्ण समाज की अन्तर्निहित शक्तियाँ उन्मुक्त हो जाती हैं और पुनरुत्थानशील तथा पुनर्गठित राष्ट्रीय जीवन का स्वप्न सजीव हो उठता है।

इस स्थिति का निर्माण होने पर राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्र स्वयंसेवकों द्वारा स्थापित परम्परा चलाने के स्वचालित केन्द्र बन जायेंगे। पीढ़ी के बाद पीढ़ी को ढालने के लिए संस्कार देने की यह प्रक्रिया बराबर चलती रहेगी और इस प्रकार राष्ट्रीय पुनः संगठन तथा पुनरुत्थान के लिए अविरल जीवन-स्रोत का काम देगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे राष्ट्रजीवन में संघ ने जिस प्रक्रिया को चालू किया है वह अनन्त और सर्वग्राही है। संगठित राष्ट्र-जीवन की स्वाभाविक दशा का स्वप्न साकार होने पर उसकी सभी संस्थायें और परम्परायें बुद्धिमत्ता एवं तत्परता के साथ राष्ट्रीय संस्कारों के जीवन्त बीजों का सिंचन करेंगी। उस समय संघ का अलग संस्थागत नाम और स्वरूप बनाये रखने की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। तब संघ राष्ट्र में उसी प्रकार लीन हो जायगा जिस प्रकार गंगा समुद्र में लीन हो जाती है और आने वाले काल में वह प्रेरणादायी राष्ट्रीय भावना के रूप में जीवित रहेगा।

* * *

२६

सफल कार्य-पद्धति

३. कार्यप्रणाली की अमोघता

प्रतिष्ठापित तथ्य

विगत चालीस वर्षों का संघ-वृद्धि का इतिहास और इस अवधि में हुए संघ-कार्य के हितकारी परिणाम इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि संघ के महान् संस्थापक की दृष्टि अत्यन्त व्यावहारिक थी। जिस कार्य-प्रणाली का विकास उन्होंने किया उसने अपनी श्रेष्ठता पूर्णतया सिद्ध कर दी है। यह तथ्य अब भलीभाँति प्रतिष्ठापित हो चुका है और संघ से असंबंधित लोग भी इसे स्वीकार करते हैं कि संघ की कार्यप्रणाली एक सफल कार्यप्रणाली है।

पावन धूलि

एक बार पंजाब में एक बड़े सैनिक अधिकारी मुझसे मिले। उन्होंने प्रश्न किया, ''संघ में कौन-सी विशेष शिक्षा मिलती है ?'' मैंने उत्तर दिया, ''केवल खेलने और गीत गाने की।'' उन्होंने पुनः पूछा, ''यह कैसे हो सकता है ? आप लोग इसके अतिरिक्त भी कुछ अवश्य उन्हें सिखाते होंगे ! मैं व्यक्तिगत रीति से भारत-विभाजन के विकट दिनों की पंजाब की अनेक घटनाएँ जानता हूँ जब कि संघ के अनेक स्वयंसेवकों ने वीरता और बलिदान में हमारे प्रशिक्षित सैनिकों को मात कर दिया। मुझे यह भी विदित है कि उनमें से अनेकों ने लोगों की रक्षा में हँसते-हँसते अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी। इसी से मुझे यह जानने की उत्सुकता है कि वह कौन-सी विशेष शिक्षा है जिसके कारण आपके संघ के लोग ऐसे सूरमा बन जाते हैं।'' मैंने उन्हें अपनी संघ-शाखा के सहज

सरल कार्यक्रम की रूपरेखा समझायी और कहा कि हमारी समस्त शिक्षा 'कबड्डी'–इस एक शब्द से व्यक्त होती है। मेरी इस बात को सुनकर वे अत्यन्त अविश्वास-युक्त दृष्टि से मेरा मुंह जोहने लगे।

वास्तव में अपने संघ-स्थान की पावन धूलि में ही वह शक्ति निहित है, जहाँ महिमामयी मातृभूमि के पुत्र प्रचुर संख्या में एकत्रित हो खेलते, अपनी देवीस्वरूपा मातृभूमि भारतमाता का यशोगान करते और उसकी गौरव-वृद्धि के लिए प्रार्थना करते हैं। यह वही भाव है जिसके कारण वेलिंगटन के ड्यूक के मुख से यह प्रसिद्ध उद्‌गार निकला था कि, "वाटरलू का युद्ध एटन और हैरो के मैदानों में जीता गया था।"

अनुपम कार्यशैली

आजकल विशेष रीति से जब विघटनकारी शक्तियाँ हमारे राष्ट्र को छिन्न-विच्छिन्न करने को उद्यत हैं, एकमात्र संघ की शाखा द्वारा ही सम्पूर्ण समाज को एकत्र आने और अक्षुण्ण राष्ट्रीय एकता के संजीवन स्रोत का रस पान करने का उच्च स्वर से आह्वान मिलता है। संघ के प्रारंभिक दिनों की, जब संघ के पूजनीय जन्मदाता जीवित थे, एक घटना है, जिससे संघ की कार्यपद्धति की सक्षमता का अनुमान लग सकता है। सन् १९३४ ई० में वर्धा में संघ-शिविर लगा; जिसमें एक सहस्र से अधिक स्वयंसेवक बैरकों और तम्बुओं में आवास कर रहे थे। निकट ही गाँधी जी का आश्रम था। शिविर में इन नवयुवकों की चहल-पहल देखकर उन्होंने शिविर का अवलोकन करने की इच्छा प्रकट की। तदनुसार वर्धा के संघचालक जी, जो पहले प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के मंत्री भी रह चुके थे, गाँधी जी को आदरपूर्वक शिविर में लाये। गाँधी जी ने शिविर में आकर वहाँ की आवास एवं भोजनादिक संबंधी सम्पूर्ण व्यवस्था का अवलोकन किया और पूछा "इन (शिविर में भाग लेने वालों) में हरिजन कितने हैं ?" संघचालक जी ने कहा, "मुझे इसकी जानकारी नहीं, कारण मैंने इस संबंध में कभी पूछताछ नहीं की।" इस पर गाँधी जी ने कहा "तो कृपाकर अब पूछकर मुझे बतायें।" संघचालक जी बोले, "यह मुझसे न होगा। हम संघ के लोगों के लिए तो ये सब हिन्दू हैं यही पर्याप्त है।" गाँधी जी ने कहा, "तो फिर मैं स्वयं पूछ लूँ ?" संघचालक जी ने उत्तर दिया, "जैसी आपकी इच्छा।" सभी स्वयंसेवकों से प्रत्यक्ष एवं अत्यन्त आग्रहपूर्वक बार-बार पूछने पर गाँधी जी को विदित हुआ कि शिविर में हरिजनों सहित सभी जातियों के लोग थे और एक दूसरे की जाति के

सम्बन्ध में बिना किसी प्रकार का विचार किये वे संघ-शिविर के सभी कार्यक्रमों में—खाने-पीने से लेकर खेलने-कूदने तक—आनन्द और समरसतापूर्वक साथ-साथ भाग ले रहे थे। यह देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। इसके पश्चात् डॉक्टर जी ने महात्मा जी से भेंट की और संघ की कार्य-प्रणाली को स्पष्ट करते हुए उन्हें बताया कि संघ जो सम्पूर्ण देश में एकता और संगठन की स्थापना करने में सफल हो रहा है उसका रहस्य यह है कि हम समाज में अन्तर्निहित एकता के तत्त्वों को विशेष महत्व देते हैं और विभेदों की उपेक्षा करते हैं।

सभी दृष्टियों से सफल

ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब स्वयंसेवकों के अनुशासन एवं समर्पण-भाव की परीक्षा हुई है और शाखा की व्यक्ति-निर्माण की प्रक्रिया कसौटी पर कसी गयी है। और ऐसी प्रत्येक परीक्षा की आँच में तपकर स्वयंसेवकत्व रूपी कुंदन और अधिक निखरा और चमका है। सन् १९४८ ई० में जब सरकार ने न्याय के सभी सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर संघ पर प्रतिबन्ध लगा दिया तो संघ को राष्ट्र-जीवन में न्याय और सत्य के पक्ष का मंडन करने के हेतु देशव्यापी आन्दोलन करना पड़ा। सरकार के समस्त प्रयत्नों के बावजूद इस आन्दोलन को दबाया नहीं जा सका। इस आन्दोलन की पूर्ण सफलता से यह प्रमाणित हो गया कि संघ की कार्यप्रणाली में राष्ट्र-हितार्थ असीम बलिदान, शौर्य तथा अनुशासन के संस्कार करने की अद्वितीय शक्ति है।

अपने चारों ओर हम जो अन्य कार्य-पद्धतियाँ देखते हैं, निश्चय ही वे शोर मचाने में विश्वास करती हैं; किन्तु उस शोर के पीछे, उसके अन्दर क्या है यह विचारणीय प्रश्न है। निस्सन्देह ढोल बहुत जोर का शब्द करता है, लेकिन अन्दर उसमें पोल ही पोल होती है। इसी से दूसरे लोगों के द्वारा जोर जोर से ढोल पीटने तथा डिमडिम बजाने से संघ का स्वयंसेवक रंचमात्र भी प्रभावित नहीं होता। संघ के पास ऐसी कार्यपद्धति है जिसने पुनरुत्थानशील एवं पुनः संगठित राष्ट्रजीवन के स्वप्न को साकार करने में अपनी उपादेयता सब दृष्टियों से प्रमाणित कर दी है।

आदर्शानुकूल प्रणाली

हम सब यह जानते हैं कि सभी महान् व्यक्ति प्रसिद्ध नहीं होते और सभी प्रसिद्ध व्यक्ति महान् नहीं होते। ऐसे ही एक महान् किन्तु अप्रसिद्ध, विशेष

व्यक्तित्व-सम्पन्न पुरुष के जीवन का एक दृष्टान्त है। एक बार किसी यूरोपियन ने उनसे कहा, "आप हिन्दू लोगों की कैसी अजीब पोशाक है। आप लोग धोती पहनते हैं। जरा लड़ाई करनी पड़े तो आप लोग उसमें उलझ कर गिरे बिना न रहें।" उन महापुरुष ने तत्क्षण उत्तर दिया, "आपसे यह किसने कहा कि हम सदा युद्ध के लिए समुद्यत रहते हैं? हम हिन्दू लोग सुसंस्कृत मनुष्य हैं और हम विश्व-शांति का विचार करते हैं। ओम् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः—यह हमारा आदर्श वाक्य है। तदनुरूप ही हमारा आचार और वेशभूषा है। आप यूरोपीय जनों का चित्त सदा विक्षुब्ध रहता है और आप लोग सदा कट्टर शत्रु के रूप में एक दूसरे का गला काटने को तैयार रहते हैं। इसलिए आप ऐसी वेशभूषा धारण करते हैं मानों सदैव ही रणक्षेत्र में हों। हम निर्भय तथा शान्तिप्रिय हैं और तदनुकूल वेशभूषा धारण करते हैं। हम युद्ध का बाना तभी धारण करते हैं जब हमें कोई उसके लिए ललकारता है।" कितना उचित उत्तर था यह।

हमारी कार्य-विधि भी इसी प्रकार हमारे द्वारा अंगीकृत विशिष्ट लक्ष्य के नितान्त अनुकूल है। बहुधा हमारी शाखा का अत्यन्त साधारण और सज्जा-शून्य खुरदरा स्वरूप अनेक अत्यन्त बुद्धि-सम्पन्न व्यक्तियों को भी चकरा देता है और उनके मन में शंका उठने लगती है कि क्या शाखा कार्यक्रम द्वारा ऐसे उदात्त लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है? किन्तु मान लो कि कोई माली बाग में आम के फलों का उत्पादन करना चाहता है। क्या वह अधिक सुस्वादु फलों की प्राप्ति के हेतु आम के बीज को शहद से भरे और इत्र से सुवासित गमले में बोयेगा? इसके विपरीत, क्या वह आम के बीज को खाद से युक्त मिट्टी में नहीं बोयेगा? यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है कि बहिरंग का खुरदरापन, शक्ति और चारित्र्य के संस्कार डालने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

वयस्कों का दायित्व

अपनी शाखा के दैनन्दिन कार्यक्रमों के बाह्य रूप को देखने से अपने समाज में—विशेषतया वयस्क प्रौढ़ वर्ग में यह भ्रान्त धारणा निर्मित हुई है कि हमारे नित्य के खेलकूद, व्यायाम, गीत एवं प्रार्थना इत्यादि के कार्यक्रम केवल बालों और तरुणों के लिए हैं तथा प्रौढ़ों का काम केवल सहानुभूति-प्रदर्शन करने एवं अल्पवयस्कों को आशीर्वाद, प्रोत्साहन तथा सहायता देने का ही है। यह तो अपने संगठन की मूल भावना को ही न समझने जैसा होगा। जब हम कहते हैं कि हमारा कार्य समाज के संगठन का है तो हमारा तात्पर्य समाज की वर्तमान पीढ़ी से ही होता है। और वर्तमान समाज की

पीढ़ी से हमारा तात्पर्य समाज के प्रौढ़वर्ग—गृहस्थजनों से होता है। बालकों को 'वर्तमान समाज' कोई नहीं कहता। यदि कुछ नंग-धड़ंग बच्चे नगर की किसी सड़क पर खेल रहे हों तो उन्हें देखकर क्या कोई यह कहेगा कि अमुक नगर के नागरिक सड़क पर नंग-धड़ंग होकर खेलते रहते हैं? अन्ततोगत्वा, बालक कल का समाज, भावी पीढ़ी मात्र है। अतः समाज के संगठन का कार्य पूर्णतया वर्तमान पीढ़ी अर्थात् प्रौढ़ वर्ग पर ही आ पड़ता है और उन्हीं को राष्ट्र के पुनः संगठन के इस महान् व्रत की पूर्ति के लिए आगे बढ़कर काम करना होगा।

जब यह बात प्रौढ़ों के सम्मुख रखी जाती है तो वह दो कारणों से अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं। पहला कारण वे समयाभाव बताते हैं। किन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि क्षमतावान् व्यस्त व्यक्ति ही सार्वजनिक क्षेत्र में अतिरिक्त कार्य करने के लिए समय निकाल सकता है। एक बार वह इसको अपना परमावश्यक कर्तव्य समझने लगे, फिर तो वह स्वयं ही अपने शेष कार्यों का समायोजन इनके साथ कर लेगा और इस कार्य के लिए कुछ समय निकाल लेगा। आलसी और निकम्मा मनुष्य ही समय की कमी की दुहाई देता है। इस बात में यद्यपि विरोधाभास जान पड़ता है, किन्तु यथार्थता यही है।

दूसरा कारण यह है कि वे यह सोचते हैं कि इतने सम्भ्रान्त और वयस्क व्यक्ति होकर उन्हें हाफ-पैंट पहनकर निरे बालकों के समान इधर-उधर घूमना और शारीरिक कार्यक्रमों में भाग लेना शोभा नहीं देता। यह उन्हें अपनी मान-मर्यादा के प्रतिकूल जान पड़ता है। किन्तु क्या यह मनोवृत्ति उचित है? यदि सचमुच ही समाज में हमारी मान-प्रतिष्ठा है तो वह हमारे आन्तरिक गुणों एवं योग्यताओं के कारण है अथवा वस्त्र-भूषा के कारण? यदि हम यह सोचते हों कि प्रतिष्ठा का कारण वस्त्र-सज्जा है, तब तो इसका समस्त श्रेय दर्जी या धोबी को मिलना चाहिए। साथ ही, यदि हममें आन्तरिक गुणों या श्रेष्ठता का लेश भी नहीं है, तो बाह्य सज्जा इस अभाव की पूर्ति में क्वचित् ही सहायक हो सकती है!

इस संबंध में हमें एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर चलना चाहिए। भगवद्गीता में कहा गया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।

(श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, अन्य व्यक्ति भी वैसा ही करते हैं।)

जब वास्तविक श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा से युक्त समाज के प्रौढ़वर्ग के लोग किसी श्रेष्ठ आदर्श के अनुरूप आचरण करते हैं, तो वह समाज के लोगों के

लिए भी सम्मान्य और स्वीकार्य हो जाता है। वस्तुतः इस प्रकार स्वयं उन व्यक्तियों की भी गौरव-वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ, जब महात्मा गाँधी और पण्डित मदनमोहन मालवीय जी गोलमेज परिषद् में सम्मिलित होने के लिए इंग्लैंड गये थे तो स्वदेशी वेशभूषा में ही गये थे। इससे उनकी प्रतिष्ठा को कोई आँच नहीं आयी, उल्टे उनके प्रति लोगों का सम्मान और बढ़ गया।

आज वयस्क पीढ़ी के कंधों पर विशेष उत्तरदायित्व आ पड़ा है कि विघटन और भ्रष्टता के विषैले कीटाणुओं से भरे हुए वर्तमान विषाक्त वायुमण्डल से अपनी खिलती हुई नयी युवा पीढ़ी को बचावें, उसकी रक्षा करें ताकि राष्ट्र को उसके स्वाभाविक गौरव और महानता के उच्चतम शिखर तक पहुँचाने में समर्थ उदात्त और पौरुषयुक्त मनुष्यत्व के रूप में वह फले-फूले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें राष्ट्र-संघटन के लक्ष्य को, जिसे करने में संघ अनेक वर्षों से सफलतापूर्वक जुटा हुआ है, अपने दैनिक जीवन में जीवन्त उपकरण के रूप में स्वयं के उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करना होगा।

शुभ लक्षण

एक बार स्वामी विवेकानन्द की मनोनीत शिष्या भगिनी निवेदिता ने कहा था, ''यदि सभी हिन्दू मिलकर प्रतिदिन प्रातः-सायं केवल १० मिनट सामूहिक प्रार्थना किया करें तो केवल इतना करने से हिन्दू समाज अपराजेय बन जायगा।'' राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दैनंदिन शाखा के द्वारा उस समर्पित महान् आत्मा के उत्कटभावपूर्ण स्वप्न के साकार होने के पूर्वलक्षण प्रकट होने लगे हैं।

अपने पुनीत राष्ट्र के चरणों में समर्पित एवं अनुशासित, राष्ट्रव्यापी, सूत्रबद्ध, भ्रातृभाव के पुनर्निर्माण के सतत, मौन, अथक तथा नित्य चलने वाले कार्य अर्थात् शाखा के परम आह्वान को हम सब सुनें और तदर्थ उठकर खड़े हों यही आज की आवश्यकता है।

* * *

२० वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय चारित्र्य

हमारी धारणा

हमारी राष्ट्रीय परम्परा में चरित्र का सदैव सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। चरित्र के दो पहलू होते हैं। एक वैयक्तिक है, और दूसरा वह जो हमारे और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों के रूप में प्रकट होता है। चरित्र के ये दोनों पहलू निर्दोष एवं पवित्र होना चाहिये। किन्तु इन दिनों प्राय: यह सुना जाता है कि यदि व्यक्ति सामाजिक क्षेत्र में भली प्रकार कार्य करता है, तो उसके व्यक्तिगत व्यवहार की ओर देखने की क्या आवश्यकता है ? सम्भव है, वह अनेक बुराइयों में लिप्त हो किन्तु चूँकि वह जनहित के कार्य में लगा हुआ है, उसके व्यक्तिगत जीवन में क्यों झांका जाय ?

जो भी हो, हमारी संस्कृति ने वैयक्तिक चारित्र्य की पवित्रता को श्रेष्ठ स्थान दिया है। हमने ऐसे व्यक्ति को जो स्वार्थी हो, अथवा जिसमें शराब, स्त्री और धन-लिप्सा जैसे अनेक दुर्गुण हों, कभी भी महात्मा नहीं कहा। हमारे लिये महात्मा, अन्य सब बातों से बढ़कर पवित्र और आत्मसंयमी चरित्र वाला व्यक्ति है। अत्यन्त प्राचीन युग-द्रष्टाओं से लेकर आज तक के महान् व्यक्तियों तक सभी का जीवन पूर्ण रूप से पवित्र है; जिनको हम अपनी संस्कृति और दर्शन के आदर्श के रूप मानते हैं—उनके विचार, वाणी और कार्य का सभी उच्च सत्यों के साथ स्वरैक्य था। केवल ऐसे ही व्यक्ति हमारी राष्ट्रीय परम्परा के तेजस्वी प्रतीक रहे हैं। किन्तु सार्वजनिक क्षेत्र में आजकल कार्य करने वाले व्यक्तियों ने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। आजकल यह एक सामान्य धारणा है कि यदि कोई व्यक्ति दान देने में उदार है, अच्छे

भाषण देता है या सार्वजनिक कार्य के लिये अनेक बार कारागृह गया है तो उसका व्यक्तिगत आचार कितना ही घृणास्पद क्यों न हो, क्षम्य समझा जा सकता है।

साधनों की पवित्रता

किन्तु हमारी संस्कृति कहती है कि 'ध्येय'---सामाजिक हित---को प्राप्त करने के 'साधन'–व्यक्ति–भी शुद्ध एवं पवित्र होने चाहिये। अनेक बार हम यह कहते हुए सुनते हैं कि साध्य ही साधन के औचित्य का निर्णय करता है। अधिकांश आधुनिक विचार और विचार-धारायें जो कि आज के मनुष्य की कल्पनाओं पर छा गयी हैं, इसी वर्ग में आती हैं। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को–जो कि किसी सामाजिक परिवर्तन लाने का साधन है–पृष्ठभूमि में ही डाल दिया गया है। यही कारण है कि सम्पूर्ण संसार में भयंकर गति से मनुष्य का पतन हो रहा है, क्योंकि लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयत्नों में जो प्राय: राजनीतिज्ञों द्वारा निर्धारित किये गये हैं, मनुष्य-तत्व के विचार को तिलाञ्जलि दी जाती है। किन्तु हमारी संस्कृति का आदेश भिन्न है। हम राम और शिवाजी को जितनी उनकी उज्ज्वल राष्ट्रीय उपलब्धियों के लिये श्रद्धा अर्पित करते हैं उतनी ही उनके पवित्र एवं निष्कलंक वैयक्तिक चारित्र्य के लिये भी। यह दृष्टिकोण कि यदि व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र में ठीक कार्य करे तो उसके व्यक्तिगत चरित्र की किसी साधारण सी कमजोरी को उपेक्षित किया जा सकता है, अथवा उसे उचित भी माना जा सकता है, हमारी मूलभूत मान्यताओं के विपरीत है।

फिर भी यह सत्य है कि जब दो बुराइयों में से किसी एक को चुनना अपरिहार्य हुआ, हमनें व्यक्तिगत जीवन की कुछ कमजोरियों को यदि वे सामाजिक हित में बाधक नहीं बनतीं तो सहन किया है---पर उनको उचित नहीं ठहराया है।

अन्ततोगत्वा बुरे साधनों से अच्छे परिणाम नहीं मिलते। कुछ थोड़े समय के लिये बुरे साधन अच्छे परिणाम देते हुए दिख सकते हैं किन्तु वे केवल अल्पकालिक होते हैं। यह लगभग उसी प्रकार है जैसे कि बर्फ के तूफान में फँसने पर आग के बीच बैठकर अपने को गरमाने का प्रयत्न करना। उस उष्णता के परिणामस्वरूप शीघ्र ही हम राख बन जायेंगे। आज हमारे देश में विभिन्न व्यक्तियों और दलों के द्वारा चुनाव किस प्रकार लड़े जाते हैं---इससे हम सब भलीभाँति अवगत हैं।

सन् १९३७ के निर्वाचनों की एक घटना है। मैंने एक कांग्रेसी उम्मीदवार

से पूछा कि उसने निम्न हथकण्डों को क्यों अपनाया है ? उसने उत्तर दिया "देखिये, बुराई का बुराई से ही सामना किया जाता है।" मैंने उससे पूछा "क्या तुम कोलतार में कोयला मिलाकर उसे सफेद बना सकते हो ?" और कहा "यदि इस तर्क का अवलम्बन किया गया, तो एक ऐसा समय आयेगा जबकि हमारे इस देश में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा जो ईमानदार और अच्छा बनना चाहेगा। यह जानते हुए भी कि हमको कुछ समय तक हानि उठानी पड़ेगी, क्या हमें इन बुराइयों के बीच में से अपना मार्ग बनाने के लिये नहीं लड़ना चाहिये ?" आजकल स्थिति इस सीमा तक आ चुकी है कि जिन्होंने इन निकृष्ट तरीकों में अधिक से अधिक निपुणता प्राप्त कर ली है वे ही पद और सम्पन्नता की दृष्टि से ऊँचे उठते जाते हैं। इस स्थिति में मनुष्य के चारित्र्य के महत्व पर–साधनों की पवित्रता के रूप में–जितना भी जोर दिया जाय थोड़ा ही होगा।

प्रच्छन्न संकट

राष्ट्रीय स्तर पर भी चरित्र से हीन और व्यसनों से ग्रसित व्यक्ति, राष्ट्र के लिये संकट का कारण हो सकता है। हमारा राष्ट्र अनेक राष्ट्रों के बीच स्थित है, और यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि दो राष्ट्र कभी भी स्थायी रूप से आपस में न तो मित्र रहते हैं न शत्रु। पारस्परिक सम्बन्ध बदलते रहते हैं। प्रत्येक देश अपने हितों के द्वारा निर्देशित होता है, और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी भी साधन का अवलम्बन करने में हिचकिचाता नहीं। इस प्रकार एक दृष्टि से वे सबके सब हमारे देश के लिये 'प्रच्छन्न शत्रु' हैं।" यह ठीक है कि, अन्य राष्ट्रों के साथ व्यवहार एवं वार्ता में हम मैत्री, विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व की भावनाओं को संवर्धित करने की बातें करते हैं, और कभी-कभी उसके लिये प्रयत्न भी करते हैं। किन्तु देश की नियति का निर्देशन करने वाले राजनयिकों को संसार के इस कटु सत्य को सदैव ध्यान में रखना ही चाहिये, क्योंकि उसकी अवहेलना हमारे संकट का कारण बनेगी।

ये प्रच्छन्न और प्रगट शत्रु भी जो हमारे राष्ट्र को घेरे हुए हैं, अपने हित के लिये हमारी दुर्बलताओं से लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे। प्रथम विश्वयुद्ध की एक सर्वविदित घटना हमारे सामने है। युद्ध की एक अवस्था में यह देखा गया कि मित्र राष्ट्रों के युद्ध-नायक जिन योजनाओं पर विचार-विमर्श करते एवं निर्णय लेते हैं जर्मनों को उन योजनाओं का पता लग जाता था। योजनाओं के

कार्यरूप में परिणित होने के पूर्व ही शत्रु उनका प्रतिकार करता और उनकी सभी योजनाएँ एक उपहास मात्र बन जातीं। काफी समय तक ऐसा ही चलता रहा। जब इस रहस्योद्घाटन के स्रोत का पता लगाने के लिये विशेष अधिकारियों को नियुक्त किया गया, तब यह बात प्रकट हुई कि महत्वपूर्ण सेना-अधिकारियों के खेमे में माताहारी नाम की एक महिला गुप्तचर थी। उन वासनाप्रिय व्यक्तियों को वह महिला आकर्षक लगती थी। वह गाने, नृत्य और सम्मोहित करने की सभी कलाओं में निपुण थी। उसने उन सेना-अधिकारियों को अपनी ओर सम्मोहित कर लिया था, और उनके दिलों पर अधिकार कर लिया था। वह उनके साथ खेमों में रहती थी। सेना-अधिकारियों का उस पर इतना पूर्ण विश्वास था कि वे उसके सामने अपनी योजनाओं पर मुक्त रूप से विचार-विमर्श किया करते थे। पर जहाँ तक उस महिला का प्रश्न था वह नियमित रूप से विरुद्ध पक्ष को इनकी योजनाओं की जानकारी दिया करती थी। जब उसके इस रूप का पता लगा और वह पकड़ी गयी,तभी विजय प्राप्त की जा सकी। यदि वे सैनिक अधिकारी दृढ़ चरित्र के होते, और जैसी कि प्रत्येक हिन्दू से अपेक्षा की जाती है, वे पर-स्त्री मात्र को देवी माता के रूप में समझते, तो वे अपने देश को बहुत बड़ी क्षति और अनर्थ से बचा सकते थे।

एक नीति-कथा

कुछ लोग चाटुकारिता-प्रिय होते हैं। यदि कोई उन पर स्तुति की वर्षा करता है, तो वे उल्लासित होते हैं और फूलकर कुप्पा हो जाते हैं तथा उनसे जो कुछ करवाना हो, वह सब कुछ करने को तैयार हो जाते हैं। लोग अनेक बातों का प्रतिकार कर सकते हैं, परन्तु खुशामद का नहीं। भयंकरतम विष पचाना अपेक्षाकृत अधिक आसान है किन्तु स्तुति और सम्मान पचाना सरल नहीं। एक कथा है; भगवान शंकर सबके संरक्षण के लिये गरल पी गये और उससे अप्रभावित रहे। पर वही शंकर भस्मासुर की स्तुति के शिकार बने और स्वयं के लिये आपत्तियों को बुला लाये। स्तुति मनुष्य को फूले हुए फुटबाल की तरह फुला देती है, जिसको कि सदैव एक ओर से दूसरी ओर के लिये ठोकर मारी जाती है। ऐसी स्थिति में कोई भी आकर अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों में उसकी प्रशंसा कर अपनी स्वार्थ सिद्धि कर ले सकता है। और तब कहीं यह व्यक्ति भ्रम-मुक्त हो पाता है या शायद तब भी नहीं।

इस पाठ को सिखलाने वाली एक पुरानी कथा है। एक बार एक कौवा

अपनी चोंच में मांस का टुकड़ा लिये एक पेड़ पर बैठा था। कौवे को देखकर उस पेड़ के नीचे एक सियार आकर बैठ गया, और कौवे की ओर देखकर स्तुति करने लगा, "क्या सुन्दर रंग तुमने पाया है मेरे मित्र ! यह वही श्याम रंग है जो श्रीकृष्ण का था। और पिछली बार मैंने तुमको गाते हुए सुना, ओह, गन्धर्वों ने भी तुमसे ईर्ष्या की होती। मैं पुनः तुम्हारा स्वर्गिक गान सुनने का अवसर पाकर कितना भाग्यवान होता।" कौवा उस स्तुति से फूल गया और डोलने लगा। उसने सोचा, "चलो, इस मित्र को संतुष्ट कर दें।" और जैसे ही उसने अपनी चोंच खोली, मांस का टुकड़ा नीचे आ गिरा। सियार ने तत्परता से उसे झपट लिया और यह कहते हुए अपने रास्ते हो लिया कि "अब मुझे तुम्हारे संगीत से प्रेम नहीं है।"

आज हमारे देश के अनेकों बड़े लोगों में खुशामद के सम्बन्ध में यह कमजोरी है। और विश्व में ऐसे अनेकों धूर्त्त लोग हैं जो स्तुति के इस सूक्ष्म साधन का उपयोग कर लेते हैं। यदि वे कहते हैं कि "आप कितने शान्तिप्रिय, अहिंसावादी और उदार हैं ! आप अतिश्रेष्ठ अन्ताराष्ट्रीय ख्यातिनामा व्यक्तियों में से एक हैं–आदि, आदि तो इस स्तुति से हमारे नेताओं के पैर जमीन से ऊपर उठ जाते हैं और वे प्रशंसक जो कुछ चाहते हैं, उसे देना स्वीकार कर लेते हैं, चाहे वह नहर का पानी हो, धन हो, अन्य सामग्री हो अथवा हमारे सैनिक हों जो कि संसार भर में होने वाले संघर्षों में युद्ध-बलि के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं।

प्रत्येक कदम पर सतर्कता

यदि हम प्रत्येक परिस्थितियों में राष्ट्र की सेवा के योग्य बनना चाहते हैं, तो इन सभी प्रकार की कमजोरियों का हमें कठोरता से सामना करना पड़ेगा और शुद्ध व्यक्तिगत चरित्र को विकसित करना पड़ेगा। विशेषतः जब सार्वजनिक क्षेत्र का कार्यकर्ता लोगों के मध्य काम करता रहता है तो जनता की दृष्टि उस पर गड़ी रहती है। यदि वह किंचित मात्र भी फिसलता है तो वह तुरन्त ध्यान में आता है, और लोग सहसा बोल उठते हैं, "अरे, कैसा पतन है।" यद्यपि वे सामान्य व्यक्ति की इससे भी अधिक भयंकर गलतियों को अनदेखी कर देते हैं। हम रंगीन वस्त्र एक दिन को पहिनें अथवा सप्ताह के लिए उसमें कोई विशेष परिवर्तन दिखाई न देगा, किन्तु स्वच्छ सफेद वस्त्र पर पानी की एक बूंद भी कुछ समय के लिए अपना चिह्न छोड़ जायगी। इसलिये हम जितना ही अधिक शुद्ध बनने की आकांक्षा करते हैं, अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को उतना ही

अधिक सावधानी से परखना पड़ेगा। हमें अपने आपको प्रत्येक कदम पर यह मानकर सतर्क करना होगा कि बाहर का सम्पूर्ण समाज हमारी कमियों को लोगों में प्रकट करने तथा उन पर आघात करने के लिये हमारी ओर बारीकी से और दत्त-चित्त होकर देख रहा है।

सज्जनता की अति

अब हम उसके राष्ट्रीय पहलू का विचार करें। हम अपने चारों ओर उत्तम व्यक्तिगत चरित्र से युक्त व्यक्तियों को देखते हैं। हो सकता है कि वे स्वच्छ एवं निर्दोष इसलिये बने रहे हों क्योंकि उन्हें गलत मार्ग अपनाने का अवसर न मिला हो अथवा उनका इतना साहस न हुआ हो। इस प्रकार की नकारात्मक निष्क्रिय एवं तथाकथित अच्छाई और भद्रता का कोई उपयोग नहीं। ऐसे सज्जनों के बारे में डाक्टर जी विनोद में कहा करते थे "देखो ये श्रीमान······ कितने सज्जन हैं। ये आफिस समय पर जाते हैं, संध्याकाल घर वापिस आ जाते हैं, पत्नी और बच्चों के साथ गप्पें लगाते हैं, भोजन करते हैं और सो जाते हैं। उन्होंने कभी एक बार भी किसी के मामलों में दखल नहीं दिया। यद्यपि उनको यहाँ रहते हुए २५ वर्ष से भी अधिक समय बीत चुका है, फिर भी वे यह नहीं जानते कि उनके पड़ोसी कौन हैं, और न वे पड़ोसी ही इनके विषय में अधिक कुछ जानते हैं। इस प्रकार के भले, निरीह और विनम्र सज्जन के सम्पर्क में हम क्वचित ही आते हैं।" डाक्टर जी फिर उस तथाकथित सज्जनता की आड़े हाथों खबर लेते थे कि जिसके कारण व्यक्ति पड़ोसियों के सुख-दु:ख के प्रति संवेदना-शून्य हो जाता है, तथा समाज के साथ किये गये अपमान और अवमानना को निर्बलता के साथ सहन कर लेता है। वे कहा करते थे कि यही वह निन्द्य मनोवृत्ति है जो हमारे राष्ट्र की बुराइयों के मूल में है।

भूलकाल में भी हमारे यहाँ अनेकों पवित्र और सदाशय युक्त व्यक्ति थे। इसके होते हुए भी हमको विगत हजार वर्षों से निरंतर भयंकर आपत्तियों का सामना करना पड़ा। कुछ लोग तो इस सीमा तक जाकर कहने लगे कि अत्यधिक व्यक्तिगत अच्छाइयों ने ही हमारे राष्ट्र को आपत्तियों में डाला। परन्तु यह इतिहास का सही अध्ययन नहीं है। वास्तविक कारण राष्ट्रीय चरित्र की कमी थी—जो कि व्यक्तिगत चरित्र का ही दूसरा अपरिहार्य पहलू है। हम केवल एकाकी व्यक्ति मात्र नहीं हैं। हम समाज के एक अविभाज्य अंग हैं। उस सम्बन्ध में भी हमें चरित्र की पवित्रता को महत्व देना चाहिये एवं उसे

अपने व्यवहार में प्रगट करना चाहिये । यदि इस पहलू की ओर दुर्लक्ष्य किया तो केवल व्यक्तिगत पावित्र्य और अच्छाई राष्ट्र के लिए अधिक उपयोगी नहीं होगी । इतना ही नहीं, यदि समाज ही जीवित नहीं रहा तो व्यक्तिगत अच्छाई और चारित्र्य बर्बर आक्रमणकारियों के पैरों के तले रौंद दिया जायगा । यही हमारे भूतकालीन इतिहास में घटित हुआ है ।

भयंकर उदाहरण

यदि कोई विशेष उदाहरण ही देना है, तो गुजरात के राजा कर्ण के प्रधानमंत्री का दिया जा सकता है । वह वेद का ज्ञाता एवं अनेक कलाओं और शास्त्रों में पारंगत था । एक बार राजा ने अपने कमजोरी के क्षण में एक सरदार की पत्नी का हरण कर लिया । इस पर प्रधानमन्त्री गुस्से में आपे से बाहर हो गया और उसने राजा को इस पाप का दण्ड देने की प्रतिज्ञा की । उसे लगा कि उसकी पवित्रता और धर्म ज्ञान को चुनौती दी गई है । उसने अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये कौन सा मार्ग अपनाया ? वह जानता था कि गुजरात की उत्तर सीमा पर मुस्लिम सेनायें खड़ी हैं । इसके पूर्व वे गुजरात को अधीन करने के लिए और उसे जीतने के लिये अनेकों निष्फल प्रयत्न कर चुके थे । प्रधानमन्त्री सीधा मुगल सुल्तान से मिलने देहली गया और अपने राजा को उसके पापपूर्ण कार्यार्थ दण्डित करने के लिए उसने सुल्तान की मदद मांगी । शत्रु इस स्वर्णिम अवसर को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ । राज्य की सुरक्षा के सभी भेदों को जानने वाले प्रधानमन्त्री के द्वारा दी गई बहुमूल्य जानकारी के साथ शत्रु ने गुजरात पर आक्रमण किया । इसके परिणामस्वरूप कर्णावती का शक्तिशाली हिन्दू सीमान्त प्रहरी-राज्य, जिसने अनेक वर्षों तक काफी सफलतापूर्वक मुस्लिम आक्रमण को दक्षिण तक फैलने से रोका था, गिर गया । तत्पश्चात् केवल गुजरात ही नहीं वरन् सम्पूर्ण दक्षिण भारत मुस्लिम लुटेरे आक्रमणकारियों के पैरों में झुक गया । अन्ततः इस सबसे उस प्रधानमन्त्री को क्या मिला ? निःसंदेह रूप से राजा मारा गया, पर उसी के साथ प्रधानमन्त्री के हजारों निजी सम्बन्धी भी तलवार के घाट उतार दिये गये । उसकी आँखों के सामने अगणित महिलाओं का शील भ्रष्ट किया गया, मन्दिरों को धूल में मिला दिया गया और जिस घर में यह वेदों का पाठ और ईश्वर की आराधना करता था उसे गाय काटने के बूचड़खाने में परिवर्तित कर दिया गया । इसके सिवाय आने वाले अनेकों शतकों तक अपनी मातृभूमि के एक बड़े भू-भाग को पराधीनता प्राप्त हुई ।

हम देखते हैं, कि एक ओर तो राजा का व्यक्तिगत चरित्र कुछ पतित था पर उसका राष्ट्रीय-चरित्र प्रखर था। दूसरी ओर प्रधानमन्त्री व्यक्तिगत चरित्र की दृष्टि से पावित्र्य से पूर्ण था, प्रकृति से ईश्वर-भीरु था, किन्तु उसमें राष्ट्रीय-चारित्र्य का अभाव था, जिससे कि व्यक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र की भलाई किसमें है यह सोच पाता है और अपना सब कुछ, यहाँ तक कि पवित्रता और न्यायपरायणता की उसकी व्यक्तिगत भावनाएँ भी, राष्ट्र कल्याण की वेदी पर त्याग देने के लिये प्रेरित होता है। इस प्रकार राजा और प्रधानमन्त्री दोनों ही, जिसके लिए दोनों ही के मन में प्रेम था, उस राष्ट्र के महान् दुर्भाग्य के कारण बने।

वास्तव में उस प्रधानमन्त्री द्वारा व्यक्तिगत चारित्र्य एवं धर्म का प्रगट किया गया विकृत भाव हमारे इतिहास की एकाकी घटना नहीं है। यह भावना काफी गहराई तक बद्धमूल है और उसने इन शताब्दियों में राष्ट्रद्रोहियों की एक सम्पूर्ण जमात को उत्पन्न किया है। वह ईश्वर का 'धर्मात्मा' पुजारी ही था जिसने कि उस मुहम्मद गजनवी का मार्गदर्शन किया और उसे सहायता दी जो सोमनाथ को भ्रष्ट करने के घोषित उद्देश्य के साथ निकला था। औरंगजेब का प्रसिद्ध सरदार जयसिंह भी, जो शिवाजी को नष्ट करने आया था, एक विद्वान, प्रखर ईश्वर-भक्त और बुद्धि एवं हृदय के अनेक सद्‌गुणों से युक्त था। किन्तु शिवाजी के द्वारा स्वदेश और स्वधर्म के नाम पर की गई अनुरोधपूर्ण प्रार्थना एवं क्रूर विदेशियों का दास रहने की अपेक्षा उनके विरोध में राष्ट्रभक्त शक्तियों का नेतृत्व करने का आमंत्रण व्यर्थ गया। राजा जयसिंह अपनी ईश्वरभक्ति तथा 'सम्राट के प्रति स्वामिभक्ति' की शपथ से ही पूर्ण संतुष्ट था। ईश्वरभक्ति की धारणा तथा व्यक्तिगत ईमानदारी और स्वामिनिष्ठा की भावना का यह कितना विपर्यस्त और भयंकर स्वरूप था। यह स्पष्ट है कि जब चरित्र के दोनों ही पहलू अभिव्यक्त होते हैं तभी व्यक्ति और समाज प्रगति करता है और पनपता है। वे मानों एक ही सिक्के की दो बाजू हैं। एक पर राष्ट्र का चिह्न अंकित है और दूसरे पर उसका मूल्य। किसी भी एक का घिसना उसकी उपयोगिता को समाप्त कर देता है।

राष्ट्रीय पहलू

इसलिये, यह अनिवार्य है कि वैयक्तिक अच्छाई एवं चारित्रिक पवित्रता राष्ट्रीय-हित में सक्रिय एवं गतिशील बनाई जाय। यह राष्ट्र के प्रति ऐसे सम्पूर्ण समर्पण के रूप में व्यक्त होना चाहिए, जो प्रतिफल के रूप में किसी

बात की, चाहे वह नाम या ख्याति या अन्य किसी प्रकार का लाभ हो, अपेक्षा न करें। हमें इस बात की चिन्ता नहीं करना चाहिये कि जिनकी हम सेवा करते हैं, वे हमारी प्रशंसा करते हैं या नहीं। वास्तव में हमारे लिये यही अधिक अच्छा है कि वे ऐसा न करें। क्योंकि तब हम जनस्तुति के उस बंधन से मुक्त रहेंगे जो हमें ऐसे मार्ग पर ले जाय जो अभीष्ट न हो। हम अपने राष्ट्र को इष्ट देवता के रूप में देखते हैं। हमारा समर्पण, हमारी अपने सर्वस्व की भेंट, राष्ट्र देवता की पूजा के रूप में होनी चाहिये। तब हम बदले में किसी भी वस्तु की इच्छा कैसे करें ?

आज सर्वस्व-समर्पण और त्याग का यह भाव तिरोहित हो गया है। यदि लोग सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करते हैं तो बदले में कुछ अपेक्षा करते हैं, यदि धन की नहीं तो नाम या जयजयकार की, अथवा किसी समाचार पत्र में कम से कम अपने चित्र के छप जाने की। एक बार अपने देश के एक प्रमुख नेता जो सदैव भव्य स्वागतों के अभ्यस्त थे, एक स्थान पर गये। उन्हें यह देखकर धक्का लगा कि उनके स्वागत के लिये वहाँ कोई भी नहीं था, न वहाँ जयजयकार लग रही थी, न हार थे और न कोई चित्र लेने वाला ही था। उनको यह सब अपमानजनक लगा और वास्तव में वे तुरन्त वापस लौट गये। यह स्वार्थी व्यवहार का परिष्कृत रूप है। अन्य व्यावहारिक और लाभकर तरीके भी अपनाये जा रहे हैं। यदि राष्ट्र के नाम पर कोई भी व्यक्ति अपनी ही सेवा करता है तो वह राष्ट्र-भक्ति नहीं वरन् स्वार्थ-भक्ति ही है। ऐसे व्यक्ति द्वारा जनता की सेवा अपने व्यक्तिगत गौरव को बढ़ाने के लिये एक आवरण, एक मुखवटा मात्र है।

इन दिनों बहुत से व्यक्ति ईश्वर की उपासना भी इसी प्रकार करते हैं। 'पुत्रान् देहि, धनं देहि' इत्यादि की याचना करते हैं। जब तक किसी वस्तु की कामना है तो यह उपासना नहीं, व्यापार मात्र है। हमारे सभी धर्मग्रन्थों एवं महापुरुषों ने इस ओछे दृष्टिकोण का उपहास किया है। पूजा, पूजा के लिए होती है, उसी में उसका आनन्द निहित है। यदि हम किसी बात के लिए याचना ही करें तो वह उपासना की अधिक क्षमता और पात्रता एवं त्याग और सेवा के मार्ग पर बढ़ने की अधिक शक्ति के लिये होना चाहिए।

महाभारत में युधिष्ठिर के सम्बन्ध की एक घटना है। एक बार जब पांडव द्रौपदी के साथ जंगलों में भटक रहे थे, तब द्रौपदी ने युधिष्ठिर को निरन्तर ईश्वर का नाम दुहराते सुना। अपनी दुःखपूर्ण अवस्था का पूर्ण बोध होने के कारण उसने कटुता से पूछा, "आप सदैव ईश्वर का नाम क्यों लेते

हैं ? आप अपने बाल्यकाल से ही उनके भक्त हैं। आपने अनेक यज्ञ किये और सभी शास्त्रोक्त कर्तव्यों का पालन किया है। पर अब तक ईश्वर ने तुम्हें कौन सा अनुकूल जवाब दिया है ? आपको राजगद्दी के वास्तविक अधिकार से भी वंचित कर दिया गया है। अब आप आपत्तियों की छाया में यहां वहां भटकने को विवश कर दिये गये हैं ? क्या आप अब भी उसका नाम जपते थके नहीं हैं ?" युधिष्ठिर ने सौम्यभाव से उत्तर दिया 'उस हिमालय की ओर देखो कितना शान्त और भव्य है ? क्या हम इसे प्रेम नहीं करते ? क्या हमारा प्रेम इसलिए है कि हम इससे कुछ अपेक्षा रखते हैं ? हम इससे प्रेम करते हैं उसकी गम्भीर भव्यता, नीरवता और पावित्र्य के लिये। ऐसा ही ईश्वर है, किन्तु इससे भी अपरिमित भव्य ! उस अनन्त दिव्यता के समक्ष इसके परमानन्द को प्राप्त करने एवं उससे अधिकाधिक प्रेम की इच्छा के अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं मांगना है।'

उपासना की शक्ति

उपासना व्यापार नहीं है। यह मात्र आत्म-समर्पण है। यह मात्र एक-पक्षीय कार्य है, हम केवल देते हैं। केवल इसी प्रकार के पूर्ण समर्पण वाले लोग ही राष्ट्र को विनाश के खण्डहरों से महानता के शिखर तक ले जा सकते हैं। खण्डो बल्लाल का प्रेरक उदाहरण हमारे सामने है। कुछ पूर्व धारणाओं के कारण सिंहासन पर बैठने के पश्चात् सम्भाजी ने खण्डो बल्लाल के पिता को, जो कि शिवाजी के अष्ट प्रधानों में से एक थे, मृत्यु के घाट उतार दिया। खण्डो बल्लाल एक स्वाभिमानी और वीर युवक था पर वह उस वेदना और अपमान के घूँट को पी गया। पुनः जब सम्भाजी ने जिसे मदिरा और मदिराक्षी का व्यसन था, अपनी पाप दृष्टि उसकी बहन पर डाली तो उसने अपनी बहिन को अपने पावित्र्य की रक्षा के लिये प्राणान्त करने की अनुमति दे दी, किन्तु उसने सम्भाजी के प्रति अपनी राजभक्ति को नहीं त्यागा। क्योंकि वह जानता था कि सम्भाजी, अनेक व्यक्तिगत दुर्गुणों के होते हुए भी, उस समय पुनरुत्थान-शील हिन्दू स्वराज्य के एकीकरण का प्रतीक था, जिसके आसपास समस्त हिन्दू शक्तियाँ एकत्रित होने का प्रयास कर रही थीं। बाद में जब सम्भाजी को औरंगजेब ने बन्दी बना लिया तो खण्डो बल्लाल ने ही अपने प्राण संकट में डाल कर उसको छुड़ाने का प्रयत्न किया।

एक ध्येय के प्रति समर्पण की सच्ची भावना के कारण, सम्भाजी की मृत्यु के पश्चात् राजाराम उसकी राजभक्ति का केन्द्र बना। एक बार पुनः हम उसे

राजाराम को, जो कि जिंजी के किले में शत्रु से घिरा पड़ा था, सफलतापूर्वक मुक्त करने के प्रयास में अपने पुत्र के जीवन को मृत्यु के मुँह में डालते हुए और अपनी सब सम्पत्ति त्यागते हुए देखते हैं। अन्त में वह अपने जीवन को स्वराज्य के लिये अन्तिम भेंट के रूप में चढ़ा देता है। कैसा उदात्त, श्रेष्ठ और अशेष आत्म-त्याग है, आत्म-बलिदान है।

इतिहास का सम्पूर्ण मार्ग इसी प्रकार के बलिदानों के परिणामस्वरूप बदलता है, जिसमें न केवल व्यक्ति का स्वयं का जीवन ही समाहित है, अपितु उसका अहं एवं वह सब भी जो उसे अत्यन्त प्रिय है। शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् स्वराज्य की भावना से सुलगने वाले अंगारों को बुझाने के लिये औरंगजेब पाँच लाख की सेना के साथ जब दक्षिण की ओर आया तो वह स्वयं भी उन लपटों में घिर गया जो खण्डो बल्लाल जैसे योद्धाओं के बलिदानों की चिताओं की अग्नि से निकली थीं, और दक्षिण में ही वह स्वयं मृत्यु का ग्रास बन गया।

जब चरित्र प्रस्फुटित होता है :

यही सच्चा राष्ट्रीय-चरित्र है। सतत प्रयत्नों के द्वारा हम अपने जीवन में इसे विकसित करें, सम्पूर्ण समाज के प्रति विशुद्ध प्रेम से आप्लुत अन्तःकरण से, स्वार्थपरता अथवा अपने लिये किसी प्रकार की अपेक्षा के लेश से भी रहित हो, हम अपने राष्ट्र की सेवा करें, शुद्ध पवित्र राष्ट्रभक्ति की झलमल करती किरणों में हमारा चरित्र रूपी कमल खिल उठे।

ऐसी अविचल और अशेष भक्ति प्राप्त करने की हम आकांक्षा करें और उसके लिए प्रयत्नशील हों। ऐसी भक्ति कि जो बुद्धि एवं अहं के साधारण धरातल से ऊपर उठकर हमारे सम्पूर्ण अन्तरतम के साथ एकरूप हो जाय। पवित्र भक्ति का यह गहन दिव्य एवं शाश्वत प्रवाह हमारे रोम-रोम में व्याप्त हो जाय। सभी महान् आत्माएँ हमें इस एक ही दिशा की ओर---एकचित्त समर्पण की दिशा की ओर बुला रही हैं। चैतन्य महाप्रभु अद्वितीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् थे। विभिन्न आध्यात्मिक विषयों पर शास्त्रार्थ में उन्होंने अपने समकालीन सभी महान् विद्वानों को पराजित किया था। किन्तु बुद्धि की उस प्रखरता एवं ज्ञान की इस समस्त व्यापकता के होने पर भी उन्होंने अपने जीवन के उत्तरार्ध में सभी तर्क एवं शास्त्रार्थों को तिलाञ्जलि दे दी थी, और जो भी उनसे शास्त्रार्थ करने आता था, उन सब के समक्ष महाप्रभु भक्ति से पूर्ण केवल इन शब्दों का उच्चारण करते थे--'हरिबोल, हरिबोल'। इन शब्दों

में व्यक्त भक्ति का भावावेग श्रोताओं को एक धारा में प्रवाहित करता था और उन्हें शुष्क शास्त्रार्थों की निस्सारता का एवं भक्ति की दिव्यता का ज्ञान कराता था।

इस प्रकार की तीव्र भक्ति वाला व्यक्ति, अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये विलक्षण शक्तियों को विकसित कर लेता है। हमारे दैनंदिन जीवन में भी क्या हम नहीं देखते कि साधारण श्रमिक भी सर्वोत्तम कार्य तभी करता है जब वह अपने कार्य की उपासना एवं कार्य से प्रेम करता है? क्या हम नहीं देखते कि कलाकार अपनी कला की सर्वोच्च अभिव्यक्ति तभी पाता है जब वह अपने अन्त:करण के अनुकूल चित्र को चित्रित करने में स्वयं को भूल जाता है? राष्ट्रभक्ति के मार्ग में इस प्रकार की पूर्ण एकाग्रता की अवस्था को विकसित करने का प्रयास हमें करना चाहिए, और हमें अपना जीवन विशुद्ध चरित्र के भिन्न-भिन्न समस्त पहलुओं से युक्त एक सजीव उदाहरण के रूप में विकसित करना चाहिए।

* * *

निःस्वार्थ सेवा भाव जगायें

एक बार जब मैं एक श्रेष्ठ साधु से वार्तालाप कर रहा था, तो आजकल बहुधा होने वाली विद्यार्थी-हड़ताल की चर्चा चल पड़ी। साधु ने विचार व्यक्त किया कि "यह सब हमारे नेताओं द्वारा छात्रों को बार-बार "राष्ट्र के आधार स्तम्भ तथा भविष्य के कर्णधार" इत्यादि बताने का ही कटुफल है। छात्रों की बुद्धि अपरिपक्व तो होती ही है, ऊपर से इस प्रकार की बातों को बार-बार सुनकर वे और भी गर्वोन्मत्त हो जाते हैं। युवकों में तो निःस्वार्थ सेवा की मनोवृत्ति उत्पन्न करना ही ठीक है जिसमें अहंभाव को सिर उठाने का मौका ही न मिले। उन्हें 'राष्ट्र के आधार-स्तम्भ' या 'भावी कर्णधार' आदि कहकर उनके अहं को उभारने के कारण उनमें तनिक से भी अन्याय या अपमान के विरुद्ध, चाहे ये अन्याय और अपमान वास्तविक हों या काल्पनिक, विद्रोह करने तथा हड़तालें और हिंसात्मक कार्यों में भाग लेने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।"

साधु के उन विवेकपूर्ण वचनों को सुनकर मुझे श्री रामकृष्ण परमहंस के जीवन की एक घटना का स्मरण हो आया। एक बार उनके कुछ शिष्यों में दीनों की सहायता करने, उन पर दया दृष्टि रखने तथा इसी प्रकार की बातों पर वार्ता हो रही थी। उसी समय वहाँ भगवत् प्रेमोन्माद की दशा में श्री रामकृष्ण आ पहुंचे और उनकी भर्त्सना करते हुए बोले—"दीनों पर दया दिखाने वाले तथा सहायता करने वाले तुम कौन हो? वे तो स्वयं नारायण के जीते जागते रूप हैं। तुम्हें केवल उनकी सेवा करने का अधिकार है।"

नींव के पत्थर बनें

यह दृष्टिकोण हमारे अन्दर सच्ची निःस्वार्थ सेवा की भावना उत्पन्न करेगा तथा हमें पवित्रता, विनयशीलता तथा दृढ़-चारित्र्य से सम्पन्न कर पतितावस्था की पहली सीढ़ी, अहंमन्यता से बचायेगा। हमें नींव के पत्थर को अपना आदर्श बनाना है। नींव में स्थित पत्थर को कोई देखता नहीं, कोई उसकी प्रशंसा नहीं करता। वह सुघड़ और परिमार्जित भी नहीं होता तथापि पूरे भवन का आधार वही है। यदि वह अपने स्थान से हिल या हट जाय तो सम्पूर्ण प्रासाद गहराकर गिर पड़ेगा। भवन के केन्द्रवर्ती कलश तथा अन्य सभी भागों से अधिक महत्वपूर्ण है नींव का पत्थर, किन्तु इतना होते हुए भी वह पत्थर स्वअस्तित्व को भुलाकर तथा अपनी सत्ता को विलीन करके सेवाभाव से अपने स्थान पर अचल रहता है। इसी भावना से युक्त होकर हमें लोगों के मध्य कार्य करना होगा। नाम और कीर्ति के तीव्र प्रकाश में दर्प और शान से इतराने तथा शिखर पर चढ़कर चमकने की इच्छा तो व्यक्ति के अन्दर आन्तरिक श्रेष्ठता के अभाव तथा आत्म-चाटुकारिता के अवगुण का ही भेदोद्घाटन करती है। आखिर, चोटी पर बैठने में कौन सा बड़प्पन है। गुम्बद के कलश पर तो कौआ भी बैठ सकता है।

सच्ची सेवा

हमारे देश के महापुरुष सेवा भाव को सदा भगवान् के प्रति भक्ति प्रकट करने का सर्वोत्तम प्रकार मानते आये हैं। किसी ऐसी ही महान् आत्मा की सर्वशक्तिमान् से प्रार्थना है–

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

(न मुझे राज्य की इच्छा है, न स्वर्ग की, न मोक्ष की। मैं तो केवल दुःखों से तप्त प्राणिमात्र की व्यथा को हरना चाहता हूं।)

सेवा की यही यथार्थ भावना है। ऐसा पुरुष सतत यही प्रार्थना करता है कि उसे सेवा करने के लिए और अधिक शक्ति तथा क्षमता प्राप्त हो। वह जीवन की पूर्णता इस बात में मानता है कि उसने प्रभु का दिया हुआ सब कुछ उसके सेवार्थ समर्पित कर दिया है। वह कहता है–"हे भगवन् मैंने आपके चरणों में अपने जीवन की झोली खाली कर दी है और इसी में मेरे जीवन की पूर्णता है।"

स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे–"महान् गुरु गोविन्द सिंह के समान

लोगों की सेवा के लिए सब कुछ सहने को तत्पर रहो। अपना तथा अपने निकटस्थ सगे और प्यारे सम्बन्धियों का रक्त चढ़ाकर वे कार्यक्षेत्र से चुपचाप अलग हट गये और सुदूर दक्षिण में उनकी मृत्यु हुई। किन्तु उनके मुख से उन लोगों के विरुद्ध शाप का एक भी शब्द न निकला जिन्होंने अत्यन्त कृतघ्नतापूर्वक उनका परित्याग कर दिया था।"

समाज का सच्चा सेवक ऐसा ही होता है। वह समाज से अपने लिए प्रतिफल नहीं चाहता, वरन् समाज की भलाई के लिए कष्ट उठाने और त्याग करने में ही पूर्णता और आनन्द मानता है।

ऐसे लोग दूसरों की व्यथा हरने या उसके आँसू पोंछने में न उल्लास का अनुभव करते हैं, न अहं संतुष्टि की भावना उनके मन को छूती है। ऐसा भाव-विपर्यास केवल उन्हीं में निर्माण होता है जिन्हें दूसरों के दुःखों से तादात्म्य की अनुभूति नहीं होती।

बम्बई में एक विधवाश्रम का वार्षिकोत्सव था। आश्रम की प्रगति का वार्षिक वृत्त प्रस्तुत करते हुए मंत्री जी ने इस बात से संतोष प्रकट किया कि उस आश्रम में प्रतिवर्ष आश्रयार्थी विधवाओं की संख्या बढ़ रही थी और अन्त में उन्होंने यह आशा प्रकट की कि विधवाश्रम की इसी प्रकार निरन्तर प्रगति होती रहेगी। यदि वह उन महिलाओं की दुःखपूर्ण दशा से सचमुच दुःखी होता तो वह कभी भी उनकी 'संख्या बढ़ती जाने' की प्रार्थना न करता। सच्ची भावना से सेवाकार्य में संलग्न व्यक्ति की भावना रुग्णा माँ की सेवा में रत पुत्र की सी होती है। हम सब अपने समाज के पुत्र हैं और उसकी जो भी सेवा करें उसी पवित्र और उदात्त भावना से करें।

स्वावलंब के प्रतीक

विनम्रता तथा सेवा की भावना का अर्थ यह कदापि नहीं है कि हम आत्मविश्वास तथा स्वावलम्बन ही खो बैठें। अपने देश के सभी महापुरुष इन दोनों सद्गुणों के समन्वय के प्रतीक रहे हैं। वस्तुतः ये दोनों गुण एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान हैं।

महाराष्ट्र के प्रख्यात विद्वान् श्री महादेव गोविन्द रानडे अपने प्रारम्भिक जीवन में अनाथ थे। अपनी छात्रावस्था में वे मधुकरी (भिक्षा) के लिए जाया करते थे। मधुकरी या भिक्षा वृत्ति उन दिनों असम्मानजनक नहीं समझी जाती थी। वे मन्दिरों के दीपों के नीचे बैठकर उनके प्रकाश में पढ़ाई किया करते थे। बंगाल के चोटी के शिक्षाविद् श्री ईश्वरचन्द विद्यासागर भी अत्यन्त दरिद्र

थे। उनके पास मैट्रिक तक शिक्षा पूरी करने तक को पर्याप्त पैसा न था। तब उन्होंने कोई नौकरी कर ली जिसके द्वारा अर्जित अल्प धन से उन्होंने कालेज तक की पढ़ाई की। स्वावलम्बन ही वह जीवन-सूत्र था जिसने इन श्रेष्ठ पुरुषों को विद्वत्ता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाया।

इनके अतिरिक्त हमारे समक्ष स्वामी रामतीर्थ का प्रेरणादायी उदाहरण भी है। वे अत्यन्त दरिद्र कुल में उत्पन्न हुए थे। उन दिनों की प्रथा के अनुसार उनका अल्पायु में ही विवाह हो गया था। उनके मैट्रिक पास कर लेने पर उनके पिताजी चाहते थे कि वे कहीं नौकरी आदि करके कुटुम्ब का पालन करें। किन्तु उन्होंने अपना अध्ययन जारी रखने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। इस पर विवाद बढ़ा और पिता ने उन्हें घर से निकल जाने को कहा। उन्होंने पिता को नमस्कार किया और पत्नी को साथ लेकर घर छोड़कर चले गये। उस समय उनकी आयु लगभग १५ वर्ष थी और उनकी पत्नी की लगभग आठ वर्ष। बचपन में भक्तिपूर्वक सीता और द्रौपदी के अपने पतियों के साथ वनानुगमन की कहानियाँ सुनी होने के कारण उनकी पत्नी ने भी इस विपत्ति का अत्यन्त धैर्य और साहस से सामना किया। रामतीर्थ को एक छोटा सा कमरा मिल गया जहाँ उन्होंने पत्नी के रहने की व्यवस्था कर दी। उन्हें एक स्कूल में अंश-कालीन अध्यापक का काम मिल गया और वे कालेज में भर्ती हो गये। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी जीवन और ब्रह्मचर्य के सभी नियमों के बंधनों से बद्ध होने के कारण वे अपनी माता के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री के हाथ का बना भोजन कैसे कर सकते थे? अतः वे अपने और पत्नी के लिए भोजन स्वयं बनाते थे। उन्होंने पत्नी को पढ़ाना भी शुरू कर दिया। अभाव एवं दरिद्रता की इन विपरीत परिस्थितियों के बावजूद वे सभी परीक्षाओं में बड़े अच्छे नम्बरों से सफल होते रहे। एम० ए० में उन्होंने संस्कृत ली थी। इसके पूर्व उनको संस्कृत का तनिक भी ज्ञान नहीं था। किन्तु उन्होंने सफल होने का वज्र-संकल्प किया था और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। महापुरुष इसी प्रकार अपनी संकल्प-शक्ति एवं दृढ़ निश्चय के बल पर सभी बाधाओं और विपरीत परिस्थितियों को पार कर सफलता के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाते हैं।

किसी ने ठीक ही कहा है---"स्वावलम्बन ही सर्वोत्तम अवलम्बन है।" एक बार एक ग्रामीण अपनी बैलगाड़ी में दूसरे गाँव को जा रहा था। मार्ग में उसकी गाड़ी के पहिए कीचड़ में फँस गये। वह व्यक्ति बैठकर अपने भाग्य को कोसने और इस विपत्ति से छुटकारे के लिए ईश्वर से प्रार्थना करने

लगा। थोड़ी देर बाद उस मार्ग से एक अन्य व्यक्ति निकला और उसने उस ग्रामीण को हाथ जोड़ते और अपने भाग्य पर रोते हुए देखा। उस ग्रामीण से कहा—'उठो और मेरे साथ गाड़ी के पहिए को कंधा लगाकर धकेलो।' चुटकी बजाते गाड़ी कीचड़ के बाहर आ गयी और वह व्यक्ति जाते समय उस ग्रामीण से यह कहता गया कि 'ईश्वर उसी की मदद करता है जो अपनी मदद आप करता है।'

व्यक्तिगत उत्कर्षवाद का अभिशाप

किन्तु आज हमें अपने चारों ओर कौन सा दृश्य दिखाई देता है? क्या हमारे नवयुवकों में स्व-प्रयत्न तथा स्वावलम्बन दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए विद्यार्थियों को ले लें। वे घर पर नित्य टिप्पणियां लिखने का कष्ट उठाना नहीं चाहते। पाठ्यपुस्तकों का अध्ययन भी अब पुराने जमाने की बात हो गयी है। वे छपी हुई टीकाओं तथा प्रश्नोत्तरियों की खोज में रहते हैं और उन्हें रट लेते हैं। यदि इनके बिना भी काम चल जाय तो और भी अच्छा। एतदर्थ वे इस चक्कर में रहते हैं कि कहीं से परीक्षा के पूर्व ही परीक्षा में आने वाले प्रश्नों का पता चल जाय। कभी-कभी तो परीक्षा-भवन में नकल करने में भी वे संकोच नहीं करते और कहीं तो वे कभी-कभी हनुमान जी के मन्दिर की परिक्रमा भी कर लेते हैं। पर वे कभी जरा ठहर कर यह नहीं सोचते कि ज्ञान प्राप्त करने तथा सीखने के लिए व्यक्तिगत प्रयत्न करना आवश्यक है। यह स्वाभाविक ही है कि वे परीक्षा पास कर लेने के पश्चात् भी भोंदू के भोंदू ही रह जाते हैं।

हमारे शिक्षित नवयुवक सुगम कार्य तथा सुलभकर द्रव्य के लिए लालायित रहते हैं। वे सस्ते प्रकार की आजीविका के पीछे भागते हैं जो आत्म-सम्मान और स्वावलम्बन के एकदम विपरीत है। सरकारी नौकरियों के पीछे भागने का कारण भी यही क्षुद्र मनोवृत्ति है। सुनिश्चित नियमित मासिक वेतन, अल्प श्रम, अत्यल्प उत्तरदायित्व और अवकाश-प्राप्ति के पश्चात् पेंशन—अल्पतम प्रतिरोध का यह मार्ग अधिकांश लोगों को बहुत भला लगता है। वे सुविधा और आराम के सबसे सरल संक्षिप्त मार्ग की खोज में रहते हैं। उदर-पूर्ति के लिए यह आजीविका (कैरियर) कितनी तिरस्करणीय है।

कभी-कभी भले और सदाशय व्यक्ति भी इसी ढर्रे पर चलने लगते हैं और फिर सरकारी नौकरी के कारण जीवन में अपनी निष्ठाओं के अनुसार कार्य न कर पाने का रोना रोते हैं। यह उसी प्रकार है जैसे कोई व्यक्ति पहले

फांसी के फंदे में अपना गला फँसा दे और फिर चिल्लाये कि 'हाय मैं मरा जा रहा हूं।' सुलभ धनोपार्जन के संक्षिप्त उपाय के रूप में सरकारी नौकर बनकर अपनी आत्मा को बेचना वास्तव में पाशविकता की ओर जाने का संक्षिप्त उपाय है। कुली के रूप में क्यों न हो, अपना पसीना बहाकर जीविका उपार्जित करने में एक अनोखा आनन्द है। मैं एक एम० काम० परीक्षा उत्तीर्ण रिक्शा चलाने वाले को जानता हूँ। उसे आलस्य और गुलामी के जीवन की अपेक्षा यह कठिन परिश्रम और स्वातंत्र्य का जीवन अधिक पसन्द है। ऐसे आत्म-सम्मान एवं स्वावलंबन के जीवन का हमें आदर करना चाहिये।

हम सुगम धन, अल्प प्रयत्न और अधिक आराम के पीछे भागने वाले व्यक्तिगत उत्कर्षवादी (कैरियरिस्ट) न बनें। रामतीर्थ और विद्यासागर जैसी विभूतियाँ जिस भूमि में उत्पन्न हुईं उसके शिक्षित नवयुवकों के लिए ऐसी भीरुता शोभा नहीं देती। अतएव हम अपने जीवन को उन प्रेरणादायी आदर्शों के अनुसार ढालें और सेवा-भाव के साथ आत्म-सम्मान तथा विनयशीलता के साथ आत्म-विश्वास का समन्वय स्थापित करें। तब हमारी सभी सुप्त गुण-सम्पदा एवं शक्तियाँ वीर्यशाली पौरुष के सौष्ठव एवं सुरभिपूर्ण पुष्प के रूप में विकसित हो सकेंगी।

ऊंची कथनी–नीची करनी

अब हमें यह विचार करना है कि अपने नित्य जीवन में हम निःस्वार्थ सेवा की इस भावना तथा अन्य गुणों का प्रकटीकरण किस प्रकार करें। हमारी अर्चना और सेवा का विषय क्या हो? क्या हमें 'मानवता' की सेवा करनी है? इसमें सन्देह नहीं कि आजकल अनेक व्यक्तियों के मुख से 'विश्व-बन्धुत्व', 'मानवता की सेवा' तथा इसी प्रकार की और बहुत सी बातें सुनने को मिलती हैं। किन्तु जब ऐसे व्यक्ति यथार्थता के फन्दे में पड़ते हैं तो उनकी यह काल्पनिकता काफूर हो जाती है। मुझे एक महानुभाव के बारे में ज्ञात है कि वे वेदान्त के सर्वश्रेष्ठ वाक्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का बारम्बार उच्चारण किया करते थे। किन्तु जब किसी हब्शी पर उनकी दृष्टि पड़ जाती थी तो घृणा के मारे मुँह फेर लेते थे। हमारे शिक्षित नवयुवक मानवता की कौन कहे अपने देश के गांवों के वातावरण तक को सहन करने की क्षमता नहीं रखते। आजकल एक नारा दिया जाता है—"गाँवों की ओर लौट चलो।" किन्तु उस पुकार को कौन सुनता है? जब वे गाँवों के मानवों के अभावग्रस्त जीवन की कठोर नग्नता को देखते हैं तो उनकी बड़ी-बड़ी बातें हवा हो जाती हैं। एक बार एक

युवा व्यक्ति ग्रामोत्थान के कार्य के लिए गया। वह तिल का तेल खाने का अभ्यस्त था जबकि उस गाँव के लोग अलसी के तेल का सेवन करते थे। वह अलसी के तेल की गंध सहन नहीं कर पाता था। उसे प्रतीत होता था मानों गाँव का सारा वातावरण उस विकराल दुर्गन्ध से भरा हुआ हो। न वह खा सकता था न सो सकता था। वह वहाँ एक दिन भी न ठहर सका और वापस आ गया।

जब तक हमें अपने आदर्श के अनुरूप आवश्यक प्रशिक्षण नहीं मिलता, हम कठोर वास्तविकता की कसौटी में खरे नहीं उतर सकते। एक बार मेरी भेंट एक ऐसे युवक से हुई जो कुश्ती की कला सीखने का इच्छुक था। किन्तु जब उससे कपड़े उतारने को कहा गया तो घबड़ा कर कहने लगा--"कपड़े उतार कर कुश्ती नहीं सीखनी। यदि सारे कपड़े पहने हुये कुश्ती जैसी कोई चीज हो तभी मैं उसे सीख सकूंगा।" तब मैंने उसको मच्छरों के साथ कुश्ती लड़ने को कहा। जो लोग मानवता की सेवा जैसे ऊँच-ऊँचे आदर्शों की बातें करते हैं उनकी यही गति होती है। जब उनके समक्ष उन आदर्शों को व्यवहार रूप देने का कठिन उत्तरदायित्व आने लगता है तो वे पराङ्मुख और अकर्मण्य होकर बैठ जाते हैं।

मध्यम मार्ग

"मैं और मेरा परिवार, बस"---यह मनोवृत्ति पेंडुलम का दूसरा सिरा है, जिसे लोग अपनाते हैं। एक बार एक स्थान के एक प्रमुख एडवोकेट ने मुझसे कहा--"यदि मैं सारी मानवता का विचार नहीं कर सकता तो मैं केवल अपने परिवार का विचार क्यों न करूँ।" मैंने कहा--"हमारा राष्ट्रीय वैभव और सुख उसी दिन धूल में मिल गये जिस दिन से हमने केवल "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" का विचार किया। उसी प्रकार जब हमने केवल व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन की संकुचितता में अपने को लीन कर दिया तो भी हमारी वैसी ही अधोगति हुई। अतः हमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों ही दोषों का परिहार कर मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। मन की यह संतुलितता तथा साम्यावस्था हमें तभी प्राप्त हो सकती है जब हम इन दोनों अतिरेकों के बीच वाले स्वर्ण-मध्यम् मार्ग 'राष्ट्र' का विचार करें।

प्रतिक्रियावादी 'प्रगतिशील'

हमें समर्पण की प्रेरणा देने वाला एकमात्र आदर्श है 'राष्ट्र सेवा'। इससे

व्यावहारिक आदर्श के दोनों पक्षों--यथार्थवाद और [आदर्शवाद--से सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

यह सुविदित है कि हममें सेवा की भावना उन्हीं वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति जाग्रत होती है, जिनके प्रति हमारे मन में प्रेम, गर्व या श्रद्धा की भावना होती है। अत: सर्वप्रथम हमें अपने मन को अपने राष्ट्रीय जीवन के विविध पक्षों--धर्म, इतिहास, परम्परा, जीवन-दर्शन, आकांक्षाएँ, श्रद्धा एवं मान-विन्दु आदि के प्रति उत्कट प्रेम, गर्व और श्रद्धा की भावनाओं के जागरण द्वारा सुसंस्कारित करने की आवश्यकता है।

किन्तु आजकल हमारे देश में स्वयं को "प्रगतिशील" कहलाने वाले अनेक लोग हैं जिन्हें हमारे समस्त प्राचीन जीवनादर्श प्रतिगामी तथा गर्हित प्रतीत होते हैं। भारतीय जीवन मूल्यों के विपक्ष में उनका सबसे बड़ा तर्क यह है कि वे पुराने हो गये हैं। ये नूतन मसीहा नवोन्माद से पीड़ित हैं। उनके लिए पुराना सब कुछ बुरा है। वे अपने नवीन अधकचरे सिद्धान्तों को इसलिए अधिक उपादेय मानते हैं, क्योंकि वे उत्तरकालोन हैं। यह वैसा ही हास्यास्पद है जैसे कोई डाक्टर किसी रोगी को मर जाने की राय इस आधार पर दे कि कालक्रम में मृत्यु जीवन के पश्चात् आती है। सूर्य प्राचीन है, सचमुच अत्यंत प्राचीन हो गया है और ट्यूब का प्रकाश अंधकार-निवारण का नवीन आविष्कार है, इसलिए क्या हम सूर्य को छोड़कर उसके स्थान पर ट्यूब के प्रकाश को अपनायेंगे ?

किन्हीं वस्तुओं को केवल इसलिए व्यर्थ और प्रतिगामी बताना कि वे प्राचीन हैं, निकृष्टतम दासता-"बौद्धिक दासता"-को स्वीकार करना है। इस पर भी वे बौद्धिक दास स्वयं को इस युग के "प्रगतिशील" घोषित करते हैं। यह मनोदौर्बल्य का सूचक है और सूचक है बुद्धि के दिवालियापन का जिसके कारण मनुष्य स्वतंत्रता एवं निर्भयतापूर्वक भावात्मक एवं पूर्ण विचार नहीं कर पाता।

मानसिक दासता

मन की दुर्बलता को बढ़ाने में सहायक दूसरा कारण है हमारी पाश्चात्य लोगों की तुलना में अपने को हीन मानने की भावना। यह भावना इस देश में ब्रिटिश शासन के दिनों से गर्हित दायदान के रूप में हमें मिली है। पिछली एक शताब्दी में इस देश में ऐसी अनेक विभूतियों ने जन्म लिया जिन्होंने विदेशी शासन के जुए को उतार फेंकने का प्रबल उद्योग किया। किंतु उनमें से अधिकांश के मन आंग्ल दासता से जकड़े हुए थे। उनमें पराजय और

हीनता की भावनायें घर किये हुए थीं । ऐसा किस कारण हुआ ? कारण अत्यन्त साधारण है और वह समस्त सद्‌गुणों को धन और शक्तिमत्ता के साथ सम्बन्धित करने की मानवसुलभ दुर्बलता में निहित है । संस्कृत की प्रसिद्ध सूक्ति है—

> यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः ।
> स पण्डितः स श्रुतिमान् गुणज्ञः ।।

इसमें यह बताया गया है कि मनुष्य का मन स्वभावतः ही श्री तथा सामर्थ्य सम्पन्न लोगों को पाण्डित्य, ज्ञान, कुलीनता आदि समान सद्‌गुणों से विभूषित मानता रहता है । जब विदेशियों के विरुद्ध भारतीयों द्वारा छेड़े गये युद्ध में अंग्रेज विजयी होते प्रतीत हुए और कुछ काल के लिए ऐसा आभास होने लगा कि मानों हम पूर्णतया पराभूत हो चुके हैं तो देश में सर्वत्र निराशा, निश्चेष्टा और आत्मविश्वास-शून्यता छा गयी । इसके कारण हमारे देश के लोगों के मन में यह धारणा पोषित होने लगी कि जो विजेता-जाति सैन्य-शक्ति, कूटनीतिज्ञता में हमसे बढ़कर है तथा भौतिक ऐश्वर्य से सम्पन्न है, अवश्य ही वह हमसे सभी विषयों में श्रेष्ठ होगी । यही कारण था कि हमारे यहाँ के लोगों ने ब्रिटिश राज्य के प्रारम्भिक दिनों से ही अंग्रेजों के रहन-सहन और रीति-रिवाजों की भद्दी नकल करना और पश्चिम से उधार लिए हुए विचारों को बड़े विश्वासपूर्ण शब्दों में व्यक्त करना शुरू कर दिया था । प्रत्येक यूरोपीय आदर्श, वह कितना ही बेतुका क्यों न हो, ब्रह्म-वाक्य बन गया । इसके विपरीत अपने देश की प्रत्येक वस्तु स्वभावतः ही मिथ्या एवं मूर्खतापूर्ण ठहरायी जाने लगी । विशेष रीति से समाज का पाश्चात्य ज्ञान-प्राप्त शिक्षित वर्ग तो वास्तव में 'काली चमड़ी वाला अंग्रेज' ही बन गया ।

अतः कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसे शिक्षित व्यक्तियों ने अंग्रेजों द्वारा अत्यंत चतुराई से प्रचारित इस असामान्य बेतुकेपन को कि हमारी पराजय और अवनति का मूल कारण हमारी जीवन-पद्धति है, बड़ी सरलता से अपने गले के नीचे उतार लिया । उन्होंने स्वसंस्कृति के प्रति अवमानना तथा विदेशीय जीवनादर्शों के प्रति मोहातिशयता से प्रेरित होकर हमारे राष्ट्रीय जीवन के पुनर्निर्माण के प्रयत्न प्रारम्भ किये । ब्रिटिशजनों ने भी अत्यन्त नीतिज्ञता के साथ देश के इस नीचे स्तर के नेतृवर्ग को संवर्धित करने का यत्न किया । विदेशी शासकों ने पददलित राष्ट्रों में स्वतन्त्रता के प्रचण्ड रोष को हल्का करने के उद्देश्य से सदैव सच्चे राष्ट्रभक्त तत्वों को दबाने तथा समझौतावादी तत्वों को पोषित करने की नीति अपनायी है ।

पशुता द्वारा देवत्व का मूलोच्छेदन

निकृष्ट अनुकरण की इस मनोवृत्ति का हमारे राष्ट्र जीवन पर विनाशकारी परिणाम हुआ। इसने हमारी जीवन-दृष्टि को ही बदल दिया। जैसाकि हमें विदित है, अनुकरण की प्रवृत्ति व्यक्ति की जीवन-दृष्टि की अन्तर्निहित प्रतिभा तथा मौलिकता के सर्वथा अभाव की परिचायिका है। अत: सर्वप्रथम, इस प्रवृत्ति के कारण हममें भौतिक विलास और शारीरिक सुखों के बेहद उपभोग के पाश्चात्य जीवन-ढाँचे का आलिंगन करने की उन्मत्त लालसा उत्पन्न हुई और हम स्वार्थ-त्याग और आत्म-संयम के श्रेष्ठ आदर्शों को छोड़ बैठे। पाश्चात्य जीवन तो बहिर्मुखी है। भौतिक सुखोपयोग इसका चरम आदर्श है।

व्यक्ति-स्वातंत्र्य के पश्चिमी विचार का अन्तर्निहित भाव यह है कि मन के ऊपर इन्द्रियों को उच्छृंखल आधिपत्य की पूर्ण छूट दे दी जाय और मनुष्य को बर्बर प्रवृत्तियों का दास बना दिया जाय। हमने भी पाश्चात्यादर्शों के अंधानुसरण में 'जीवन-यापन स्तर को उठाने' का नारा प्रतिध्वनित किया जिसका साधारण अर्थ यह है कि हम भौतिक वस्तुओं के और अधिक दास बन जायँ अथवा दूसरे शब्दों में मनुष्य को पशुता के दासत्व बन्धन में और अधिक जकड़ दिया जाय। पाशविकता के इस गौरवान्वयन का ही परिणाम है कि चारों ओर स्वार्थपरता और द्वेष का साम्राज्य है। आज के नवयुवक का बस एक ही जीवन-स्वप्न है---अधिकतम आनन्द और विलास।

राजनीति–प्रोक्रस्टीज की शय्या

इस अनुकरण प्रवृत्ति का दूसरा परिणाम यह हुआ कि अपने संस्कृति-प्रधान राष्ट्रीय जीवन का विस्मरण कर हम राजनीति को जीवन की धुरी मानने के थोथे विचार के शिकार हो गये। इस विपर्यस्त विचार का अनुसरण करते हुए हमने देश की जनता को 'राजनीतिक दृष्टि से जागरूक' होने की सलाह दी। यहां तक कि हम अपने समस्त जीवन-मूल्यों को राजनीति की आवश्यकताओं के अनुसार फिर से ढालने की बातें करने लगे। वस्तुत: राजनीति जीवन का पर्याय बन गयी और राजनीतिक अपरिहार्यता की क्षणिक सनक के अनुकूल उसे बनाने के लिए हमने अपने धर्म, अपनी भाषा और यहाँ तक कि अपने इतिहास को बदल डाला। राजनीति को तो प्रतिक्षण रंग बदलने वाली नीति कहा ही गया है---

वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा।

राजनीति तो समाज की सेवा का एक उपकरण, एक व्यवस्था मात्र है।

किन्तु यह बाह्य व्यवस्था ही सब कुछ नहीं है। जीवन नहीं है। किन्तु हमने साधन को ही भ्रम से साध्य समझ लिया। शरीर की आवश्यकता के अनुसार मनुष्य वस्त्र पहनता है, वस्त्र के आकार और बनावट के अनुसार तो अपने शरीर की काट-छाँट नहीं करता।

प्रोक्रस्टीज नामक हिंसक दस्यु की एक कथा है। कहते हैं कि वह पथिकों की असावधानता का लाभ उठाकर उन्हें अपने वन्य-कुटीर में आमंत्रण देकर लिवा ले जाता था तथा उसे एक खाट पर सुलाता था। यदि अभ्यागत पथिक उस खाट से लम्बा होता तो वह क्रूर लुटेरा उसकी अतिरिक्त लम्बाई को छाँट देता था और यदि छोटा होता तो बलपूर्वक खींचकर उसे लम्बा करता था। इस प्रकार वह डाकू पथिकों की हत्या करने के एक अभिनव ढंग को प्रयोग में लाता था। हमारे देश के नेतागण भी ठीक इसी प्रकार राजनीति की शय्या के हिसाब से हमारे राष्ट्र की काट-छाँट और खींच-तान कर रहे हैं जिसका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ है कि हमारा युग-पुरातन सामाजिक-जीवन पतन की भयावह दुरवस्था को प्राप्त हो गया है।

यह सुविदित है कि प्रत्येक परिवार का एक इष्टदेव होता है। किसी परिवार में इष्टदेवता के रूप में राम की उपासना होती है, किसी में भवानी की और किसी में शंकर की। इस इष्टदेवता के स्थान पर यदि किसी परिवार में किसी प्रेतात्मा की कुल देवता के रूप में प्रतिष्ठा की जाय तो उस परिवार का सर्वनाश निश्चित है। हम अपने देश में यही होते देख रहे हैं। अपने हृदय-सिंहासन से प्राचीन आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के इष्टदेवता को अपदस्थ कर उसके स्थान पर हमने भौतिकवाद तथा राजनीति की पाश्चात्य प्रेतात्मा को प्रतिष्ठित कर दिया है।

'स्व'–विरहित स्वातत्र्य

आजकल हमें सर्वत्र अपने जीवन ढाँचे को अमरीका, इंग्लैण्ड या रूस की जीवन-पद्धति के अनुसार पुनः ढालने के प्रयत्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं। हम उसे स्वतंत्रता किस प्रकार कहें जिसमें 'स्व' (राष्ट्रीय वैशिष्ट्य, अस्मिता) का लेश न हो। उसे तो परतंत्रता ही कहना चाहिए। यदि लेनिन को आदर्श मानकर राष्ट्र रचना की जायगी तो फिर 'स्व-तंत्र' कहाँ, वह तो लेनिन-तंत्र होगा। वास्तव में हमारी ऐतिहासिक परम्परा में सदा से स्वतंत्रता का मूल-अभिप्राय राष्ट्रीय जीवन-मूल्यों का अर्थात् स्वधर्म और स्वसंस्कृति का संरक्षण और संवर्द्धन माना जाता रहा है।

जिस प्रकार पहिया तभी घूम सकता है जब उसका धुरा पहिये के अन्दर हो बाहर नहीं, और अपने से बाहर केन्द्र वाले वृत्त का तो अस्तित्व ही असम्भव है। उसी प्रकार भारतीय जीवन भी यदि उसके जीवन का केन्द्र भारत से बाहर रहा तो, नष्ट-भ्रष्ट हुए बिना न रहेगा। यदि किसी व्यक्ति की निष्ठाएँ देश की सीमा के बाहर होती हैं तो उसे हम देश-द्रोही कहते हैं। तब क्या यह इससे भी बढ़कर देश-द्रोह नहीं है कि हम देश की सीमा के बाहर के आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण करें।

कुछ लोग हमसे पूछते हैं कि आप किस 'वाद' को मानते हैं। इस प्रश्न से ही स्पष्ट है कि प्रश्नकर्ता यूरोपीय विचार पद्धति के दास हैं और उन्होंने स्वयं को यूरोपीय 'वादों' की संकीर्णता में आबद्ध कर लिया है। वे सोच भी नहीं सकते कि हमारी भी कोई अपनी विचार-पद्धति है, हमारा भी कोई अपना ठोस अधिष्ठान है जिसके आधार पर आदर्श राष्ट्रीय जीवन का निर्माण किया जा सकता है।

हमें हीनता और अनुकरण की इन शृंखलाओं को तोड़कर स्वयं को मुक्त करना होगा। इसका यह अर्थ नहीं कि हमें दूसरे देशों में जो शिव और शुभ है उसे उनसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। वरन् यह कि उनको जैसे के वैसे ग्रहण न कर उनके श्रेष्ठ तत्वों को आत्मसात् कर हमें अपने राष्ट्र शरीर का रक्त-मांस बना लेना चाहिए। किन्तु हम तो उन पश्चिमी बातों को स्वीकार करने में अपने राष्ट्र की अस्मिता का ही त्याग कर रहे हैं। हमारी दशा उस व्यक्ति के समान होने जा रही है जो पेट में बलात् ठूँसे हुए भोजन को पचा सकने में असमर्थ और उसके भार के कारण मरणासन्न हो रहा है।

विदेशियों की यह मानसिक दासता हमारे स्वभावगत सद्गुणों को नष्ट कर हमें जगत् की दृष्टि में उपहासास्पद बना देगी। वह कुख्यात घटना तो हम सब जानते ही हैं कि हमारे देश के एक विदेशस्थ राजदूत ने पोप से बातचीत के दौरान यह कहा था कि जब तक मानवजाति के पास बाइबिल के 'सरमन आन दि माउण्ट' (ईसा मसीह का प्रवचन विशेष) की एक भी प्रति सुरक्षित है तब तक भगवद्गीता की समस्त प्रतियाँ अग्नि में झोंक देने पर भी विश्व की कोई भी क्षति नहीं होगी। 'प्रगतिशील' थैली के ही चट्टे-बट्टे एक अन्य राजदूत ने तो जिस देश में उनकी राजदूत के रूप में नियुक्ति हुई थी उस देश के लोगों को उपहार के रूप में भारत के राष्ट्रीय गानों के संग्रह में सिनेमा के एक घटिया प्रेम-गीत को सम्मिलित कर दिया था। हमारे देश के सौभाग्य से उनके अर्ध.नस्थ किसी कर्मचारी की देशभक्ति की भावना के कारण राष्ट्रीय अपमान की वह घटना होते-होते बच गयी।

आत्मा-विहीन शरीर

अन्धानुकरण की इस प्रवृत्ति को लक्ष्य कर एक बार एक पश्चिमी सज्जन ने आलोचना के स्वर में कहा था "जब मैं दिल्ली आया तो मुझे अनुभव हुआ कि मैं भारत में नहीं हूँ। यह लन्दन अथवा न्यूयार्क की सस्ती नकल मात्र है। यदि ऐसा ही चलता रहा तो मुझे लगता है कि आपके देश का भविष्य उज्ज्वल नहीं है। यह अधिक से अधिक किसी दूसरे देश का पिछलग्गू या दास राष्ट्र बन सकेगा।" यह कितनी विचित्र बात है कि जब कोई अंग्रेज हमारे देश में आता है तो हम उससे अंग्रेजी में बात करते हैं, जब हम लन्दन जाते हैं तो वहाँ भी अंग्रेजी ही बोलते हैं। हमें अपने 'अन्ताराष्ट्रीयतावादी' होने का अभिमान है। किन्तु यह राष्ट्रीय स्वाभिमान के निपट अभाव तथा अधम मानसिक दासता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित राजदूत पद पर नियुक्त होकर रूस गयीं तो उन्होंने अपना परिचय-पत्र अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत किया। किन्तु हमारे देश की राष्ट्रभाषा में न होने के कारण वह अस्वीकृत हो गया। तदुपरान्त उस परिचय-पत्र की हिन्दी प्रति प्रस्तुत की गयी। इसे पुनः लौटा दिया गया, कारण कि हिन्दी रूपान्तर में कुछ अशुद्धियाँ थीं। कितनी लज्जा की बात है!

हमारे देश में कतिपय अग्रगण्य जन हैं जो अपने लेखों और भाषणों में भारतीय संस्कृति और दर्शन की प्रशंसा करते नहीं अघाते और इस बात का भी दावा करते हैं कि उनके आधार पर हम विश्व का नेतृत्व कर सकते हैं। किन्तु इसे विडम्बना ही कहना चाहिए कि वे ही लोग अंग्रेजी को बनाये रखने तथा विदेशी व्यवस्था पद्धतियों और रीति-नीतियों को अंगीकार करने की आवाज उठाते हैं।

जिन दिनों ब्रिटिशों से हमारा संग्राम चल रहा था, विदेशी वस्त्रों की होलियाँ जलीं और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया। किन्तु अब जबकि ब्रिटिश लोग चले गये हैं, हम न केवल उनकी भाषा और वेशभूषा से चिपके हुए हैं, वरन् आज से दस वर्ष पूर्व हम जितनी विदेशी वस्तुएँ प्रयोग में लाते थे, उसकी कई गुना अधिक आजकल लाने लगे हैं। जिन जीवनावश्यक वस्तुओं का उत्पादन अपने देश में सम्भव नहीं यथा सैन्योपयोगी कतिपय सामान, दवाइयाँ इत्यादि, उनको विदेशों से आयात करने की नितान्त आवश्यकता तो समझ में आ सकती है। किन्तु ताश, लिपिस्टिक तथा ऐसी व्यर्थ की चीजों के लिये करोड़ों रुपये पानी में फेंकने की यह मूर्खता क्यों? क्रिकेट का व्ययसाध्य खेल, जो हमारे देश में न केवल फैशन बन गया है वरन् जिसके लिए

हम करोड़ों रुपये फूँकते रहते हैं, इस बात का प्रमाण है कि हमारे दिल और दिमाग पर अभी भी अंग्रेजी हावी है। पंडित नेहरू और अन्य संसत्सदस्यों ने कुछ वर्ष पूर्व जो क्रिकेट का मैच खेला था उसकी जड़ की गहराई में यह आंग्लपरता ही थी। उन्होंने अपने देश के राष्ट्रीय खेल कबड्डी को जिसकी प्रशंसा अनेक देशों ने एक महान् खेल कह कर की है, खेलना पसंद क्यों नहीं किया ?

यह भी कितनी अद्भुत बात है कि हमने पाश्चात्य सभ्यता के केवल भद्दे बाह्य स्वरूप को ही ग्रहण किया है और उनकी राष्ट्रीय गौरव तथा स्वदेश भक्ति की भावनाओं की ओर जो सम्पत्ति और विपत्ति की स्थितियों में समान रूप से पश्चिमीय लोगों की प्रत्येक क्रिया को अनुप्राणित करती हैं, हमारी दृष्टि भी नहीं जाती। कुछ दशाब्दियों पूर्व इंग्लड की सर्वतोमुखी सम्पन्नता और वैभव के बावजूद आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। इंग्लैंड के सभी नेता इस चुनौती का सामना करने के लिए एकमत और एकहृदय होकर जुट गये। इस हेतु उन्होंने स्वदेशी की भावना को पुनरुज्जीवित करने का निश्चय किया। उन्होंने इस दृष्टि से प्रदर्शनियों का आयोजन किया और अपने प्रचार-यंत्र को सक्रिय कर उसे गति प्रदान की। इंग्लैंड के राजा इस आन्दोलन की अग्रपंक्ति में थे। राजा तथा इतर नेताओं ने स्वयं स्वदेशी वस्तुओं का अबाध व्यवहार करना प्रारम्भ किया और इस प्रकार समूचे राष्ट्र के सामने आदर्श प्रस्तुत किया। इस प्रकार वे अपने देश को आर्थिक सर्वनाश के कगार पर से सुरक्षित खींच लाने में सफल हुए। इधर हम पाश्चात्य जीवन की चकाचौंध के व्यामोह में फँसे हुए स्वदेशी की भावना को तिलांजलि दे बैठे हैं और अपने राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ह्रास एवं सर्वनाश को बुलावा दे रहे हैं।

हमारे जीवन के पुण्यतम क्षेत्र भी आत्मा के इस क्षय से बचे नहीं रह सके हैं। विवाह हमारे यहाँ धार्मिक संस्कार माना जाता है। किन्तु उसमें भी न केवल बरात की अगवानी के समय अपितु शास्त्रोक्त पाणिग्रहण संस्कार के समय भी प्रायः वर की वेशभूषा आपाद मस्तक सूट-बूट और टाई युक्त अंग्रेज की सी ही होती है। बड़ा आघात लगता है, धार्मिक संस्कार के अवसर पर भी विदेशी व्यक्तियों का यह वानरानुकरण देखकर। हमें यत्र-तत्र-सर्वत्र यही नैराश्यपूर्ण अपमानास्पद दृश्य दिखाई देगा। जो राष्ट्र अपनी स्वजीवन पद्धति के प्रति निष्ठावान नहीं रहते वे अपने पाँवों आप कुल्हाड़ी मारते हैं और उनका भविष्य कभी उज्ज्वल नहीं हो सकता।

हमारे पूर्वज अपने राष्ट्रीय आदर्शों के प्रति सचेत थे और राष्ट्रीय स्वाभिमान के भाव उनमें जाग्रत थे। यही कारण है कि वे जगत भर में वंद्य

थे। अपनी आन्तरिक गरिमा की चेतना से सम्पन्न, वे विश्व के समक्ष अपनी बातों को आत्मविश्वास के साथ रखते थे। अपने लिए वे जिस 'आर्य' शब्द का प्रयोग करते थे, वह स्वयं ही संस्कृति और चारित्र्य का द्योतक था। उन्होंने सगर्व घोषित किया था कि—

न त्वेवार्यस्य दास्य-भाव:

(आर्य कभी दास नहीं हो सकता।) तथा

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन:।
स्वं, स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा:॥

(समस्त पृथ्वी के मनुष्य इस देश के अग्रजन्मा पुरुषों के चरणों में बैठकर अपने-अपने चरित्र की शिक्षा लें।)

आज भी अपने राष्ट्रीय जीवन और आदर्श के प्रति उत्कट प्रेम और गर्व के भाव ही हमारे देश के वास्तविक उज्ज्वल स्वरूप को विश्व के समक्ष उपस्थित करने में समर्थ हैं। इस भूमि के प्रत्येक पुत्र के हृदय में शुद्ध देशभक्ति की ज्वाला प्रज्ज्वलित करने की आवश्यकता है। ऐसे हृदयों की उष्णता और तेजोमयता ही हमारे देश में वर्तमान युग के मूढ़तारूपी अंधकार का निवारण करने में पूर्णतया समर्थ होगी।

इस दृढ़ निष्ठा को लेकर हम राष्ट्रीय कायाकल्प के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ें। अपने राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और भक्ति को विगलित करने वाले चातुर्य एवं बहुधा शठतापूर्ण तर्कों से हमें प्रभावित नहीं होना है। एक बार हमारे देश के एक अग्रगण्य व्यक्ति ने एक लेख में यह विचार व्यक्त किया था कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लोग 'कट्टर देशभक्त' हैं। हमें नहीं मालूम कि उनके इस कथन का आधार क्या था। किन्तु जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हम अनुभव करते हैं कि देशभक्ति में श्रेणियाँ नहीं होतीं। भक्ति तो आत्म-समर्पण की तथा अपने को, बिना किसी प्रकार 'स्व' का विचार किये, पूर्ण एवं नि:शेष रीति से उत्सर्ग कर देने की भावना है। सच्ची भक्ति आधे मन से कदापि नहीं हो सकती। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोग इस प्रकार की विशुद्ध देशभक्ति की भावना को सहन नहीं कर सकते। हो सकता है यह इतनी उष्ण हो कि वे उसके ताप को सहन न कर पाते हों। सम्भवत: इसी से उन्हें देशभक्ति के श्रेणियों में विभाजन की आवश्यकता प्रतीत होती है—उष्ण, मन्दोष्ण तथा शीतल। जिन्होंने साहसपूर्वक भक्ति का प्याला अन्तिम घूंट तक पिया है उन्हें मतान्ध या कट्टरपंथी जैसे शब्दों से भयभीत या दिग्भ्रान्त होने की आवश्यकता नहीं है। हम तो ललकार कर कहते हैं—

"हाँ हम उस प्रकार की उत्कट तीव्र ज्वालामय देशभक्ति का निर्माण करने में संलग्न हैं।"

राष्ट्रीय गौरव-स्रोत

सचमुच अत्यन्त प्राचीन युग से हमारे समाज के महान् निर्माताओं के जीवन में ये गुण व्याप्त रहे हैं। निःस्वार्थ, आत्मविश्वासयुक्त और निष्ठावान् ध्येयसेवी तथा राष्ट्रीय वैशिष्ट्याभिमानी जनों ने ही सदैव राष्ट्रीय विपदा के काल में अपने राष्ट्र के सुप्त पौरुष को जगाया और उसे खंडहरों के ढेर पर से पुनः उठाकर गौरव के साथ खड़ा किया है। निश्चय ही ऐसे पुरुष राष्ट्र के प्राण होते हैं। प्राचीन समय में भी शिक्षित तथा मेधासम्पन्न युवक व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं के समस्त विचार को तजकर समाज की सेवा और उन्नति के लिए अग्रसर होते रहे हैं। वे निःस्वार्थ सेवा, त्याग और चारित्र्य की जीवित प्रतिमाएँ थे। वे कंदमूल खाकर अथवा द्वार-द्वार भिक्षाकण माँग कर अपने भौतिक अस्तित्व को बचाये रखते थे। उनकी समस्त शक्ति सामान्य जन के कल्याण के एकमात्र कार्य में ही लगती थी। वे लोगों से मिलते थे, उनके सुख-दुःख में समरस होते थे, उनके भौतिक अभावों और क्लेशों को शमित या न्यून करने का प्रयत्न करते थे और उन्हें जीवन के उच्चतर मूल्यों से अनुप्राणित करते थे। उन प्रज्ञावान्, स्वार्थत्यागी युवकों का हृदय उच्च शिखर के समान था, जहाँ से प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों की धाराएँ प्रवाहित होकर हमारे समाज के सभी स्तरों को सिक्त कर देती थीं। वे सनातन स्रोत थे जहाँ से सांस्कृतिक श्रेष्ठता तथा भौतिक ऐश्वर्य की युगल धाराएँ राष्ट्रीय जीवन को आकण्ठ पूरित करती हुई बहती थीं और हमारे राष्ट्र को भौतिक श्री एवं आध्यात्मिक गौरव का प्रकाश स्तम्भ बनाती थीं।

माँ की अभिलाषा

हम उन महान् आदर्शों के अनुसार पुनः अपना आचरण ढालें। हम वर्तमान समय के समस्त क्लैव्यकारी विचारों को तजकर अपनी प्यारी एवं पवित्र मातृभूमि के हित राष्ट्रीय गौरव से ओतप्रोत, सेवा, आत्मविश्वास तथा समर्पण के भव्य भावों को श्वास-प्रश्वास में बसाये हुए, सच्चे जीवंत पुरुष बनें। इस प्रकार के ध्येयसेवी (मिशनरी) उत्साह से प्रज्ज्वलित तरुणों का वृन्द ही हमारे देशवासियों में कार्य करने तथा देश को आभ्यन्तर एवं बाह्य संकटों की विभीषिका से बचाने के लिए समुद्यत होने की प्रेरणा दे सकेगा।

हमें स्वयं को भाग्यशाली समझना चाहिए कि हम वर्तमान संकटपूर्ण घड़ी में जन्मे हैं। अनेक लोग शान्ति, समृद्धि, श्री एवं शक्तिसंपन्न राष्ट्र में जन्म लेने को ही सौभाग्य की बात मानते हैं। आज हमारे देश में ऐसे लोग पर्याप्त संख्या में हैं जो इस प्रकार से सोचते हैं और वहाँ के सुख-विलासों से प्रलुब्ध होकर अमरीका, इंग्लैण्ड आदि देशों में जा बसते हैं। किन्तु वास्तविक वीरता से युक्त पुरुष कुछ और ही सोचते हैं और इस बात के लिए ईश्वर को धन्यवाद देते हैं कि इस देश में रहते हुए उन्हें कठिनाइयों, अभावों, विपदाओं और कष्टों का सामना करना पड़ रहा है जिसमें से अपने प्रयत्नों एवं संघर्षों के द्वारा उनका निवारण कर समृद्धि की ओर जाने का उन्हें अवसर मिला है। वैभव, समृद्धि तथा विपुलता के काल में हमारे जीवन का अर्थ होगा केवल जन्म लेना, कुछ काल तक सुख-सुविधापूर्वक जीवन-यापन करना तथा एक दिन मर जाना। किन्तु विपरीत परिस्थितियों में हमें अपने अन्दर के सर्वोत्तम को प्रकट करने, अपने पौरुष की परीक्षा करने और विश्व के समक्ष भव्यतापूर्ण प्रचण्ड व्यक्तित्व के रूप में खड़े होने का अवसर मिलता है। हमें अपनी पूर्ण उच्चता को प्राप्त करने और मानव-कल्पना की उच्चतम उड़ान के भी आगे की ऊँचाई तक उड़ान भरने का सुयोग प्राप्त होता है।

आज, माँ को, अन्य सभी बातों से अधिक आवश्यकता है ऐसे पुत्रों की जो तरुण, मेधावी, त्यागी और इनसे भी बढ़कर वीर्यवान् तथा पौरुषसम्पन्न हों। जब नारायण–शाश्वत ज्ञान, तथा नर–शाश्वत पौरुष–का संयोग होता है, विजय निश्चित समझनी चाहिए और ऐसे सत्पौरुष, प्रभाव-सम्पन्न पुरुष ही इतिहास के निर्माता होते हैं।

* * *

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
की स्मृति में सादर भेंट—
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य

२२

ध्येयवादी मनुष्य

ऊँचा किन्तु बेकार

राष्ट्र को पुनर्गठित करने का पवित्र लक्ष्य, अर्थात् अपने सभी भाइयों को समान चिरकालिक भ्रातृभावना में आबद्ध करने का कार्य अत्यन्त जटिल हैं, क्योंकि जिन्हें हम संगठित करना चाहते हैं वे हमारे बन्धु आज विविध कारणों से एक दूसरे से पृथक्, छिन्न-विच्छिन्न अवस्था में हैं। उनमें से प्रत्येक को संगठन में अनुकूल कार्य देते हुए राष्ट्र की सेवा के लिए योग्य बनाने का कार्य कोई सरल कार्य नहीं है। इसमें अनेक प्रकार की मानव-प्रकृतियों के परस्पर व्यवहारों का समावेश होने के कारण इसके कार्यकर्ताओं के लिए आचरण के स्थूल नियमों का बनाना भी कठिन है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक निजी व्यक्तित्व होता है और इस कारण उसके साथ एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार की आवश्यकता होती है। इसलिये हम यहाँ राष्ट्रीय लक्ष्य के प्रति निष्ठावान कार्यकर्ता के लिए मुख्य मार्गदर्शक रेखाओं पर ही ध्यान केन्द्रित करेंगे।

जिस समय व्यक्ति राष्ट्र के पुनर्निर्माण का ध्येय लेकर कार्य करना आरम्भ करते हैं तब उनके सामने पग-पग पर दो मुख्य बाधायें आती हैं। जिनमें एक है राष्ट्रीय चेतना का अभाव और दूसरी है अपने लोगों में संगठित जीवन की भावना की कमी। इसलिए उन्हें दूसरों के कार्यों पर अभिप्राय व्यक्त करने का तथा उन्हें अपने से नीचा समझने का प्रलोभन सदैव प्राप्त रहता है। इससे प्राय: आत्मश्लाघा और गर्व का उदय होता है। यह पहला गर्त है जिससे राष्ट्रीयकार्य के कार्यकर्त्ता को बचना चाहिए। यदि वह इस पूर्वधारणा को

लेकर कार्य आरम्भ करता है कि दूसरे लोग सब बेकार हैं तो भला वह लोगों के बीच कार्य किस प्रकार कर सकता है और उनके प्रेममय सहयोग को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

इतना बड़ा हो जाने से क्या लाभ कि जिससे अपने ही लोगों में प्यार और मैत्री की भावना से मिल-जुल भी न सके। सन्त कबीर ने कहा है---

ऊँचा भया तो क्या भया, जैसे पेड़ खजूर।
पथिकन को छाया नहीं, फल लागैं अति दूर।।

तुलनात्मक दृष्टि से छोटे वृक्ष भी, जो थोड़ी छाया और थोड़े फल दे सकते हैं, उससे अधिक उपयोगी होंगे।

इसलिये यदि किसी कार्यकर्त्ता में महान् गुण हैं तो भी उसे अपनी ऊँचाई से उतर कर सामान्य जनों के स्तर पर जाना चाहिये और समाज में अपने शेष भाइयों के साथ मिलना-जुलना चाहिये। उसे दूसरों के साथ इस प्रकार एकरूप होना चाहिए कि वे उसे असाधारण न समझते रहें। अपनी योग्यता एवं त्याग की चेतना से उत्पन्न पृथकत्व की किंचित् छाया भी उसके और अन्य लोगों के मध्य में न आने पावे। अन्ततः कार्यकर्त्ता जिन विविध सद्गुणों को स्वयं में उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील रहता है वे सब समाज-देवता के चरणों पर ही तो चढ़ाने के लिए हैं। यही है वास्तविक महानता का सार।

साधारण को महान् बनाना

इसी प्रकार से तो हमारे युग-निर्माताओं ने अपने समाज की बिखरी हुई शक्तियों को संगठित कर एक महान् अजेय शक्ति में परिवर्तित किया था। शिवाजी गरीब निरक्षर कृषकों में अत्यन्त प्रेम और भ्रातृत्व के भाव से मिले, आदर्श के वातावरण में उनका पोषण किया तथा उन्हें विजयी राष्ट्रीय वीरों के रूप में बदल दिया। वे उन लोगों तक पहुँचे जो मुसलमान बादशाहों की गर्हित दास्य-वृत्ति को ही सब कुछ मान बैठे थे और उन्हें स्वदेश एवं स्वधर्म का कार्य करने के लिये आकृष्ट किया। अद्वितीय योद्धा मोरार जी देशपाण्डे एक ऐसा ही रत्न था जिसे उन्होंने शत्रुओं से छीन लिया। उन्होंने ऐसे अनेकों को पुनः शुद्ध किया जो मुसलमान स्त्रियों के प्रलोभन तथा मुसलिम राजसत्ता के व्यामोह एवं अत्याचारों के कारण मुसलमान हो गये थे। उनके एक सेनानायक नेता जी पालकर, जिन्हें औरंगजेब ने पकड़ कर मुसलमान बना लिया था, बाद में निकल कर शिवाजी के पास आये। शिवाजी ने उन्हें पुनः हिन्दू समाज में सम्मिलित कर लिया तथा अन्य लोग उनसे मिलने में कुछ संकोच न करें

इसलिऐ अपने ही परिवार की एक कन्या का उनसे विवाह कर रक्त-संबंध स्थापित कर लिया। राष्ट्र के संघटन के लिए उनकी दृष्टि कितनी व्यापक थी।

प्राचीन काल का श्रीकृष्ण के जीवन का भी एक इसी प्रकार का उदाहरण है। विश्व को नरकासुर की भीति से मुक्त करने के पश्चात् उसके द्वारा अपहृत सहस्रों स्त्रियों को उन्होंने छुड़ाया था, जिनके कारण समाज के नेताओं के सम्मुख एक गम्भीर समस्या खड़ी हो गई थी। उस समय श्रीकृष्ण जी स्वयं आगे आये। उनके मस्तिष्क एवं हृदय के अनुपमेय गुणों के कारण सारा संसार उन्हें महानतम धर्म-निरूपक मानता था। औपचारिक रूप से उन्होंने उन सब स्त्रियों को अपनी धर्म-पत्नी घोषित कर उन्हें समाज में सम्मानपूर्वक स्थान प्रदान किया। वास्तव में समाज का यही उच्चतम धर्म है कि अपने प्रत्येक सदस्य को, वह कितना ही निम्न स्तर का क्यों न हो, समाज में सम्मान का एवं उपयोगी स्थान प्राप्त करा दे। कवि मोरोपन्त ने कहा है—

परि प्रभुहि संग्रही सकल वस्तुला ठेविती।
गुणा न म्हणता उणा अधिक आदरे सेविती॥

[महान् व्यक्ति सभी वस्तुओं को अपने पास रखते हैं, किसी वस्तु को व्यर्थ कह कर त्यागते नहीं।]

पूर्वावश्यक वस्तु

यह सत्य है कि सद्गुणों और दुर्बलताओं में सब एक समान नहीं होते। फिर भी उन्हें समान सुघटित संगठन में एक साथ लाना पड़ता है जिससे कि प्रत्येक मनुष्य को इस बात की प्रेरणा मिले कि उसमें जो कुछ शक्ति और सद्गुणों की दृष्टि से सर्वोत्तम है उसे वह समाज के लिए अर्पण करे। इसकी उपलब्धि के लिए राष्ट्र के कार्यकर्ता में समाज के साथ पूर्ण तादात्म्य की भावना की सर्वप्रथम आवश्यकता है।

एक बार एक साधु एक कुत्ते को अपनी गोद में लिए हुए सड़क के किनारे पड़ी हुई जूठन के टुकड़ों को बड़े प्रेमपूर्वक उस कुत्ते के साथ-साथ स्वयं भी खा रहा था। उसके निकट से जाते हुए एक व्यक्ति ने उसे पहुँचा हुआ महात्मा जाना और उसके पास गया। किन्तु उसे देखकर वह साधु भाग खड़ा हुआ और उसे अपना पीछा करने से विरत करने के लिए उसकी ओर पत्थर फेंकने लगा। लेकिन उसे पीछा करने में दृढ़ देखकर उस साधु ने ठहर कर पूछा कि---"तुम मेरे पीछे क्यों आ रहे हो?" उस व्यक्ति ने उत्तर दिया—"महाराज, मुझे ज्ञात हो गया है कि आप पहुँचे हुए महात्मा हैं, आपने ईश्वर

का साक्षात् कर लिया है, कृपया मुझे भी वह मार्ग बताइए।" साधु ने कहा--"अच्छा, तुम यह शहर की नाली का पानी यहाँ बहते हुये देख रहे हो। जिस दिन तुम्हें यह अनुभूति हो जायगी कि यह गंगा-जल से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है, उस दिन तुम ईश्वर का साक्षात् करने योग्य हो जाओगे।" सामाजिक संघटना का कार्य, जो वास्तव में राष्ट्र-देवता का साक्षात्कार करने का ही कार्य है, इसी प्रकार की तादात्म्य की भावना के आधार पर चलाया जा सकता है जो हममें सड़क के एक भिखारी और एक महान् विद्वान् दोनों ही को प्रेम और भ्रातत्व की समान दृष्टि से देखने की योग्यता निर्माण करेगी।

मिथ्याभिमान की वृत्ति से बचो

इस सम्बन्ध में एक ऐसी महत्वपूर्ण बात है जो राष्ट्र के ध्येय-सेवी व्यक्ति के ध्यान में सतत रहना चाहिए। उसका सभी के साथ का स्नेह और घनिष्ठता का व्यवहार ऐसा हो कि उसमें दम्भ और बनावटीपन का कहीं चिह्न भी न रहे। न उसमें दयालुता के बनावटी भावों के लिए ही कोई स्थान होना चाहिए। कोई संगठन केवल शिष्ट किन्तु सारहीन व्यवहार के आधार पर पनप नहीं सकता। कार्यकर्ता की भ्रातृत्व की भावनाएँ स्वाभाविक एवं स्वतः स्फूर्त होना चाहिए। उसे सम्पूर्ण समाज को परमातमा का व्यक्त स्वरूप इस दृष्टि से देखते आना चाहिए। बाह्म आकृति पर विचार न करते हुए प्रत्येक व्यक्ति में उसे वही दिव्यता का स्फुलिंग दिखाई देना चाहिये। हमारी संस्कृति आन्तरिक एकता की अनुभूति से यही समानता की दृष्टि प्राप्त करने के लिये हमें प्रेरित करती है।

एक बार प्रसिद्ध दार्शनिक राजा जनक के दरबार में बैठे विद्वानों की सभा में बालक महात्मा अष्टावक्र पहुँच गये। नवागन्तुक की कुरूपता को देखकर एकत्रित विद्वान् अपनी हँसी को नहीं रोक सके। बालक ने शान्तिपूर्वक कहा—"मैं तो यहाँ इसे दार्शनिकों की सभा समझ कर आया था। किन्तु अब मुझे ज्ञात हो रहा है कि मैं गलत स्थान पर आ गया हूँ, क्योंकि यहाँ तो केवल मोची और कसाई ही हैं।" उस सम्मानित सभा-मंडली को इस बात पर बड़ा धक्का लगा। जनक ने बालक से उसके इस कथन की व्याख्या करने को कहा। बालक साधु ने उत्तर दिया—"इन सज्जनों ने मेरी हड्डी, मांस और चमड़े से मुझे पहिचाना है। कसाई हड्डी और मांस का व्यापार करता है और मोची चमड़े का। सच्चा दार्शनिक तो मनुष्य की आत्मा को पहचानता है, जो सबमें एक ही है।

स्वर्णिम समन्वय

कोई कितना ही गुणवान और महान् क्यों न हो उसे यह नहीं विस्मरण करना चाहिए कि दूसरों में भी गुण होते हैं। यह कल्पना करना धृष्टता होगी कि सर्वशक्तिमान् ने ज्ञान का दीप कुछ ही लोगों को दिया है और शेष सभी को अँधेरे में रखा है। हमारे प्राचीन ऋषियों तक ने जो अत्यन्त गर्व के साथ अपने को 'आर्य' कहते थे और जिन्होंने सम्पूर्ण विश्व को आर्य बनाने का निश्चय किया था, यह घोषणा की थी कि अन्य अर्थात् म्लेच्छों में भी उदात्त एवं श्रेष्ठ व्यवहार की क्षमता है। हमारे पूर्वजों में यह एक अद्वितीय गुण था कि वे दूसरों के आत्म-सम्मान को बिना ठेस पहुँचाये उन्हें अपना बना लेते थे। राष्ट्र के पुनरुत्थान का कार्य इसी भावना अर्थात् किसी को भी न छोड़ने और सबका सम्मान करने से चलना चाहिए।

राष्ट्र के कार्यकर्ता को सर्वप्रथम इस दृढ़ विश्वास के साथ कार्य आरम्भ करना चाहिए कि सभी व्यक्ति सद्गुण-सम्पन्न, भले एवं उत्तरदायित्व निभाने योग्य हैं अथवा बनाये जा सकते हैं, किसी में भी मूर्खता या देशद्रोह की वृत्ति अर्तनिहित नहीं है। कभी-कभी उसे कुछ व्यक्तियों की आलोचना करना आवश्यक हो सकता है जिनके विचार और कार्य राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध जाते हों। किन्तु ऐसा करते हुए भी उसे उनके व्यक्तित्व के प्रति उचित सम्मान व्यक्त करना चाहिए और उनकी अच्छी बातों को स्वीकार करना चाहिए।

सौजन्य में विश्वास का प्रतिपादन

वास्तविकता यह है कि दूसरों में भलाई को पहचान लेना मानव गुणों में से एक सर्वोत्तम और विरल गुण है। कार्यकर्त्ता के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त होना चाहिए दूसरों के गुणों के बीजों का सिंचन करना तथा उनकी बुराइयों को सावधानी से बिना दूसरों पर प्रकट किए हुए और अपने श्रेष्ठ चरित्र का उदाहरण उनके सामने रख कर दूर करना। अनेक व्यवहार-कुशल लोगों का यह उपदेश है कि लोगों से उनकी योग्यतानुसार, काम के लिए आवश्यक, केवल औपचारिक भावना से व्यवहार करना चाहिये। किन्तु जिसने सम्पूर्ण समाज को संगठित करने का अपना जीवन लक्ष्य बना लिया है उसके लिए जैसी वृत्ति की आवश्यकता है, यह उपरोक्त औपचारिक भाव उसके विपरीत होगा। अपने भाइयों के हाथों बार-बार झिड़की और अपमानों के होने पर भी कार्यकर्ता को उसी प्रेम और सेवा के भाव से उनके द्वार पर पुनः पुनः जाना ही चाहिये।

एक बार एक साधु ने नदी में स्नान करते हुए एक बिच्छू को धारा में

बहते देखा। उसने एकदम उसे बचाने के लिए अपना हाथ आगे बढ़ाया। किन्तु उसके डंक मारने पर उसने उसे छोड़ दिया। उसने पुनः उसको पकड़ कर किनारे पर फेंक देना चाहा। बिच्छू ने पुनः डंक मारा। उसने बार-बार यह प्रयास किया और बिच्छू ने भी प्रत्येक बार उसको डंक मारा। किन्तु अन्त में उसने उसे पानी से बाहर फेंक ही दिया। एक व्यक्ति जो वह आश्चर्यजनक दृश्य देख रहा था, बोला कि तुम कितने मूर्ख हो कि बिच्छू की डंक मारने की प्रवृत्ति को भलीभाँति जानते हुए भी उसे बचाने का बार-बार प्रयत्न करते रहे। साधु ने शान्ति से उत्तर दिया—"हाँ, जबकि इस प्रकार का जड़जीव भी अपने स्वाभाविक प्रवृत्ति को नहीं त्यागता तो क्या मेरे जैसे बुद्धि-सम्पन्न मनुष्य को अपनी प्रवृत्ति को त्याग देना चाहिये ?"

अविचल साहचर्य का निर्माण

अन्ततः इसी समाज में अपने भाइयों के सम्बन्ध में उनका हमारे प्रति जन्मजात विरोध होने का प्रश्न उठता ही नहीं है। कार्यकर्ता को जो कुछ उपेक्षा और विरोध का सामना करना पड़ता है वह उन भाइयों के अज्ञान के ही कारण है, और उसका अल्पकाल टिकना निश्चित ही है। इसलिये उसे प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचना चाहिए, जीवन में उसका वर्तमान भाव और अवस्था कुछ भी क्यों न हो। उसके अन्तर्जात सौजन्य में विश्वास रखते हुए मित्रता और समानता के भाव से कार्यकर्ता मिलता रहे। उसे यह भी आत्मविश्वास होना चाहिए कि वह अपने विशुद्ध स्नेह और उन लोगों के प्रति सम्मान की भावना तथा अपने श्रेष्ठ चरित्र के उदाहरण द्वारा लोगों की विविध दुर्बलताओं, बुराइयों एवं स्वभावगत विभिन्नताओं पर विजय प्राप्त करेगा।

अच्छा चरित्र ही पर्याप्त नहीं होता। ऐसे भी लोग हैं जो शुद्ध चरित्र से तो सम्पन्न हैं किन्तु जिनकी वाणी और व्यवहार अत्यन्त अशिष्ट तथा चुभने वाले हैं। वे अपनी अशिष्टता पर भी गर्व करते हैं। वे कहते हैं—"हम साफ-साफ बात करते हैं, यदि किसी को बुरा लगे तो हमें उसकी जरा-भर भी परवाह नहीं है।" किन्तु जिस कार्यकर्ता ने राष्ट्र के संगठन के लिए स्वयं को निष्ठापूर्वक समर्पित किया है, उसका ऐसा बनना उसके लिए कदापि लाभप्रद नहीं होगा। राष्ट्र के कार्यकर्ता के लिए वाणी का माधुर्य अनिवार्य गुण है। एक राजा की कहानी है, जो अपनी आयु के सम्बन्ध में सदैव ज्योतिषियों से पूछा करता था। उससे सभी ज्योतिषियों ने यही कहा कि उसका जीवन बहुत लम्बा है किन्तु उसका पुत्र उसके सामने ही मर

जायगा। यह दुःखद बात स्वाभाविक ही उस राजा को क्रोधित कर देती थी और वह उन ज्योतिषियों को दण्डित करता था। अन्त में एक बूढ़ा ज्योतिषी आया और उसने कहा कि महाराज आप तो बड़े ही भाग्यशाली हैं। आप अपने हाथों अपने पौत्र को राजसिंहासन पर बैठायेंगे। राजा ने अत्यन्त प्रसन्न होकर उस ज्योतिषी को भली प्रकार से पुरस्कृत किया। अन्य ज्योतिषियों की भाँति उसने कटु भविष्यवाणी करने के स्थान पर उसी सत्य को भिन्न प्रकार से एक मधुर ढंग से कहा था। और इसी में सब अन्तर था। इसीलिए कहा गया है कि "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्।"

जब कार्यकर्ता अपने चरित्र की शक्ति के साथ वाणी एवं व्यवहार के माधुर्य का संयोग कर देता है तभी वह दूसरों को एकत्रित करके सभी प्रकार की परीक्षाओं एवं कष्ट में साहचर्य-भावना के साथ खड़ा कर सकता हैं।

चन्द्रशेखर आजाद का एक उदाहरण है। आजाद का नाम भी चरित्र, साहस और क्रान्तिकारी भावना का एक उपाख्यान हो गया है। अंग्रेजों की सम्पूर्ण गुप्तचर सेना उनका पीछा कर रही थी। एक बार जब वह गुप्त रूप से अपने एक मित्र के यहाँ, जो सरकारी नौकर थे, रहते थे, उस समय पुलिस ने संदेह में उस मकान को घेर लिया। वह मित्र जोर-जोर से पुलिस की बात का प्रतिवाद कर रहा था और यह विश्वास दिला रहा था कि वह चन्द्रशेखर के विषय में कुछ नहीं जानता। घर के अन्दर मित्र की पत्नी ने आवाज सुनी। चन्द्रशेखर भी अन्दर बालकों के साथ खेल रहे थे। वह संक्रान्ति का दिन था। उस महिला ने एक क्षण में ही सोच लिया और डाँटती हुई जोर की आवाज में कहा—"अरे मूर्ख नौकर, तू यहां बच्चों के साथ समय बरबाद कर रहा है। उठ, टोकरी ले, हमें अभी पड़ोसियों में मिठाई बाँटना है।" तुरन्त ही चन्द्रशेखर नौकर की भांति उठे और एक टोकरी सर पर रख कर उस महिला के पीछे-पीछे चल दिये। तथा पुलिस की आँखों के सामने ही घर से निकल गये। मिठाई वितरण के पश्चात् न तो चन्द्रशेखर ही वापस आये और न टोकरी ही। जो व्यक्ति घर के बच्चों में आनन्द से खेलता रहता था उसने साथ ही साथ उस परिवार को राष्ट्र-भक्ति, साहस एवं विचक्षणता का वास्तविक दुर्ग बना दिया था। हम जहाँ भी रहें और काम करें हमारा यही ढंग होना चाहिए, यही आदर्श होना चाहिए।

सभी सद्गुणों का एक शत्रु

जब कार्य बढ़ता है तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करते हुए प्रभावी होने लगता

है तो लोग स्वाभाविकतः ही कार्यकर्ताओं की प्रशंसा करना आरम्भ कर देते हैं। कार्यकर्ता के लिए वही खतरे का स्थान है। उसमें अपनी योग्यता और प्रभाव की चेतना जागृत होती है और उसमें एक प्रकार का मिथ्याभिमान उत्पन्न हो जाता है। तब जो भी उसके निकट आते हैं उनकी नाक में उसके अहंकार की दुर्गन्ध प्रवेश करती है और वे उससे स्वयं को पर्याप्त दूर रखने का प्रयत्न करने लगते हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने अहंकार की विचित्र प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है।

नवल अहंकाराचे गोठी। विशेष न लगे अज्ञानाचे पाठी।
ज्ञानी याचे पड़ी कण्ठी। महा संकटी घालितसे ।।

(अहंकार की गति विचित्र होती है। यह अज्ञानियों का स्पर्श नहीं करता किन्तु विद्वानों की गर्दन पकड़ कर दबोच लेता है और उनके लिए गम्भीर संकट उपस्थित कर देता है।)

अतएव उसे अत्यन्त सावधानी से सब ओर दृष्टि रखनी चाहिए जिससे कि वह इस अहंकार की प्रतारक गतिविधियों का शिकार न हो जाय। अपने गुणों का मिथ्याभिमान सभी सद्गुणों का शत्रु है। इसमें से प्रलोभन उत्पन्न होने लगते हैं।

हमारे प्राचीन साहित्य में जैमिनी की एक कथा है। वह महर्षि व्यास के शिष्य थे। व्यास ने एक बार उनसे एक श्लोक लिखने के लिए कहा—

बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।

(अर्थात् इन्द्रियों का आकर्षण विद्वान् को भी विभ्रान्त करता है।)

जैमिनी को अपने आत्मसंयम की शक्ति पर आवश्यकता से अधिक विश्वास था, उन्होंने कुछ शब्दों में परिवर्तन कर उसे निम्न प्रकार से लिखा—

बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांस नापकर्षति।

(इन्द्रियों का आकर्षण विद्वान् को विभ्रान्त नहीं करता।)

व्यास ने इसे देखा और कुछ समय के लिए शान्त रहे। जैमिनी एक वन में रहते हुए तपस्या कर रहे थे। एक दिन सायंकाल में वर्षा और तूफान आया। एक सुन्दरी युवती पानी में भीगी हुई उस अन्धकार में आश्रय खोजती हुई उस युवा तपस्वी की कुटी में आई और रात में टिकने की अनुमति के लिए प्रार्थना करने लगी। धूनी में अग्नि थी, वहाँ जाकर वह अपने कपड़े सुखाने लगी। उसी समय हवा के एक झोंके से उसकी साड़ी उड़ गई और वह नग्न हो गई। युवा जैमिनी का संयम जवाब दे गया। वह उस तरुणी के पास

पहुँचे और अपनी कामुक इच्छा को तृप्त करने की प्रार्थना करने लगे। उसने उन्हें इस काम वासना से विरत करने के लिए प्रयत्न किया, समझाया कि वह तपस्वी हैं उन्हें ऐसे प्रलोभनों में नहीं पड़ना चाहिये किन्तु सब व्यर्थ हुआ। अन्त में उसने इस शर्त पर उनकी इच्छा पूर्ण करना स्वीकार कर लिया कि वह उसे अपने कन्धे पर बैठा कर अग्नि की तीन परिक्रमा करें। अपने कामोन्माद में वह इसके लिए भी तैयार हो गये और उस स्त्री को अपने कन्धों पर उठा लिया। जैसे ही उन्होंने अग्नि की परिक्रमा आरम्भ की वह उनके सर को पीटते हुए उनसे उलाहना देकर पूछने लगी—"विद्वांसं नापकर्षति।" उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि एक स्त्री उनके गुरु के वचनों का उन्हें स्मरण दिला रही है। उन्होंने अपनी परिक्रमायें समाप्त कर उसे कन्धे से उतार कर जब खड़ा किया तो यह देखकर चकित रह गये कि स्वयं उनके गुरु वेदव्यास सामने खड़े हुए उनकी ओर देख रहे हैं तथा उनके अधरों पर एक सार्थक मुसकान है। जैमिनी पश्चात्ताप में डब गये। वे तुरन्त गये और उस श्लोक को मूल रूप में परिवर्तित कर दिया।

आत्मविश्वासी बनो, गर्व से सावधान

हमारे सभी महापुरुषों ने निश्चल भाव से यही आज्ञा दी है कि प्रत्येक व्यक्ति को वह कितना ही भला और सद्‌गुण सम्पन्न क्यों न हो, अपने सब व्यवहार में नम्र एवं कुशल होना चाहिए। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि लोगों के साथ कार्य करते हुए अथवा कठिन परिस्थितियों का सामना करते हुए कार्यकर्ता को अपना आत्मविश्वास खो देना चाहिए। सभी बड़े कार्यकर्ताओं में आत्मविश्वास तो वास्तविक रूप से उनका जीवन प्राण होता है।

शान्त, स्थिर एवं आत्मविश्वासी मनुष्य ही कठिनतम कामों को कर सकते हैं। इंग्लैंड के वृद्ध पुरुष-सिंह विंस्टन चर्चिल का वह चित्र हमारे सामने निराकुल आत्मविश्वासी मस्तिष्क की शक्तियों की एक कल्पना प्रस्तुत करता है जिसमें वह द्वितीय विश्वयुद्ध में बमवर्षा से ध्वस्त लन्दन नगर के ध्वंसावशेष के एक ढेर पर सीधा खड़ा हुआ अपने देशवासियों से कह रहा है कि—"मैं यहाँ रोने नहीं आया हूँ वरन् रक्त, स्वेद, परिश्रम और आँसू तथा विजय का आश्वासन देने आया हूँ।"

जैन साहित्य में एक सुन्दर कथा है। एक बार श्रीकृष्ण, बलराम और सात्यकि एक वन में भटक गये। उन्होंने एक वृक्ष के नीचे रात्रि बिताने का विचार किया और यह निर्णय किया कि प्रत्येक दो-दो घंटे पहरा देगा।

आरम्भ में सात्यकि जागता रहा और अन्य दोनों लोग सो गये। किन्तु थोड़ी देर बाद एक ब्रह्मराक्षस पेड़ पर से कूदा और उसने सात्यकि को धमकाया कि वह तीनों ही को खा जायगा। सात्यकि को क्रोध आया और वह उस राक्षस से युद्ध करने लगा। किन्तु सात्यकि को यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि वह राक्षस आकार और शक्ति में बढ़ता ही जा रहा है। सात्यकि अत्यन्त क्षुब्ध हो गया। दो घण्टे के बाद पूर्णतया थक कर उसने बलराम को जगाया और स्वयं सोने चला गया। जैसे ही सात्यकि ने अवकाश लिया कि राक्षस भी थोड़ी देर के लिए लुप्त हो गया किन्तु जब बलराम उठे तो पुनः प्रकट हुआ। बलराम ने उसकी अपार शक्ति को जानकर क्रोध से मत्त होकर उससे युद्ध करना शुरू किया किन्तु उनकी भी वही दशा हुई। दो घंटे के व्यर्थ युद्ध के पश्चात् उन्होंने भी श्रीकृष्ण को जगाया और सोने चले गये। राक्षस ने श्रीकृष्ण का सामना किया। किन्तु वे शान्त बने रहे। उन्हें अपनी अति विशाल शक्तियों का ज्ञान था और जानते थे कि इस राक्षस से कैसे निपटना चाहिए। उन्होंने हँसी मजाक करते और खेल करते हुए राक्षस पर आघात करना शुरू किया। और कैसा आश्चर्य ! जैसे-जैसे श्रीकृष्ण इसी प्रकार से लड़ते रहे राक्षस आकार में छोटा होने लगा। अन्त में श्रीकृष्ण ने उसे पकड़ कर अपने वस्त्र के एक कोने में बांध लिया। प्रातःकाल में जब बलराम और सात्यकि जगे तो श्रीकृष्ण को बहुत प्रशान्त और विश्रान्त अवस्था में पाया मानो कुछ हुआ ही नहीं हो। और उस समय तो उन्हें महान् आश्चर्य हुआ जब उन्होंने देखा कि वह भयंकर राक्षस एक छोटे से कीड़े के समान श्रीकृष्ण जी के वस्त्र के कोने में बंधा है।

अपनी स्वयं की शक्ति में उत्कट आत्मविश्वास से प्रसूत मस्तिष्क की शान्ति निश्चित रूप से शक्ति का अक्षय स्रोत होती है। क्रोध एवं उत्तेजना शान्त निर्णय तथा दृढ़ क्रिया की शक्ति को नष्ट कर देते हैं।

फिर भी कार्यकर्त्ता को आत्मविश्वास के नाम पर गर्व का शिकार नहीं होना चाहिये और न विनीत और नम्र बनने के प्रयास में आत्मविश्वास को ही खो देना चाहिए। मन की इस सही संस्थिति को उद्योगशीलता के द्वारा निर्माण करना चाहिए।

मन की इस समता को विकसित करने के लिए अपने विगत इतिहास के महापुरुषों के चरित्रों पर एक दृष्टि डालना प्रेरणादायी सहायता सिद्ध होगी। हम उन अत्युच्च व्यक्तियों के समक्ष कितने छोटे, कितने क्षुद्र मालूम पड़ते हैं जो स्वार्थ त्याग, धैर्य एवं पौरुष के चरम उत्कर्ष पर पहुँच गये थे। विचार

एवं कर्म के उन श्रेष्ठ व्यक्तित्वों की तुलना में हमारे पास ऐसा क्या है जिस पर हम गर्व करें। हमें उस ज्ञान का एक बूंद भी नहीं प्राप्त हो पाया है जिसे शंकराचार्य ने अपनी ३२ वर्ष की छोटी आयु में ही प्राप्त कर लिया था। बाल्यावस्था में ही उन्होंने संन्यस्त का कठोर जीवन ग्रहण कर लिया था और राष्ट्र के पुनरुत्थान का सन्देश देश के चारों कोनों तक ले गये थे। एकाकी उन्होंने पृथ्वी और आकाश को हिला दिया तथा एक बार पुनः लोगों में अपने परम्परागत जीवन मूल्यों की वास्तविक चेतना को जागृत कर दिया। इस प्रकार के दीप्तिमान् जीवनों का सतत स्मरण हमारे हृदयों को अपनी दीप्ति से प्रकाशित कर, आत्मविश्वास और साथ ही आत्म विलोपन के साथ उनके पदचिह्नों पर चल देने के लिए प्रेरणा देता है।

'निरहंकारिता' सफलता है

यदि कार्यकर्ता में अहकार और मिथ्याभिमान का लेश भी रहा तो वह सौहार्द और तादात्म्य की सच्ची भावना से अपने समाज के सुख, दुःख के साथ समरस नहीं हो सकेगा। सच्ची मैत्री की यह परीक्षा है कि अपनी प्रतिकूल आलोचनाओं को सुनकर भी बुरा न माने। यदि कोई व्यक्ति कुछ ऐसी बात उसके प्रति कहता या करता है जो दूसरों की दृष्टि में उसे हानि पहुँचाने अथवा अपमानित करने वाली लगती है और फिर भी वह उसकी चोट को अल्पमात्रा में भी अनुभव नहीं करता; तभी वह उस व्यक्ति के प्रति सच्ची मित्रता का अधिकार जता सकता है।

एक छोटी सी कविता है जो इस भाव को अत्यन्त सुन्दरता से व्यक्त करती है। एक युवक और एक युवती में परस्पर बड़ा प्यार था। किन्तु उस लड़की के माता-पिता उसे उस युवक के साथ विवाह करने की अनुमति नहीं दे रहे थे। इसलिए वे एक बार एक दूर के एकान्त स्थान में मिले और वह युवक कविता में कहता है—"मैंने उसका गला घोट दिया और मार डाला किन्तु उसे पीड़ा का अनुभव नहीं हुआ।" इसका यही अर्थ होता है कि जब सच्चा प्रेम है तो पीड़ा अथवा नाराजी का भी लेना, देना नहीं रह जाता। यदि अप्रसन्न होने की भावना रही तो इसका अर्थ है कि हमने अहंकार को वास्तव में मिटाया नहीं है। यही वह कसौटी है जिसे हमें इस प्रकार के प्रत्येक अवसर में अपने पर लगाना चाहिये।

जब कार्यकर्ता अपने अहंकार को पूर्ण एवं बिना किसी दुराव के अपने चुने हुए जीवन लक्ष्य की वेदिका पर समर्पण कर देता है, तभी वह स्वयं को

उसका योग्य माध्यम बना सकता है। एक अच्छा सुर मिलाया हुआ संगीत का यंत्र ही किसी विशेषज्ञ के हाथ में मधुर गान स्वर झंकृत कर सकता है। इसी प्रकार जब कार्यकर्ता अपनी अहं प्रकृति के सभी कोणों को घिस डालता है तभी उसकी प्रत्येक बात तथा व्यवहार में आत्मविश्वास एवं ध्येय के प्रति उत्साह का प्रेरणादायी स्वर उठने लगता है।

कुछ लोग हैं जो कहा करते हैं कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियां नहीं बदली जा सकतीं, वे कुत्ते की पूँछ के समान हैं जो प्रत्येक बार सीधी करने के प्रयत्न करने पर भी फिर टेढ़ी हो जाती हैं। किन्तु यह केवल अर्धसत्य है, और उन्हीं पर लागू होता है जिनका कोई जीवन लक्ष्य नहीं होता। एक लक्ष्योन्मुख मनुष्य के लिये––

नर करनी करे तो नर का नारायण बन जाय।

यह सन्देश पूर्णरूप से ठीक है। स्मरण रखो–"प्रत्येक सन्त का अतीत है और प्रत्येक पापी का भविष्य।" यह भाव कि "मुझमें परिवर्तन नहीं होगा, मैं जैसा कुछ हूं मुझे ग्रहण करो" समाज को संगठित करने के लिए लाभदायक नहीं। वह तो उस पाँवपोंछ के समान है जिस पर लिखा रहता है--"मेरा उपयोग करो।" क्या जीवन समर्पित किये हुए एक निष्ठावान् सजीव मनुष्य में और एक जड़ वस्तु में कोई अन्तर नहीं होता ? नियमित चिन्तन एवं आत्म-निरीक्षण से कार्यकर्ता को सभी आवश्यक गुणों का अपने में विकास करना चाहिये और अपने नियत आदर्शों की प्राप्ति में सफल होने के योग्य अपने जीवन का निर्माण करना चाहिए।

एक जीवन, एक लक्ष्य

आत्मनिरीक्षण के द्वारा कार्यकर्ता इस बात का सही-सही ज्ञान प्राप्त कर लेगा कि उसने राष्ट्रीय जीवन के आदर्श के साथ तादात्म्य प्राप्त करने में कितनी प्रगति की है तथा कहाँ तक वह आदर्श उसके जीवन का ऐसा सर्वग्रासी अन्तर्वेग बन गया है जो उसके विचारों, भावनाओं तथा क्रियाओं को सबके साथ में या एकान्त में भी संचालित करता रहे। उसके एकान्त में किये हुए विचारों और कार्यों से ही मनुष्य के वास्तविक चरित्र का पता लगता है। विशेषतया आजकल जब युवा मस्तिष्क सब प्रकार के अश्लील चित्र, गाने, सिनेमा, उपन्यास तथा मनोविनोद जैसे आधुनिक सभ्यता के अगणित प्रलोभनों से घिरे हुए हैं तब अनजान में ही उन भावों को ग्रहण करने के बहुत अवसर रहते हैं। अनेकानेक आकर्षण उसे विभिन्न दिशाओं में खींच रहे हैं और

यदि वह पूर्ण सावधान नहीं रहता तो उसका मन तूफानी समुद्र में पतवारहीन जहाज के समान हो जायगा। इस प्रकार का अस्थिर मन व्यक्ति को नष्ट कर देता है। कहा है---

अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयंकर:।

(अस्थिर मन वाले की प्रसन्नता भी खतरनाक होती है।) फिर ऐसे मस्तिष्क की उस अवस्था के विषय में क्या कहा जाय जब वह क्रोध के आवेश में हो। अत: जो कार्यकर्ता एक ध्येयनिष्ठ समर्पित जीवन जीना चाहता है उसके लिये इस चारों ओर के आकर्षण तथा दुराचार के वातावरण में यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह सदा कठोरता के साथ अपना आत्मनिरीक्षण करता रहे।

अपनी इच्छा के सतत एवं सचेतन प्रयोग के द्वारा कार्यकर्ता को उस अवस्था की उपलब्धि हो सकती है जिसमें कि वह सभी सांसारिक प्रलोभनों के होते हुए भी राष्ट्रीय पुनरुत्थान के अपने चुने हुए लक्ष्य पर अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को केन्द्रित कर देता है। क्योंकि पवित्रता एवं दिव्यता की शक्तियाँ बुराइयों के आकर्षणों से अधिक बलवती होती हैं तथा सदैव कार्यकर्ता के साथ रहकर उसके छोटे से छोटे सत्य भाव से किये गये प्रत्येक प्रयत्न पर अपने दैवी पंखों की छाया किये रहती हैं और उसे अधिकाधिक शक्ति प्रदान करती रहती हैं। ऐसी अवस्था में उस आदर्श की पूर्ति में ही उसके जीवन का एकमात्र आनन्द और सान्त्वना होगी। उस आनन्द के सामने अन्य सभी बाह्य आकर्षण नीरस हो जायेंगे।

एक बार लोकमान्य तिलक एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ के गायन के कार्यक्रम में ले जाये गये। संगीत से विशाल दर्शक समाज आनन्द मग्न हो गया किन्तु तिलक उसी प्रकार अप्रभावित से बैठे रहे। संगीतज्ञ ने इस बात को देखा और तिलक जी से पूछा कि क्या संगीत उनकी रुचि का नहीं था। तिलक जी ने उत्तर दिया--"नि:संदेह तुम बहुत ही सुन्दर गाते हो। किन्तु मेरे कान भगवद्गीता के स्वर्गीय संगीत से पूर्णरूपेण भरे हुए हैं, इसीलिए मैं आपके संगीत का आनन्द नहीं ले सका।"

आत्मसमर्पण का आनन्द

आदर्श के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना से भरे हुए हृदय में उठने वाले स्वाभाविक आनन्द एवं प्रेरणा के स्रोत इस अन्धकार तथा नैराश्य की सभी शक्तियों को पराभूत कर देंगे। दो योगियों के बारे में एक कथा है। वे परमात्मा केसाक्षात्कार के लिए कठोर तपस्या कर रहे थे। नारद जी उसी मार्ग

से भगवान के लोक को जा रहे थे। उन योगियों ने नारद से प्रार्थना की कि वे भगवान से यह बात ज्ञात कर उन्हें सूचित करें कि उनके साक्षात्कार के लिए उन्हें और कितने जन्मों तक तपस्या करनी पड़ेगी ? वापसी में नारद जी उन दोनों योगियों से पुन: मिले। प्रथम से उन्होंने कहा—"केवल चार जन्म" और यह सुनते ही उस योगी को बड़ी निराशा हुई और वह रोकर कहने लगा "हे ईश्वर अभी भी चार जन्म और।" दूसरे से नारद ने कहा—"तुम्हें तो अभी इतने जन्मों तक प्रतीक्षा करनी होगी जितने कि इस सामने के इमली के पेड़ में पत्ते हैं।" किन्तु नारद को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वह तो आनन्द से नाचने लगा। जब नारद ने इसका कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया—"अब मुझे ईश्वर तक पहुँचने के पूर्व की ठीक-ठीक जन्मसंख्या मालूम हो गयी है। इसके पश्चात् मैं निश्चय ही ईश्वर से मिलूँगा। यह सच में कितनी बड़ी सान्त्वना की बात है!" और जैसे ही उसने यह कहा, आकाशवाणी सुनाई दी—"तुम तो इस क्षण भी एक ऐसी आत्मा हो जिसे ईश्वर का साक्षात्कार हो गया है।" इस प्रकार की जीवन भर के लिए अध्यवसाय की भावना, पूर्ण विश्वास एवं अविचल इच्छाशक्ति ही चमत्कार दिखा सकती है।

आगे और अधिक आगे बढ़ना

बिना अत्यधिक कष्ट और त्याग के महान् कार्य सम्पन्न नहीं हुआ करते। कार्यकर्ता को इसके लिए व्यक्तिगत और पारिवारिक सुखों के रूप में भारी मूल्य चुकाना पड़ेगा तथा ध्येय पथ पर चलते हुए कष्टों एवं संकटों के जीवन को मुस्कराते हुए स्वीकार करना होगा। कर्तव्यनिष्ठ जीवन की संकटों से भरी यात्रा के लिए मार्गदर्शक रूप में श्रीराम का दीप्तिमान उदाहरण ध्रुव तारे के समान है। बाल्यावस्था में ही वे विश्वामित्र के द्वारा माता-पिता से दूर ले जाये गये। इस प्रकार राजकुमारों के जीवन को त्याग कर बनवासियों का जीवन बिताना पड़ा और राक्षसों से युद्ध भी करना पड़ा। बाद में जब सीता का पाणिग्रहण करके अयोध्या लौट रहे थे, तो भीषण परशुराम का सामना करना पड़ा। और इसके पश्चात् चैन की साँस भी ले पाने तथा सुख भोग कर सकने से पूर्व ही चौदह वर्ष के लिए वनवास की यात्रा उन्हें करनी पड़ी। वे चौदह वर्ष भी विघ्नबाधाओं तथा राक्षसों के साथ संघर्ष से भरे हुए थे। उन्हीं वर्षों में रावण द्वारा सीताहरण तथा लंका में महायुद्ध हुआ। जैसे ही वे अयोध्या लौट कर आयें और राजा

के रूप में अभिषिक्त हुए कि उन्हें राजा का कर्तव्य निभाने के कारण एक विशेष अवस्था में सीता को त्यागना पड़ा। दुर्वासा के क्रोध का शमन करने के लिये और उनके क्रोध से अयोध्या को नष्ट होने से बचाने के लिये उन लक्ष्मण को भी उन्हें त्यागना पड़ा जिन्होंने सभी विपत्तियों में छाया के समान उनका अनुसरण किया था, तथा जो उनके प्राणों के समान प्रिय थे। निश्चय ही उनका जीवन सभी चारित्रिक एवं योग्यताओं के मानदण्डों के अनुसार अद्वितीय था तथा कष्ट सहने में और त्याग में भी अद्वितीय था।

एक छोटी सी कविता है जिसमें एक युवक की कहानी है जो वर्षा और तूफान में पहाड़ी मार्ग पर अपने हाथ में एक झंडा उठाये हुए जा रहा है, जिस पर 'उत्कर्ष' चिह्न अंकित है। थोड़ी देर बाद, उस अंधकार में उसे एक छोटा सा झोपड़ा दिखाई देता है जिसमें दिया जल रहा है। जैसे ही वह उसके निकट पहुँचता है एक वृद्धा झोपड़े से बाहर आकर उसे रोकती है और कहती है—"मेरे बच्चे, इस तूफान और वर्षा में तुम कहाँ जा रहे हो ? मेरे कोई अपना पुत्र नहीं है। तुम यहाँ रहो और हमारी सम्पूर्ण सम्पत्ति का भोग करो।" किन्तु उस युवक ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया। तभी उसकी सुन्दरी पुत्री बाहर आती है और उस सुन्दर तथा सुदृढ़ युवा को अपनी मोहक वाणी से सम्बोधित करती है—"मैंने अभी तक अपना हृदय किसी को अर्पण नहीं किया है, किन्तु अब मैंने वह तुम्हें दे दिया है कृपया यहीं रहिये।" उस युवक का उत्तर वैसा ही दृढ़ था। वह कहता है—"मैं तो आगे जाता हूँ। कोई वस्तु मुझे रोक नहीं सकती।" और इतना कहकर आगे बढ़ गया।

इसी प्रकार की एक घटना तात्या टोपे के जीवन में वास्तविक रूप से घटित हुई थी। तात्या टोपे १८५७ के स्वातन्त्र्य संग्राम का अद्वितीय सेनानायक था। अजीजान नाम की एक मुसलमान नर्तकी उस सेनानायक के पुरुषोचित सौन्दर्य पर मोहित हो गई थी। उसने उसके हृदय को जीतने के लिए अपने सभी आकर्षणों का उपयोग किया। किन्तु तात्या टोपे ने उससे कह दिया—"देखो, तुम जानती हो कि मेरे जीवन की एक ही अभिलाषा है कि अंग्रेजों को देश के बाहर निकाल दिया जाय। मुझमें किसी दूसरे विचार के लिए स्थान ही नहीं है। किन्तु तुम यदि सचमुच मुझे प्यार करती हो और मेरे हृदय को आनन्द पहुँचाना चाहती हो तो इस श्रेष्ठ कार्य में मेरा हाथ बटाओ।" अजीजान तुरन्त तैयार हो गई। उसने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति तात्या टोपे को दे दी और उसकी योजना के अनुसार अंग्रेजी सेना के शिविर

में गई। वहाँ उसने अपने रूप-लावण्य से उन कप्तानों को मोहित किया तथा सभी गतिविधियों में साथ रहकर उनकी योजनाओं को राष्ट्रीय विप्लव के नेताओं तक पहुँचाती रही। युद्ध में भी अपने प्राणों के अन्त तक वह लक्ष्य के प्रति प्रामाणिक रही।

ऐसे होते हैं वह व्यक्ति, जो अपने स्पर्श मात्र से निकष्ट को उत्कृष्ट बना सकते हैं, सभी कठिनाइयों को सुअवसरों में परिवर्तित कर सकते हैं, तथा अपने आदर्श की प्राप्ति के लिए महान् संग्राम में सम्मोहनों को भी अपना सहायक बना सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में "वे भीषण की पूजा करते हैं और संकटों में ही जीवित रहना उन्हें प्रिय है। स्नायुओं में यौवन की जोशीली शक्ति तथा नेत्रों में आदर्शवाद की चमक लिए हुए सम्मोहनों एवं प्रतिकूलताओं के सभी तूफानों में सुस्थिर अविचल खड़े हुए और अपने चारों ओर प्रेरणा की किरणें विकीर्ण करते हुए वे विजयिष्णु भाव से आगे और आगे बढ़ते जाते हैं। तथा जब तक उन्हें अपने स्वप्नों का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता वे एक के बाद दूसरी सफलता को प्राप्त करते हुए आगे बढ़ते ही जाते हैं।

* * *

२३

मूर्तिमान् आदर्श

जन्मजात देशभक्त

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डा० केशव बलीराम हेडगेवार का जन्म नागपुर में १८८९ में हुआ। अपने बाल्य-काल से अन्तिम क्षण पर्यन्त उनका जीवन मातृभूमि के निमित्त एक सतत जलने वाले दीपक की स्थिर ज्योति के समान जलता रहा। आठ वर्ष की बाल्यावस्था में भी उन्होंने विक्टोरिया महारानी के जन्म-दिवस पर स्कूल में दी गई मिठाई को घृणा के साथ यह कहते हुए फेंक दिया कि वह दासता का द्योतक है। अपने गुरुजनों को वे अपने विचित्र प्रश्नों द्वारा चकित कर दिया करते थे। वे पूछते थे—"हजारों मील की दूरी से आने वाले ये अंग्रेज हमारे शासक कैसे बन गये?" जब वे हाईस्कूल में थे, वे नागपुर के विद्यार्थियों में 'वन्देमातरम्' आन्दोलन की ज्योति प्रज्ज्वलित करने के कारण स्कूल से निकाल दिये गये थे। ऐसा प्रतीत होता है मानो विशुद्ध देशभक्ति की भावना उन्होंने अपनी माता के उदर से ही ग्रहण की थी।

असामान्यों में भी दुर्लभ

पूना से हाईस्कूल उत्तीर्ण करने के पश्चात् उन्होंने क्रान्तिकारियों के आन्दोलन का अध्ययन निकट से करने तथा उसमें भाग लेने के लिए कलकत्ता जाने का निश्चय किया जो उस समय उन लोगों का आवास माना जाता था। वे शीघ्र ही बंगालियों के जीवन तथा रीतिरिवाजों के साथ समरस हो गये। वे वहाँ विभिन्न राजनीतिक तथा सामाजिक गतिविधियों में निमग्न हो गये

और शीघ्र ही देश के सभी भागों से आये हुए देशभक्त युवकों के एक समूह के प्रेरणा केन्द्र बन गये।

जब वे तरुण एवं प्रतिभाशाली डाक्टर के रूप में नागपुर लौटे तो उनके अपेक्षित भावी 'उज्ज्वल जीवन' की मुग्ध आशाएँ लिये अनेक नेत्र उनकी ओर देख रहे थे। विवाह के अनेक प्रस्ताव भी उनसे किये गये किन्तु उनका जीवन परिवार की संकुचित सीमाओं में आबद्ध रहने वाला जीवन नहीं था। ऐसे सब प्रस्तावों के प्रति अन्तिम उत्तर के रूप में उन्होंने अपने चाचा श्री आबाजी हेडगेवार को लिखा—"मेरा जीवन एक आदर्श के हेतु प्रतिज्ञाबद्ध है। मैंने उसकी वेदी पर अपने सर्वस्व की बाजी लगा दी है। ऐसी अवस्था में निजी सुखोपभोग या पारिवारिक जीवन के लिए मेरे पास अवकाश एवं शक्ति कैसे सम्भव है?"

यह स्मरण रखना चाहिए कि उनका जन्म निपट दारिद्र्य में पिस रहे परिवार में हुआ था। हमें राष्ट्र-कार्य के लिए आगे आने वाले ऐसे व्यक्ति मिल सकते हैं जो सम्पन्नता में जन्मे हैं तथा जिनको अपने अथवा अपने बन्धु-बान्धवों की उदरपूर्ति के लिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, यद्यपि निस्संदेह ऐसे उदाहरण भी बिरले ही होते हैं। परन्तु डाक्टरजी इन असामान्यों में भी दुर्लभ थे। यद्यपि निपट दारिद्र्य एवं अर्द्ध-बुभुक्षा से उनका सामना था, फिर भी उन्होंने अपने अथवा अपने परिवार के लिए कभी एक पैसा भी कमाने का विचार तक नहीं किया। यद्यपि वे एक डाक्टर थे, उन्होंने कभी डाक्टरी नहीं की। उन्होंने 'राष्ट्र का डाक्टर' बनना अधिक पसन्द किया।

एक दीप के सदृश

उनके अन्त समय तक भयानक गरीबी उनकी अविचल सहचरी बनी रही। महीनों वे दिन में एक बार भोजन, सो भी कठिनता से पाकर ही चलते रहे। बहुत बार उनके कपड़े फटे रहते थे। जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं का अभाव उन्हें सदैव ही बना रहा।

एक दिन एक सज्जन डाक्टर जी से मिलने आये। जैसे ही बातचीत समाप्त होने वाली थी, डाक्टर जी ने उनसे चाय पीने के लिए रुकने का अनुरोध किया और अपनी भाभी को चाय तैयार करने के लिए कहलवाया। दस मिनट व्यतीत हो गए और चाय नहीं आई। दूसरे दस मिनट गए चाय फिर भी नहीं आई। वह सज्जन जाने की जल्दी में थे। मामला क्या है, जानने के लिए डाक्टर जी अन्दर गये और उन्हें ठण्डे पानी तथा एक यह

कोने में चुपचाप बैठी अपनी भाभी के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई दिया। बाजार जाने और आवश्यक वस्तुएँ लाने के लिए भी और कोई नहीं था। अत: डाक्टरजी स्वयं बाहर गए, चीनी एवं चाय की पत्तियाँ लाये और कुछ समय के पश्चात् उन सज्जन को चाय पिलाई गई। वे सज्जन पर्याप्त चतुर थे और स्थिति को समझ गए। उस समय तक उनको डाक्टरजी की आर्थिक दुरवस्था का किंचित् भी आभास नहीं था, यद्यपि वे उनसे बहुत काल से परिचित थे। वास्तव में, डाक्टर जी का सदैव मुस्कराता हुआ चेहरा, उनसे विकीर्ण होने वाला समुत्साह, उनकी संक्रामक हँसी, सब ओर उल्लास एवं माधुर्य बिखेरने वाला उनका मोहक व्यवहार देखकर जिस कठोर स्थिति में वे रह रहे थे, उसकी कोई कल्पना तक नहीं कर सकता था। वे एक ज्योति के समान थे जो स्वयं मौन जलती रहती है परन्तु सब ओर उष्णता तथा प्रकाश बिखेरती रहती है।

उस घटना के तुरन्त पश्चात् उन सज्जन ने मुझे बुलाया और डाक्टरजी की आर्थिक स्थिति के बारे में विस्तारपूर्वक पूछा। उनकी निर्धनता की चरम स्थिति को जानकर वे स्तम्भित रह गए। वे उद्विग्न हो उठे और नाराज होकर मुझसे पूछा—"आपने उनकी आर्थिक चिन्ताओं को दूर करने का प्रबन्ध क्यों नहीं किया ?" मैंने उत्तर दिया—"एकादशी शिवरात्रि की उदरपूर्ति कैसे कर सकती है ?" वे क्षण भर के लिए गम्भीर हो गए और मुझसे कहा—"मैं यह कदापि सहन नहीं कर सकता। आपको मुझसे कम से कम उनके अतिथियों का खर्चा चलाने के लिये प्रत्येक माह २५ रुपया अवश्य स्वीकार करना चाहिए। परन्तु ध्यान रहे यह बात डाक्टर जी के कान तक न पहुँचनी चाहिए।" मैंने उन्हें सुझाव दिया कि वे स्वयं डाक्टर जी से प्रस्ताव करें। परन्तु इस बारे में डाक्टर जी के दृढ़ विचारों को जानते हुए उन्हें भी डाक्टर जी से इस विषय पर बात छेड़ने का साहस नहीं हुआ और बात यहीं समाप्त हो गई।

एक सूक्ति भी असत्य सिद्ध हुई

अपने प्रचण्ड आदर्शवाद के अतिरिक्त वे सर्व सद्गुणों में असामान्य गुण, जीवन में स्वीकार किये हुए लक्ष्य के अनुकूल अपने आप को गढ़ने की इच्छा, के ज्वलन्त उपमान थे। अपनी उग्र एवं साहसी प्रकृति के लिए सुपरिचित एक परिवार में उनका जन्म हुआ था। डाक्टर जी ने भी उस "पैतृक विरासत" को ज्यों का त्यों उत्तराधिकार में प्राप्त किया। बहुधा ऐसा कहा जाता है कि पैतृक प्रवृत्तियों तथा स्वभाव का बदलना अत्यन्त कठिन होता है—

'स्वभावो दुरतिक्रमः'। यह विचित्र लोकोक्ति "व्यक्ति को अपने माता-पिता के चयन में सावधान रहना चाहिए" इसी विचार को अभिव्यक्त करती है। किन्तु डाक्टर जी ने ऐसे सभी आत्मदुर्बलकारी विचारों को मिथ्या सिद्ध कर दिया। जिस दिन से उन्होंने एक ऐसे संगठन का निर्माण करने का निश्चय किया, जिनमें विभिन्न प्रकृतियों तथा गुणों के व्यक्तियों को एक में मिलाकर एक संगठित एवं सामंजस्यपूर्ण समष्टि का निर्माण करना था, उन्होंने स्वयं को बदल डालने का निश्चय कर लिया। जिन्होंने उनको पहले देखा था, वे उनको पूर्णतया बदले हुए देखकर आश्चर्यचकित हुए। उनके द्वारा संगठन की स्थापना के पश्चात् शायद ही किसी ने उनको कठोर शब्द प्रयोग करते हुए अथवा उग्रतम उत्तेजना के अवसर पर भी विक्षुब्ध होते हुए देखा होगा। यदि कोई उनसे कठोरता के साथ बोलता भी था, तो वे मुस्कुरा भर देते थे और वह मुस्कुराहट विरोध की तीक्ष्णता को समाप्त कर देती थी। निःसन्देह, उनकी अन्तरतम की ज्वाला कभी फूट भी पड़ती थी, परन्तु ऐसा तभी होता था जब वे हमारे राष्ट्र पर अपमान तथा कलंक की बौछार होते तथा हमारे समाज द्वारा उन सबको चुपचाप सहन करते हुए देखते थे।

अविचल रहकर तथा विलक्षण आत्म-चेष्टा द्वारा उन्होंने हमारी सांस्कृतिक परम्परा के उच्चतम मूल्यों पर आधारित राष्ट्रीय पुनर्गठन के जीवन लक्ष्य के लिये समर्पित कार्यकर्ता के एक प्रेरक एवं जीवन्त उदाहरण के रूप में स्वयं के प्रत्येक सूक्ष्म विवरण को परिवर्तित कर लिया था। उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर यह समझ लिया था कि उग्र सार्वजनिक भाषण, अवसर पर भले ही जोश पैदा कर दें, परन्तु वे समर्पित हृदयों के एक ऐसे सक्षम संगठन के निर्माण में कभी सहायक नहीं हो सकते जो विपत्तियों तथा प्रलोभनों के सभी झंझावातों में एक स्थिर लौ के समान जलता रहेगा। इसके विपरीत ऐसे उग्र भाषण, अपने विरोधियों की आलोचना करने तथा उनका दोष दर्शन कराने में सस्ता संतोष प्राप्त करने की एक मनोवृत्ति को जन्म देकर, संगठन को अज्ञान में ही क्यों न हो हानि ही पहुँचायेंगे। इस प्रकार की मनोवृत्ति का संघ जैसे संगठन में कोई स्थान नहीं हो सकता था, जो समाज में स्वपरिष्कार के लिये प्रयत्नशील था, क्योंकि वह इतिहास की उस एक शिक्षा से परिचित था कि बाहर वाले नहीं, अपितु हमारा समाज ही हमारे सभी पतन तथा विनाश के लिए उत्तरदायी है।

संघ का प्रारम्भ करने के पूर्व, डाक्टर जी स्वयं एक उग्र वक्ता थे। सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन के दिनों में, वे अपने एक उग्र भाषण

के कारण गिरफ्तार कर लिए गए थे। वे राजद्रोह के अभियोग में न्यायालय के सामने प्रस्तुत किए गये। न्यायालय में उनके तेजस्वी प्रतिवाद को सुनकर मजिस्ट्रेट ने कहा था कि—"उनका प्रतिवाद उनके मूल भाषण से भी अधिक द्रोहात्मक है।" परन्तु संघ प्रारम्भ करने के पश्चात् उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्तियों को पूर्णतया नियंत्रित किया। तत्पश्चात् उनके भाषण कभी भी उत्तेजक तथा उग्र नहीं होते थे, यद्यपि वे भावनापूर्ण तथा ज्वलनशील होने के कारण श्रोताओं के हृदय में प्रवेश कर जाते थे। अनौपचारिक वार्तालाप में भी उनके शब्द माधुर्य एवं अन्त:करण को प्रभावित करने वाले गुण से युक्त होते थे। उन्होंने अनुभव के आधार पर यह जान लिया था कि वाणी की मिठास राष्ट्र के संगठनकर्ता के लिए एक अपरिहार्य गुण है।

युधिष्ठिर का अवतार

इस सब परिवर्तन में कृत्रिमता अथवा दिखावटी ऐसा कुछ नहीं था। यह परिवर्तन इतना पक्का तथा स्थायी था कि वह उनकी प्रकृति की रचना ही बन गया और उनके विचार, शब्द तथा क्रिया में स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त होने लगा। उनकी लोकप्रियता ऐसी नहीं थी जो बहुधा दूरी के कारण हो जाया करती है और जो निकट के सम्पर्क तथा परख पर साबुन के बुलबुले के समान अदृश्य हो जाती है। एक कहावत है – "कोई महान् व्यक्ति अपने ही पार्श्वसेवक के लिए भी महान् नहीं होता।" परन्तु उनके विषय में यथार्थ इसके विपरीत था। जो जितना अधिक उनके निकट आता वह उनका उतना ही अधिक अनुरागी तथा पूजक बन जाता। उनका निजी तथा सार्वजनिक चारित्र्य एक सा ही था, एक मधुर संतुलित व्यक्तित्व। इतना पवित्र, उदात्त, तेजस्वी तथा पारदर्शी था उनका चरित्र कि जो सार्वजनिक क्षेत्र में उनका विरोध करते थे उनके भी पास उनके निजी व्यक्तित्व की निन्दा अथवा अवमानना करने के लिए एक भी शब्द नहीं रहता था।

नागपुर में श्री अभ्यंकर नाम के एक प्रसिद्ध बैरिस्टर थे जो उस प्रान्त के एक अग्रणी राजनीतिक व्यक्ति थे। उनकी गरजती हुई आवाज थी और वे विरोधियों के चरित्र के दोष ढूंढ निकालने में अति पटु थे। चुनाव के दिनों में अपने विरोधियों के दोषों को प्रकट करने तथा उन्हें नीचा दिखाने के लिए अपने इन गुण-विशेषों का वे पूरा-पूरा उपयोग किया करते थे। एक बार डा० मुंजे चुनावों में उनके विरुद्ध खड़े हुए। बैरिस्टर अभ्यंकर ने समझा कि डा० मुंजे के एक प्रधान समर्थक हैं, डाक्टर जी तथा उनका संघ। अत: उन्होंने

अपने सार्वजनिक भाषण में डाक्टर जी तथा संघ पर आक्षेप करने का निर्णय किया। वे अपने भाषण में डा० मुंजे के प्रत्येक समर्थक के विरुद्ध आक्षेप लगाते रहे, परन्तु जब उन्होंने डाक्टर जी के विषय में बोलना प्रारम्भ किया, उनका स्वर तुरन्त नरम हो गया और उन्होंने यह स्पष्ट स्वीकार किया कि वे डा० हेडगेवार की निन्दा स्वरूप एक शब्द भी नहीं ढूँढ सकते। तनिक कल्पना कीजिये एक विषाक्त चुनाव आन्दोलन के बीच ऐसे एक सार्वजनिक स्वीकारोक्ति की और वह भी एक ऐसे व्यक्ति द्वारा।

वास्तव में डाक्टर जी के सम्बन्ध अपने विरोधियों से भी इतने अधिक गहरे हो जाते थे कि ऊपरी मतभेदों का उन पर प्रभाव नहीं हो पाता था। अपने कलकत्ता के दिनों से ही उन्होंने राष्ट्रोद्धार के निमित्त संलग्न सभी व्यक्तियों तथा संस्थाओं के प्रति, भले ही वे उनसे मतभिन्नता रखते हों, स्नेह, आदर तथा सहयोग का भाव निर्माण कर लिया था। राजनीतिक विद्वेष का भाव उनमें लेशमात्र भी न था। उनके हृदय में देशभक्ति की ज्वाला इतनी प्रकाशमान् थी कि संकीर्ण विचारों की छाया उनके समीप कहीं फटक भी न पाती थी।

एक समय एक मित्र अपने लिए ५०० रु० के ऋण का प्रबन्ध कराने के लिए रात्रि में डाक्टर जी के पास आये। लगभग मध्यरात्रि का समय था और डाक्टर जी दुविधा में पड़ गये। तथापि वे उठे, सीधे श्री अभ्यंकर के पास गये और आवश्यकता बताई। बिना एक शब्द कहे, श्री अभ्यंकर उतना रुपया लाये और डाक्टर जी को दे दिया। डाक्टर जी ने उनसे कागज कलम लाने को कहा जिससे कि वे प्रामिसरी नोट लिख सकें। श्री अभ्यंकर सहसा बोल उठे—"डाक्टर साहेब, क्या मेरा दिमाग खराब हो गया है जो मैं डा० हेडगेवार से प्रामिसरी नोट लूँ। सारा नागपुर मुझे हँसेगा।"

उनके प्रति ऐसा पूर्ण विश्वास और श्रद्धाभाव उनके सार्वजनिक जीवन के प्रतिपक्षी कहे जाने वाले व्यक्तियों के अन्त:करण में भी जाग्रत था जो उनके विशुद्ध चारित्र्य के कारण निर्माण हुआ था। वे युधिष्ठिर के समान थे जो दुर्योधन को भी सुयोधन कह कर सम्बोधित करते थे। जब युद्ध क्षेत्र में अश्वत्थामा के निधन का समाचार फैला, तब द्रोणाचार्य ने इसकी सत्यता को अपने मुख्य प्रतिपक्षी, युधिष्ठिर से प्रमाणित कराने का निश्चय किया। उनके आचरण की साधुता कुछ ऐसी थी जो उनके मित्र तथा शत्रु दोनों ही समान रूप से उनमें विश्वास रखते थे। डाक्टर जी मानों युधिष्ठिर के आधुनिक अवतार थे। सचमुच वे एक ऐसे व्यक्ति थे जिनका कोई शत्रु न था, सब केवल त्रमि ही थे, वे अजातशत्रु थे।

एक समय मध्य प्रदेश की सरकार को यह भय हो गया कि कहीं संघ की बढ़ती हुई शक्ति के कारण प्रान्त में 'साम्प्रदायिक शान्ति' भंग न हो जाय। सरकार ने १९३२ में अपने कर्मचारियों द्वारा संघ की गतिविधियों में भाग लेने पर प्रतिबन्ध लगाते हुए एक परिपत्र प्रसारित किया। नगरपालिकाओं तथा जिला परिषदों को भी ऐसे ही पग उठाने का परामर्श दिया गया। सरकार के इस विचारशून्य तथा राष्ट्रविरोधी पग उठाने के कारण प्रान्त में एक कोलाहल मच गया। इसकी प्रतिध्वनि प्रान्तीय विधानसभा में भी हुई। सरकार के विरुद्ध विधानसभा में एक निन्दा प्रस्ताव रखा गया। और इसका समर्थन केवल हिन्दू सदस्यों ने ही नहीं अपितु मुस्लिम, ईसाई, पारसी तथा अन्य सभी सदस्यों ने भी किया। और उसके थोड़े दिनों बाद ही मंत्रिमंडल को ही त्यागपत्र देना पड़ गया।

अजेय

उनके चरित्र के इस वैशिष्ट्य के कारण उनके व्यक्तित्व में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो गई थी कि ऐसे व्यक्ति भी जो अपनी उद्दण्डता तथा अक्खड़पन के लिए कुख्यात थे, डाक्टरजी की उपस्थिति में शिष्ट तथा भद्र तरीके से व्यवहार करते थे। नागपुर में एक व्यक्ति था जो अपने आपको 'जनरल' कहता था। उसने यह कसम उठा रखी थी कि वह ऐसी किसी सभा को बिना भंग किये नहीं छोड़ेगा जिसका कि उसको अध्यक्ष नहीं बनाया जायेगा। उस 'जनरल' के पास गुण्डों की एक फौज थी जो ऐसी किसी भी 'अनधिकृत' सभा पर टूट पड़ती थी और कुछ ही मिनटों में सभा हुल्लड़ तथा अव्यवस्था में समाप्त हो जाती। उन दिनों में डाक्टरजी के एक बाहर से आये हुए मित्र को नागपुर में एक सभा में भाषण करना था। परन्तु सभा के आयोजकों को बड़ी आशंका थी कि 'जनरल' उस सभा को होने नहीं देगा। परन्तु डाक्टरजी के निश्चल आश्वासन के कारण उनको विश्वास हुआ और उन्होंने सभा का आयोजन किया। जैसे ही सभा प्रारम्भ हुई 'जनरल' अपनी फौज के साथ आ धमका। उसको आते हुए देखकर डाक्टर जी उठे और बड़ी सहृदयता के साथ उसका स्वागत किया और उसे अपने साथ बाजू में बैठा लिया। वक्ता भी अपने पूर्ण जोश में थे और उन्होंने उस दल की जिससे 'जनरल' सम्बन्धित था खूब आलोचना की। 'जनरल' क्रोध के कारण गर्म हो रहा था तथा कभी इधर और कभी उधर देख रहा था किन्तु अपने बगल में बैठे हुए डाक्टर जी की शान्त, दृढ़ तथा भव्य आकृति को देखकर उसके

शरीर में एक शीतल कंपन हो उठता था और वह विवश सा होकर अपनी कुर्सी पर बार-बार बैठ जाता था। सभा दो घंटे तक शान्तिपूर्वक चलती रही। सभा की समाप्ति के पश्चात् उसके अनुयायियों ने चुपचाप बैठे रहने के लिए उस पर प्रश्नों की बौछार कर दी। उसने इतना ही कहा-"मैं क्या कर सकता था। वह मनुष्य मेरे बगल में बैठा हुआ था।"

अनुपम ऐक्यकारी

अगणित संख्या में व्यक्तियों को एक साथ रखना, उनमें से प्रत्येक को एक आदर्श राष्ट्रीय कार्यकर्ता की कल्पना के अनुसार ढालना और आगामी पीढ़ियों के लिए एक सम्पूर्ण राष्ट्र के संगठित जीवन के आधार स्वरूप स्थायी परम्पराएँ तथा प्रेरणादायक उपमान स्थापित करना, सचमुच चिन्ताओं तथा यन्त्रणाओं का पहाड़ जैसा कितना बड़ा बोझ वे अपने वक्ष:स्थल पर उठा कर चल रहे होंगे–और यह सब निजी जीवन की अत्यन्त कठोर परिस्थितियों के बने रहते हुए। परन्तु सर्वाधिक विस्मयजनक पक्ष यह था कि उनके जीवन के प्रत्येक क्षण उनके शरीर में प्रवाहित इस गहन अन्त:धारा का अनुमान कोई भी न लगा पाता था। जो कोई भी उनके सम्पर्क में आया वह डाक्टर जी से नित नूतन प्रवाहित आनन्द तथा उल्लास के निर्मल स्रोत में स्नान करके ही वापिस लौटता। उन्हें जो व्यक्ति सदा घेरे रहते थे वे विभिन्न तथा असमान प्रकार के होते थे। उनके मित्र मजाक में उनसे कहा करते थे कि डाक्टर जी एक 'मानव जीवशाला' चला रहे हैं। डाक्टर जी के साहचर्य में इस जीवशाला का कोई भी व्यक्ति अपने को असंगत अनुभव नहीं करता था। युवा तथा वृद्ध, परम्परावादी तथा नूतनवादी, शिक्षित तथा अशिक्षित, धनी तथा निर्धन सभी को उनमें एक समान तत्व का आभास मिलता था। ऐसी थी समरसता की उनकी भावना, ऐसी थी उनकी निपुणता की व्याप्ति। उनके लिए कोई भी व्यक्ति व्यर्थ नहीं था, भले ही अन्यों की दृष्टि में वह कितना ही छोटा तथा अपूर्ण हो।

आत्म विलोपित

उस असाधारण गुण के मूल में थी अहं के लेशमात्र से भी अविकृत, पूर्ण विनम्रता की भावना। नाम तथा ख्याति, पद तथा सत्ता प्राप्ति के पागलपन ने उनको कभी छुआ तक नहीं। संघ के प्रारम्भ के समय से ही, वे अविरत एक उपयुक्त व्यक्ति की तलाश में लगे रहे जो संगठन का नेतृत्व कर सके।

और वे स्वयं उसके तुच्छ अनुयायी बने रहना चाहते थे जिससे कि सभी अन्य कार्यकर्ताओं के लिए एक जीवित उदाहरण स्थापित हो। वास्तव में उन्होंने एक बड़े हिन्दू नेता को इसका प्रधान बनाने का बार-बार प्रयास किया परन्तु वह व्यर्थ हुआ। वह बड़ा आदमी, उसके सभी अन्य गुणों के बावजूद संघ में निहित उसकी शक्ति क्षमताओं को पहचान न सका और उस ऐतिहासिक भूमिका के लिए मानसिक निश्चय न कर सका। डाक्टर जी को इससे दुःख एवं निराशा हुई परन्तु उन्होंने अपनी तलाश जारी रखी। वे अपने सद्गुणों की श्रेष्ठता मात्र के कारण सहजतः संगठन के नायक उसी प्रकार बने रहे, जैसे एक सिंह जंगल का निसर्गतः राजा होता है—स्वयमेव मृगेन्द्रता। परन्तु वे अन्त समय तक स्वयं को उस स्थिति से समन्वित न कर सके।

अत्युच्च व्यक्तित्व के होते हुए भी डाक्टर जी ने कभी भी बड़प्पन का प्रदर्शन नहीं किया। वे अपने कार्यकर्ताओं तथा स्वयंसेवकों द्वारा उनकी प्रशंसा में स्वाभाविक तथा स्वयंस्फूर्त व्यक्त होनेवाली अभिव्यक्तियों पर भी रोक लगाते। वे इस विषय में अत्यन्त आग्रही थे। १९४० में वे पूना के शिक्षण शिविर में रहकर नागपुर लौट रहे थे। मैं उनको लेने के लिए स्टेशन गया हुआ था। जैसे ही गाड़ी आई, हम लोगों ने उनको डिब्बे के दरवाजे पर खड़े हुए देखा। उनका चेहरा मुस्कुराहट से भरा हुआ था। जैसे ही मैं उनको पुष्प माला पहनाने के लिए आगे बढ़ा मैंने उनकी कठोर निषेधात्मक दृष्टि को देखा। मैं आधे हाथ फैलाए हुए बीच में ही रुक गया। तुरन्त ही वे मुस्कराए और कहने लगे "मैं अपने ही घर आया हूं। इस सब की क्या आवश्यकता है। वास्तव में हमें अपने सम्मानित अतिथि का स्वागत करना चाहिए।" और उन्होंने उन सज्जन की ओर इंगित किया जो उनके साथ थे। मैंने वह माला उनको भेंट कर दी। मुझे डाक्टर जी को उनके जीवन भर माला पहनाने का अवसर नहीं मिला। उनके हमें छोड़ जाने के पश्चात् मैं उनके शरीर को ही माला पहना सका। वे फोटो खिंचवाने के भी ऐसे ही विमुख थे। कभी बिरले ही तथा अपने कार्यकर्ताओं के साथ दीर्घ कशमकश के बाद ही वे फोटो लिए जाने की स्वीकृति देते।

यद्यपि वे अपने प्रति कठोर तथा निष्ठुर थे, हम सब में से प्रत्येक के लिए वे स्नेह के सागर थे। कोई शब्द उनके पवित्र तथा स्वार्थरहित स्नेह की गहराई का वर्णन करने के लिए अपर्याप्त हैं। मातृ-हृदय का असीम स्नेह, पिता की सतत चिन्ता और परिश्रम तथा गुरु का प्रेरणादायी मार्गदर्शन ये उस एक वक्षःस्थल में पराकाष्ठा को प्राप्त थे। मैं तो उनको एक आदर्श के रूप में

पूजा करने में स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता हूं। ऐसे व्यक्तित्व की पूजा एक व्यक्ति की पूजा से ऊपर होती है और स्वयं एक आदर्श की ही पूजा बन जाती है। वे निश्चित ही मेरे इष्टदेव हैं।

कृति का दर्शन-शास्त्र

एकान्तिक निष्ठा, विशुद्ध चारित्र्य, अनुपम संगठनात्मक कौशल्य, अपने जीवन कार्य के रूप में अपनाये हुए उद्देश्य की अन्तिम सफलता में अदम्य विश्वास और उद्योग एवं परिश्रम करने की अमित क्षमता, यह थी उनके प्रयास की एकमात्र पूँजी। उन्होंने अपनी चेष्टा में कोई कमी नहीं रखी तथा अपनी शारीरिक आवश्यकताओं का तनिक भी ध्यान नहीं रखा, यहाँ तक कि उनके अन्तिम वर्षों में गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण भी उनके शारीरिक एवं मानसिक परिश्रम में कोई कमी नहीं आ सकी। उनके सहकारी उनके बिगड़ते हुए स्वास्थ्य के विषय में चिन्ता से ग्रस्त थे। कुछ ने उनको चेतावनी भी दी कि उनका शरीर अधिक समय नहीं चलेगा यदि उन्होंने वही कठोर श्रम जारी रखा। किन्तु वे ऐसे सब प्रश्नों का एक सामान्य से वाक्य में उत्तर देते—"आखिरकार मेरा शरीर कार्य के निमित्त ही तो है" और उस विषय को समाप्त कर देते। वे कोई आराम अथवा अवकाश जानते न थे। उनका दर्शन-शास्त्र था कार्य। वे अविरत तथा प्रखर कार्य करते रहने के पक्ष में थे, विशेषतया यौवनकाल में। वे पूछा करते थे—"अपनी आयु को बुढ़ापे तक, जबकि शरीर किसी कर्मठ गतिमान् कार्य के लिए बेकार हो जाता है, खींचते रहने के अतिरिक्त यौवनकाल में आराम करने का लाभ है भी क्या?" यदि अपने सह-कार्यकर्ताओं द्वारा विवश किये जाने पर वे विश्राम के लिए कहीं जाना स्वीकार कर भी लेते तो उस स्थान पर तथा उसके आस-पास कुछ शाखाएं प्रारम्भ किये बिना चैन न ले पाते।

एक बार १९३९ में उनका रोग बहुत उग्र हो गया। डाक्टरों ने उनको पूर्ण विश्राम करने की सलाह दी। मैं उस समय उनके साथ था। चिकित्सा चल रही थी। औषधियाँ नियमित दी जा रही थीं किन्तु कुछ लाभ न था। डाक्टर जो उनकी चिकित्सा कर रहे थे हतप्रभ थे। चिकित्सा के विवरण की जाँच करते हुए उन्होंने पूछा कि डाक्टर जी कितने बजे सोते हैं। मैंने उत्तर दिया—"सदैव के समान रात्रि में एक या डेढ़ बजे।" डाक्टर यह सुनकर स्तम्भित रह गये। उन्होंने कहा—"इसीलिए ये प्रगति नहीं कर रहे हैं। कदाचित् आप इन्हें जल्दी सोने नहीं देते हैं। इनको दस बजे तक अवश्य सो

जाना चाहिए।" मैंने स्वीकार किया कि मैं उनको इतनी जल्दी सुला न सकूँगा। डाक्टर ने कहा—"यदि आप ऐसा न कर सकेंगे तो मैं स्वयं आऊंगा और ऐसा करूँगा।" मैंने उनके प्रस्ताव का स्वागत किया। उस दिन डाक्टर रात्रि में नौ बजे आये। डाक्टरजी ने उसी समय भोजन किया था और वे अपने कमरे में अकेले थे। क्योंकि भोजन के तुरन्त बाद सो जाना उपयुक्त नहीं था, डाक्टर ने कुछ समय के लिए डाक्टरजी से गपशप शुरू कर दी। मैं उस सम्पूर्ण समय बाहर बैठा रहा। फिर जब डाक्टर को झपकी आने लगी, उन्होंने अपनी घड़ी की ओर देखा। उस समय एक बज चुका था। वे तुरन्त उठ खड़े हुए और डाक्टर जी को सोने के लिए कह कर बाहर निकल आये। जैसे ही वे जाने लगे, मैंने उनसे समय पूछा। एक क्षमायाचनापूर्ण स्वर में उन्होंने कहा—"बातचीत में मैं स्वयं ही भूल गया।" और वे चले गये।

यौवन का पुष्प चढ़ाओ

अपनी गम्भीर बीमारी के काल में भी डाक्टर जी ने इस आदत को नहीं छोड़ा। वे कार्यकर्ताओं को रात में बुलाते और उनसे एक-एक करके अथवा एक साथ बहुत रात तक बात करते रहते। कार्य को अत्यन्त तीव्र गति से बढ़ाने के उनके कठोर निश्चय के सामने उनको कठोर परिश्रम से उन्हें परावृत्त करने के हमारे समस्त प्रयास विफल सिद्ध हुए। उनका लौह शरीर भी उनके प्रखर क्रियाशील व्यक्तित्व का बहुत समय तक साथ न दे सका। संगठन के प्रारम्भ के १५ वर्षों में ही उनका शरीर आदर्शवाद की अग्नि द्वारा पूर्णतया भस्म किया जा चुका था। ऐसा नहीं था कि वे आसन्न अन्त से अनभिज्ञ थे। वे तो कहा करते थे—"मैं अपनी व्याधि की प्रकृति को अच्छी प्रकार से जानता हूँ। मैं उसका उपाय भी जानता हूँ। परन्तु मेरे पास उपचार के हेतु बचाने के लिए समय ही नहीं है। मुझे इसके परिणाम की भी कल्पना है। परन्तु मैं विवश हूँ। ईश्वर की इच्छा ही बलवान है।"

जिस प्रकार एक योगी अपने शरीर में अभिव्यक्त योग की अग्नि में स्वयं को आहुति स्वरूप अर्पित करने में ही पूर्णता का अनुभव करता है उसी प्रकार डाक्टर जी ने अपने शरीर को यंत्रणा तथा त्याग की अग्नि में समर्पित कर दिया था। यही हमारी गौरवमयी परम्परा रही है। परन्तु आजकल हम लोग बहुधा सुनते हैं कि हमें अपने तारुण्य में बहुत अधिक श्रम नहीं करना चाहिए जिससे कि हमारा जीवन-काल छोटा न रह जाय। वृद्धायु में कुछ और अधिक वर्ष घसीटने मात्रके हेतु यौवन के मूल्यवान क्षणों को व्यर्थ नष्ट करने के

परामर्श का डाक्टर जी उपहास करते थे। हमें वस्तुत: स्वयं को माता की वेदी पर उसी समय अर्पित करना चाहिए जबकि यौवन का पुष्प पूर्णतया विकसित हुआ हो और चारों ओर सुगन्ध तथा आभा विकीर्ण कर रहा हो। आभा तथा सुगन्ध से रहित मुरझाये हुए पुष्प को अपने इष्ट-देव की पूजा में अर्पित करना एक अपवित्र व्यवहार होगा। यह थी मानव जीवन की उपयोगिता की उनकी कल्पना। वे इसी प्रकार जिये और इसी प्रकार उनकी मृत्यु हुई।

जीना और मरना

उनकी मृत्यु सामान्य नहीं थी। वह एक सतत तथा क्षयकारक अग्नि थी जो उनके सम्पूर्ण यौवन काल में व्याप्त थी। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो हौतात्म्य के आवेश में अपना जीवन बलिदान कर देते हैं। नि:सन्देह यह भी गौरवमय तथा प्रेरणादायक होता है। परन्तु असंख्य अन्य हृदयों को प्रज्ज्वलित करने के लिए अपने जीवन को प्रत्येक क्षण जलाना सचमुच ही सर्वोच्च प्रकार की तपस्या है। प्राचीन काल के शिवि के समान उन्होंने समाज के 'कपोत' की प्राण-रक्षा के लिए अपने स्वयं का मांस टुकड़े-टुकड़े करके काटा। दधीचि के समान, जिन्होंने वृत्रासुर दैत्य को मारने के लिए वज्र के निर्माण हेतु अस्थियाँ दे डाली थीं, डाक्टरजी ने भी मुस्कराते हुए अपना जीवन रक्त अंतिम बूँद तक समाज में संचारित किया। इसी प्रकार शंकराचार्य ३२ वर्ष की आयु में मरे, विवेकानन्द ३९ वर्ष में तथा शिवाजी ५० वर्ष में। डाक्टरजी भी ५० वर्ष की आयु में दिवंगत हुए। और ऐसे ही लोग अमर होते हैं।

शब्दों में शक्तिसंचार कैसे होता है ?

ऐसी महान् आत्माओं द्वारा उच्चरित शब्दों में अप्रतिकार्य शक्ति का संचार हो जाता है। डाक्टर जी के शब्द अत्यन्त सरल हुआ करते थे मानो कि वे बच्चे से बात कर रहे हों। परन्तु उनमें कितनी शक्ति सन्निहित हुआ करती थी ! एक बार स्मरणीय श्रद्धास्पद डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी कुछ गम्भीर समस्याओं पर विचार-विमर्श की इच्छा से डाक्टर जी से मिलने आये। उस समय डाक्टरजी अत्यधिक बीमार थे। और वह उनकी अन्तिम बीमारी सिद्ध हुई—तथा वे अधिक समय तक बातचीत करने की स्थिति में नहीं थे। इसलिए मैंने डा० मुखर्जी से निवेदन किया कि वे उस विषय पर मुझसे प्रारम्भिक बातचीत कर लें और फिर कुछ शेष रह जाता है तो वे अन्तिम उत्तर के लिए डाक्टरजी से मिल सकते हैं। वे राजी हो गये। हम दोनों में एक लम्बी बहस

हुई। और यद्यपि उनके प्रत्येक प्रश्न तथा सन्देहों का उत्तर दिया गया तो भी वे असंतुष्ट बने रहे। तब हम डाक्टरजी के पास गये। उन्होंने वही प्रश्न डाक्टरजी के सामने रखा। और डाक्टरजी ने थोड़े से शब्दों में ही उत्तर दिया जिसमें वही अर्थ सन्निहित था जो मेरे द्वारा दिये गये उत्तर में। परन्तु मैं आश्चर्यचकित हो गया जब मैंने डा० मुखर्जी को यह कहते हुए सुना—"अब मैं पूर्णतया संतुष्ट हूं।" उस घटना से मुझे मेरे जीवन की एक शिक्षा प्राप्त हुई कि व्यक्ति के चारित्र्य, तपश्चर्या और त्याग की मात्रा में ही उसके शब्दों में शक्ति का समावेश होता है। तर्क, बहस, बुद्धि के चमत्कार, सब उस सर्वोच्च शक्ति के समक्ष तुच्छ सिद्ध होते हैं।

महानता की सन्तान

जिस सबसे एक युग निर्माता की निर्मिति होती है, उसमें सर्वोत्कृष्ट होते हुए भी, वे जीवनभर एक बालक के समान बने रहे—सरल, विनम्र, निरभिमानी, सभी से आत्मीयता की भावना के साथ बात करने वाले, हास्यमय, विनोदी तथा अन्यों के छोटे से छोटे सद्‌गुणों को महत्व प्रदान करने वाले।

एक समय संघ में आने वाले कुछ वकीलों की एक साप्ताहिक बैठक में संगठन से सम्बन्धित अनेक विषयों पर एक मुक्त तथा अनौपचारिक रूप में चर्चा हो रही थी, कोई संघ के भावी ढाँचे के विषय में प्रश्न उठा रहा था, अन्य कोई एक औपचारिक केन्द्रीय समिति के निर्माण का सुझाव दे रहा था, आदि। तब अकस्मात् उनमें से एक ने प्रश्न उठाया—"आखिर संघ के मूल में क्या है?" मैंने कहा—"वह तो डाक्टरजी ही हैं।" उस बैठक में एक वृद्ध सज्जन उपस्थित थे जो डाक्टरजी को उनके बचपन से जानते थे। डाक्टरजी बहुधा उनके पास उनके सुझाव तथा परामर्श लेने जाया करते थे। स्पष्टत: डाक्टरजी के विषय में मेरे शब्द सुन कर उनका हृदय भर आया। उनको यह जानकर आश्चर्य हुआ कि 'बालक केशव' अकस्मात् ही इतनी श्रेष्ठता प्राप्त कर चुका है। मानों उनको एक नई अनुभूति हुई। बैठक के पश्चात् वे डाक्टरजी के पास गये और स्नेहसिक्त वाणी में कहा—"डाक्टर, तुम कितने महान् हो गए। मैं तो अब तक तुम्हें वही पुराना बालक केशव समझ रहा था।"

विश्वमंच को सुशोभित करने वाले महानतम पुरुष अन्य लोगों को कुछ ऐसा मन्त्रमुग्ध सा कर देते हैं जिससे कि वे उनकी महानता से अज्ञात रहें, उनकी उपस्थिति में संकोच न करें और वे आकर मैत्री के साथ उनसे स्वच्छन्द रूप से घुलें मिलें। श्रीकृष्ण ने अपनी बालक्रीड़ा द्वारा गोकुल में सब पर अपना

जादू सा फेर दिया था। एक भी यह स्मरण नहीं रख पाता था, यशोदा तक भी नहीं, कि वह स्वयं ईश्वर के अवतार थे। एक बार जब उनके मिट्टी खाने का पता चला और यशोदा ने उनको अपना मुंह खोलने के लिए बाध्य किया, तब उन्होंने उस छोटे से गह्वर में अनन्त सृष्टियों का नर्तन देखा। वे स्तम्भित तथा अवाक् रह गईं। परन्तु यह सब क्षण भर के लिए हुआ। उस बालक कृष्ण की वही पुरानी मुस्कान, शरारत तथा छेड़खानी भरी क्रीड़ाओं ने उनको उस क्षणिक अनुभूति का विस्मरण करा दिया।

डाक्टरजी की निरस्त्र करने वाली सरलता ने उन सब पर जो उनके निकट आते, उनके निकटतम मित्रों तथा सहकारियों पर भी, ऐसा ही एक जादू फेर दिया था। एकाएक क्षणमात्र के लिए क्वचित् ही वे यह सोच पाते थे कि वे एक ऐसे अतिश्रेष्ठ विभूति के सम्पर्क में थे जो लोकोद्धार के लिए शताब्दियों में कभी एक बार जन्म लेता है। फिर वे डाक्टरजी के साथ अपने निस्संकोच रूप में तथा लगभग समान स्तर पर मिलने जुलने पर तथा कभी कभी उनके साथ की अपनी धृष्टता पर आश्चर्यचकित एवं स्तम्भित भी हो जाते थे। परन्तु ऐसा सब क्षण भर के लिए ही होता था। पुनः डाक्टरजी की सरल, मुस्कराती आकृति अपना जादू फेर देती और वे इस विषय में सब कुछ भूल जाते।

ऐसे थे संघ के संस्थापक, हमारे डाक्टर जी! मनुष्य मात्र के जीवन्त हिन्दू आदर्श, "क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे", (महान् व्यक्ति महान् कार्यों की सिद्धि बाह्य साधनों से नहीं अपितु अपनी अन्तर्निहित शक्ति के द्वारा करते हैं) इस लोकोक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति, सभी पीढ़ियों के लिए एक मार्ग-दर्शक ज्योतिपुंज—जिसके प्रकाश में वे अपने जीवन को एक गौरवमय अमर राष्ट्रीय जीवन की उपलब्धि के लिए ढाल सकें।

* * *

परिशिष्ट

एकात्मक शासन की अनिवार्यता*

प्रतिवेदन पर प्रतिक्रियाएँ

राज्य पुनर्गठन समिति का प्रतिवेदन प्रकाशित हुए लगभग दो सप्ताह होते आ रहे हैं। राजनीतिक क्षेत्र के प्रमुख व्यक्ति तो प्रतिवेदन के अधिकृत रूप से प्रकाशित होने से पूर्व ही समिति के सुझावों पर अपनी प्रतिक्रियाओं को मुक्त रूप से व्यक्त करने लगे हैं। कोई सन्तुष्ट हुआ प्रतीत नहीं होता। प्रतिवेदन के विरोध में सम्पूर्ण वातावरण आन्दोलित हो उठा है। भावनायें उमड़ रही हैं। प्रान्त-प्रान्त के विधायकवर्ग एक दूसरे के प्रति विरोधी भावनाओं को खुलकर प्रकट कर रहे हैं। कोई भी वर्ग किसी दूसरे वर्ग के साथ एक समान प्रशासनिक इकाई में सहयोग करने और साथ-साथ रहने की मन:स्थिति में दिखाई नहीं देता। विरोध इतना तीव्र और बढ़ा हुआ है कि उसने दृढ़मूल वैर का रूप धारण कर लिया है।

अंग्रेजों द्वारा प्रचार

अंग्रेज शासक ने इस देश और यहाँ की प्रजा के सम्बन्ध में जो बातें प्रचारित की थीं, उनका आज बरबस स्मरण हो आता है। वह अत्यन्त दृढ़तापूर्वक संसार को यह बताता रहा है कि याद रखो, यह एक नहीं है वरन्

---

* श्री गुरुजी (श्री मा० स० गोलवलकर) द्वारा सन् १९५६ में राज्य पुनर्गठन समिति का प्रतिवेदन प्रकाशित होने के तुरन्त पश्चात् लिखा हुआ एक लेख।

आधुनिक योरोप के समान एक महाद्वीप है—एक बहुत विस्तृत भूखण्ड, जिसमें अनेक देश, अनेक जनसमुदाय, अनेक राष्ट्रीयताएँ हैं, जिनकी वंश, संस्कृति एवं भाषा की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ एवं स्वरूप हैं। यहाँ के समाज के स्वरूप के विषय में भी धोखा न खाने के लिए वह सभी को सावधान करता रहा है। वह यही प्रतिपादित करता रहा है कि राष्ट्र की एकता के अर्थ में यह इँगलैण्ड, फ्रांस अथवा जर्मनी के समान एक राष्ट्र नहीं है, अपितु अनेक राष्ट्रीयताओं का एक समूह है, जिनमें एक दूसरे से समानताएँ कम एवं योरोप के विभिन्न देशों में रहने वाले लोगों की भी अपेक्षा अन्तर अधिक है। वह यह भी प्रचार करता रहा है कि मानव वंशशास्त्र के अनुसार वे सब विभिन्न वंशों के हैं; ऐतिहासिक दृष्टि से वे किसी अज्ञात स्थान से यहाँ बसने के लिए देशान्तरित होकर इस देश में आये हैं; राजनीतिक दृष्टि से वे क्रमागत लुटेरे और आक्रान्ता हैं जो अन्त में इस उर्वरा भूमि में आकर बस गये हैं और जिसके परिणामस्वरूप उनमें एक दूसरे के प्रति अन्तरनिहित वैरभाव है, जो इधर कुछ काल से प्रच्छन्न है और जिसकी प्रकट हिंसा के रूप में व्यक्त होने की प्रवणता इधर कुछ कम हो गई है; भाषाओं की दृष्टि से वे एक दूसरे से अपरिचित हैं; संस्कृति के उनके विभिन्न स्तर हैं और धर्म में तो इतने भेदभाव हैं कि वे सदैव एक दूसरे का गला घोंटने के लिए उद्यत रहते हैं।

जिन विभेदों पर उन्होंने विशेष रीति से जोर दिया और जिन्हें बहुत मात्रा में उभाड़ा वे हैं, हिन्दू और मुसलमान, द्रविड़ और आर्य, जैन तथा सिख जैसे विभिन्न पंथ और शेष हिन्दू समाज, विभिन्न जातियों के एक दूसरे से और विशेष रीति से ब्राह्मण-अब्राह्मण के। वे संसार को और विशेष रूप से हमारे ही लोगों को यह समझाते हुए कभी नहीं थके कि इस देश में एक सार्वभौम सत्ता के रूप में उनका भगवान् के द्वारा निर्धारित अस्तित्व ही परस्पर विरोधी शक्तियों को नियंत्रित किए है तथा देश में व्यक्ति के जीवन, मान-सम्मान और वित्त की सुरक्षा को बनाये रखते हुए हिंसा एवं रक्त-पात के भीषण दृश्य तथा समय-समय पर सतत होने वाले परस्पर के युद्ध को रोके हुए है। हमें यह भी समझाया गया कि उन्होंने यहाँ एक सुस्थिर प्रशासन दिया है, जो न्यायी, दयालु और प्रगतिशील है, और उन्हीं के कारण एवं उनके सत्ताकाल में ही इस देश के विविध, बहुधा परस्पर विरोधी जनों के विचित्र समुदाय में एक समान मातृभूमि, देशभक्ति एवं समान राष्ट्रीयता की भावनायें शनैः-शनैः विकसित हुई हैं।

नेताओं की परीक्षा

कुछ काल के लिए ऐसा प्रतीत भी हुआ कि मातृभूमि के लिए एक समान प्रेम भारत के इस सिरे से लेकर उस सिरे तक लोगों में निविष्ट हो गया है अथवा नवीभूत हुआ है और इस प्रेम पर आधारित एक समाज एवं एक राष्ट्रीयता की भावना का भी निर्माण हो गया है। उस समय जनता के सभी नेतागण एक राष्ट्र की भाषा बोलने लगे थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो एक राष्ट्र के सिद्धान्त में उनकी वास्तविक आस्था है। सभी ने उस समय इस महती भावना को व्यक्त किया तथा जनता को अंग्रेजों की दासता के जुएँ को उतार फेंक देश को स्वतंत्र करने के लिए संग्राम करने को प्रेरित किया। ऐसा प्रतीत होने लगा मानो समस्त जनसमुदाय ने इस भावना को ग्रहण कर लिया हो।

किन्तु अंग्रेज उन विभेदों को पुनः-पुनः दृढ़तापूर्वक कहने में कभी नहीं थका, जिन्हें अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये उसने परिकल्पित कर जनता के मस्तिष्क में दृढ़ता से बैठाने का प्रयत्न किया था। उसने भविष्यवाणी की कि उसके यहाँ से जाते ही देश सभी प्रकार के परस्पर विनाशकारी कलह से व्याप्त हो जायगा तथा देश में सभी व्यवस्था भंग होकर अस्तव्यस्तता छा जायगी। इस प्रकार से उसने अपने को यहाँ बनाये रखने का, हमारे देश पर अपने साम्राज्यवादी आधिपत्य को न्यायसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया। हमारे नेताओं के विचार में यह केवल प्रचार मात्र था जो यदि दुष्टतापूर्ण न भी माना जाय तो भी असत्य तो था ही। और उन्होंने स्वतंत्रता की लड़ाई को इस विश्वास के साथ तीव्र किया कि वे स्वयं तथा उनका अनुसरण करते हुये देश के सभी नागरिक एक राष्ट्र के आदर्श को वास्तविक तथ्य के रूप में अनुभव कर चुके हैं। अन्ततः परिस्थितियों से विवश होकर अपनी युद्धोत्तर छिन्न-भिन्न अवस्था एवं अन्ताराष्ट्रीय परिस्थितियों के दबाव के कारण अंग्रेज को इस देश पर से अपनी पकड़ ढीली करनी पड़ी, तथा लोगों पर राज्य करना छोड़कर शासन का उत्तरदायित्व उन नेताओं को सौंपना पड़ा जो जोर-जोर से लगातार स्वायत्त शासन की माँग कर रहे थे। और अब समय आ गया, हमारे नेताओं की उस आत्मश्लाघा की परीक्षा का कि उन्होंने एकसूत्र राष्ट्रजीवन की निर्मिति एवं अनुभूति कर ली है।

असफलतायें

इस परीक्षा का परिणाम क्या निकला ? यदि ईमानदारी से सोचें तो यह नहीं कहा जा सकता कि हमने परीक्षा को सफलतापूर्वक उत्तीर्ण किया

है। एक देश और एक राष्ट्र की घोषणा को प्रथम और सर्वाधिक क्रूर आघात अपनी माता—भारत भूमि—के दु:खद विभाजन की स्वीकृति के रूप में लगा। यह इस बात को मानना हुआ कि मुसलमानों का यहाँ एक अलग, विरोधी राष्ट्रीय जाति के नाते अस्तित्व है, जिसे हिन्दू-राष्ट्र के साथ इस भूमि में जीवित रहने के लिए जबरदस्ती बाँध दिया गया है और अब उन्होंने इस देश का विभाजन कर जहाँ वे मूल रूप से आक्रान्ता के नाते आए तथा जहाँ वे विजेता के नाते बसने को प्रयत्नशील रहे हैं, अपने लिए एक अलग राज्य जीत लिया है। कुछ लोगों द्वारा---क्या कहें उन्हें, अविवेकी लोग ?—प्रचारित द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के विपरीत प्रतिवाद तथा उसका निरोध एवं धिक्कार करने के उत्कट प्रयत्नों के बावजूद, विभाजन की स्वीकृति और अब उसका न्याय-संगत बताना तथा परिणामस्वरूप हमारी मातृभूति के कलेवर में से एक मुस्लिम राज्य का अलग निर्माण कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिन्होंने इन सब विरोधों की असत्यता को सुस्पष्ट कर दिया है और यह सिद्ध कर दिया है कि मौखिक घोषणाओं एवं मूल विश्वासों में एकसूत्रता नहीं थी और यह कि हमारे इन प्रमुख नेताओं की वैचारिक प्रक्रियाओं की पृष्ठभूमि में कहीं पर यह विश्वास बराबर जमा रहा कि जिसे सब लोग अधिकारपूर्वक एक मातृभूमि कहते हैं, उसकी सीमाओं के अन्तर्गत एक अलग मुस्लिम राष्ट्र का अस्तित्व है और इन सीमाओं में उनकी एक मुस्लिम राज्य की माँग न्यायोचित है। मातृभूमि की एकता में यह अन्तर्जात अविश्वास, इस प्रकार देश के खण्डित होने पर प्रकाश में आ गया।

इस 'आत्मनिर्णय के अधिकार' के घोष का दुरुपयोग काश्मीर और अब गोआ तक पहुँच गया है। यह कहना कि काश्मीरी अपने भविष्य का निर्णय करेंगे, इस देश भारत तथा इसकी जनता के ऐक्य भाव को अस्वीकार करना है। इसके पश्चात् आया हमारा वर्तमान संविधान जिसने देश को लगभग स्पष्ट रूप से विलग ऐसे अनेक इकाइयों में परिवर्तित कर दिया, जिनमें प्रत्येक का अपना अलग-अलग राज्य है और सभी एक संघ में सम्बद्ध हैं। जब कोई यह सोचने लगता है कि हमारे इस संविधान के निर्माताओं ने जिस समय इस संविधान को बनाया था तब देश में कैसी परिस्थितियाँ थीं तो वह पाता है कि उस समय का वातावरण एकात्मक शासन के निर्माण एवं विकास के लिये अत्यन्त अनुकूल था। भारत या इस नाम से पहिचाना जानेवाला जो कुछ शेष है, उसके एकरस अखण्ड राष्ट्रत्व की अभिव्यक्ति के नाते एक देश, एक विधानमण्डल, सम्पूर्ण देश में शासन को चलाता हुआ एक कार्यकारी केन्द्र

प्रस्थापित हो सकता था। किन्तु नेताओं का मस्तिष्क और विवेक उस समय राज्यों के संघ के विचार से मोहग्रस्त था, जिसमें प्रत्येक भाषायी गुट अपनी अलग भाषा और संस्कृति के साथ एक अलग जन (राष्ट्र) के रूप में व्यापक स्वायत्त शासन के अधिकारों का उपयोग करे।

संघराज्य के मूल में

अनेक वर्ष पूर्व अर्थात् १९२३ में भारतीय राष्ट्रीय महासभा (इंडियन नेशनल कांग्रेस) ने जो कि देश के सभी जनों के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाली एक मात्र राजनीतिक संस्था थी, हमारे देश के लिये इस प्रकार के सांघिक ढाँचे का विचार किया था और भाषावार राज्यों से उस संघ का निर्माण स्वीकार किया था। उन्होंने यह घोषणा क्यों की और अन्त में वे क्या बनना चाहते थे, यह स्पष्ट नहीं है। किन्तु इसी सम्बन्ध में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के एक अनुदार दली सदस्य का एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ है, जिसमें उसने प्रान्तीय विधानमण्डलों की आवश्यकता पर विशद् रूप से प्रकाश डालते हुये कहा है कि यह पग उठाने से अन्त में यह स्थिति उत्पन्न हो जायगी कि अँगरेजों के भारत छोड़ने पर देश आधे दर्जन या इससे भी अधिक परस्पर विभिन्न एवं विरोधी भाषायी-राज्यों में विभक्त हो जायगा। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः इस घोषणा के करने वालों ने इस देश में भाषायी राज्यों की स्थापना और उनके संघ की प्रेरणा इसी मूल स्रोत से प्राप्त की हो।

इस प्रकार भाषावार राज्यों के संघ के लिये वचनबद्ध होने पर अन्ततः जो संविधान स्वीकार किया गया वह ऐसे सांघिक ढाँचे का ही हो सकता था, जिसमें कुछ काल के लिये प्रान्तों की वर्तमान सीमाओं को स्वीकार करते हुये उन्हीं पहिले के प्रान्तों को लगभग स्वायत्त राज्य का पद प्रदान कर दिया गया हो। राज्यों की सीमाओं के पुनर्गठन का प्रश्न, और भाषावार राज्यों की स्थापना की प्रतिज्ञा को पूर्ण करने की माँग के विषय को बाद में विचार में लेने का निश्चय किया गया। परिणामस्वरूप अब यह राज्य पुनर्गठन समिति अपने सुझावों को लेकर सामने आई है, जिनसे जनता के सभी वर्ग असन्तुष्ट दिखाई देते हैं। वातावरण में पारस्परिक अविश्वास स्पष्ट रूप से व्याप्त है। सदिच्छा का अभाव, अधिकाधिक भूमि हथियाने के लिये लोभी आक्रोश, एक ऐसे घृणित चित्र को उपस्थित कर रहे हैं मानों किसी शव के चारों ओर अनेक भेड़िये एक दूसरे की ओर गुर्राते हुये खड़े हों। यह दृश्य कितना

वेदनाकारी है ! ऐसा प्रतीत होता है मानों नेता लोग अंग्रेज साम्राज्यवादियों की उस गर्वोक्ति को सत्य प्रमाणित करने के लिये होड़ लगाये हुये हैं, जिसमें उन्होंने यह कहा था कि यदि उनका शासन यहाँ से हट जायगा तो यहाँ के लोग एक दूसरे के टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे और देश में निकृष्टतर अस्त-व्यस्त परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जायेंगी।

हमारा भविष्य दाँव पर

यह सब क्यों घटित हो रहा है ? मातृभूमि और राष्ट्र की एकता की सभी घोषणाएँ क्यों चूर-चूर हो गयीं ? क्या वे घोषणाएँ सत्य थीं ? वर्तमान दुःखपूर्ण अवस्था हमें यह निष्कर्ष निकालने के लिये बाध्य करती है कि अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति का कार्य जिन नेताओं के हाथ में था, उन्होंने यह कभी अनुभव नहीं किया कि यह एक देश, एक जन और एक राष्ट्र है। देशव्यापी एकता जो अल्पकाल के लिये अभिव्यक्त हुई थी, वह हमारी पुरातन राष्ट्रीय एकता के भावात्मक बोध से उत्पन्न नहीं थी। वह एकता उस अनुभूति से उत्पन्न नहीं थी कि हमारे जीवन की बाह्य विविधता, जो हमारी राष्ट्रीय विचारधारा और जीवन पर हमारे उदार दृष्टिकोण---जो एकरस राष्ट्रजीवन के स्वरैक्य को विघटित न होने देते हुए, प्रत्येक व्यक्ति को और व्यक्ति-समूहों को अपने अभिव्यक्ति और विकास की पूर्ण स्वतंत्रता देता है---से अपरिचित व्यक्तियों को संभ्रम में डाल देती है, केवल राष्ट्र की जीवन-शक्ति के प्राचुर्य की अभिव्यक्ति मात्र है।

वह एकता ऊपरी भेदों के मूलभूत एकता के आधार पर अनुभूत किये सामंजस्य का फल नहीं थी, वरन् केवल एक जोड़-जाड़ का काम था, साम्राज्यवादी समान शत्रु का सामना करने के लिए अस्थायी युद्धविराम था और था ब्रिटिश आधिपत्य के प्रतिक्रियास्वरूप सभी के लिये विदेशी ऐसे राज्यकर्ताओं के प्रति की विरोध की नकारात्मक भावना से एक समान संकट का सामना करने के लिये आह्वान किया हुआ एक अल्पकालिक महासंघ। इसीलिए हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जैसे ही विरोधी अंग्रेज यहाँ से वापस गया, वह टुकड़ों को जोड़-जोड़ कर बनाई गई एकता टुकड़े-टुकड़े हो गई, कारण कि समान शत्रु से युद्ध करने के लिए अब संयुक्त मोर्चे की आवश्यकता नहीं रही थी।

हमारी वर्तमान दशा का यह एक अत्यन्त शोचनीय चित्र है। जब हम आगे अधिक अच्छे समय के लिये देखने का प्रयत्न करते हैं तो हमारे सामने एक निरानन्द भविष्य दिखाई देता है, जो निराशा के अन्धकार से परिव्याप्त

है। आज हमारे जिन नेताओं के हाथ में देश का भाग्य है, उनमें अपनी पवित्र मातृभूमि की ऐक्य भावना के भावात्मक बोध का अभाव है, वे उस शाश्वत राष्ट्रीय चेतना से अपरिचित हैं जो विविधताओं की बहुलता के भीतर अमर-रूप से निहित सजीव एकता को सदैव व्यक्त करती है। इसी का परिणाम है कि वे विच्छेद और खण्डीकरण को प्रोत्साहन देते हैं। ऐसी दशा में उज्ज्वल भविष्य की आशा करना बुद्धिमानी नहीं होगी। सम्मानपूर्ण स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में हमारा अस्तित्व भी संकट में है तथा सत्ता और युद्ध-प्रिय राष्ट्रों की इस दुनिया में हमारा अस्तित्व मौजी संयोग की दया पर संदिग्धावस्था में पड़ा हुआ है, जिसके कारण वह किसी भी समय विश्व को भीषण युद्ध में झोंक सकता है, और जिसमें पड़ जाने से हमें सफलता की आशा नहीं करनी चाहिये। जिस घर में फूट व्याप्त है, उसका पतन निश्चित हो जाता है।

इस व्याधि का उपचार है

ये निराशाजनक संत्रस्त विचार हैं। किन्तु कोई कारण नहीं कि हम निराशा में पड़ें, क्योंकि इसका भी उपचार है। और वह उपचार यही है कि हम पृथकता की सभी प्रवृत्तियों को निर्मूल करें, ऐसी सभी भावनाओं का जो मातृभूमि की एकता में दृढ़ विश्वास करने से इनकार करती हैं, उच्छेद कर डालें और हम उन वचन एवं कर्मों से अपने को मुक्त करें जो हमारे राष्ट्र-जीवन की एकता की अनुभूति के विरुद्ध विचारों को उत्पन्न करते हैं।

इस लक्ष्य की दिशा में सबसे महत्व का और प्रभावी पग यह होगा कि हम अपने देश के विधान से सांघिक ढाँचे की सम्पूर्ण चर्चा को सदैव के लिए समाप्त कर दें, एक राज्य के अर्थात् भारत के अन्तर्गत, अनेक स्वायत्त अथवा अर्द्धस्वायत्त राज्यों के अस्तित्व को मिटा दें तथा एक देश, एक राज्य, एक विधानमण्डल, एक कार्यपालिका घोषित करें। उसमें खण्डात्मक, क्षेत्रीय, साम्प्रदायिक, भाषायी अथवा अन्य प्रकार के गर्व का कोई चिह्न भी नहीं होना चाहिये एवं इन भावनाओं को हमारे एकत्व के सामंजस्य को उद्ध्वंस करने का अवकाश नहीं मिलना चाहिये। संविधान का पुनः परीक्षण एवं पुनर्लेखन हो, जिससे कि अँगरेजों द्वारा किया गया तथा वर्तमान नेताओं द्वारा मूढ़ता-वश ग्रहण किया हुआ कुटिल प्रचार कि हम अनेक अलग-अलग मानव-वंशों अथवा राष्ट्रीयताओं के गुट हैं जो संयोगवश भौगोलिक एकता एवं एक समान सर्व प्रधान विदेशी शासन के कारण साथ-साथ रह रहे हैं, इस एकात्मक शासन की स्थापना द्वारा प्रभावी ढंग से अप्रमाणित हो जाय। हम वर्तमान

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
की स्मृति में सादर भेंट—
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य

विधान निर्माताओं और राज्य पुनर्गठन समिति के सुयोग्य सदस्यों के कृतज्ञ हों किन्तु राष्ट्र को अपने ही में विभाजित हो टुकड़े-टुकड़े होकर विनाश की दिशा में अग्रसर न होने दें। हमारे वर्तमान राज्यकर्ताओं को चाहिये कि वे साहस से काम लें, वस्तुस्थिति की ओर वास्तविकता की दृष्टि से देखें, सम्मुख उपस्थित विघटन के संकट पर चिन्तन-मनन करें, परिस्थितियों से अनवगत उन लोगों के दिशाभ्रष्ट विरोध का, जो ऐसा विरोध करने की नीचता दिखावें, सामना करें और सुदृढ़ता से इस वर्तमान विकृत ढाँचे को एकमात्र सही ढाँचे, अर्थात् एकात्मक शासन, में परिवर्तित कर दें।

शंकराचार्य एवं लिंकन वर्तमान नेतृत्व को प्रेरणा दें

इस प्रकार एक ही झपट्टे में देश को खण्डित करने की सभी बातें शान्त हो जातीं, पृथकता का उमड़ता हुआ प्रवाह, अविश्वास एवं पारस्परिक विरोध समाप्त हो जाते और एक एकरस समाज के, एक राष्ट्र के सामञ्जस्य-पूर्ण विकास के लिये आवश्यक परिस्थिति निर्माण हो गई होती। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ आक्रोश करने वाले तत्वों को छोड़कर सम्पूर्ण जनता ऐसी योजना का समर्थन करेगी तथा तब हमारे वर्तमान नेता भावी इतिहास में भारत की राष्ट्रीय सुदृढ़ता के सफल निर्माता माने जायेंगे, और आगे आने वाली सन्तति उन्हें शंकराचार्य का वर्तमान स्वरूप अथवा अब्राहम लिंकन के भारतीय समकक्ष मानकर उनकी पूजा करेगी।

हमारी पीढ़ी के नेताओं की देशभक्ति एवं चिरंतन भारतीय राष्ट्र में उनका विश्वास आज कसौटी पर है। आज के ऐतिहासिक क्षण उनके साहस, दृढ़-निश्चय एवं अपने पुरातन किन्तु अमर राष्ट्र के लिये उनके उत्कट प्रेम का आह्वान कर रहे हैं। इस समय अपनी दृढ़ता और निर्भीकता को व्यक्त करने वाला जो कदम वे उठायेंगे वह सिद्ध करेगा कि क्या वे शुद्ध स्वर्ण हैं अथवा केवल पानी चढ़ा हुआ मुलम्मा। जो सर्वशक्तिमान सदैव अपनी प्रज्ञा से इस हिन्दू राष्ट्र को अपना सही मार्ग, धर्म का मार्ग याने सम्पूर्ण समाज को प्रेममय एकता के बन्धन में आबद्ध कर खड़ा कर देने का मार्ग निर्देश करता रहा है, उससे हम यही प्रार्थना करें कि इस कठिन समय में वह हमारे नेताओं का मार्गदर्शन करे, सच्चे ज्ञान से उन्हें स्फूर्त करे तथा हमारे महान् समाज के वैभवशाली पुनरुत्थान के सही मार्ग पर चलने का उन्हें साहस प्रदान करे।

* * *

Central Library
185489
Gurukula Kangri University Haridwar

R.P.S

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या 097
ARY-V

आगत संख्या 185489

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क लगेगा।

097

185489

यह पुस्तक—दैनिक हिन्दुस्तान की दृष्टि में

"....स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात राष्ट्र का निर्माण किस दिशा में होना चाहिए – इसकी सुस्पष्ट अभिव्यक्ति और सही तस्वीर जैसी इस पुस्तक में उपलब्ध होती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। पाश्चात्य विचारों की चकाचौंध में अनेक प्रमुख राजनीतिज्ञ देश की समस्याओं का हल पश्चिम के राजनैतिक वादों में ढूढ़ते रहे हैं, परन्तु उन्होंने भारत की आत्मा को हृदयंगम नहीं किया इसलिए उनके विवेचन यूरोप की जूठन और शब्दजाल मात्र बन कर रह गए। भारत का जागतिक लक्ष्य क्या है, उसकी आत्मा की पुकार क्या है, आन्तरिक और वाह्य संकटों का तथा समय की चुनौती का सामना कैसा किया जाय, ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमारा वैयक्तिक और राष्ट्रीय चरित्र कैसा होना चाहिए—इत्यादि महत्वपूर्ण प्रश्नों पर जैसा मर्मस्पर्शी और तात्विक चिन्तन किया गया है उससे राष्ट्रवाद की सही परिभाषा सामने आ जाती है।

राष्ट्रीय संस्कृति के दर्शन पर आधारित यह विचारधारा केवल-आदर्शवादी नहीं, प्रत्युत व्यवहारिक भी है। इस विचार धारा में अल्पसंख्यकों को भी पूरा स्थान है, परन्तु शर्त यह है कि राष्ट्र के सर्वोच्च मूल्य के समक्ष वे पूरे हृदय से आत्म समर्पण करें। राष्ट्र विश्व-व्यापी सत्यों का माध्यम मात्र है, इसलिए उससे अधिक महत्वपूर्ण और कोई सत्ता नहीं हो सकती। वर्गभेद, भाषाभेद, आचार भेद, प्रभृति अनेक भिन्नताओं के रहते हुए भी ऐसा प्रखर राष्ट्रवाद ही राष्ट्र के ऐक्य में सहायक होगा।

समाज, दर्शन, कला, साहित्य तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में भारतीयता की तथा उसके श्रेष्ठ अंश की प्रतिष्ठा ही इस विचारधारा का लक्ष्य है, क्योंकि राष्ट्र ही उसका केन्द्र है। शदियों के भ्रमजाल और बौद्धिक व्यामोह ने राष्ट्र के जिस तेजस्वी रूप को तिरोहित कर रखा है वही तेजस्वी रूप पृष्ठ प्रति-पृष्ठ उभरता चला आ रहा है। राष्ट्र के इस तेजस्वी स्वरूप को पुनः प्राप्त करने के लिए इस विचार धारा के प्रचार के सिवाय अन्य कोई गति दिखाई नहीं देती। ऐसा नहीं लगता कि यह स्वार्थ प्रेरित या सत्तालोलुप व्यक्ति की वाणी है, प्रत्युत ऐसा लगता है, जैसे स्वयं राष्ट्र देवता ही अपनी आत्मा को उद्घटित कर रहा है।"

(२२, अक्तूबर १६६७)